भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका

भाग २

रीति तथा वक्रोक्ति सिद्धान्त

लेखक—डा० नगेन्द्र

★

ओरिएण्टल बुक डिपो

१७०५, नई सड़क - दिल्ली

पूज्यवर दद्दा

[राष्ट्रकवि डा० मैथिलीशरण गुप्त]

को

उनके सत्तरवें जन्म-दिवस पर

सप्रणाम

भूमिका

काव्य-शास्त्र के अध्ययन में ज्यों-ज्यों मैंने प्रवेश किया है त्यों-त्यों यह एक तथ्य मेरे मन में स्पष्ट होता गया है कि भारत तथा पश्चिम के दर्शनों की तरह ही यहाँ के काव्य-शास्त्र भी एक दूसरे के पूरक हैं, और पुनराख्यान आदि के द्वारा उनके आधार पर हमारे अपने साहित्य की परम्परा के अनुकूल एक संश्लिष्ट आधुनिक काव्य-शास्त्र का निर्माण सहज सम्भव है। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी दिशा में विनम्र प्रयास है। यह 'भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका' का द्वितीय भाग है : कुछ विशेष परिस्थितियों के कारण रीति और वक्रोक्ति सिद्धान्तों का विवेचन पहले करना आवश्यक हो गया। प्रथम भाग में रस, ध्वनि तथा अलंकार सिद्धान्तों का आख्यान होगा—आज-कल मैं उन्हीं का अध्ययन कर रहा हूँ और आशा है यह कार्य भी यथासम्भव शीघ्र ही पूर्ण हो जाएगा।

आज हिन्दी के वर्ण-योग (वर्तनी) के स्थिरीकरण के लिए प्रयत्न हो रहे हैं। थोड़ा कठिन होते हुए भी यह कार्य आवश्यक है, इसमें सन्देह नहीं। मुझे खेद है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के मुद्रण में यह सम्भव नहीं हो सका। फिर भी मैंने पंचम वर्ण का प्रयोग प्रायः बचाया है, और हल् चिह्न का प्रयोग भी कम ही किया है। संस्कृत के नियमानुसार जगत, महान, विद्वान, बुद्धिमान आदि सभी को हलन्त करने से हिन्दी के मुद्रणादि में अनावश्यक उलझन पैदा हो जाती है। मैंने इस सम्बन्ध में अपने लिए एक साधारण-सा नियम बना लिया है—और वह यह कि हल् का प्रयोग हमें या तो ऐसे शब्दों में करना चाहिए जो हिन्दी में हलन्त रूप में सर्व-स्वीकृत हो गए हैं यथा 'अर्थात्' 'वरन्' आदि, या फिर कुछ ऐसे शब्दों को हलन्त किया जा सकता है जिनका, हिन्दी में अपेक्षाकृत कम प्रचलन होने से, अभी संस्कृत-संस्कार नहीं छूटा, उदाहरणार्थ—सम्यक्, ईषत्, किंचित् आदि। मैंने सामान्यतः इसी नियम का अनुसरण किया है—जहाँ कहीं नहीं हो सका वहाँ उसके लिए मेरा या मेरे प्रूफ़-शोधक का संस्कार ही उत्तरदायी हो सकता है।

—नगेन्द्र

मैथिलीशरण-जयन्ती, सम्वत् २०१२

विषय-क्रम

आचार्य वामन और रीति-सिद्धान्त

आचार्य वामन

जीवन-वृत्त

वामन के काव्य-सिद्धान्त ४

विवेचन क्षेत्र ४

काव्य की परिभाषा और स्वरूप ५

काव्य की आत्मा ६

काव्य का प्रयोजन ११

काव्य-हेतु १६

काव्य के अधिकारी १६

काव्य के भेद २०

आलोचना-शक्ति २४

रीति-सिद्धान्त

पूर्ववृत्त २९

रीति की परिभाषा और स्वरूप ३६

रीति के आधार ४०

रीति के मूल तत्व ४४

रीति के नियामक हेतु ४७

रीति का प्रवृत्ति, वृत्ति तथा शैली से अन्तर ४६

गुण-विवेचन

गुण की परिभाषा ५६

गुण के आधार-तत्व ६१

गुण की मनोवैज्ञानिक स्थिति ६२

गुणों की संख्या ६४

नवीन शब्द-गुण तथा अर्थ-गुण ६५

गुण और रीति ७१

गुण और अलंकार ७३

दोष-दर्शन

दोष की परिभाषा ७७

दोष की मनोवैज्ञानिक स्थिति ७९

दोष-भेद ८०

रीति के प्रकार ८८

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में रीति

- प्लेटो ९४
- अरस्तू ९५
- सिसरो तथा अन्य रोमी रीतिकार ९९
- होरेस १०१
- डायोनीसियस (३० ईसा—पूर्व) १०२
- डिमेट्रियस १०६
- लॉन्जाइनस ११०
- क्विण्टीलियन १११
- दान्ते ११५
- बैन जॉन्सन ११६
- सत्रहवीं-अठारहवीं शती—नव्य-शास्त्रवाद ११८
- पोप १२०
- स्वच्छन्दतावाद १२२

हिन्दी में रीति-सिद्धान्त का विकास

- केशवदास १३७
- चिंतामणि १३६
- कुलपति १४४
- देव १४६
- दास १५०
- अन्य रीतिकार १५६
- आधुनिक रीतिकार १५८
- आधुनिक आलोचक १६१
- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल १६२
- डा० श्यामसुन्दर दास १६३
- सुमित्रानन्दन पन्त १६६

रीति-सिद्धान्त का अन्य सिद्धान्तों के साथ सम्बन्ध

- रीति और अलंकार १६९
- रीति और वक्रोक्ति १७१
- रीति और ध्वनि १७३
- रीति और रस १७४

रीति-सिद्धान्त की परीक्षा १७६

आचार्य कुन्तक और वक्रोक्ति सिद्धान्त

वक्रोक्ति-सिद्धान्त

पूर्व-वृत्त — १८३
परवर्ती आचार्य और वक्रोक्ति — १९५
कुन्तक द्वारा वक्रोक्ति की स्थापना — १९६

वक्रोक्ति-सिद्धान्त के अंतर्गत काव्य का स्वरूप

काव्य का प्रयोजन — २०५
काव्य-हेतु — २१२
काव्य की आत्मा वक्रोक्ति और उसकी परिभाषा — २१३
काव्य की शैली और शास्त्र तथा व्यवहार की शैली — २१६
काव्य में कवि का कर्तृत्व — २१९
प्रतिभा — २२५
कुन्तक का प्रतिभा-विवेचन — २३२

वक्रोक्ति के भेद

वर्णविन्यास-वक्रता — २३७
पदपूर्वार्ध-वक्रता — २४०
पदपरार्ध-वक्रता — २५८
वाक्य-वक्रता और वस्तु-वक्रता — २६७
वक्रोक्ति-सिद्धान्त में वस्तु (काव्य-विषय) का स्वरूप — २६८
प्रकरण-वक्रता — २७६
प्रबन्ध-वक्रता — २८२
कुन्तक और प्रबन्ध-कल्पना — २८९
पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में प्रबन्ध-विधान — २९८

वक्रोक्ति तथा अन्य काव्य-सिद्धान्त

वक्रोक्ति और अलंकार — ३०५
वक्रोक्ति-सिद्धान्त और स्वभावोक्ति — ३१६
रसवदादि अलंकार — ३३२
रसवत् वर्ग के अन्य अलंकार — ३४२

वक्रोक्ति-सिद्धान्त और रीति ३४८
वक्रोक्ति और ध्वनि ३७५
वक्रोक्ति और रस ३८४
वक्रोक्ति और औचित्य ३६१

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में वक्रोक्ति ३६६

प्लेटो के पूर्ववर्ती विचारक और प्लेटो, अरस्तू, रोमी आचार्य : सिसरो और होरेस, लान्जाइनस, दान्ते, पुनर्जागरण काल, नव्य-शास्त्र-वाद, ऐडिसन, स्वच्छन्दतावाद का पूर्वाभास, स्वच्छन्दतावाद, स्वच्छन्द-तावाद के उपरान्त, अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद, क्रोचे की मूल धारणाएँ, क्रोचे और कुन्तक के सिद्धान्त, अन्य आधुनिक वाद, रिचर्ड्स

हिन्दी और वक्रोक्ति-सिद्धान्त

आदि काल ४३३
भक्ति-काल ४३५
रीति-का ४३६
आधुनिक युग के आलोचक ४४३
विवेचन ४५३

वक्रोक्ति-सिद्धान्त की परीक्षा ४६१

आचार्य वामन

और

रीति-सिद्धान्त

बीकानेर

आचार्य वामन

जीवन-वृत्त :

भारतीय काव्य-शास्त्र के इतिहास में आचार्य वामन की कीर्ति अक्षय है। वे उन आचार्यों में से हैं जिन्होंने मौलिक सिद्धान्त की उद्भावना कर एक नवीन काव्य-सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया।

वामन का जीवन-वृत्त भी संस्कृत के अन्य कवियों तथा आचार्यों की भाँति ही तमसाच्छन्न है। उनके वंश, माता-पिता, संतान आदि के विषय में इतिहास सर्वथा मौन है। आविर्भाव काल के विषय में भी कोई निश्चित तथ्य उपलब्ध नहीं है—परन्तु वामनीय ग्रन्थ के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर उसकी सीमाएँ निर्धारित करना कठिन नहीं है। वामन के सिद्धान्त और उनके सूत्र, वृत्ति, श्लोक आदि के उल्लेख-उद्धरण राजशेखर, प्रतिहारेन्दुराज और अभिनवगुप्त में स्पष्ट मिलते हैं। राजशेखर ने वामन और उनके सम्प्रदाय का उल्लेख वामनीयाः रूप में किया है। 'ते च द्विधाऽरोचकिनः सतृणाभ्यवहारिणश्च। कवयोऽपि भवन्ति इति वामनीयाः।' अर्थात् वे दो प्रकार के होते हैं—अरोचकी और सतृणाभ्यवहारी। वामनीयों के मत से कवियों के भी उपर्युक्त दो प्रकार होते हैं। राजशेखर का समय दसवीं शताब्दी का प्रथम चरण है। उधर प्रतिहारेन्दुराज और अभिनवगुप्त ने भी स्थान-स्थान पर वामन के उद्धरण दिये हैं। एक स्थान पर अभिनवगुप्त ने

> अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत् पुरःसरः।
> अहो दैवगतिः कीदृक् तथापि न समागमः॥

इस श्लोक के विवेचन में लिखा है :

'वामनाभिप्रायेणायमाक्षेपः, भामहाभिप्रायेण तु समासोक्तिरित्यमुमाशयं हृदये गृहीत्वा समासोक्त्याक्षेपयोरिदमेकमेवोदाहरणं व्यतरद् ग्रन्थकृत्।' लोचन, पृ० ३७।

अर्थात् इस श्लोक में वामन के अनुसार आक्षेपालंकार है और भामह के अनुसार समासोक्ति। इस आशय को अपने मन में रख कर ग्रन्थकार आनन्दवर्धन ने समासोक्ति और आक्षेप दोनों का यह एक ही उदाहरण प्रस्तुत किया है।

इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि अभिनव के मत से वामन आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती हैं—अर्थात् उनका आविर्भाव सन् ८५० ई० से पूर्व हुआ था।

यह तो हुई परवर्ती सीमा।

अब पूर्ववर्ती सीमा लीजिए। वामन ने अपने काव्यालंकारसूत्र में कालिदास, भवभूति, बाण, माघ आदि के छन्द उद्धृत किये हैं जिनसे स्पष्ट है कि वे निस्संदेह ही इन कवियों के परवर्ती थे। भवभूति-कृत उत्तररामचरित के 'इयं गेहे लक्ष्मीरियममृत-वर्तिनयनयोः'—आदि पद को वामन ने रूपक अलंकार के उदाहरण रूप में उद्धृत किया है। इन कवियों में भवभूति का समय, जैसा कि डा० भण्डारकर ने 'मालती-माधव' की भूमिका में युक्ति-पूर्वक निर्देश किया है, सन् ७०० और ७४० ई० के बीच में पड़ता है। उपर्युक्त शेष कवि प्रायः भवभूति के पूर्ववर्ती ही हैं—अतएव ७४० ई० को वामन के आविर्भाव-काल की पूर्वावधि माना जा सकता है।

उपर्युक्त अन्तःसाक्ष्यों के अतिरिक्त वामन के विषय में एक बहिःसाक्ष्य भी उपलब्ध है। राजतरंगिणी में कल्हण ने काश्मीर के अधिपति जयापीड के मंत्रिमंडल में वामन का नाम भी लिखा है :

मनोरथः शंखदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा।
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मंत्रिणः॥
(राजतरंगिणी ४।४९७)

काश्मीरी पण्डितों में यह अनुश्रुति है कि ये ही वामन काव्यालंकारसूत्र के रचयिता थे और ये उद्भट के समकालीन एवं प्रतिद्वन्द्वी थे। प्रसिद्ध भारत-विद्या-विशारद बुह्लर इसे मान्यता देने को प्रस्तुत हैं। वास्तव में इसके विरुद्ध कोई प्रमाण मिलता भी नहीं है। वामन ने अपने विवेचन में दण्डनीति की शिक्षा आदि तथा कवि और काव्य के आभिजात्य पर जो बल दिया है उससे इस प्रवाद की यत्किंचित् पुष्टि भी होती है। जयापीड का राज्यकाल ८०० ई० है।

इस प्रकार वामन का आविर्भाव काल ७५० ई० और ८५० ई० के आस-पास ८०० ई० के लगभग निर्धारित किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त वामन के जीवन-वृत्त के विषय में और कोई विशद तथ्य उपलब्ध नहीं हैं। उनके ग्रन्थ के अध्ययन से यह विदित होता है कि वे काव्य, काव्य-शास्त्र, दण्डनीति, व्याकरण आदि के निष्णात पण्डित थे—उनके स्वभाव में आभिजात्य और विचार में स्वच्छता थी। अभिनवगुप्त ने काव्यालंकारसूत्र में उद्धृत आक्षेपालंकार के उदाहरणों को वामन की अपनी ही रचना माना है—जिससे प्रतीत होता है कि इन्होंने कदाचित् थोड़ी बहुत काव्य-रचना भी की थी।

ग्रन्थ :—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति—वामन का एक ही ग्रन्थ उपलब्ध है काव्यालंकारसूत्र। इसके तीन अंग हैं सूत्र, वृत्ति और उदाहरण। जैसा कि पं० बलदेव उपाध्याय ने निर्देश किया है सूत्र-शैली में लिखा हुआ काव्य-शास्त्र का कदाचित् यह एकमात्र ग्रन्थ है। साधारणतः भरत से लेकर अन्तिम आचार्यों तक सभी ने कारिका और वृत्ति की शैली ही अपनाई है। इस ग्रन्थ का वृत्ति भाग भी वामन का ही है जिसे उन्होंने कविप्रिया नाम दिया है :

प्रणम्य परमं ज्योतिर्वामनेन कविप्रिया।
काव्यालंकारसूत्राणां स्वेषां वृत्तिर्विधीयते ॥

काव्यालंकारसूत्र का उपर्युक्त मंगल-श्लोक वृत्ति के विषय में कोई सन्देह ही नहीं छोड़ता। इसके अतिरिक्त प्रतिहारेन्दुराज, अभिनवगुप्त आदि सभी ने वृत्ति को वामन की ही रचना माना है। इसीलिए ग्रन्थ का नाम भी काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ही अधिक प्रसिद्ध है।

काव्यालंकारसूत्र में पाँच अधिकरण हैं—और ये अधिकरण अध्यायों में विभक्त हैं। पहले अधिकरण में वामन ने काव्य की परिभाषा, काव्य के अंग, प्रयोजन, काव्य की आत्मा—रीति, काव्य-सहायक अर्थात् काव्यहेतुक, अधिकारी, काव्य के रूप आदि मूलभूत सिद्धान्तों का विवेचन किया है। दूसरे में 'दोष-दर्शन' है जिसके अन्तर्गत पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ के दोषों का विवेचन है। तीसरा अधिकरण है 'गुण-विवेचन' जिसमें सबसे पहले तो वामन ने गुण और अलंकार का भेद स्पष्ट किया है—तदुपरान्त शब्द-गुण और अर्थ-गुण का विस्तृत विवेचन है। इस अधिकरण में वामन ने शब्द-गुण और अर्थ-गुण का पार्थक्य प्रतिपादित करते हुए, दस शब्द-गुण और

दस अर्थ-गुणों की सूक्ष्म विवेचना की है। चौथे अधिकरण 'आलंकारिक' में अलंकारों का व्याख्यान है—और 'प्रायोगिक' नामक पंचम अधिकरण में शब्द-शुद्धि तथा संदिग्ध शब्दों के प्रयोग आदि की विस्तार से चर्चा है। यह अधिकरण संस्कृत व्याकरण पर आधृत है—अतः हिन्दी के विद्यार्थी के लिए इसकी विशेष सार्थकता नहीं है। परन्तु इससे वामन की निर्भ्रान्त समीक्षा-दृष्टि तथा सूक्ष्म व्याकरण-ज्ञान का परिचय मिलता है।

भारतीय काव्य-शास्त्र में मौलिकता की दृष्टि से वामन के ग्रन्थ के अनेक प्रतिद्वन्द्वी नहीं हैं। परवर्ती आचार्यों ने यद्यपि उसकी अत्यन्त कठोर आलोचना की है, फिर भी उसकी महत्ता असंदिग्ध है। मध्ययुग में दुर्भाग्यवश इसका प्रचार लुप्त हो गया था। वामन के टीकाकार सहदेव के साक्ष्यानुसार मुकुल भट्ट नामक काश्मीरी पण्डित ने कहीं से इसकी प्रति प्राप्त कर इसका जीर्णोद्धार किया। सहदेव के अतिरिक्त गोपेन्द्र (तिप्पभूपाल), भट्ट गोपाल तथा महेश्वर आदि ने भी काव्यालंकार-सूत्र पर टीकाएँ लिखी हैं।

वामन के काव्य-सिद्धान्त

विवेचन क्षेत्र :

आचार्य वामन ने सामान्य रूप से काव्य के स्वरूप, प्रयोजन, अधिकारी, काव्य-हेतुक, काव्य की आत्मा तथा काव्य के रूप आदि का, और विशेष रूप से रीति, गुण—शब्द-गुण तथा अर्थ-गुण, अलंकार, दोष और शब्द-प्रयोग आदि का सूक्ष्म विवेचन किया है। काव्य के प्रसिद्ध दशांग में से उन्होंने रस और शब्द-शक्ति की समीक्षा नहीं की; ध्वनि का तो उस समय प्रश्न ही नहीं था। नायिका-भेद का सम्बन्ध रस और रूपक से ही अधिक है, इसलिए वामन की योजना में उसको भी कोई स्थान प्राप्त नहीं हुआ, वैसे भी गम्भीर रुचि के आचार्यों ने उसकी उपेक्षा ही की है। इस प्रकार वामन ने काव्य के बहिरंग को प्रमुख रूप से अपना विवेच्य माना है, और उसी की सांगोपांग तथा सूक्ष्म-गहन व्याख्या की है। काव्य के आन्तरिक तत्वों में उन्होंने गुणों को ही ग्रहण किया है—रस का गुण के ही एक तत्व के रूप में उल्लेख किया गया है।

काव्य की परिभाषा और स्वरूप :

वामन ने यद्यपि काव्य की परिभाषा पृथक् रूप से नहीं दी, फिर भी आरम्भ में ही उन्होंने काव्य के लक्षण और स्वरूप का निर्देश किया है : 'काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते'—अर्थात् गुणों और अलंकारों से संस्कृत (भूषित) शब्द और अर्थ के लिए 'काव्य' शब्द का प्रयोग होता है। इसी तथ्य को और स्पष्ट करते हुए वामन ने लिखा है :—काव्य अलंकार के कारण ही ग्राह्य होता है।[1] अलंकार का अर्थ है सौन्दर्य और सौन्दर्य का समावेश दोषों के बहिष्कार और गुण तथा अलंकार के आदान से होता है। गुण नित्य धर्म हैं, अलंकार अनित्य—केवल गुण सौन्दर्य की सृष्टि कर सकते हैं परन्तु केवल अलंकार नहीं : अर्थात् गुण की स्थिति अनिवार्य है, अलंकार की वैकल्पिक। इस प्रकार वामन के अनुसार गुणों से अनिवार्यतः और अलंकारों से साधारणतः युक्त तथा दोष से रहित शब्द-अर्थ का नाम काव्य है। वामन की इसी परिभाषा को ध्वनिवादी मम्मट ने यथावत् स्वीकार करते हुए काव्य का लक्षण किया है : 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि'—काव्य उस शब्दार्थ का नाम है जो दोषों से रहित और गुणों से युक्त हो—साधारणतः अलंकृत भी हो परन्तु यदि कहीं अलंकार न भी हो तो कोई हानि नहीं। अर्थात् दोषों से रहित तथा गुणों से अनिवार्यतः एवं अलंकारों से साधारणतः युक्त शब्द-अर्थ को काव्य कहते हैं। मम्मट ने वामन का सिद्धान्त रूप से घोर विरोध किया है, परन्तु काव्य-लक्षण उन्होंने वामन का ही ज्यों का त्यों उद्धृत कर दिया है। संस्कृत काव्य-शास्त्र में वामन के पूर्व भरत, भामह और दण्डी के काव्य-लक्षण मिलते हैं। भरत का वामन से मौलिक मतभेद है, भरत अन्तर्तत्व रस को प्रधानता देते हैं, वामन वाह्य तत्व रीति को। भामह और दण्डी भी देहवादियों में ही आते हैं अतएव इस प्रसंग में उन्हीं के लक्षणों का तुलनात्मक विवेचन अधिक सार्थक होगा।

भामह का लक्षण इस प्रकार है : 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं'—सहित अर्थात् सामंजस्यपूर्ण शब्द-अर्थ को काव्य कहते हैं। भामह ने शब्द और अर्थ के सामंजस्य को काव्य की संज्ञा दी है। इसी प्रकार दण्डी ने काव्य को 'इष्टार्थव्यवच्छिन्नापदावली'—अर्थात् अभिलषित अर्थ को व्यक्त करने वाली पदावली माना है। उपर्युक्त दोनों लक्षणों में केवल शब्दावली का भेद है—इष्टार्थ को अभिव्यक्त करने वाला शब्द—और शब्द-अर्थ का साहित्य या सामंजस्य एक ही बात है क्योंकि शब्द इष्ट अर्थ की

---

१. काव्यं ग्राह्यमलंकारात् ॥१॥ सौन्दर्यमलंकारः ॥२॥ स दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम् ॥३॥ (काव्यालंकारसूत्रवृत्तिः १,१)

अभिव्यक्ति तभी कर सकता है जब शब्द और अर्थ में पूर्ण सामंजस्य एवं सहभाव हो। आगे चलकर भामह और दण्डी के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि शब्द और अर्थ का सामंजस्य ही काव्य-सौन्दर्य है और यह अलंकार से अभिन्न है। इस प्रकार उनके अनुसार काव्य निसर्गतः अलंकार-युक्त होता है। भामह और दण्डी ने वास्तव में गुण और अलंकार में भेद नहीं किया—दोनों ही अलंकार हैं। देहवादी आचार्यों में कुन्तक का स्थान अन्यतम है। उनका मत है कि वक्रोक्तियुक्त बन्ध (पद-रचना) में सहभाव से व्यवस्थित शब्द-अर्थ ही काव्य है—

> शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि
> बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं···।

यहाँ भी मूल तथ्य यही है—वचन-भंगिमा भिन्न है। 'गुण और अलंकार से युक्त' के स्थान पर कुन्तक ने केवल एक शब्द 'वक्रकविव्यापारशाली' प्रयुक्त किया है: वास्तव में भामह तथा दण्डी के अलंकार और वामन के गुण तथा अलंकार को कुन्तक ने वक्रोक्ति में अन्तर्भूत कर लिया है—और वे उसी के प्रस्तार मात्र बन गए हैं।

इनके विपरीत दूसरा वर्ग साहित्यिक आत्मवादियों का है—जिसके अन्तर्गत भरत, आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि आचार्य आते हैं। भरत ने रसमयी, सुखबोध्य मृदु-ललित पदावली को काव्य माना है—आगे के आचार्यों ने इसी में संशोधन करते हुए उसे रसात्मक वाक्य अथवा रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्द कहा है। इन आचार्यों ने स्पष्टतया आन्तरिक तत्व अर्थ-सम्पदा पर अधिक बल दिया है, जबकि उपर्युक्त साहित्यिक देहवादियों ने बाह्य रूपाकार पर।

इस पृष्ठभूमि में वामन के लक्षण का विवेचन करने पर निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं:

(१) वामन शब्द और अर्थ दोनों को समान महत्व देते हैं—सहित शब्द का प्रयोग न करते हुए भी वे दोनों के साहित्य को ही काव्य का मूल अंग मानते हैं।

(२) दोष को वे काव्य के लिए असह्य मानते हैं: इसीलिए सौन्दर्य का समावेश करने के लिए दोष का बहिष्कार पहला प्रतिबन्ध है।

(३) गुण काव्य का नित्य धर्म है—अर्थात् उसकी स्थिति काव्य के लिए अनिवार्य है।

(४) अलंकार काव्य का अनित्य धर्म है—उसकी स्थिति वांछनीय है, अनिवार्य नहीं।

यह तो स्पष्ट ही है कि वामन का लक्षण निर्दोष नहीं है। लक्षण अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोषों से मुक्त होना चाहिये : उसकी शब्दावली सर्वथा स्पष्ट किन्तु संतुलित होनी चाहिये—उसमें कोई शब्द अनावश्यक नहीं होना चाहिए। इस दृष्टि से पहले तो वामन का और वामन के अनुकरण पर मम्मट का दोष के अभाव को लक्षण में स्थान देना अधिक संगत नहीं है। दोष की स्थिति एक तो सापेक्षिक है; दूसरे, दोष काव्य में बाधक तो हो सकता है, परन्तु उसके अस्तित्व का सर्वथा निषेध नहीं कर सकता। "काणत्व" अथवा क्लीवत्व मनुष्य के व्यक्तित्व की हानि करता है, मनुष्यता का निषेध नहीं करता। इसलिए दोषाभाव को काव्य-लक्षण में स्थान देना अनावश्यक ही है। इसके अतिरिक्त अलंकार की वांछनीयता भी लक्षण का अंग नहीं हो सकती। मनुष्य के लिए अलंकरण वांछनीय तो हो सकता है, किन्तु वह मनुष्यता का अनिवार्य गुण नहीं हो सकता। वास्तव में लक्षण के अन्तर्गत वांछनीय तथा वैकल्पिक के लिए स्थान ही नहीं है। लक्षण में मूल, पार्थक्यकारी विशेषता रहनी चाहिए : भावात्मक अथवा अभावात्मक सहायक गुणों की सूची नहीं। इस दृष्टि से भामह का लक्षण "शब्द-अर्थ का साहित्य" कहीं अधिक तत्व-गत तथा मौलिक है। जहाँ शब्द हमारे अर्थ का अनिवार्य माध्यम बन जाता है वहीं वाणी की सफलता है। यही अभिव्यंजनावाद का मूल सिद्धान्त है—क्रोचे ने अत्यन्त प्रबल शब्दों में इसी का स्थापन और विवेचन किया है। आत्माभिव्यंजन का सिद्धान्त भी यही है। मौलिक और व्यापक दृष्टि से भामह का लक्षण अत्यन्त शुद्ध और मान्य है : परन्तु इस पर अतिव्याप्ति का आरोप किया जा सकता है, और परवर्ती आचार्यों ने किया भी है। आरोप यह है कि यह तो अभिव्यंजना का लक्षण हुआ—काव्य का नहीं। शब्द और अर्थ का सामंजस्य उक्ति की सफलता है—अभिव्यंजना की सफलता है। परन्तु क्या केवल सफल अभिव्यंजना ही काव्य है ? हमारे आचार्यों ने—भरत से लेकर रामचन्द्र शुक्ल तक ने इसका निषेध किया है। उधर विदेश में भी अरस्तू से लेकर रिचर्ड्स तक सभी ने इसका प्रतिवाद किया है। भारतीय काव्य-शास्त्र में इसीलिए विश्वनाथ को 'रसात्मक' शब्द का प्रयोग करना पड़ा और पंडितराज जगन्नाथ को 'रमणीयार्थ-प्रतिपादक' विशेषण लगाना पड़ा—शुक्ल जी ने भी इसीलिए 'रमणीय' और 'रागात्मक' शब्दों का प्रयोग किया है। इन आचार्यों के अनुसार प्रत्येक अर्थ और शब्द का सामंजस्य काव्य नहीं है—रमणीय अर्थ और शब्द का सामंजस्य ही काव्य है। दूसरे शब्दों

में प्रत्येक (सफल) उक्ति काव्य नहीं है। सरस या रमणीय (रमणीय अर्थ को व्यक्त करने वाली) उक्ति ही काव्य है। अरस्तू ने भी भाव-वैभव पर इसी दृष्टि से अधिक बल दिया है—और आधुनिक मनोवैज्ञानिक आलोचक रिचर्ड्स भी, जो कि काव्य को मूलतः एक अनुभव मानते हैं, इस अनुभव के लिए—प्रकार की दृष्टि से नहीं—प्रभाव आदि की दृष्टि से कतिपय गुणों की स्थिति अनिवार्य मानते हैं। सीधे शब्दों में प्रत्येक अनुभव काव्य नहीं है—समृद्ध अनुभव[1] ही काव्य है।

परन्तु इस तर्क के विरुद्ध भामह के लक्षण के समर्थन में भी युक्ति दी जा सकती है—और वह यह कि शब्द और अर्थ का सामंजस्य अपने आप में ही रमणीय होता है: उसके लिए रमणीय विशेषण की आवश्यकता नहीं। क्रोचे का यही मत है कि सफल उक्ति स्वयं सौन्दर्य है—उसके अतिरिक्त सौन्दर्य कोई वाह्य तत्त्व नहीं है। "सफल अभिव्यंजना ही सौन्दर्य है क्योंकि असफल अभिव्यंजना तो अभिव्यंजना ही नहीं होती।" (क्रोचे)। भारतीय काव्य-शास्त्र में कुन्तक की सूक्ष्म दृष्टि इस तथ्य तक पहुँची है और उन्होंने इस विरोधाभास को दूर करने का प्रयत्न किया है। एक स्थान पर साहित्य अर्थात् शब्द और अर्थ के सहभाव का अर्थ स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि शब्द और अर्थ का यह सहभाव केवल वाच्य-वाचक-सम्बन्ध-रूप नहीं होना चाहिए—उसमें तो वक्रता-वैचित्र्य गुणालंकार-सम्पदा की मानों परस्पर स्पर्धा रहनी चाहिए।[2] अन्यथा केवल वाच्य-वाचक सम्बन्ध होने से तो वह आह्लादकारी नहीं होगा।[3] परन्तु अन्यत्र अपने आशय को और भी स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि शब्द-अर्थ के साहित्य का अभिप्राय है अन्यून-अनतिरिक्त प्रयोग के कारण इन दोनों की मनोहारिणी अवस्थिति। इससे स्पष्ट व्यंजित होता है कि शब्द-अर्थ का अन्यून-अनतिरिक्त प्रयोग और तज्जन्य पूर्ण सामंजस्य अथवा साहित्य (सहभाव) स्वयं ही मनोहारी होता है।[4]

वामन का काव्य-लक्षण उपर्युक्त लक्षणों की अपेक्षा स्थूल है—'गुण और अलंकार से युक्त' तथा 'दोष से रहित' शब्दावली तत्व को शब्द-बद्ध नहीं करती—

---

१. रिच एक्सपीरियंस

२. वक्रताविचित्रगुणालंकारसम्पदां परस्परस्पर्धाधिरोहः।

३. अन्यथा तद्विदाह्लादकारित्वहानिः।

४. साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काऽप्यसौ।
अन्यूनातिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः॥

केवल गुणों का वर्णन करती है। वैसे यह लक्षण अशुद्ध नहीं है क्योंकि गुण और अलंकार के अन्तर्गत वामन ने काव्यगत सौन्दर्य के विभिन्न रूपों को अन्तर्भूत कर उन्हें एक प्रकार से सौन्दर्य के पर्याय रूप में ही प्रयुक्त किया है : सौन्दर्यमलंकारः। अतएव वामन के लक्षण का संक्षिप्त रूप यह हुआ : "सुन्दर (सौन्दर्यमय) शब्दार्थ काव्य है।" और, यह लक्षण बुरा नहीं है। परन्तु वामन ने कदाचित् गुण और अलंकार का जानबूझ कर प्रयोग इसलिए किया है कि उनका रीति-सिद्धान्त मूलतः गुण और सामान्यतः अलंकार पर ही आश्रित है अतएव अपने वैशिष्ट्य को व्यक्त करने के लिए उनका प्रयोग वामन के लिए अनिवार्य हो गया है।

फिर भी कारण चाहे कुछ भी रहा हो यह लक्षण तात्विक न रह कर वर्णनात्मक हो गया है—अतएव लक्षण की दृष्टि से यह सर्वथा श्लाघ्य नहीं है।

काव्य की आत्मा :

वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना है : 'रीतिरात्मा काव्यस्य'। जो सम्बन्ध शरीर का आत्मा के साथ है, वही शब्द-अर्थ रूप काव्य-शरीर का रीति के साथ है। रीति का अर्थ है विशिष्ट पद-रचना : 'विशिष्टा पद-रचना रीतिः'। विशिष्ट का अर्थ है गुणयुक्त—'विशेषो गुणात्मा'। इस प्रकार रीति का अर्थ हुआ गुण-सम्पन्न पद-रचना और 'रीतिरात्मा काव्यस्य' का अर्थ हुआ : गुण-सम्पन्न पद-रचना काव्य की आत्मा है।

रीति के स्वरूप को और स्पष्ट करते हुए वामन ने लिखा है—इन तीन रीतियों के भीतर काव्य इस प्रकार समाविष्ट हो जाता है जिस प्रकार रेखाओं के भीतर चित्र।[1] इन तीन रीतियों (वैदर्भी, गौड़ीया और पांचाली) में से वैदर्भी ही ग्राह्य है।[2] इसमें ही अर्थ-गुण-सम्पदा का पूर्णतया आस्वादन किया जा सकता है। उसके उपधान (आश्रय) से थोड़ा-सा अर्थ-गुण भी आस्वाद्य (चमत्कारपूर्ण) हो जाता है। सम्पन्न अर्थ-गुण का तो कहना ही क्या![3]

---

१. एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितमिति। तासां पूर्वा ग्राह्या ॥१४॥

२. तस्यामर्थगुणसम्पदास्वाद्या भवति ॥२०॥ तदुपारोहादर्थगुणलेशोऽपि ॥२१॥ तदुपधानतः खल्वर्थमलेशोऽपि स्वदते।

३. किमंग पुनरर्थगुणसंपत्। [काव्यालंकारसूत्रवृत्तिः (प्रथम अधिकरण)]

उपर्युक्त विवेचन से कतिपय स्पष्ट निष्कर्ष निकलते हैं। काव्य मूलतः पद-रचना है—अर्थात् वामन ने वस्तु और रीति (शैली) में रीति (शैली) को ही प्रधानता दी है। रीति का स्वरूप बहुत कुछ बाह्य ही है : चित्र में जो रेखा का स्थान है वही काव्य में रीति का, काव्य उसी में निहित रहता है ; वस्तु—जिसके लिए वामन ने 'अर्थगुणसम्पदा' शब्द का प्रयोग किया है, उसी के आश्रित है—रीति के उपधान से ही उसका सौंदर्य निखरता है। इस प्रकार वामन वस्तु को रीति के आश्रित मानते हैं—परन्तु वे वस्तु-तत्व का निषेध नहीं करते—उसका पृथक् अस्तित्व वे निस्संदेह स्वीकार करते हैं : उन्होंने इसीलिए अर्थगुणसम्पदा और अर्थलेश—इन दो परिमाण-सूचक शब्दों का प्रयोग किया है।

वस्तु और रीति के सापेक्षिक महत्व के विषय में साधारणतः चार सिद्धान्त हैं :

(१) एक सिद्धान्त तो यह है कि काव्य का मूल तत्व वस्तु (भाव तथा विचार) तत्व ही है : रीति सर्वथा उसी के आश्रित है। रीति केवल वाहन अथवा माध्यम है जो वस्तु की पूर्णतया अनुवर्तिनी है। महान काव्य-वस्तु अनिवार्यतः महान शैली की अपेक्षा रखती है। क्षुद्र वस्तु का माध्यम क्षुद्र ही होगा। स्वदेश-विदेश के प्राचीन आचार्यों का प्रायः यही मत रहा है। प्राचीन समृद्ध काव्य इस सिद्धान्त का उदाहरण है। यूनान के प्रसिद्ध नाटककार ऐस्काइलस ने अत्यन्त प्रबल शब्दों में इसकी घोषणा की थी :

'व्हेन द सबजेक्ट इज़ ग्रेट······देन ऑफ निसेसिटी ग्रेट गोज द वर्ड।'—काव्य-वस्तु के महान होने से शैली अनिवार्यतः महान हो जाती है। अरस्तू, लोंजाइनस, इधर मैथ्यू आर्नल्ड आदि का यही अभिमत था। मैथ्यू आर्नल्ड ने वस्तु-गौरव पर बहुत बल दिया है :—

"प्राचीन कवियों की अभिव्यंजना इतनी उत्कृष्ट इसलिए है क्योंकि वह अपनी शक्ति सीधे उस वस्तु-तत्व के अर्थ-गौरव से ग्रहण करती है।"[१]—हमारे यहाँ इसकी सबसे प्रबल उद्घोषणा शुक्ल जी ने की है।

(२) दूसरा सिद्धान्त इससे ईषत् भिन्न व्यक्तिवादियों का है जो काव्य को मूलतः आत्माभिव्यंजन मानते हैं और वस्तु तथा रीति दोनों को ही व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मानते हैं।

---

१. (प्रिफेस : ऐसेज इन क्रिटिसिज्म)

(३) तीसरा सिद्धान्त आधुनिक अभिव्यंजनावादियों का है जिसके अनुसार केवल रीति अथवा अभिव्यंजना की ही सत्ता है—वस्तु का उससे स्वतन्त्र कोई अस्तित्व नहीं है। यह दूसरे सिद्धान्त से दूर नहीं है।

(४) चौथा सिद्धान्त वस्तु और रीति दोनों के समन्वय पर बल देता है—उसके अनुसार अर्थ और शब्द दोनों का समान अस्तित्व है। विदेश में भी पेटर, रॅले आदि परवर्ती आलोचकों ने विषय और शैली दोनों को समान गौरव प्रदान किया है।

वामन की स्थिति इन चारों से भिन्न है : वामन का दृष्टिकोण सर्वथा अव्यक्ति-गत है—अतएव व्यक्तित्व की तो वे उपेक्षा ही कर गए हैं। उधर वस्तुवादियों की भाँति रीति को वस्तु की आश्रिता मानने का भी उनके लिए प्रश्न नहीं उठता। परन्तु अभिव्यंजनावादियों की भाँति वस्तु-तत्व का निषेध भी वे नहीं करते। साथ ही वे दोनों का समान महत्व भी नहीं मानते : उन्होंने पद-रचना को ही काव्य माना है किन्तु उसके लिए गुण-सम्पन्नता अनिवार्य मानी है। गुण के अर्थ-गुण और शब्द-गुण ये दो भेद कर, और कान्ति में रस की दीप्ति मानते हुए वामन ने अर्थ अथवा वस्तु की सत्ता तथा महत्व दोनों ही अंगीकार किये हैं, फिर भी सब मिलाकर सापेक्षिक महत्व रीति का ही है—जिसके बिना अर्थ-गुण-सम्पदा का उत्कर्ष सिद्ध ही नहीं हो सकता। इस प्रकार उनकी स्थिति वास्तव में अभिव्यंजनावादियों और समन्वयवादियों की मध्यवर्तिनी है। वस्तु-तत्व की सत्ता स्वीकार कर वे अभिव्यंजनावादियों (विशेषकर परवर्ती अभिव्यंजनावादियों) से पृथक् हो जाते हैं और वस्तु-तत्व को रीति के आश्रित मानकर वे साम्यवादियों की कोटि से बाहर पड़ जाते हैं। वामन का सिद्धान्त (मैथ्यू आनल्ड और शुक्लजी जैसे) उन आलोचकों के सिद्धान्त के विपरीत है जो रीति को वस्तु की आश्रिता मानते हैं। साहित्य के क्षेत्र में उनको देहवादी ही मानना पड़ेगा—किन्तु वे ऐसे देहवादी हैं जो आत्मा की सत्ता का निषेध तो नहीं करते पर उसे मानते हैं पंचभूत का ही विलास।

काव्य का प्रयोजन

मनुष्य के प्रत्येक कर्म का—निष्काम कर्म का भी, कुछ न कुछ प्रयोजन रहता है। शास्त्र तथा काव्य का भी निश्चित प्रयोजन होता है क्योंकि यदि प्रयोजन ही न हो तो उसकी क्या सार्थकता :

सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित् ।
यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत्केन गृह्यते ॥

अतएव काव्य के प्रयोजन का अस्तित्व निस्संदेह मानना ही पड़ेगा—यह दूसरी बात है कि यह प्रयोजन स्थूल और भौतिक न होकर सूक्ष्म अथवा चाहे काव्य से अभिन्न ही क्यों न हो। काव्य का प्रयोजन काव्य मानने वाले भी प्रयोजन के अस्तित्व का निषेध नहीं करते। संस्कृत वाङ्मय में प्रत्येक शास्त्र के चार अनुबन्ध माने गये हैं—जिन्हें अनुबन्ध-चतुष्टय कहा गया है : अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन। वामन ने भी उपर्युक्त प्रश्न उठाते हुए काव्य के प्रयोजन का विवेचन किया है :

प्रश्न—अलंकारवान काव्य से ऐसा क्या लाभ है जो उसके लिए इतना यत्न किया जाए ?

उत्तर—सत्काव्य दृष्ट और अदृष्ट दोनों प्रकार के प्रयोजन सिद्ध करता है—ये हैं प्रीति (आनन्द) और कीर्ति।

सुन्दर काव्य का दृष्ट प्रयोजन है आनन्द और अदृष्ट प्रयोजन है कीर्ति।

इस आशय के कुछ श्लोक लीजिए :

सत्काव्य की रचना को यश की सरणि और कुकवियों की विडम्बना को अप-यश की सरणि कहा गया है।

विद्वानों ने कीर्ति को स्वर्गफला कहा है जो सृष्टि पर्यन्त रहती है और अप-कीर्ति को आलोकहीन नरक की दूतिका।

इस प्रकार वामन ने आनन्द और कीर्ति—ये दो काव्य के मूल प्रयोजन माने हैं। वामन के पूर्व और उनके उपरान्त भी अनेक आचार्यों ने इस विषय का विवेचन किया है। भरत मुनि ने लिखा है :

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम् ।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति ॥

अर्थात् यह नाट्य (काव्य) धर्म, यश और आयु का साधक, हित और बुद्धि का वर्धक तथा लोकोपदेष्टा होगा। इस प्रकार भरत के अनुसार काव्य के प्रयोजन हुए—धर्म, यश, आयु, हित, बुद्धि और उपदेश। भरत के उपरान्त भामह ने इसमें थोड़ा परिवर्तन-परिशोधन किया। उनके अनुसार

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्ति प्रीति च साधुकाव्यनिषेवणम्॥

सत्काव्य के सेवन से—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों की प्राप्ति, कलाओं में निपुणता, कीर्ति तथा प्रीति की उपलब्धि होती है। इनमें भामह के धर्म और अर्थ भरत के धर्म और हित हैं, कलाओं में विचक्षणता के लिए भरत ने एक शब्द बुद्धि का प्रयोग किया है, उधर भामह ने कीर्ति और भरत ने यश शब्द प्रयुक्त किया है। यहां तक तो दोनों आचार्यों के मत प्रायः समान ही हैं। परन्तु इसके आगे थोड़ा पार्थक्य है : भामह ने प्रीति—आनन्द—का स्पष्ट उल्लेख किया है, उधर भरत ने लोकोपदेश को भी स्वतन्त्र रूप से काव्य का प्रयोजन माना है। परन्तु मेरी धारणा है कि यह भेद मौलिक न होकर शाब्दिक ही है क्योंकि लोकोपदेश—(लोक-व्यवहार का उपदेश अथवा लोक का पथ-निर्देशन) का अन्तर्भाव भामह के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में हो जाता है, और उधर रस को काव्य का मूल मानने वाले भरत के लिए भी प्रीति—आनन्द—उपेक्षणीय नहीं हो सकता।

आनन्द की सबसे प्रबल प्रतिष्ठा कुन्तक ने की है। धर्मादि की प्राप्ति, व्यवहार का सुन्दर ज्ञान आदि तो काव्य के प्रयोजन हैं ही परन्तु सबसे बड़ी बात यह है कि काव्यामृत के रस से चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति से भी बढ़कर अन्तश्चमत्कार की उत्पत्ति होती है :—

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते॥

(व० जी० १, ५)

आगे चलकर आचार्यों ने प्रायः इन्हीं प्रयोजनों की चर्चा की है। भोज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में इस प्रसंग में निम्नोद्धृत श्लोक दिया हुआ है :

अदोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन्कीर्ति प्रीति च विन्दति॥

यहाँ भी भामह और वामन के कीर्ति और प्रीति इन दो प्रयोजनों का उल्लेख है। मम्मट ने इस प्रसंग में कुछ अधिक निश्चित शब्दावली का प्रयोग किया :

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशतये॥

अर्थात् यश, अर्थ, व्यवहार-ज्ञान, अशिव की क्षति, तात्कालिक आनन्द, और कान्ता-सम्मित उपदेश—ये छः काव्य के प्रयोजन हैं। मम्मट का मत भरत और भामह के मत से मूलतः भिन्न नहीं है। अशिव की क्षति, कुछ नवीन सी उद्भावना अवश्य प्रतीत होती है। परन्तु एक तो यह प्रयोजन दैविक चमत्कार पर आश्रित है, और कुछ विशेष कवियों से सम्बद्ध किंवदन्तियाँ ही इसका आधार हैं—इसलिए बहुत कुछ एकांगी तथा आकस्मिक है और आज के युग में यह विश्वसनीय भी नहीं हो सकता। दूसरे, भरत के हित शब्द में और भामह के चतुर्वर्ग में इसका अन्तर्भाव भी हो जाता है। सब मिला कर मम्मट का विवेचन स्थूल है—उनके द्वारा निर्दिष्ट प्रयोजन निश्चित अवश्य हैं, परन्तु मौलिक नहीं हैं—उन्होंने मूलभूत तत्वों को ग्रहण न कर व्यक्त परिणामों को ही लिया है। उन्हें काव्य के फल कहना अधिक संगत होगा। विश्वनाथ ने इन सबका पृथक् निर्देशन न कर चतुर्वर्ग में ही समाहार कर दिया है :—

चतुर्वर्गफलप्राप्ति सुखादल्पधियामपि।

उपर्युक्त कारिका में चतुर्वर्ग को काव्य का उद्देश्य और सुख को उसकी विधि बताया गया है। किन्तु सुख यहाँ आनन्द का पर्याय नहीं है, सरल और रुचिकर का ही वाचक है।

उपर्युक्त विवेचन का सार इस प्रकार है :

भरत से लेकर मम्मट आदि तक सभी आचार्यों ने काव्य-प्रयोजन का विवेचन कवि और सहृदय दोनों की दृष्टि से ही किया है। भरत-निर्दिष्ट प्रयोजनों में हित, बुद्धि-विवर्धन तथा लोकोपदेश तो सहृदय की दृष्टि से कहे गये हैं—यश कवि की दृष्टि से और धर्म कदाचित् दोनों की दृष्टि से ही। इसी प्रकार भामह की कारिका में कलाओं में विचक्षणता तथा प्रीति पाठक के लिए, कीर्ति कवि के लिए, और धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष दोनों के लिए कहे गये हैं। मम्मट में यह विभाजन विवेचन की स्थूलता के कारण और भी स्पष्ट हो जाता है : यश, अर्थ, और अशिव की क्षति कवि के प्राप्य हैं, और व्यवहार-ज्ञान, सद्यःपरनिर्वृति, कान्तासम्मित उपदेश पाठक

के। विश्वनाथ ने 'अल्पधियामपि' कह कर अपनी दृष्टि पाठक तक ही सीमित कर दी है। परन्तु कवि और सहृदय की दृष्टि से प्रयोजनों का यह विभाजन सर्वथा अन्तिम अथवा अतर्क्य नहीं है—उपर्युक्त प्रायः सभी प्रयोजनों को उभयमुख अर्थात् कवि और पाठक दोनों के लिए मानने में कोई मौलिक आपत्ति नहीं हो सकती।

वामन ने विस्तार में न जाकर काव्य के प्रयोजन केवल दो माने हैं : दृष्ट प्रयोजन प्रीति—आनन्द, और अदृष्ट प्रयोजन कीर्ति। उन्होंने अपने स्तर को न तो धर्म और मोक्ष जैसे परम पुरुषार्थों तक ऊँचा उठाया है और न वे अर्थोपार्जन के निम्नतर स्तर तक ही उतरे हैं। इनके अतिरिक्त भरत मम्मटादि द्वारा निर्दिष्ट काव्य के अन्य प्रयोजन इस प्रकार हैं :—बुद्धि-विवर्धन, कलाओं में विचक्षणता, लोक-व्यवहार-ज्ञान, और उपदेश। आधुनिक शब्दावली में इन सबका समाहार बौद्धिक विकास, व्युत्पन्नता और लोक-मंगल में हो जाता है। मोक्ष को रूढ़ अर्थ में तो काव्य का प्रयोजन आज नहीं माना जा सकता—परन्तु मोक्ष का अर्थ यदि मुक्तावस्था किया जाय—तो निस्सन्देह ही काव्य का उच्चतम लक्ष्य (शुक्लजी के शब्दों में) हृदय की मुक्तावस्था ही तो है—जहाँ मनुष्य अपने क्षुद्र राग-द्वेष—अपने और पराये की भावना से ऊपर उठ कर रसवती भूमिका में पहुँच जाता है। काव्य का इससे भव्यतर लक्ष्य आधुनिक काव्य-शास्त्र और मनोविज्ञान दोनों मिलकर भी नहीं खोज सके हैं। परन्तु वामन ने इन सभी को अप्रासंगिक मान कर छोड़ दिया है और काव्य के केवल दो ही प्रयोजन माने हैं प्रीति और कीर्ति। उनकी वृत्ति से प्रतीत होता है कि साधारणतः कीर्ति कवि की सिद्धि और आनन्द पाठक का प्राप्य है, तथापि मूलतः इन दोनों की व्यवस्था कवि और पाठक दोनों के लिए ही की गयी है।

वामन का दृष्टिकोण शास्त्रीय—या यों कहिए कि शास्त्र-सीमित ही रहा है—दार्शनिक और तात्विक नहीं हो पाया। उन्होंने एक सीधा प्रश्न उठाया है : और उसका सीधा ही उत्तर दिया है—उनकी दृष्टि प्रत्यक्ष पर ही रही है—मूल तत्व पर नहीं गई, इसीलिए उन्होंने भामह के अन्तिम दो प्रत्यक्ष प्रयोजनों को ही ग्रहण किया है। इन दोनों में भी वामन ने कीर्ति पर ही अधिक बल दिया है। कीर्ति की प्रशस्ति में उद्धृत श्लोक इसके प्रमाण हैं। इसमें संदेह नहीं कि कीर्ति के प्रति मनुष्य की बहुत बड़ी एषणा रहती है, और कवि के लिए भी वह बाह्य दृष्टि से एक प्रबल प्रलोभन है ही—परन्तु फिर भी काव्य का वह आधारभूत प्रयोजन नहीं है—धन उससे भी निम्नतर कोटि का है : इन दोनों को प्रासंगिक फल ही माना जा सकता है। कीर्ति को प्रयोजन मान कर महान काव्य की रचना संभव नहीं है।

वह उसका एक परिणाम मात्र ही हो सकती है। काव्य का मूल प्रयोजन तो आनन्द ही है : 'सकलप्रयोजनमौलिभूतमानदं''''वेद्यान्तरस्पर्शशून्यं।' वामन ने निस्सन्देह ही उसको स्वीकार किया है—परन्तु उसको उचित गौरव नहीं दिया। कीर्ति और प्रीति —इन दोनों में कीर्ति वाह्य गुण है, प्रीति आन्तरिक; पहले का अस्तित्व प्रदर्शनात्मक है, दूसरे का अनुभूत्यात्मक। अतएव यह अस्वाभाविक नहीं है कि काव्य के बाह्य उपकरण रीति को आत्मा मानने वाले शास्त्रकार का ध्यान कीर्ति के प्रति अधिक आकृष्ट हुआ है और रस-जन्य प्रीति के प्रति कम।

आधुनिक काव्य-शास्त्र में काव्य के मूलतः दो प्रयोजन माने गए हैं : (१) व्यक्तिगत : आनन्द (२) सामाजिक : लोकमंगल। भारतीय काव्य-शास्त्र में वर्णित प्रयोजनों का भी इसी प्रकार वर्गीकरण किया जा सकता है। प्रीति, बुद्धि-वर्धन, कला-नैपुण्य आदि व्यक्तिगत सिद्धियाँ हैं : लोक-व्यवहार, लोकोपदेश, हित आदि सामाजिक हैं। कीर्ति और अर्थ की भी गणना व्यक्तिगत सिद्धियों के अन्तर्गत ही की जाएगी—परन्तु जैसा कि मैंने अभी कहा, वे काव्य की प्रासंगिक सिद्धियाँ मात्र ही हैं—लक्ष्य नहीं हैं। वामन ने सामाजिक पक्ष की तो पूर्णतया उपेक्षा ही की है—प्रीति को कीर्ति की अपेक्षा कम महत्व देकर व्यक्तिगत पक्ष को भी वांछित गौरव नहीं दिया। इसका कारण यही है कि उनकी दृष्टि काव्य के बाह्य पर ही अटकी रही—मूल तत्वों तक नहीं पहुँच सकी।

काव्य-हेतु

वामन ने काव्य-हेतु के लिए काव्यांग शब्द का प्रयोग किया है और राजशेखर ने उन्हें काव्य-माताएँ माना है। परन्तु साधारणतः काव्य के सहायक अंगों के लिए काव्य-हेतु शब्द ही प्रचलित हो गया है। वामन ने काव्य के हेतु तीन माने हैं। लोक, विद्या और प्रकीर्ण।

लोक :—लोक का अर्थ है लोक-व्यवहार।

विद्या :—शब्द-शास्त्र, कोश, छन्द-शास्त्र, कला, दण्डनीति आदि विद्याएँ हैं। शब्द-शास्त्र से शब्द-शुद्धि आती है। शब्द-कोश से शब्द के अर्थ का निश्चय होता है। किन्तु अपूर्व शब्दों के लिये कोश का उपयोग करना उचित नहीं है। अप्रयुक्त (अप्रचलित) शब्दों का प्रयोग काव्य में नहीं करना चाहिये। छन्द-शास्त्र के द्वारा छन्द-सम्बन्धी संशय का नाश होता है। कला-शास्त्र के अध्ययन से कला-तत्व का बोध होता है। कला-तत्व की उपलब्धि के बिना कला-कृति की रचना सम्भव नहीं है।

काम-शास्त्र से प्रणय-रीति का ज्ञान प्राप्त होता है : काव्य-विषय में प्रायः प्रणय-रीति का ही बाहुल्य रहता है। दण्डनीति (राजनीति) से नीति और अनीति की पहचान होती है। षाड्गुण्य अर्थात् सन्धि और विग्रह, यात्रा और विराम, विभाजन और सम (संयोग)—इन छः गुणों का यथावत् प्रयोग नीति है। उसका वैपरीत्य अनीति है। इनका ज्ञान हुए बिना काव्य में नायक-प्रतिनायक के कार्यों का वर्णन नहीं किया जा सकता। दण्डनीति के अध्ययन से कथावस्तु में जटिलता आती है। इतिहास आदि (पर आश्रित) इतिवृत्त काव्य का शरीर है। इतिवृत्त में जटिलता दण्डनीति से ही आती है। इसी प्रकार अन्य विद्याओं के लाभ भी बताए जा सकते हैं।

प्रकीर्ण :—प्रकीर्ण के अन्तर्गत लक्ष्य-ज्ञान, अभियोग, वृद्धसेवा, अवेक्षण, प्रतिभान और अवधान आते हैं।

लक्ष्य-ज्ञान का अर्थ है दूसरों के काव्य से परिचय, अभियोग से तात्पर्य है है काव्य-रचना में उद्यम—लगन, काव्य-कला की शिक्षा देने योग्य गुरुजन की सेवा वृद्ध-सेवा है, पदों को रखना और हटाना अर्थात् उपयुक्त शब्द का चयन और अनुपयुक्त का त्याग अवेक्षण कहलाता है। प्रतिभान तो कवित्व का बीज है : यह एक जन्मान्तर-गत संस्कार-विशेष है जिसके बिना काव्य सम्भव नहीं है, और यदि सम्भव है तो उपहास्य होता है। चित्त की एकाग्रता अवधान है।

संस्कृत काव्य-शास्त्र में काव्य-हेतुओं का विस्तार से उल्लेख है। वामन से पूर्व भामह और दण्डी ने भी उनका स्पष्ट विवेचन किया है। दण्डी ने काव्य के तीन कारण माने हैं :

नैसर्गिकी च प्रतिभा, श्रुतञ्च बहु निर्मलम्
अमन्दश्चाभियोगश्च, कारणं काव्य-सम्पदः।
(काव्यादर्श १।१०३)

—निसर्गजात प्रतिभा, निर्भ्रान्त लोक-शास्त्र-ज्ञान और अमन्द अभियोग। मम्मट ने इन्हें और भी व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया है : उन्होंने इन्हें क्रमशः शक्ति, निपुणता और अभ्यास नामों से अभिहित किया है। परवर्ती आचार्यों ने प्रायः मम्मट की व्यवस्था को ही स्वीकृत कर लिया है; परन्तु प्रतिभा और निपुणता के सापेक्षिक महत्व पर थोड़ा विवाद रहा है। भामह ने स्पष्ट शब्दों में प्रतिभा की महत्व-प्रतिष्ठा की है : गुरु के उपदेश से शास्त्र का अध्ययन तो जड़बुद्धि भी कर सकते हैं, परन्तु

काव्य की रचना प्रतिभावान ही कर सकता है। उधर दण्डी ने प्रतिभा की महत्ता स्वीकार करते हुये भी श्रम और यत्न को पर्याप्त महत्व दिया है। रुद्रट एक चरण और आगे बढ़ गये हैं और उन्होंने प्रतिभा को भी आहार्य—या उत्पाद्य माना है: 'सहजोत्पाद्या सा द्विधा भवति'। इनके अतिरिक्त प्रायः सभी ने प्रतिभा को नैसर्गिकी माना है—और उसे निपुणता तथा अभ्यास से श्रेष्ठतर घोषित किया है। आनन्दवर्धन ने लिखा है कि व्युत्पत्त्यभाव-जन्य दोष का कवि की प्रतिभा द्वारा संवरण हो जाता है। वाग्भट्टादि ने भी प्रतिभा को काव्य का कारण और व्युत्पत्ति आदि को उसका भूषण मात्र माना है। और, यही मत पण्डितराज जगन्नाथ का है; वे व्युत्पत्ति और अभ्यास को प्रतिभा का पोषक मानते हैं। इस परम्परा में अपवाद केवल आचार्य मंगल हैं जिन्होंने व्युत्पत्ति को प्रतिभा से श्रेष्ठतर माना है और आनन्दवर्धन के वजन पर लिखा है: "कवि की व्युत्पत्ति उसकी अशक्ति का संवरण कर लेती है।" परन्तु मंगल का मत अतिवाद मात्र है और आनन्दवर्धन का सिद्धान्त ही विवेक-संगत है।

इसमें संदेह नहीं कि वामन ने प्रतिभा (प्रतिभान) को कवित्व का बीज माना है जिसके बिना काव्य-रचना सम्भव नहीं है, और यदि है भी तो उपहास्य हो जाती है। परन्तु फिर भी उनके सम्पूर्ण विवेचन से यह परिलक्षित होता है कि उन्होंने प्रतिभा को वांछित गौरव नहीं दिया। एक तो उन्होंने काव्य के जो तीन अंग माने हैं उनमें लोक और विद्या को पहले स्थान दिया है। प्रतिभा का उन्होंने तीसरे काव्यांग प्रकीर्ण के अन्तर्गत उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने लोक और विद्या को सर्वथा स्वतंत्र महत्व दिया है जब कि अन्य आचार्यों ने उन्हें प्रतिभा के पोषक—अथवा प्रतिभा द्वारा अनुशासित ही माना है। प्रतिभा की प्रतिष्ठा वासना अर्थात् आत्मपरक दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा है। वामन ने उसका निषेध तो नहीं किया—कर भी नहीं सकते थे, परन्तु उसे प्रकीर्ण में फेंक दिया है।

वामन के विवेचन में एक वैचित्र्य और है। अन्य आचार्यों ने लोक और शास्त्र को पृथक्-पृथक् ग्रहण न कर उनके परिणामस्वरूप निपुणता को ही संयुक्त रूप से काव्य का हेतु माना है। उनके मतानुसार लोक-व्यवहार-ज्ञान अथवा शास्त्र-ज्ञान अपने आप में काव्य का हेतु नहीं हो सकता, वरन् इन दोनों के समवेत प्रभाव-रूप निपुणता ही कवि-कर्म में सहायक हो सकती है। मम्मट तो वास्तव में और भी आगे गए हैं—उन्होंने शक्ति, निपुणता और अभ्यास को भी पृथक्-पृथक् काव्य के हेतु नहीं माना—वरन् इन तीनों को समन्वित रूप से काव्य का हेतु माना है (हेतुर्नतु

हेतवः) । और वास्तव में यही ठीक भी है—क्योंकि न तो लोक-व्यवहार-ज्ञान और न शास्त्रीय पाण्डित्य ही काव्य का कारण हो सकता :

> इश्क़ को दिल में दे जगह् नासिख़
> इल्म से शायरी नहीं आती ।

संस्कृत के माघ, हिन्दी के केशवदास, अंगरेज़ी के मिल्टन आदि कवियों के काव्य साक्षी हैं कि लोकानुभव और शास्त्र-ज्ञान दोनों का ही स्वतंत्र और सीधा प्रयोग काव्य में बाधक हो जाता है । इनका अप्रत्यक्ष उपयोग ही श्रेयस्कर है—अर्थात् इनके द्वारा प्राप्त व्युत्पन्नता हो कवि के व्यक्तित्व और व्यक्तित्व के द्वारा उसके काव्य को समृद्ध करती है। वामन ने इनका पृथक् निर्देश कर इस सत्य की उपेक्षा की है । परन्तु इन दोनों त्रुटियों के लिए वामन की वस्तुपरक—अथवा—बाह्यार्थ-निरूपिणी दृष्टि ही उत्तरदायी है। पूर्व-जन्म के अर्जित संस्कार जिनका नाम है प्रतिभा, और इस जन्म में लोकानुभव तथा शास्त्राध्ययन द्वारा अर्जित साहित्यिक संस्कार (लिटरेरी कल्चर) जिनको काव्य-शास्त्र में निपुणता कहा गया है, आंतरिक गुण हैं : इनकी संगति रस और ध्वनि के साथ ही अधिक बैठती है । इसके विपरीत लोकानुभव और शास्त्र-ज्ञान बाह्य गुण हैं । अतएव रीति अर्थात् विशिष्ट पद-रचना को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्य के लिए लोक और विद्या को स्वतन्त्र रूप से काव्य-हेतु मानना भी संगत ही है।

काव्य के अधिकारी

अनुबन्ध-चतुष्टय का एक मुख्य अंग है अधिकारी। वामन ने अधिकारी-निरूपण अत्यन्त स्पष्ट और निर्भीक शब्दों में किया है। उन्होंने कवियों के दो वर्ग किये हैं : अरोचकी और सतृणाभ्यवहारी। ये दोनों यहां गौणार्थ—लाक्षणिक अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं : इनका क्रमशः अर्थ है विवेकी और अविवेकी। इनमें विवेकी ही काव्यशास्त्र की शिक्षा के अधिकारी हैं—अविवेकी नहीं, क्योंकि उनमें विवेचन की शक्ति का सर्वथा अभाव रहता है। यहां यह प्रश्न किया जा सकता है : तो फिर यह शास्त्र सर्व-हितकारी नहीं हुआ। इसके उत्तर में कहते हैं : तो मानता कौन है ? शास्त्र अकिंचन के लिए हितकर नहीं हो सकता।[1] आगे चल कर राजशेखर ने पाठक के भी यही भेद किए, और वास्तव में पाठक के सम्बन्ध में ही यह वर्गीकरण

---

१. काव्यालंकारसूत्र

उचित भी है क्योंकि पाठक तो अविवेकी होते हैं, परन्तु साधारणतः अविवेकी व्यक्ति कवि नहीं हो सकता—जिसमें विवेचन-बुद्धि का सर्वथा अभाव है वह कवि क्या होगा? परन्तु संस्कृत काव्य-शास्त्र में कवि और पाठक में कोई मौलिक भेद नहीं माना गया। अतएव काव्य के अधिकारी और काव्य-शास्त्र के अधिकारी में भी कोई मौलिक भेद नहीं है—जो काव्य-शास्त्र का अधिकारी है वही काव्य का भी अधिकारी है।

इस प्रकार वामन ने केवल उसी को काव्य का अधिकारी माना है जिसमें विवेचन-बुद्धि है—काव्य और काव्य-शास्त्र सबके लिये न होकर व्युत्पन्न तथा विवेक-शील व्यक्तियों के लिए ही हैं। वे काव्य को सार्वजनिक सम्पत्ति न मान कर विशिष्ट समुदाय का ही विशेषाधिकार मानते हैं। उनके अनुसार काव्य बहुजनहिताय नहीं है—इसीलिए कदाचित् उन्होंने लोकमंगल को काव्य का प्रयोजन नहीं माना। वे एक प्रकार के साहित्यिक अथवा बौद्धिक आभिजात्य में विश्वास करते हैं। काव्य के विषय में यह प्रश्न अत्यन्त मौलिक और प्राचीन है : काव्य सबके लिए है—या एक विशिष्ट वर्ग के लिए? काव्य-दर्शन का विवेचन करने वाले आचार्यों में इस विषय में मतभेद रहा है। जो काव्य को जीवन की एक मौलिक प्रवृत्ति मानते हैं, उनके लिए तो निश्चय ही काव्य जीवन के अन्य सत्यों की भाँति सार्वजनिक और सर्वजन-हिताय है—परन्तु जो काव्य को एक कला मानते हैं उनके मत से—शिक्षा और संस्कार-सम्पन्न निपुण सामाजिक-वर्ग ही काव्य का अधिकारी है। विश्व-काव्य वास्तव में सभी के लिए होता है—और कला-काव्य विशिष्ट व्युत्पन्न वर्ग के लिए ही। वामन ने स्वभावतः अपना मत इस दूसरे वर्ग के पक्ष में ही दिया है।

काव्य के भेद

वामन ने काव्य का वर्ग-विभाजन दो प्रकार से किया है : माध्यम के आधार पर और विषय के आधार पर। माध्यम की दृष्टि से काव्य के दो भेद हैं—गद्य और पद्य। गद्य का पहले निर्देश किया गया है क्योंकि स्वरूप सर्वथा अनिश्चित होने के कारण इसकी रचना अत्यन्त कठिन होती है। एक उक्ति है : गद्य को कवियों की कसौटी कहा गया है। गद्य के तीन भेद हैं—वृत्तगन्धि, चूर्ण और उत्कलिकाप्राय। वृत्तगन्धि गद्य का वह रूप है जिसमें पद्य के अंश वर्तमान रहते हैं—उदाहरण के लिए—'पातालतालुतलवासिषु दानवेषु' (अर्थात् पातालतलवासी दानवों में) संस्कृत के इस उद्धरण में वसंततिलका छन्द का अंश स्पष्ट लक्षित होता है। चूर्ण गद्य का वह रूप है जो अनाविद्ध और ललितपद होता है—अर्थात् जिसमें छोटे-छोटे समास

और ललित (कोमल-मधुर) पद होते हैं। उत्कलिकाप्राय गद्य चूर्ण के विपरीत आविद्ध और उद्धत-पद होता है—अर्थात् उसमें बड़े-बड़े समास और कठोर पद होते हैं।

पद के अनेक भेद हैं : सम, अर्धसम और विषम आदि के भेद से उसके अनेक भेद हैं।[1]

इसके उपरान्त वामन ने विषय की दृष्टि से गद्य-पद्यमय काव्य के दो भेद किये हैं : अनिबद्ध और निबद्ध। अनिबद्ध मुक्तक का पर्याय है और निबद्ध के लिए काव्य-शास्त्र में प्रबन्ध शब्द प्रचलित है—वामन ने उसको सन्दर्भ-काव्य भी कहा है। उन्होंने इनके लक्षण तो नहीं दिये—क्योंकि वे अत्यन्त प्रसिद्ध हैं, परन्तु इनके सापेक्षिक महत्व का विवेचन किया है : इन दोनों की सिद्धि माला और उत्तंस की भाँति क्रम से होती है—अर्थात् अनिबद्ध (मुक्तक) रचना में सिद्धि प्राप्त कर लेने के उपरान्त ही निबद्ध (प्रबन्ध) की रचना में सफलता मिलती है, जिस प्रकार कि माला गूंथने के बाद ही उत्तंस (फूलों का मुकुट) गूंथना सम्भव है। कुछ व्यक्ति मुक्तक रचना तक ही अपना कवि-कर्म सीमित रखते हैं—यह ठीक नहीं है। अग्नि के पृथक् परमाणु की भाँति मुक्तक रचना कभी नहीं चमकती।[2]

संदर्भों में—प्रबन्ध काव्यों में दशरूपक सबसे श्रेष्ठ होते हैं। तरह-तरह की विशेषताओं (काव्य, गीत, नृत्य, रंगशोभा आदि) के कारण रूपक चित्र-विचित्र रंग वाले पट के समान मनोरंजक होता है।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार इस प्रसंग में वामन की तीन मान्यताएँ हैं :

(१) गद्य-रचना पद्य-रचना की अपेक्षा कठिन होती है। इसीलिए गद्य को कवियों की कसौटी कहा गया है।

(२) मुक्तक और प्रबन्ध में प्रबन्ध का गौरव अधिक है। उनके मतानुसार मुक्तक के स्फुट कलेवर में काव्य के सम्पूर्ण सौन्दर्य का प्रकाशन नहीं हो सकता। मुक्तक प्रबन्ध का एक सोपान मात्र है—उसकी सार्थकता इसी में है कि उसकी रचना द्वारा प्रबन्ध रचना में नैपुण्य प्राप्त होता है।

---

१. काव्यालंकारसूत्र
२. काव्यालंकारसूत्र

(३) काव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप नाटक है क्योंकि (अ) वह एक मिश्र कला है जो काव्य, संगीत, नृत्य, रंग-शोभा आदि के चित्र-विचित्र वैभव द्वारा मनोरंजन करती है, और (आ) काव्य के अन्य भेद प्रबन्ध, कथा, आख्यायिका आदि सब का समावेश उसके अन्तर्गत रहता है।

इन तीनों का अब एक-एक करके विवेचन करते हैं: वामन का पहला मन्तव्य है कि गद्य-रचना पद्य-रचना की अपेक्षा कठिन है—इसलिए गद्य कवि-कौशल की कसौटी है। यह मन्तव्य भारतीय वाङ्मय की आरम्भिक अवस्था का द्योतक है जब साहित्य मुख्यतः पद्यमय ही था—पद्य जब अभिव्यक्ति का सहज माध्यम था, और गद्य प्रयत्न-साध्य। परन्तु इस प्रकार गद्य और पद्य का विभाजन और उस पर आधृत वामन का यह अभिमत अधिक तात्विक नहीं है क्योंकि यह काव्य को रचना-नैपुण्य मात्र मान कर चलता है। परन्तु काव्य वास्तव में रचना-नैपुण्य मात्र नहीं है—वह जीवन की अभिव्यक्ति है और गद्य और पद्य का अन्तर केवल पद-रचना पर आश्रित न होकर अभिव्यक्तिकर्ता के स्वभाव और अभिव्यक्ति के विषय से सम्बद्ध है। इनका भेद केवल बाह्य नहीं है—आन्तरिक है: वह केवल लय-युक्त और लय-मुक्त पद-रचना का—अथवा, और यथार्थ रूप में, नियमित लय और अनियमित लय का भेद मात्र नहीं है—वह प्रेरक अनुभूति अथवा संवेद्य विषय—और, इससे भी आगे, साहित्यकार के व्यक्तित्व का भेद है। गद्य और पद्य साहित्य के इस विकास-काल में यह तथ्य अत्यन्त स्पष्ट हो गया है। उपन्यास और महाकाव्य—तितली और कामायनी—की शैलियों में केवल अनियमित लय और नियमित लय के माध्यम का ही भेद नहीं है, न तितली का माध्यम कामायनी के माध्यम से कठिन है, और न तितली की शैली को कामायनीकार के लिए कसौटी ही माना जा सकता है।

वामन की दूसरी स्थापना यह है कि कवि का वास्तविक गौरव प्रबन्ध-रचना में ही है, मुक्तक की रचना उस उच्चतर लक्ष्य की प्राप्ति का सोपान मात्र है: मुक्तक की संक्षिप्त परिधि में काव्य के सम्पूर्ण सौन्दर्य का प्रकाशन सम्भव नहीं है। इस स्थापना में इतना सत्य तो अवश्य है कि प्रबन्ध-काव्य में जीवन का पूरा चित्र रहता है—और मुक्तक में किसी क्षणिक स्थिति अथवा मनोदशा आदि का। इसलिए प्रबन्ध का प्रभाव अधिक स्थायी तथा व्यापक होता है और मुक्तक का प्रभाव अचिर होता है। इसीलिए विश्व के अनेक आचार्यों का झुकाव प्रबन्ध की ओर रहा है—भारत और यूरोप के प्राचीन आचार्यों का काव्य-विवेचन बहुत सीमा तक प्रबन्ध को ही आदर्श मान कर किया गया है, आधुनिक युग में भी शुक्लजी जैसे विवेकशील आलो-

चक ने भी प्रबन्ध को ही प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से आदर्श माना है। परन्तु व्यवहार-दृष्टि से एक विशेष सीमा तक मान्य होते हुए भी, यह सिद्धान्त तत्व-दृष्टि से प्रामाणिक नहीं है कि मुक्तक में—जिसमें गीतिकाव्य का भी अन्तर्भाव है, काव्य-सौन्दर्य का सम्यक् उद्घाटन—दूसरे शब्दों में रस का सम्यक् परिपाक नहीं हो सकता। आनन्दवर्धन ने इसी असंगति को दूर करने के लिए ध्वनि-सिद्धान्त की उद्भावना की थी। इसमें संदेह नहीं कि मुक्तक में विस्तार के अभाव में व्यापकता का समावेश सम्भव नहीं है, परन्तु उसकी एकाग्रता सहज ही तीव्रता की सृष्टि कर सकती है और काव्य के लिए व्यापकता की अपेक्षा तीव्रता का मूल्य कम नहीं है। व्यापक जीवन का विस्तार यदि भव्य है तो स्पन्दित क्षणों की तीव्रता भी कम प्रभावपूर्ण नहीं है। कर्म का गौरव है और भाव का भी। वनस्थली की अपनी शोभा है, और पुष्प-स्तबक की अपनी। नैषध और अमरुक, रामचरितमानस और विनय-पत्रिका, पद्मावत और मीरा की पदावली, रामचन्द्रिका और बिहारी सतसई, मेघनाद-वध और गीतांजलि, साकेत और नीरजा का सापेक्षिक मूल्य उनकी निबद्धता और अनिबद्धता के आधार पर आंकना अनुचित होगा।

वामन की तीसरी मान्यता—काव्य में नाटक की श्रेष्ठता—संस्कृत काव्य-शास्त्र की अत्यन्त प्रचलित धारणा है : 'काव्येषु नाटकं रम्यम्'। इसका उद्गम कदाचित् भरत का नाट्य-शास्त्र ही है। यह स्थापना भी अधिक मौलिक नहीं है—क्योंकि नाटक में नृत्य, गीत, रंग-शोभा आदि अनेक विशेषताओं का समावेश उसको अधिक मनोरंजक अवश्य बना सकता है परन्तु मनोरंजन तो काव्य का मूल प्रयोजन नहीं है। ये बाह्य विशेषताएँ काव्य के मूल तत्व नहीं हैं—इनका सम्बन्ध काव्य के माध्यम से है, आत्मा से नहीं है—माध्यम का उपकार करते हुए ये आत्मा का भी उपकार करते हैं, यह दूसरी बात है : परन्तु ये काव्य के नित्य और अन्तरंग धर्म नहीं हैं। रंग-कला एक पृथक् कला ही है। वास्तव में नाटक, प्रबन्ध, मुक्तक, कथा आदि माध्यम के रूप अथवा प्रकार मात्र हैं—उनके आधार पर काव्य का मूल्यांकन विश्वसनीय नहीं हो सकता।

वामन की उपर्युक्त मान्यताओं का विवेचन करने के उपरान्त फिर यही निष्कर्ष निकलता है कि ये उनके उसी बाह्यार्थदर्शी वस्तु-परक दृष्टिकोण का परिणाम हैं जो मूलतः रचना को ही कवित्व मान कर चला है।

आलोचना-शक्ति

मौलिकता :—वामन की प्रतिभा अत्यन्त मौलिक है। उन्होंने महत्वपूर्ण मौलिक उद्भावनायें की हैं : जहां उन्होंने कुछ पूर्ववर्ती आचार्यों की उद्भावनाओं का उपयोग किया है—वहां भी अपनी मौलिकता की छाप लगा दी है। उन्होंने कहीं भी पुनरावृत्ति नहीं की—जिन विषयों पर उन्हें कोई मौलिक बात नहीं कहनी होती, उनको वे यह कहकर छोड़ देते हैं : "ये प्रसिद्ध ही हैं, अतएव इनके लक्षण नहीं करते।''''''इनका ज्ञान दूसरे ग्रन्थों से प्राप्त कर लेना चाहिए।" उनकी सबसे महत्वपूर्ण स्थापना है—'रीतिरात्मा काव्यस्य'। रीति (और गुण) का विवेचन भामह, दण्डी ने और उनसे पूर्व भरत आदि ने भी किया है, परन्तु उसको काव्य की आत्मा किसी ने नहीं माना। रीति और गुण के विवेचन में भी वामन भरत, भामह और दण्डी पर आश्रित नहीं रहे। दण्डी ने रीति के लिए मार्ग शब्द का प्रयोग किया है और केवल दो रीतियाँ ही मानी हैं—वैदर्भी और गौड़ीया। वामन ने पांचाली नाम की तीसरी रीति की उद्भावना और की है। विवेचन भी वामन का भिन्न है। दण्डी के गौड़ीय मार्ग की अपेक्षा वामन की गौड़ीया रीति की स्थिति अधिक संतोषप्रद है। दण्डी की अपेक्षा वामन की रीति में प्रादेशिकता कम है—साहित्यिकता अधिक है। इस प्रकार वामन ने रीति-विवेचन को सर्वथा व्यवस्थित कर दिया है—प्रत्येक रीति की विशिष्ट सीमा और उसका सापेक्षिक साहित्यिक महत्व निर्धारित कर दिया गया है। साथ ही उन्होंने रीति का गुण के साथ नित्य और अनिवार्य सम्बन्ध स्थापित कर उस आधार को अत्यन्त पुष्ट कर दिया है। मूलतः (पद) रचना होती हुई भी वामन की रीति अपनी परिधि में शब्द-चमत्कार, अलंकार-सम्पदा, तथा अर्थ-स्वास्थ्य का भी समावेश कर लेती है : इस प्रकार उन्होंने अपनी रीति को शब्द-सौंदर्य, उक्ति-सौंदर्य, और अर्थ-सौंदर्य का संयुक्त पर्याय बनाने का प्रयत्न किया है। वामन की मौलिक प्रतिभा का यह सबसे ज्वलन्त प्रमाण है।

गुण के विवेचन में भी वामन का मौलिक योग अत्यन्त स्पष्ट है। शब्द-गुण और अर्थ-गुण की पृथक् कल्पना उनकी अपनी उद्भावना है। इसके अतिरिक्त गुणों की परिभाषाएं भी प्रायः उनकी अपनी हैं—भरत और दण्डी के लक्षण उन्होंने प्रायः स्वीकार नहीं किए। उन्होंने अर्थ-गुण के अन्तर्गत अर्थ की प्रौढ़ि, उक्ति-वैचित्र्य (कल्पनात्मक अभिव्यंजना) तथा रस-दीप्ति का भी समावेश कर गुणों का स्वरूप अधिक समृद्ध और व्यापक कर दिया है।

उधर गुण और अलंकार का भेद सबसे पहले वामन ने ही स्पष्ट किया है— दण्डी ने काव्य-चमत्कार के सभी रूपों को अलंकार कहा है : उनके अनुसार माधुर्य, ओज आदि गुण भी काव्य के शोभाकारक होने के कारण अलंकार हैं—और उपमा-रूपकादि अप्रस्तुत-विधान भी। वामन ने अत्यन्त निर्भ्रान्त शब्दों में इनका अन्तर स्पष्ट किया है। भरत, भामह तथा दण्डी ने और बाद में अन्य प्रमुख आचार्यों ने दोषों को भावात्मक माना है, भरत ने तो गुणों को ही उनका विपर्यय सिद्ध किया है। वामन ने इनके विपरीत गुणों को भावात्मक और दोषों को उनका विपर्यय माना है।

अलंकार प्रसंग में वामन का वैशिष्ट्य मूलतः दो उद्भावनाओं पर आधृत है : एक तो उन्होंने उपमा को मूल अलंकार माना है। भामह आदि ने भी उपमा को प्रमुखता दी है—और उसे सादृश्य-मूलक अलंकारों का ही मूल मान लिया है और समस्त अप्रस्तुत-विधान का उपमा-प्रपंच के रूप में वर्णन किया है।

उधर भामह की वक्रोक्ति को वामन ने अर्थालंकार मानकर उसका लक्षण किया है : जहाँ लक्षणा सादृश्य-गर्भा हो वहाँ वक्रोक्ति होती है। वक्रोक्ति के सम्बन्ध में तो यह कोई महत्वपूर्ण उद्भावना नहीं हुई, परन्तु वामन का यह लक्षण आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त की पूर्व-सूचना अवश्य सिद्ध हुआ। उधर रस के विषय में भी वामन ने कान्ति-गुण के विवेचन में प्रकारान्तर से सफल संकेत किया है—उन्होंने रस को कान्ति का आधार मान कर उसे काव्य के अन्तरंग तत्वों में स्थान दिया है। इस प्रकार वामन ने प्रधानतः बाह्यार्थ-निरूपण करते हुए भी रस और ध्वनि के सम्बन्ध में सफल पूर्व-संकेत किये हैं। यह उनकी व्यापक दृष्टि का प्रमाण है।

प्रामाणिकता :—मौलिकता का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पोषक अंग है प्रामाणिकता। कोई भी मौलिक उद्भावना तब तक मान्य नहीं हो सकती जब तक तर्क का प्रमाण उसे प्राप्त न हो। इतिहास साक्षी है कि वामन के आधारभूत सिद्धान्त मान्य नहीं हुए—आज उनके रीति-सिद्धान्त का ऐतिहासिक महत्व ही अधिक रह गया है—और उनकी आत्मभूत रीति को अन्त में अंग-संस्थान का ही पद मिला। परन्तु रीति के विवेचन में वामन का मत ही सर्वमान्य हुआ। वामन से पूर्व और वामन के पश्चात् भी अनेक आचार्यों ने रीति का विवेचन किया—नवीन रीतियों की उद्भावना हुई, भिन्न-भिन्न प्रकार से लक्षण किए गए, परन्तु अन्त में वामन की संख्या और प्रायः वामन की ही परिभाषाएँ मान्य हुईं।

गुणों के क्षेत्र में वामन की मौलिकता अपुष्ट ही रही। पहले तो उनकी अर्थ-गुण और शब्द-गुण की पार्थक्य-कल्पना ही अधिक संगत नहीं है—दोनों के लक्षणों के साथ मनमानी कर के भी वामन उनका संक्रमण नहीं बचा सके—उदाहरण के लिए अर्थ-व्यक्ति को शब्द-गुण मान कर वे अपने ही वाग्जाल में उलझ गए हैं : जिसका नाम ही अर्थ-व्यक्ति है, वह शब्द-गुण कैसे हो सकता है ? उनके शब्द-गुण माधुर्य और शब्द-गुण प्रसाद में कोई स्पष्ट पार्थक्य नहीं है—वास्तव में उनके शब्द-गुण प्रसाद का लक्षण ही असंगत है। इसका परिज्ञान उन्हें है, और उन्होंने शंका उठा कर उसका समाधान करने का प्रयत्न भी किया है : उनके अनुसार शब्द-गुण प्रसाद की आधार-भूत विशेषता शिथिल पद-रचना है। अपने आप में यह विशेषता एक दोष है; परन्तु ओज के साथ प्रयुक्त होकर उसकी सघनता में लोच पैदा करके यह निश्चय ही गुण बन जाती है। अपने प्रतिपादन में वामन निर्भ्रान्त हैं, परन्तु फिर भी उनका लक्षण—और लक्षण से भी अधिक यह वर्गीकरण—असंगत है, और अनावश्यक भी। समाधि के विषय में भी यही कहा जा सकता है। इस प्रसंग में वामन के विरुद्ध सबसे प्रबल आक्षेप यह है कि यदि उन्होंने गुण का शब्द और अर्थ के आधार पर विभाजन किया भी है तो एक नाम के शब्द-गुण और अर्थ-गुण में एकसूत्रता रहनी चाहिए थी क्योंकि गुण तो वही है—शब्द और अर्थ के आधार पर उसमें भेद हो गया है। परन्तु वामन ने यहाँ भी पूर्णतया स्वेच्छाचारिता बरती है। उनके समाधि, माधुर्य, उदारता आदि शब्द-अर्थ-गुणों में कोई सम्बन्ध नहीं। इस असंगति ने वामन के विवेचन को और भी अग्राह्य बना दिया है।

अलंकार के क्षेत्र में वामन का सबसे महत्वपूर्ण योग है गुणालंकार-भेद-निरूपण—उसकी प्रामाणिकता आज भी असन्दिग्ध है। इसके अतिरिक्त उनकी अन्य उद्भावनाएँ मान्य नहीं हुईं क्योंकि उनका आधार पुष्ट नहीं था। उदाहरण के लिए उनकी यह स्थापना ग्राह्य नहीं हो सकी कि अलंकारों का मूल उपमा है। भामह ने जहाँ वक्रोक्ति को, और दण्डी ने अतिशय को अलंकार का मूल माना है, वहाँ वामन ने उपमा को आधार माना है। भामह और दण्डी के वक्रता और अतिशय दोनों में मौलिक अन्तर नहीं है—दोनों का अर्थ है लोकातिक्रान्तगोचरता—अर्थात् असाधारणता—विचित्रता, चमत्कार। वामन इससे भिन्न औपम्य या साम्य को अलंकार का आधार मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अलंकार-विधान में साम्य (सादृश्य और साधर्म्य) का बड़ा महत्व है, और अनेक आलंकारिक साम्य अतिशय तथा वक्रता से भी असम्बद्ध नहीं हैं क्यों कि आलंकारिक साम्य अनिवार्यतः चमत्कार-मूलक (असाधारण) और प्रायः सदा ही अतिशय-मूलक भी होता ही है। परन्तु फिर भी उसे

अलंकार का आधार नहीं माना जा सकता क्योंकि सभी प्रकार का आलंकारिक चमत्कार साम्य-मूलक नहीं होता। वास्तव में जैसा कि मैंने अन्यत्र स्पष्ट किया है अलंकार-विधान के मूल में निश्चित मनोवैज्ञानिक आधार रहता है और भिन्न-भिन्न अलंकार-वर्गों के पीछे हमारी विभिन्न प्रवृत्तियों की प्रेरणा रहती है। जहाँ हमें अपनी भावना को स्पष्ट करना होता है—वहाँ हम सादृश्य-मूलक अलंकारों का प्रयोग करते हैं। कौतूहल आदि वृत्तियों के परितोष के लिए, मानसिक सामंजस्य के लिए, अथवा उत्तेजना की अवस्था में सादृश्यमूलक अलंकारों का विशेष उपयोग नहीं रहता। उक्ति-चमत्कार के अनेक रूप ऐसे हैं जिनका सादृश्य से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। ऐसी स्थिति में उपमा को अलंकारों का मूल मानना अधिक संगत नहीं है।

व्याख्यान-विवेचन :—वामन ने (मानों अपने वैशिष्ट्य का निर्वाह करने के लिए) व्याख्यान के लिए काव्य-शास्त्र में प्रचलित कारिका-वृत्ति शैली के स्थान पर दर्शन-शास्त्र की सूत्र-वृत्ति शैली का उपयोग किया है। पहले तो वामन के सूत्र ही अपने आप में अत्यन्त स्पष्ट हैं—फिर उन पर वृत्ति देकर उनको और भी स्पष्ट कर दिया गया है। जहाँ कहीं शंका या विवाद के लिए अवकाश रहा है वहाँ लेखक ने स्वयं अपनी ओर से ही शंका उठा कर उसका समाधान कर दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि वामन की स्थापनाएँ तर्क-संगत सिद्ध नहीं हुईं—उनके भेद-प्रभेद, वर्ग-विभाजन आदि भी अनेक स्थानों पर असंगत हैं। परन्तु वे असंगत ही हैं—अस्पष्ट नहीं हैं: वामन का तर्क भ्रान्त हो सकता है—परन्तु अपने मन्तव्य के विषय में उन्हें कोई भ्रान्ति नहीं है। उनकी दृष्टि पैनी है और सूक्ष्मताओं को सफ़ाई से पकड़ती है। सिद्धान्त रूप में, प्रायः हम उनसे असहमत रहते हैं, परन्तु हम पर इस बात का प्रभाव अनिवार्य रूप से पड़ता है कि यह व्यक्ति चाहे ठीक बात न भी कह रहा हो, परन्तु अपने मन में निर्भ्रान्त अवश्य है। इसीलिए वे तर्क से बचने का प्रयत्न नहीं करते, वरन् आत्मविश्वास के साथ स्वयं प्रतिवाद की कल्पना करते हुए उसका निराकरण करते हैं। वामन की शैली सीधी और स्वच्छ है, उसमें घुमाव और उलझन नहीं है—वे कभी भटकते नहीं हैं, अपने प्रतिपाद्य विषय पर सीधा आघात करते हैं।

मूल्यांकन :—भारतीय वाङ्मय के इतिहास में वामन की गणना शास्त्रकारों में है। काव्य-शास्त्र में उनका नाम प्रवर्तक आचार्यों में है: उनके गौरव का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उनका रीति-सिद्धान्त एक स्फुट सिद्धान्त न रह कर सम्प्रदाय बन गया। उनका घोर विरोध हुआ—उनका सिद्धान्त अन्त में अमान्य घोषित कर दिया गया, और तत्व दृष्टि से यह उचित ही हुआ। फिर भी उनका ऐतिहासिक

महत्व अक्षुण्ण है। इसके मूलतः दो आधार हैं : एक तो सबसे पहले वामन ने काव्य की आत्मा का अनुसंधान करने का प्रयत्न करते हुए काव्य के मूल और गौण तत्वों का पार्थक्य स्पष्ट किया, और इस प्रकार एक मूल आधार स्थिर कर काव्य-शास्त्र में निश्चित सिद्धान्त-व्यवस्था स्थापित की। भरत, भामह और दण्डी में इस प्रकार की नियमित व्यवस्था का अभाव है। दूसरा आधार यह है कि काव्य के बाह्यांग को प्रमुखता देकर उन्होंने मान्य सिद्धान्त के विपक्ष को प्रबल शब्दों में उपस्थित किया और इस प्रकार जीवन के प्रति अनात्मवादी दृष्टिकोण का काव्य के क्षेत्र में आरोपण किया। मेधा की प्रखरता और मौलिकता की दृष्टि से वामन का स्थान किसी से निम्नतर नहीं है : इस दृष्टि से उनका स्थान भरत, भामह, आनन्दवर्धन, कुन्तक और जगन्नाथ के समकक्ष है।

संदेह नहीं। वामन ने अपनी तीसरी रीति पांचाली का संकेत शायद यहीं से ग्रहण किया है।

भरत के उपरान्त कादम्बरी के रचयिता बाण भट्ट ने इस प्रसंग का उल्लेख किया है। बाण भट्ट ने हर्षचरित के आरम्भ में लिखा है :

श्लेष प्रायमुदीच्येषु, प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु, गौड़ेष्वक्षरडम्बरः ॥

उदीच्य—अर्थात् उत्तर भारत के लोग प्रायः श्लेष का प्रयोग करते हैं, प्रतीच्य—अर्थात् पश्चिम भारत के कवि वाणी-विलास की उपेक्षा कर केवल अर्थ-गौरव को ही महत्व देते हैं, दाक्षिणात्य उत्प्रेक्षा के प्रेमी हैं, और गौड़ या पूर्व-भारत के कविजन अक्षराडम्बर पर मुग्ध हैं (हर्षचरित प्रस्तावना, उच्छ्वास १, श्लोक ७)।

जैसा कि पं० बलदेव उपाध्याय ने लिखा है—इस उल्लेख से स्पष्ट है कि 'बाण के समय में (सातवीं शताब्दी में) भारतवर्ष की चार दिशाओं में चार प्रकार की शैलियाँ वर्तमान थीं। परन्तु बाण भट्ट की अपनी सम्मति यह है कि इन चारों शैलियों का एकत्र उपयोग ही किसी काव्य को श्रेष्ठ बनाने में समर्थ होता है।'—

नवोऽर्थो, जातिरग्राम्या, श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च, कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम् ॥

अर्थात् नवीन भाव-सौन्दर्य, अग्राम्या जाति (स्वभाव-वर्णन), अक्लिष्ट श्लेष, स्फुट रस और विकट (जिसमें पद नृत्य-सा करते हों) अक्षर-बन्ध : इन सबका एकत्र मिलना दुर्लभ है।—परन्तु काव्य की कसौटी भी यही है।

बाण के उल्लेखों से दो निष्कर्ष निकलते हैं :

(१) भरत के प्रादेशिक विभाजन का आधार जहाँ व्यापक रूप से जीवनचर्या था—भाषा-प्रयोग उसका एक अंग मात्र था, वहाँ बाण काव्य-शैली को ही आधार मानते थे।

(२) बाण ने रीतियों का उल्लेख न कर उनके मूल तत्वों को विभाजक आधार माना है : ये विभाजक तत्व हैं गुण और अलंकार। इस प्रकार बाण के समय में रीतियों का नामकरण तो नहीं हुआ था—परन्तु रीति और गुणालंकार का सम्बन्ध स्थापित हो चुका था।

(३) उस समय काव्य-शैली का आधार प्रादेशिक ही था—भारत के विभिन्न भागों के साथ विभिन्न काव्य-शैलियाँ सम्बद्ध थीं।

(४) बाण स्वयं इस प्रकार के वर्गीकरण को विशेष महत्व नहीं देते थे—वे उपर्युक्त सभी विशेषताओं को काव्य के लिए उपयोगी स्वीकार करते हुए यह मानने को तैयार नहीं थे कि ये किसी प्रकार की प्रादेशिक सीमाओं से बद्ध हैं। काव्य-गुण सभी के लिए समान रूप से काम्य होने चाहिएँ।

बाण भट्ट के उपरान्त भामह ने स्पष्टतः सिद्धान्त रूप से रीतियों की चर्चा की है। उन्होंने वैदर्भ और गौड़ के लिए—अर्थात् रीति के अर्थ में, काव्य शब्द का प्रयोग किया है : काव्य के भेदों के अन्तर्गत ही वैदर्भ और गौड़ की चर्चा है। उनका विवेचन इस प्रकार है :—

दूसरे विद्वान मानते हैं कि वैदर्भ और है, वही सुन्दर अर्थ वाला और अच्छा होता है।

(परन्तु) वैदर्भ ही गौड़ीय है, इन्हें पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं। निर्बुद्धि लोगों की दृष्टि में गतानुगतिकतावश ये पृथक् नाम हैं। पुष्ट अर्थ और वक्रोक्ति से ही हीन, प्रसन्न (प्रसाद-गुण-युक्त) सरल और कोमल (शुद्ध काव्य से) भिन्न वैदर्भी, गीत की भाँति केवल श्रुति-मधुर ही होती है। अलंकारयुक्त, अग्राम्य, अर्थवान्, न्याय (लोक-शास्त्र) सम्मत, अनाकुल (जटिलता और निविड़तादि दोषों से मुक्त) गौड़ीय मार्ग भी श्रेष्ठ है—अन्यथा, अर्थात् इन गुणों से हीन, वैदर्भ भी श्रेष्ठ नहीं है।

गुणों की उन्होंने स्वतन्त्र रूप से विवेचना की है—वैदर्भ और गौड़ीय काव्यों (रीतियों) से उनका कोई मौलिक सम्बन्ध नहीं माना—वे तो सत्काव्य के ही गुण हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि—

(१) भामह के समय में केवल दो प्रमुख मार्ग प्रचलित थे : वैदर्भ और गौड़ जो भरत की दाक्षिणात्य और उड्रमागधी प्रवृत्तियों के—और बाण की दाक्षिणात्य और गौड़ काव्य-शैलियों के समकक्ष थे। भरत की आवन्ती तथा पांचाली प्रवृत्तियाँ और उधर बाण के उदीच्य और प्रतीच्य मार्ग अब प्रसिद्ध नहीं रह गये थे।

(२) वैदर्भ और गौड़ीय में लोक-रूढ़ि वैदर्भ को श्रेष्ठ और गौड़ीय को निकृष्ट मानती थी।

(३) भामह इस तारतम्य को तो मानते ही नहीं—गौड़ीय और वैदर्भ के पार्थक्य को भी अनावश्यक या अधिक से अधिक औपचारिक मानते हैं। वैदर्भ को अपने आप में श्रेष्ठ और गौड़ीय को अपने आप में निकृष्ट मानना अन्ध गतानुगतिकता है।

(४) प्रादेशिक आधार पर विदर्भ देश के वैदर्भों में प्रचलित काव्य-शैली को यदि औपचारिक रूप से पृथक् माना जाय तो भी वह काव्य की आदर्श शैली नहीं है। जैसा कि भरत ने लिखा है दाक्षिणात्य विदर्भ लोग कला-रसिक और सुकुमार-स्वभाव होते हैं—निदान उनकी शैली में अर्थ-गौरव और विदग्ध अभिव्यंजना का सौन्दर्य नहीं होता—प्रसाद गुण और श्रुति-माधुर्य आदि संगीत कला के गुण ही होते हैं। अतएव वह काव्य के लिए कोई आदर्श शैली नहीं मानी जा सकती।

(५) भामह के अनुसार काव्य के सामान्य गुण हैं अलंकृति, अग्राम्यता, अर्थ-सौन्दर्य, लोक-शास्त्र का आनुकूल्य, अनाकुलता अर्थात् निविड़ता और जटिलता का अभाव। इनका अभाव काव्य का दारिद्रय और सद्भाव काव्य की समृद्धि है। वैदर्भ और गौड़ीय मार्ग अपने आप में सत्काव्य नहीं हैं : उपर्युक्त गुण समान रूप से दोनों को ही सुशोभित कर सकते हैं।

(६) उन्होंने गुण और रीति का कोई मौलिक सम्बन्ध नहीं माना—माधुर्यादि विदर्भ या गौड़ीय के गुण न होकर सत्काव्य के गुण हैं। इस प्रकार भामह ने लोकरूढ़ि का तो तिरस्कार किया ही, उसके साथ ही रीतियों की प्रादेशिकता और उनकी रूढ़ वस्तुपरकता पर भी पहला आघात किया।

भामह के उपरान्त रीति-विवेचन दण्डी ने किया। वास्तव में दण्डी ने संस्कृत काव्य-शास्त्र के इतिहास में पहली बार रीति को गौरव दिया और उसका इतने मनोनिवेश के साथ विवेचन किया कि कतिपय विद्वान उन्हें रीतिवादी ही मानते हैं। दण्डी ने रीति के लिए मार्ग शब्द का प्रयोग करते हुए चार श्लोकों में उसका निरूपण

किया है :[1] वाणी के अनेक मार्ग हैं जिनमें परस्पर अत्यन्त सूक्ष्म भेद हैं। इनमें से वैदर्भ और गौड़ीय मार्गों का, जिनका पारस्परिक भेद अत्यन्त स्पष्ट है, अब वर्णन किया जाएगा। श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि—ये दस गुण वैदर्भ मार्ग के प्राण हैं। गौड़ मार्ग में प्रायः इनका विपर्यय लक्षित होता है। × × × × इस प्रकार प्रत्येक का स्वरूप-निरूपण कर इन दोनों मार्गों का अन्तर स्पष्ट कर दिया है। किन्तु जहाँ तक प्रत्येक कवि में स्थित (प्रत्येक कवि की अपनी प्रकृति के अनुसार) इनके भेदों का सम्बन्ध है, उनका वर्णन सम्भव नहीं है।

दण्डी का उपर्युक्त विवेचन संक्षिप्त होते हुए भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उनके मन्तव्य का सार इस प्रकार है :

(१) रीति का अस्तित्व सर्वथा वस्तुगत नहीं होता : प्रत्येक कवि की अपनी विशिष्ट रीति होती है—कवि अनेक हैं अतएव रीतियों की संख्या भी अनेक है। इस प्रकार दण्डी ने अत्यन्त निर्भ्रान्त शब्दों में रीति में व्यक्ति-तत्व की सत्ता स्वीकार की है।

(२) सामान्यतः अपनी अत्यन्त पृथक् विशेषताओं के कारण दो मार्ग या रीतियाँ—वैदर्भ और गौड़ीय दण्डी के समय तक कवियों और काव्य-रसिकों में प्रसिद्ध हो चुकी थीं। दण्डी ने उनका अस्तित्व तो लोक-परम्परा के अनुसार निश्चय रूप से स्वीकार किया है, परन्तु उनको निरपेक्ष नहीं माना है।

---

१. अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौड़ीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ ॥४०॥
श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः ॥४१॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो लक्ष्यते गौड़वर्त्मनि ॥४२॥
\+ \+ \+ \+
इति मार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात्।
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः ॥१०१॥
(प्र० परिच्छेद—काव्यादर्श)

(३) दण्डी ने सबसे प्रथम रीति और गुण का सम्बन्ध स्थापित किया है। बाण भट्ट ने जिसका संकेत मात्र किया था—दण्डी ने उसे नियम-बद्ध कर दिया।

(४) भरत ने श्लेष, प्रसाद आदि को काव्य-गुण माना है। इसका अभिप्राय कदाचित् यह है कि वे वैदर्भ मार्ग को काव्य के लिए आदर्श मानते हैं—अथवा वैदर्भ काव्य और सत्काव्य को अभिन्न मानते हैं।

(५) गौड़ीय मार्ग में दण्डी के अनुसार उपर्युक्त गुणों का प्रायः विपर्यय रहता है। प्रायः का अभिप्राय यह है कि उनमें से (१) अर्थव्यक्ति—अर्थात् अर्थ की स्फुट प्रतीति कराने की शक्ति, (२) औदार्य—अर्थात् प्रतिपाद्य अर्थ में उत्कर्ष का समावेश, और (३) समाधि—अर्थात् एक वस्तु के धर्म का दूसरी वस्तु में सम्यक् रीति से आधान—लाक्षणिक और औपचारिक प्रयोग-शक्ति—ये तीन गुण दोनों में समान हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि इन तीन गुणों को दण्डी काव्य के लिए अनिवार्य मानते हैं—क्योंकि अर्थव्यक्तिहीन काव्य हृदयंगम नहीं हो सकता, औदार्य-रहित होकर वह इतिवृत्त-कथन रह जाता है और समाधि को तो दण्डी ने स्पष्ट शब्दों में 'काव्य-सर्वस्व' माना ही है। इन तीन गुणों के अतिरिक्त शेष सात गुणों का विपर्यय गौड़ीय मार्ग का आधार है।

संस्कृत के विद्वानों में दण्डी के 'एषां विपर्ययः'—'इनका विपर्यय' इन दो शब्दों को लेकर बड़ा विवाद चला है। कुछ विद्वान एषां (इनके) का अर्थ करते हैं दस गुणों का, और विपर्यय का अर्थ करते हैं वैपरीत्य। दूसरे विद्वान एषां का सम्बन्ध प्राणाः—मूल तत्व—से स्थापित करते हैं और विपर्यय का अर्थ करते हैं अन्यथात्व; इस प्रकार उनके अनुसार दण्डी का आशय है: श्लेषादि वैदर्भ मार्ग के मूल तत्व हैं; गौड़ीय मार्ग के मूल तत्व इनसे अन्यथा हैं। विद्वानों का एक तीसरा वर्ग इन दोनों से भिन्न अर्थ करता है—वे एषां को तो गुणों का ही वाचक मानते हैं, परन्तु विपर्यय का अर्थ अन्यथात्व करते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि गौड़ीय मार्ग में श्लेषादि दस गुणों का अन्यथा रूप मिलता है।

अब उपर्युक्त आख्यानों की परीक्षा कीजिए। पहले आख्यान के विरुद्ध यह आक्षेप है कि जब उपर्युक्त दस गुण सौन्दर्य-बोधक हैं तो इनके विपरीत रूप कुरूपता-बोधक हुए अर्थात् दोष हुए। गौड़ीय मार्ग के मूल तत्व यदि कुरूपता-बोधक दोष हैं—तो फिर उसे काव्य-मार्ग कैसे माना जा सकता है? और वास्तव में दण्डी ने गौड़ीय मार्ग के प्रसंग में जितने उदाहरण दिए हैं वे कुकाव्य के उदाहरण नहीं हैं। इस आक्षेप

का उत्तर दिया जा सकता है : दण्डी ने गुण के विपर्यय को दोष नहीं माना है—व्युत्पन्नता, दीप्ति और अत्युक्ति तो दोष हैं ही नहीं—शैथिल्य और वैषम्य को भी निरपेक्ष रूप से दोष नहीं माना जा सकता। वामन ने तो बन्ध-शैथिल्य को शब्द-गुण माना ही है। उनके उपरान्त इसी सत्य का उद्घाटन आनन्दवर्धन ने और भी स्पष्ट शब्दों में किया है। पद-रचना का कोई रूप—समस्त अथवा असमस्त पद, गाढ़ अथवा स्फुट बन्ध—अपने आप में न काव्य का अपकर्षक है न उत्कर्षक : विषय और भाव के अनुसार ये दोनों ही गुण हो सकते हैं, और दोनों ही दोष। इसलिए श्लेषादि गुणों के विपर्यय—जिनकी स्थिति गौड़ीय मार्ग में मानी गई है—दोष-वाचक नहीं हैं, श्लेषादि के तुल्य उत्कर्ष-वाचक चाहे न हों।

उपर्युक्त तर्क दूसरे आख्यान की क्लिष्ट कल्पना को अनावश्यक बना देता है। दण्डी ने निश्चय ही वैदर्भ मार्ग को श्रेष्ठ और गौड़ीय को निकृष्ट माना है। इसलिए श्लोक के उत्तरार्ध का यह अर्थ कि गौड़ मार्ग के मूल तत्व वैदर्भ के मूल तत्वों से केवल भिन्न होते हैं क्लिष्टान्वय होने के अतिरिक्त प्रसंग-विरुद्ध भी है।

तीसरा आख्यान भी हमारे उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में अनावश्यक हो जाता है : जब वैपरीत्य दोष नहीं है तो अन्यथात्व की कल्पना ही क्यों की जाए ? वैसे भी दण्डी के व्युत्पन्न आदि विपर्ययों में वैपरीत्य के साथ-साथ चाहे अन्यथात्व भी भले ही हो, परन्तु शैथिल्य और वैषम्य के विषय में तो ऐसी कोई शंका नहीं हो सकती—वे तो निश्चय ही पूर्णतया विपरीत रूप हैं। इसलिए विपर्यय का अर्थ अन्यथात्व करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि दण्डी के पूर्वोद्धृत विपर्ययों में से किसी में भी वैपरीत्य का अभाव नहीं है :—व्युत्पन्न आदि में आंशिक वैपरीत्य है और शैथिल्य आदि में पूर्ण।

निष्कर्ष यह है कि 'एषां' से दण्डी का आशय दस गुणों का और 'विपर्यय' से वैपरीत्य का ही है। दण्डी ने गौड़ मार्ग को हीनतर मानते हुए भी काव्य-मार्ग ही माना है, अतएव गुणों के विपर्ययों की कल्पना भी काव्य की परिधि के भीतर ही की है : उदाहरण के लिये प्रसाद का विपर्यय 'क्लिष्ट', कान्ति (स्वाभाविक वर्णन) का 'अस्वाभाविकता', और सौकुमार्य (कोमल और निष्ठुर वर्णों का रमणीय मिश्रण) का विपर्यय केवल 'स्त्रैण अथवा श्रुतिकटु वर्णों का प्रयोग' नहीं माना क्यों कि ये सभी विपर्यय काव्य की परिधि से बाहर पड़ जाते। इसके विपरीत उन्होंने काव्य की परिधि के भीतर ही क्रमशः व्युत्पन्न—अर्थात् शास्त्र-ज्ञान पर आश्रित, अत्युक्ति तथा दीप्ति

को ही प्रसाद, कान्ति और सौकुमार्य का विपर्यय माना है। इसी कारण अर्थव्यक्ति, औदार्य और समाधि के विपर्यय दिए ही नहीं गए क्योंकि उनसे काव्य की हानि हो जाती—उन्हें वैदर्भ और गौड़ दोनों के लिए समान रूप से आवश्यक मान लिया गया है।

दण्डी के उपरान्त तो वामन द्वारा रीति-सम्प्रदाय की स्थापना हो ही जाती है। उनके विवेचन के फल-स्वरूप रीति का स्वरूप, आधार, क्षेत्र, प्रकार आदि का निर्धारण हो जाता है।

रीति की परिभाषा और स्वरूप

रीति का अर्थ :—रीति शब्द का प्रयोग सबसे पहले वामन ने किया है। जैसा कि भोज ने अपनी परिभाषा में स्पष्ट किया है रीति शब्द 'रीङ्' धातु से बना है—इसका व्युत्पत्ति-अर्थ है गति, मार्ग या प्रस्थान, और रूढ़ अर्थ है पद्धति, विधि आदि। वामन से पूर्व दण्डी ने और वामन के उपरान्त कुन्तक आदि ने रीति के लिए 'मार्ग' शब्द का ही प्रयोग किया है।

परिभाषा :—वामन से पूर्व यद्यपि भामह और दण्डी ने रीति की चर्चा की है, परन्तु उन दोनों में से किसी ने भी रीति का लक्षण या परिभाषा नहीं की। यह कार्य भी सर्वप्रथम वामन ने ही किया। इस प्रकार रीति शब्द के प्रथम प्रयोक्ता, रीति के लक्षणकर्ता, और रीति-सम्प्रदाय के संस्थापक वामन ही हैं। अतएव रीति का स्वरूप समझने के लिए आधार रूप में उनकी ही शब्दावली का आश्रय लेना संगत होगा।

वामन के अनुसार रीति का अर्थ है विशिष्ट पद-रचना—'विशिष्टा पद-रचना रीतिः।' का० सूत्र० १।२।७। विशिष्ट का अर्थ है गुण-सम्पन्न—'विशेषो गुणात्मा'। १।२।८।। गुण से तात्पर्य है काव्य-शोभा-कारक (शब्द और अर्थ के) धर्म का ।।२।२।१।।

इस प्रकार वामन के अनुसार रीति की परिभाषा हुई :—काव्य-शोभा-कारक शब्द और अर्थ के धर्मों से युक्त पद-रचना को रीति कहते हैं। यहाँ 'काव्य-शोभा-कारक शब्द और अर्थ के धर्मों से युक्त' शब्दावली कुछ बिखरी हुई है। इसमें एक

तो 'काव्य' शब्द अनावश्यक है क्योंकि यह तो समस्त प्रपंच ही काव्य है। 'शोभा-कारक शब्द और अर्थ के धर्म' का अर्थ हुआ—शब्द और अर्थगत सौन्दर्य—या शब्द-चमत्कार तथा अर्थ-चमत्कार। और वामनकृत परिभाषा का रूप हुआ : शब्द तथा अर्थगत चमत्कार से युक्त पद-रचना का नाम रीति है। इसको और भी संक्षिप्त किया जा सकता है : 'शब्द तथा अर्थगत सौन्दर्य से युक्त' के स्थान पर केवल 'सुन्दर' का प्रयोग किया जा सकता है। सुन्दर पद-रचना या सम्यक् पद-रचना का नाम रीति है।

अतएव वामन के अनुसार "शब्द और अर्थगत सौन्दर्य से युक्त पद-रचना का नाम रीति है।" अथवा "सुन्दर पद-रचना का नाम रीति है—यह सौन्दर्य शब्द-गत तथा अर्थगत होता है।"

वामन के उपरान्त अन्य आचार्यों ने भी रीति का लक्षण—अथवा स्वरूप-निरूपण किया है। आनन्दवर्धन ने उसको 'संघटना' नाम दिया है। सम्यक् अर्थात् यथोचित घटना—पद-रचना का नाम संघटना अथवा रीति है। आनन्दवर्धन ने वास्तव में वामन की परिभाषा को ही संक्षिप्त कर दिया है। वामन का पद-रचना और आनन्दवर्धन का घटना शब्द तो पर्याय ही हैं : दोनों के विशेषणों में भी कोई मौलिक अन्तर नहीं है। वामन ने पद-रचना को शब्द और अर्थगत सौन्दर्य से युक्त (गुणात्मक) कहा है, आनन्दवर्धन ने उसके लिए सम्यक् (यथोचित) विशेषण का प्रयोग किया है। आनन्दवर्धन के सामने रस का मानदण्ड था—इसलिए उन्होंने तदनुकूल 'सम्यक्' —यथोचित शब्द का ही प्रयोग किया क्यों कि रस को प्रमाण मानने के उपरान्त उसके अनुसार औचित्य-निर्धारण सहज हो जाता है। वामन के समक्ष इस प्रकार का मानदण्ड कोई नहीं था—उन्होंने शब्द-अर्थ का ही चरम मान स्वीकार करते हुये शब्द और अर्थगत सौन्दर्य को विशेषण माना है। अतएव आनन्दवर्धन और वामन की परिभाषाओं में मौलिक साम्य होते हुए भी विशेषणों में सूक्ष्म अन्तर है। आनन्द-वर्धन के सिद्धान्तानुसार रीति रसाश्रयी है, अतएव उन्होंने घटना—या पद-रचना के लिए 'सम्यक्—यथोचित' विशेषण का प्रयोग किया है। वामन की रीति स्वतन्त्र है—अतएव उनके मत से पद-रचना का वैशिष्ट्य अपने शब्द और अर्थगत सौन्दर्य से अभिन्न है।

आनन्दवर्धन की रीति रस-रूप सौन्दर्य की साधन है : "व्यनक्ति सा रसादीन्" (ध्व० ३,५),—वामन की रीति अपने आप में सिद्धि है।

आनन्दवर्धन ने अपने मत का व्याख्यान करते हुए आगे लिखा है : संघटना तीन प्रकार की कही गई है—असमासा, मध्यमसमासा और दीर्घसमासा। ३,५॥[1] यह माधुर्यादि गुणों के आश्रय से स्थित रसों को अभिव्यक्त करती है। ३,६॥[2]

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने रीति के सम्बन्ध में तीन बातें कही हैं :—(१) रीति या संघटना के स्वरूप का आधार केवल समास है : उसी का आकार अथवा सद्भाव-अभाव रीतियों के विभाजन का आधार है। अर्थात् मूर्तरूप में रीति का स्वरूप-निर्धारण समास की स्थिति अथवा आकार द्वारा होता है। (२) रीति की स्थिति गुणों के आश्रय से है—रीति गुणाश्रयी है। (३) वह रसाभिव्यक्ति का माध्यम है।

आनन्दवर्धन के उपरान्त राजशेखर ने रीति का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। उन्होंने रीति की परिभाषा की है : 'वचन-विन्यास-क्रमो रीतिः' अर्थात् वचन-विन्यास का क्रम रीति है। यह परिभाषा वामन की परिभाषा से मूलतः भिन्न नहीं है—केवल शब्दों का अन्तर है। वचन का अर्थ है शब्द या पद और विन्यास-क्रम का अर्थ है रचना। राजशेखर ने काव्य-पुरुष के रूपक का प्रसंग होने के कारण वाणी से सम्बन्ध रखने वाले शब्द प्रयुक्त किए हैं—लेखन से सम्बद्ध शब्द नहीं। इसीलिए पद अथवा शब्द के स्थान पर वचन और रचना के स्थान पर विन्यास-क्रम का प्रयोग किया गया है।

कुन्तक ने रीति का नाम फिर मार्ग रख दिया और रीति-विषयक विवेचन में क्रान्ति उपस्थित करने का प्रयत्न किया। कुन्तक स्वतन्त्र विचारवान आचार्य थे—उन्होंने काव्य में कवि-स्वभाव को मुख्य मानते हुए उसी के अनुसार मार्ग का निरूपण किया और रीतियों के प्रादेशिक वर्ग-विभाजन का उपहासपूर्वक तिरस्कार किया। कुन्तक ने तदनुसार रीति को कवि-प्रस्थान-हेतु कहा है। अलंकार को हटा कर प्रस्थान-हेतु का सीधा अर्थ है विधि या शैली। कवि शब्द का प्रयोग कर कुन्तक ने इस बात पर बल दिया है कि कवि-प्रस्थान-हेतु—रीति का निर्णायक आधार कवि-स्वभाव ही है।

---

१. असमासा, समासेन मध्यमेन च भूषिता।
   तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता ॥३,५॥

२. गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती, माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।
   रसान् · ·········।३,६॥

भोज ने रीति की व्युत्पत्ति-मूलक परिभाषा की है :—

वैदर्भादि कृतः पन्थाः काव्ये मार्गा इति स्मृताः ।
रीङ्गताविति धातोस्सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते ॥

अर्थात् वैदर्भादि पन्था (पथ) काव्य में मार्ग कहलाते हैं । गत्यर्थक 'रीङ्' धातु से व्युत्पन्न होने के कारण वही रीति कहलाती है । इस प्रकार भोज ने मार्ग, पन्था या पथ, और रीति को व्युत्पत्ति-अर्थ में पर्याय सिद्ध करते हुए तीनों की अभिन्नता प्रतिपादित की है । उनके अनुसार रीति का अर्थ है कवि-गमन-मार्ग जिसे कुन्तक ने कवि-प्रस्थान-हेतु कहा है ।

भोज के उपरान्त मम्मट ने रीति की स्वीकृत परिभाषा में थोड़ा संशोधन किया है । उन्होंने उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियों का ही विवेचन किया हैं, परन्तु अन्त में यह स्पष्ट कर दिया है कि इन्हें ही पूर्ववर्ती आचार्यों ने क्रमशः वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली रीति कहा है :

एतास्तिस्रो वृत्तयो वामनादीनां मते वैदर्भी गौड़ीया पांचालाख्या रीतय उच्यन्ते । का० प्र० ९।४।

मम्मट के अनुसार नियत वर्णों का रसानुकूल व्यापार ही वृत्ति है :

वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः (का० प्र० ९)

इस प्रकार मम्मट के अनुसार—(१) रीति (वृत्ति) नियत वर्ण-व्यापार है—अर्थात् रीति वर्ण-संगुम्फन का नाम है और ये वर्ण नियत होते हैं । मम्मट मूलतः समास को रीति का वाहक नहीं मानते, वर्ण-गुम्फ को ही मानते हैं ।

(२) परन्तु मम्मट ने वर्ण-गुम्फ का गुण के साथ नियत सम्बन्ध माना है—प्रत्येक गुण के अनुसार ही वर्णों का संगुम्फन होता है, और उसी (गुण) के अनुसार रीति का स्वरूप भी निश्चित होता है । दूसरे शब्दों में गुण शब्द-गुम्फ और रीति दोनों के ही नियामक होते हैं, और अन्त में उन्हीं के माध्यम से रीति (वृत्ति) रस की अभिव्यंजना में सहायता देती हुई काव्य में अपनी सार्थकता सिद्ध करती है ।

विश्वनाथ ने मम्मट के वर्ण-व्यापार के साथ-साथ पद-संघटना अर्थात् शब्द-गुम्फ तथा समस्त पदावली का महत्व फिर स्थापित किया और आनन्दवर्धन से प्रेरणा लेकर रीति का लक्षण इस प्रकार किया—

'पद-संघटना रीतिरंगसंस्था—विशेषवत्—उपकर्त्री रसादीनाम् ।' अर्थात् पदों की संघटना का नाम रीति है—यह अंग-संस्थान (शरीर-गठन) की भाँति है—और काव्य के आत्मरूप रसादि का उत्कर्ष-वर्धन करती है। जिस प्रकार शरीर की गठन बाह्य होती हुई भी मनुष्य के आंतरिक व्यक्तित्व—आत्मा—का उत्कर्ष-वर्धन करती है इसी प्रकार सम्यक् पद-संघटना बाह्य अवयव होती हुई भी काव्यात्मभूत रस का उपकार करती है।

अन्त में उपर्युक्त विवेचन से एक तथ्य स्पष्ट रूप से हमारे सामने आता है: यद्यपि रीति के महत्व में आकाश-पाताल का अन्तर हो गया—यह आत्म-पद से भ्रष्ट होकर अंग-संस्थान मात्र रह गई, तथापि उसकी परिभाषा में कोई मौलिक अन्तर नहीं हुआ। वामन की 'विशिष्ट पद-रचना' ही रीति की सर्व-मान्य परिभाषा रही—यह विशिष्टता भी प्रायः शब्द और अर्थ के चमत्कार पर आश्रित मानी गई, और वामन के निर्देशानुसार गुणों के साथ भी रीति का नित्य सम्बन्ध रहा। अन्तर केवल यह हुआ कि वामन ने जहाँ शब्द और अर्थ के शोभाकारक धर्मों के रूप में गुणों को और उनसे अभिन्न रीति को अपने आप में सिद्धि माना, वहाँ आनन्दवर्धन तथा परवर्ती आचार्यों ने गुणों को रस के धर्म माना—और उनके आश्रय से रीति को भी रसाभिव्यक्ति के माध्यम रूप में ही स्वीकार किया। उनके अनुसार रीति शब्द और अर्थ के आश्रित रचना-चमत्कार का नाम है जो माधुर्य, ओज अथवा प्रसाद गुण के द्वारा चित्त को द्रवित, दीप्त और परिव्याप्त करती हुई रस-दशा तक पहुँचाने में साधन रूप से सहायक होती है।

रीति के आधार

वैदर्भी आदि रीतियों के नामकरण विदर्भादि प्रदेशों के नाम पर किये गए हैं। तो क्या रीतियों की विशिष्टता का आधार प्रादेशिक है ? क्या काव्य-शैली किसी प्रदेश की सीमा में बद्ध हो सकती है ?—यह शंका वामन ने स्वयं उठाई है: "किन्तु क्या भिन्न-भिन्न पदार्थों की भाँति काव्य के गुणों की भी उत्पत्ति पृथक्-पृथक् देशों से होती है जो उनका नामकरण देशों के आधार पर किया गया है ?" (का० सू०, २ अध्याय)।

इसका उत्तर भी उन्होंने स्वयं दिया है और वह बड़ा संगत उत्तर है: "नहीं, ऐसा नहीं है। वैदर्भी आदि रीतियों के नाम विदर्भादि देशों के नाम पर इसलिए रखे

गये हैं कि इन देशों में (इन देशों के कवियों के काव्य में) उनका विशेष प्रयोग मिलता है।

विदर्भ, गौड़ और पांचाल देशों में वहाँ के कवियों ने क्रमशः वैदर्भी, गौड़ीया पांचाली रीतियों का उनके वास्तविक रूपों में, मुख्यतः प्रयोग किया है। इसलिए इनके नाम विदर्भादि के नामों पर रखे गये हैं, इसलिए नहीं कि इन देशों का उपर्युक्त रीतियों पर कोई विशेष प्रभाव पड़ा है।" (का० सू०, २ अध्याय)।

इसमें संदेह नहीं कि प्रत्येक प्रदेश की अपनी विशेषताएँ होती हैं। रहन-सहन अर्थात् वेशभूषा तथा आचार-व्यवहार आदि में तो ये प्रादेशिक विशेषताएँ प्रत्यक्ष लक्षित होती हैं, भाषा के क्षेत्र में भी उच्चारण पर इनका प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट रहता है। परन्तु प्रश्न इन बाह्य विशेषताओं का नहीं है—वेशभूषा, आचार-व्यवहार और उच्चारण आदि बहुत कुछ भौतिक एवं शारीरिक विशेषताएँ हैं जो भौगोलिक प्रभावों द्वारा अनुप्रेरित रहती हैं। प्रश्न भाषा-शैली अथवा उससे भी सूक्ष्मतर काव्य-शैली का है।

वामन का उत्तर स्पष्ट है : (१) रीति अथवा काव्य-शैली द्रव्य के समान जलवायु विशेष की उपज नहीं है। अतएव उस पर देश का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

(२) वैदर्भी का नाम विदर्भ देश पर इसलिए रखा गया है कि इस प्रदेश के कवियों ने दस गुणों से अलंकृत इस रीति का उसके वास्तविक रूप में—अर्थात् सर्वांग-सम्पन्न रूप में—मुख्यतः प्रयोग किया है। गौड़ीया और पांचाली का नामकरण भी इसी प्रकार हुआ है।

वामन के मत से रीतियों की स्वतन्त्र सत्ता है—वे गुणात्मक अर्थात् शब्द और अर्थगत सौन्दर्य के आश्रित हैं। इनमें से एक रीति दशगुण-सम्पन्न है; शेष दो का सौन्दर्य केवल दो-दो गुणों पर आश्रित होने के कारण आंशिक है। एक में ओज और कान्ति का समावेश रहता है और दूसरी में माधुर्य और सौकुमार्य का। पहली अर्थात् समग्रगुणभूषिता रीति का प्रयोग विदर्भ के कवियों में मुख्यतः मिलता था, इसलिए उसका नाम विदर्भ के नाम पर वैदर्भी रख दिया गया। ओज और कान्तिमती रीति का प्रयोग अपने वास्तविक रूप में मुख्यतया गौड़ देश के कवियों में मिलता था, इसलिए उसका नाम गौड़ीया कर दिया गया, और माधुर्य तथा सौकुमार्य से उत्पन्न रीति का प्रचार प्रायः पांचाल देश के कवियों में था, अतएव उसका नामकरण पांचाली

कर दिया गया। परन्तु यह संयोग मात्र ही समझना चाहिए—विदर्भ, गौड़ तथा पांचाल प्रदेशों की परम्पराएँ ऐसी थीं। यह प्रदेश का प्रभाव नहीं है—ऐसा वामन का मत है। वामन के मत से तत्व रूप में रीतियों की सत्ता पहले थी—प्रदेशानुसार नामकरण बाद में हुआ।

इस प्रकार के निरूपण में दो प्रकार की प्रक्रियाओं से काम होता है—एक आगमन प्रक्रिया दूसरी निगमन प्रक्रिया। प्रस्तुत प्रसंग में वामन के मतानुसार रीतियों का नामकरण निगमन प्रक्रिया से हुआ है। आगमन के अनुसार तो वैदर्भ कवियों की सामान्य काव्य-शैली के विश्लेषण द्वारा वैदर्भी के गुणों का निर्धारण होना चाहिए था। परन्तु यहां गुणों के आधार पर रीतियों का स्वरूप-निर्धारण पहले किया गया है—और देश विशेष के कवियों में उन विशेषताओं को देख कर उनका नामकरण बाद में।

वास्तव में यह वामन की अपनी धारणा है जो उन्होंने अपने सिद्धांत के अनुकूल बना ली है। भरत, बाण, भामह और दण्डी के संकेतों से स्पष्ट है कि आरम्भ में प्रवृत्तियों, रीतियों या मार्गों का वर्ग-विभाजन प्रदेशानुसार ही हुआ था, परन्तु यह भी ठीक ही है कि स्वतंत्रचेता विद्वान आरम्भ से ही इस प्रादेशिक विभाजन के प्रति संदेहशील थे—भरत, बाण और दण्डी ने अपनी शंका स्पष्ट रूप से व्यक्त की है और भामह ने तो प्रादेशिक विभाजन और तदाश्रित तारतम्य को अमान्य ही ठहरा दिया है। वामन के समय तक आते-आते प्रादेशिक आधार कदाचित् काफ़ी हिल चुका था और इसीलिए उन्होंने तदाश्रित नामकरण को संयोग मात्र घोषित कर दिया। रीति-निरूपण के प्रसंग में इस प्रकार उचित दिशा में एक क़दम और उठाया गया।

अगला सफल पद-न्यास रसध्वनिवादियों ने किया जिन्होंने रीतियों के प्रादेशिक आधार को सर्वथा लुप्त कर विषय, वक्ता तथा रस को नियामक आधार माना। गौड़ीय का गौड़ से कोई सम्बन्ध नहीं रहा, वह रौद्रादि रसों और युद्ध आदि के वर्णन के उपयुक्त मानी गयी। इसी प्रकार पांचाली का पांचाल देश के कवियों से कोई सम्बन्ध न रहा—वह शृंगार-करुणादि रसों और प्रेम तथा शोकादि के प्रसंगों के योग्य ठहरायी गयी।

कुन्तक एक पग और आगे बढ़े। उन्होंने प्रादेशिक नामों का भी त्याग कर दिया। उनका मत है कि कवि-मार्ग अथवा रीति का आधार है कवि का स्वभाव—मातुलेया भगिनी के साथ विवाह-प्रथा की भांति रीति कोई देश-धर्म नहीं है। +

+ + यदि किसी देश की जलवायु के साथ काव्य-शैली का सम्बन्ध होता तो उस देश के सभी निवासी उसका प्रयोग करने में समर्थ होते।

'न च विशिष्ट-रीति-युक्तत्वेन काव्यकरणं मातुलेया-भगिनीविवाहवद् देशधर्मतया व्यवस्थापयितुं शक्यम्। (व० जी० पृष्ठ ४५) + + + तस्मिन् सति तथाविधकाव्यकरणं सर्वस्य स्यात्।' (व० जी० पृ० ४६)।

इसीलिए उन्होंने सुकुमार, विचित्र और मध्यम कवि-स्वभाव के अनुसार मार्गों का नामकरण किया—देश के अनुसार नहीं।

इसमें संदेह नहीं कि काव्य-शैली का भौगोलिक आधार मानना संगत नहीं है—और न उसे देश-धर्म ही माना जा सकता है, इसमें भी संदेह नही कि प्रत्येक कवि की अपने स्वभाव (आज का आलोचक उसे व्यक्तित्व कहना पसन्द करेगा—) के अनुसार अपनी शैली होती है; परन्तु क्या स्थूल रूप से, काव्य-शैली के प्रादेशिक आधार पर वर्ग-भेद करना एकांत अनर्गल है? हमारे देश में अभी राष्ट्रभाषा का देशव्यापी प्रचार नहीं हुआ—इसलिए इस प्रश्न का सीधा व्यावहारिक उत्तर देना कठिन है। पर थोड़ा पीछे मुड़कर अँगरेजी की स्थिति पर विचार किया जा सकता है। क्या बंगाली, पंजाबी और दाक्षिणात्य भारतीय की अँगरेजी-शैली में—केवल उच्चारण आदि में ही नहीं—स्पष्ट अन्तर नहीं है? और यदि है तो इसे प्रादेशिक प्रभाव किसी न किसी रूप में मानना ही पड़ेगा। इँगलेंड जैसे छोटे देश में स्काच इँगलिश और वैल्श इँगलिश का प्रादेशिक अंतर आज भी मान्य है। व्यक्ति की दृष्टि से ही लीजिए, रवि बाबू, गांधीजी और डा० राधाकृष्णन की अँगरेजी-शैलियों का अन्तर क्या केवल वैयक्तिक है: क्या रवीन्द्रनाथ की शैली पर बंगाली भावोष्णता और गांधीजी की शैली पर गुजराती व्यावहारिक स्पष्टता का प्रभाव नहीं है? देश के बाहर जाकर तुलना करें तो क्या रवीन्द्रनाथ ठाकुर और विलियम बटलर येट्स की रहस्यवादी कविताओं में शैलीगत अन्तर केवल व्यक्ति-स्वभाव मात्र का अन्तर है—क्या इन दोनों की शैलियों के बीच का अन्तर उतना और वैसा ही है जैसा येट्स और ब्रिजेज की शैलियों का अन्तर है? क्या रवीन्द्रनाथ की अँगरेजी शैली पर भारतीयता की गहरी छाप नहीं है? इन प्रश्नों के उत्तर नकार में देना सम्भव नहीं हैं। और, यदि ऐसी स्थिति है तो शैली का प्रादेशिक आधार—चाहे वह कितना ही दूरस्थ और बाह्य-स्थूल क्यों न हो—एकदम अनर्गल नहीं माना जा सकता है। कुन्तक की स्वभाव-सम्बन्धी स्थापना ठीक ही है—उसमें शंका नहीं की जा सकती—परन्तु

स्वभाव अथवा व्यक्तित्व पर भी तो देश-काल का अप्रत्यक्ष प्रभाव अस्वीकृत नहीं किया जा सकता ।

यूरोप के साहित्य-शास्त्र में भी कुन्तक का ही मत मान्य है : वहाँ भी मधुर, उदात्त अथवा कोमल तथा परुष आदि रीतियाँ ही किसी न किसी रूप में स्वीकार्य हुईं जो कुन्तक के सुकुमार और विचित्र आदि मार्गों की ही समानधर्मा हैं । परन्तु वहाँ भी देश के आधार पर शैलियों का वर्ग-विभाजन हुआ है । ईसा की पहली शताब्दी के लगभग क्विन्टीलियन ने यूनानी-रोमी काव्य-शैली के तीन भेद किये थे : ऐटिक, एशियाटिक और रोडेशियन । ये शैलियाँ अपने प्रादेशिक आधार के कारण ही नहीं, वरन् स्वरूप में भी वैदर्भी, गौड़ीया और पांचाली के समकक्ष थीं ।

कहने का तात्पर्य यह है कि प्रादेशिक आधार की कल्पना सर्वथा निराधार नहीं है—उसके पीछे व्यावहारिक तर्क है । परन्तु इस प्रादेशिक आधार को अधिक महत्व नहीं देना चाहिये—मनुष्य का स्वभाव अथवा व्यक्तित्व प्रादेशिकता में आबद्ध नहीं है : कवि का व्यक्तित्व तो वैसे भी असाधारण प्रतिभावान और वैशिष्टय-सम्पन्न होता है, अतएव उसके लिए तो प्रादेशिकता का बन्धन और भी दुर्बल पड़ता है ।

रीति के मूल तत्व

रीति का स्वरूप-निरूपण करने के लिए उसके मूल तत्वों का निर्धारण कर लेना आवश्यक है ।

दण्डी ने गुणों को ही रीति के मूल तत्व माना है । उनके गुण शब्द-सौंदर्य और अर्थ-सौंदर्य दोनों के ही प्रतीक हैं । उनके श्लेष, समता, सौकुमार्य और ओज पद-बन्ध अथवा शब्द-गुम्फ के आश्रित हैं; माधुर्य, उदारता, कान्ति, प्रसाद, अर्थव्यक्ति और समाधि अर्थ-सौंदर्य के । वामन ने भी रीति को पद-रचना मानते हुए गुणों को ही उसके मूल तत्व माना है—वामन ने शब्द और अर्थ के आधार-भेद से गुणों के दो वर्ग कर दिये हैं : शब्द-गुण और अर्थ-गुण । उनके शब्द-गुण प्रायः सभी वर्ण-योजना, पद-बन्ध या शब्द-गुम्फ के ही चमत्कार हैं और अर्थ-गुणों का आधार अर्थ-सौंदर्य है ; उदारता, सौकुमार्य, समाधि और ओज के अनेक रूपों में लक्षणा-व्यंजना का चमत्कार है ; अर्थ-व्यक्ति में स्वाभाविकता अथवा यथार्थता का सौंदर्य है ; कान्ति में रस का ; माधुर्य में वक्रता अथवा विदग्धता का ; श्लेष में गोपन आदि के द्वारा क्रियाओं का

चातुर्य के साथ वर्णन रहता है, और वास्तव में यह चमत्कार प्रायः अर्थश्लेष के अन्तर्गत आ जाता है। प्रसाद में आवश्यक के ग्रहण और अनावश्यक के त्याग द्वारा अर्थ-वैमल्य—या स्पष्टता की सिद्धि होती है। समता में बाह्य तथ्यों के क्रम का अभंग रहता है। परवर्ती आचार्यों ने प्रसाद, समता आदि को दोषाभाव मात्र माना है। उनका भी तर्क असंगत नहीं है, तथापि अर्थ-वैमल्य (ल्यूसिडिटी) आदि भी अपने आप में गुण हैं चाहे आप उन्हें अभावात्मक गुण ही मान लीजिये। (संस्कृत काव्य-शास्त्र में भी रुद्रट आदि ने दोषाभाव को गुण ही माना है)। इस प्रकार वामन के अर्थ-गुणों के मूल में रस, ध्वनि, अर्थालंकार, शब्द-शक्ति का भावात्मक सौंदर्य और दोषाभाव का अभावात्मक सौंदर्य विद्यमान रहता है—इनके अतिरिक्त परम्परा-मान्य तीनों गुणों प्रसाद, ओज और माधुर्य का अन्तर्भाव तो वामनीय गुणों में है ही। निष्कर्ष यह निकला कि केवल शब्द-गुम्फ ही नहीं—परम्परा-मान्य तीन गुणों के अतिरिक्त रस, ध्वनि, अर्थालंकार, शब्द-शक्ति और उधर दोषाभाव भी वामनीय रीति के मूल तत्व हैं। और स्पष्ट शब्दों में, परवर्ती काव्य-शास्त्र की शब्दावली में—वामन के मत में रीति के बहिरंग तत्व हैं शब्द-गुम्फ, और अंतरंग तत्व हैं गुण, रस, ध्वनि (यद्यपि उस समय तक ध्वनि का आविर्भाव नहीं हुआ था), अर्थालंकार और दोषाभाव।

वामन के उपरान्त रुद्रट ने इस प्रश्न पर विचार किया और समास को रीति का मूल तत्व माना। उन्होंने लघु, मध्यम और दीर्घ समासों के अनुसार पांचाली, लाटीया और गौड़ीया रीतियों का स्वरूप-निरूपण किया। वैदर्भी असमासा होती है। आनन्दवर्धन ने रुद्रट की लाटीया रीति को तो स्वीकार नहीं किया, परन्तु समास को रीति के कलेवर का मुख्य तत्व अवश्य माना। उनकी परिभाषा है : रीति माधुर्यादि गुणों के आश्रय से स्थित रह कर रस को अभिव्यक्त करती है। इसका अर्थ यह हुआ कि माधुर्यादि गुणों को वे रीति का आश्रय—अथवा मूल आन्तरिक तत्व मानते हैं, और रीति को रस की अभिव्यक्ति का साधन मात्र समझते हैं। इस प्रकार आनन्दवर्धन के अनुसार प्रसाद, माधुर्य और ओज गुण रीति के मूल आन्तरिक तत्व हैं, और समास उसका बाह्य तत्व। अपने समग्र रूप में रीति रसाभिव्यक्ति की माध्यम है।

ध्वन्यालोक के पश्चात् तीन ग्रन्थों में इस प्रश्न को उठाया गया : राजशेखर की काव्य-मीमांसा में, भोज के सरस्वती-कण्ठाभरण में और अग्निपुराण में। राजशेखर ने इस प्रसंग में कुछ नवीनता की उद्भावना की है। उन्होंने समास के साथ ही अनुप्रास को भी रीति का मूल तत्व माना है। वैदर्भी में समास का अभाव और

स्थानानुप्रास होता है, पांचाली में समास और अनुप्रास का ईषत् सद्भाव रहता है, और गौड़ीया में समास और अनुप्रास प्रचुर रूप में वर्तमान रहते हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने तीनों रीतियों के तीन और नये आधार-तत्वों की कल्पना की : वैदर्भी—योगवृत्ति; पांचाली—उपचार; और गौड़ीया—योगवृत्तिपरम्परा।

भोज ने भी प्रायः राजशेखर का ही अनुसरण किया—उन्होंने समास और गुण दोनों को ही रीति के मूल तत्व मानते हुए राजशेखर के योगवृत्ति आदि आधार-भेदों को और भी विस्तार दिया। अग्निपुराण में गुण और रीति का कोई सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया गया—उनमें रीति के मूल तत्व तीन माने गये हैं : समास, उपचार (लाक्षणिक प्रयोग अथवा अलंकार), और मार्दव की मात्रा। पांचाली रीति मृद्वी, उपचार-युता और ह्रस्व-विग्रहा अर्थात् लघुसमासा होती है; गौड़ीया दीर्घ-विग्रहा और अनवस्थित-संदर्भा होती है—अर्थात् उसका संदर्भ एवं अर्थ सर्वथा व्यक्त नहीं होता; वैदर्भी को मुक्त-विग्रहा माना गया है—अर्थात् उसमें समास का अभाव रहता है, वह नातिकोमलसंदर्भा होती है अर्थात् उसकी पद-रचना अतिकोमला नहीं होती, और उसमें औपचारिक—अथवा आलंकारिक (लाक्षणिक) प्रयोगों की बहुलता नहीं रहती।

उत्तर-ध्वनिकाल के आचार्यों में मम्मट और विश्वनाथ ने विशेष रूप से प्रस्तुत प्रसंग पर प्रकाश डाला है। मम्मट ने वृत्ति या रीति को वर्ण-व्यापार ही माना है, और फिर वर्ण-संघटन या गुम्फ का गुण के साथ नियत सम्बन्ध स्थापित किया है। उन्होंने माधुर्य और ओज गुणों के लिए वर्ण-गुम्फ नियत कर दिये हैं, और फिर इन गुणों को ही वृत्तियों का प्राण-तत्व माना है। इस प्रकार मम्मट के अनुसार गुण-व्यंजक वर्ण-गुम्फ ही रीति के मूल तत्व हैं—विश्वनाथ ने प्रायः मम्मट का ही अनुसरण किया है—परन्तु उनकी रीतियों का आधार मम्मट की अपेक्षा अधिक व्यापक है। उनका रीति-निरूपण इस प्रकार है :

वैदर्भी—

> माधुर्यव्यंजकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका
> अल्पवृत्तिरवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते।
>
> (सा० द० पृ० ५२६)

अर्थात् वैदर्भी के तीन आधार-तत्व हैं:—माधुर्य-व्यंजक वर्ण, ललित पद-रचना, समास का अभाव अथवा अल्प-समास।

गौड़ी—

ओजः प्रकाशकैर्वर्णैः बन्ध-आडम्बरः पुनः
समास-बहुला गौड़ी ....॥

अर्थात् गौड़ी के तत्व हैं ओज, प्रकाशक वर्ण, आडम्बरपूर्ण बन्ध अथवा पद-रचना, और समास-बाहुल्य।

विश्वनाथ ने वर्ण-संयोजना और शब्द-गुम्फ दोनों को ही रीति के तत्व माना है और उधर समास को भी ग्रहण किया है। उन्होंने भी गुण और वर्ण-योजना का नियत सम्बन्ध माना है और गुण को रीति का आधार-तत्व स्वीकार किया है। और अन्त में, आनन्दवर्धन के समान विश्वनाथ ने भी रीति को रसाभिव्यक्ति का साधन माना है।

उपर्युक्त ऐतिहासिक विवेचन का सारांश यह है कि पूर्व-ध्वनिकाल के वामनादि आचार्य, जो अलंकार और अलंकार्य में भेद न कर समस्त शब्द तथा अर्थगत सौन्दर्य को अलंकार संज्ञा देते थे, शब्द और अर्थ के प्रायः सभी प्रकार के चमत्कारों को रीति के तत्व मानते थे। वामन के विवेचन से स्पष्ट है कि वे पद-बंध को रीति का बहिरंग आधार-तत्व और माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुण के अतिरिक्त रस, ध्वनि (यद्यपि यह नाम उस समय तक आविष्कृत नहीं हुआ था), शब्द-शक्ति, अलंकार तथा दोषाभाव को अन्तरंग तत्व मानते थे। उत्तर-ध्वनि आचार्यों ने अलंकार और अलंकार्य—वस्तु और शैली अथवा प्राण और देह का अन्तर स्पष्ट किया और रस-ध्वनि को काव्य का प्राण-तत्व तथा रीति को बाह्यांग माना—जिस प्रकार अंग-संस्थान आत्मा का उपकार करता है, इसी प्रकार रीति रस की उपकर्त्री है। उन्होंने रीति को काव्य का माध्यम मानते हुए वर्ण-संयोजन, तथा पद-रचना अर्थात् शब्द-गुम्फ तथा समास को उसके बहिरंग तत्व और गुण को अन्तरंग तत्व स्वीकार किया जिसके आश्रय से वह रस की अभिव्यक्ति करती है।

रीति के नियामक हेतु

वामन ने तो रीति की स्वतन्त्र तथा सर्वतन्त्र सत्ता मानी थी—अतएव उनके लिए तो रीति के नियमन तथा नियामक हेतुओं का प्रश्न ही नहीं उठता परन्तु आगे चल कर स्थिति बदल गई। रीति को परतन्त्र होना पड़ा। आनन्दवर्धन ने रस को रीति का प्रमुख नियामक हेतु माना है। रीति पूर्णतया रस के नियन्त्रण

में रहती है—उसी के अधीन कुछ और भी हेतु हैं जो उपचार से रीति का नियमन करते हैं। रस के अतिरिक्त ये हेतु तीन हैं—वक्तृ-औचित्य, वाच्य-औचित्य और विषय-औचित्य।

तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः ॥ ३।६ ॥

उस (संघटना) के नियमन का हेतु वक्ता तथा वाच्य का औचित्य ही है।

इसके अतिरिक्त—

विषयाश्रयमप्यन्यदौचित्यं तां नियच्छति।
काव्यप्रभेदाश्रयतः स्थिता भेदवती हि सा॥ ३।८ ॥

अर्थात् विषयाश्रित औचित्य भी उसका (संघटना का) नियन्त्रण करता है। काव्य के भेदों के आश्रय से भी उसका भेद हो जाता है।

उपर्युक्त तीन नियामक हेतुओं की थोड़ी व्याख्या अपेक्षित है। इनकी परिभाषा स्वयं आनन्दवर्धन ने की है।

"वक्ता कवि या कवि-निबद्ध (दो प्रकार का) हो सकता है। और कवि-निबद्ध (वक्ता) भी रसभाव (आदि) से रहित अथवा रसभावयुक्त (दो प्रकार का) हो सकता है। रस भी कथानायक-निष्ठ और उसके विरोधी (प्रतिनायक)-निष्ठ (दो प्रकार का) हो सकता है। कथानायक भी धीरोदात्तादि भेद से विभिन्न मुख्य नायक अथवा उसके बाद का (उपनायक पीठमर्द) हो सकता है। इस प्रकार वक्ता के अनेक विकल्प हैं।" (हिन्दी ध्वन्यालोक, पृ० २४४)

वास्तव में यह वक्ता के स्वभाव और मनःस्थिति की व्याख्या है—वक्ता के स्वभाव और मनःस्थिति के अनुकूल ही रीति का प्रयोग उचित है।

"इसी प्रकार वाच्य (अर्थ भी) ध्वनि-रूप (प्रधान) रस का अंग (अभिव्यंजक) अथवा रसाभास का अंग (अभिव्यंजक), अभिनेयार्थ या अनभिनेयार्थ, उत्तम प्रकृति में आश्रित, अथवा उससे भिन्न (मध्यम, अधम) प्रकृति में आश्रित—इस तरह नाना प्रकार का हो सकता है।" (हिन्दी ध्वन्यालोक, पृ० २४४)

वाच्य से अभिप्राय यहां विषय—अथवा विषय-वस्तु या वर्ण्य वस्तु का है जो निश्चय ही रीति का नियामक है, क्योंकि रीति का प्रयोग निस्संदेह ही वर्ण्य विषय पर

निर्भर रहता है। सुकुमार विषयों की वर्णन-शैली में मार्दव और परुष विषयों की शैली में परुषता स्वाभाविक ही है।

आनन्दवर्धन के अनुसार तीसरा नियामक हेतु है विषय। विषय का अर्थ, जैसा कि स्वयं लेखक ने ही स्पष्ट कर दिया है, विषय-वस्तु अथवा वर्ण्य विषय नहीं है : उसका उल्लेख तो वाच्य के द्वारा किया ही जा चुका है। विषय से यहाँ काव्य के रूप का अभिप्राय है। "मुक्तक, पर्यायबन्ध, परिकथा, खण्डकथा, सकल कथा, सर्गबन्ध (महाकाव्य), अभिनेयार्थ (रूपक), आख्यायिका और कथा आदि (काव्य के) अनेक प्रकार हैं। इनके आश्रय से भी संघटना या रीति में भेद हो जाता है।" (हि० ध्व० पृ० २४५)। संस्कृत काव्य-शास्त्र में बाह्यांगों के आधार पर वर्गीकरण करने की प्रवृत्ति कुछ अधिक बलवती रही है। उसमें प्रायः अनावश्यक भेद-विस्तार किया गया है इसीलिए उसके अनेक काव्य-भेद आगे चलकर मान्य नहीं हुए : विशेषकर शैली मात्र पर आश्रित काव्य-रूप प्रायः सभी लुप्त हो चुके हैं। फिर भी आनन्दवर्धन के उपर्युक्त मन्तव्य से असहमत होने के लिए कोई अवकाश नहीं है। महाकाव्य और नाटक सदृश काव्य-रूपों का प्रभाव तो रचना-रीति पर अत्यन्त प्रत्यक्ष ही रहता है— उनके अतिरिक्त अनेक सूक्ष्म भेदों का प्रभाव भी सहज ही लक्षित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए उपन्यास और कहानी, मुक्तक और गीत के रूप-भेद से उनकी शैली में भी निश्चय ही भेद रहता है।

उपर्युक्त विवेचन अत्यन्त सार्थक होने के अतिरिक्त सर्वथा आधुनिक भी है। यूरोप के काव्य-शास्त्र में शास्त्रीय—अथवा छद्म-शास्त्रीय परम्पराओं के बाह्य मूल्यों के विरुद्ध मनोविज्ञान-सम्मत आन्तरिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के निमित्त जो कार्य उन्नीसवीं शताब्दी में किया गया (यद्यपि वहाँ भी लोंजाइनस, दान्ते आदि अनेक प्राचीन आचार्य उसका संकेत सैकड़ों-हजारों वर्ष पूर्व कर चुके थे), उसे हमारे यहाँ आनन्दवर्धन आठवीं-नवीं शताब्दी में विधिवत् सम्पादित कर चुके थे।

रीति का प्रवृत्ति, वृत्ति तथा शैली से अन्तर

शास्त्र में रीति के सहधर्मी कुछ अन्य काव्यांगों का भी प्रयोग मिलता है— उनसे पार्थक्य किए बिना रीति का वास्तविक रूप उद्घाटित नहीं हो सकता।

रीति और प्रवृत्ति :—कालक्रमानुसार सबसे पहले तो प्रवृत्ति को लीजिए। प्रवृत्ति का विवेचन सर्व-प्रथम भरत में और फिर उनके अनुकरण पर राजशेखर,

भोज और शिंगभूपाल आदि में मिलता है। जैसा कि मैंने आरम्भ में विवेचन किया है, भरत के अनुसार प्रवृत्ति उस विशेषता का नाम है जो नाना देशों के वेश, भाषा तथा आचार का ख्यापन करे।[1] इस प्रकार प्रवृत्ति का सम्बन्ध केवल भाषा से ही न होकर वेश तथा आचार से भी है—जब कि रीति का सम्बन्ध केवल भाषा से ही है। प्रवृत्ति पूरे रहन-सहन के ढंग से सम्बन्ध रखती है, और रीति केवल बोलने तथा लिखने के ढंग से। प्रवृत्ति के मूल तत्व प्रायः बाह्य तथा मूर्त हैं—रीति के आन्तरिक। अतएव प्रवृत्ति का निश्चयात्मक आधार भौगोलिक है परन्तु रीति का आधार कवि-स्वभावगत ही अधिक है। प्रवृत्ति व्यवहारात्मक है—इसीलिए राजशेखर ने उसको केवल वेश-विन्यास-क्रम ही माना है, रीति एकान्त साहित्यिक। इसीलिए प्रवृत्ति का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नाटक से ही है—रीति का काव्य से (या नाटक के काव्यांग से)। *परन्तु इस भेद के रहते हुए भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि रीति की कल्पना* के पीछे प्रवृत्ति की प्रेरणा निस्सन्देह वर्तमान थी।

रीति और वृत्तिः—प्रवृत्ति का प्रचलन अत्यन्त सीमित ही रहा—अतएव उसके विषय में विशेष भ्रान्ति उत्पन्न नहीं हुई। परन्तु वृत्ति और रीति में अन्त तक भ्रान्ति के लिए अवकाश रहा।

वृत्ति के संस्कृत काव्य-शास्त्र में अनेक अर्थ हैं—किन्तु उन सबका प्रस्तुत प्रसंग से सम्बन्ध नहीं है। वृत्ति के केवल दो रूप ऐसे हैं जो रीति के समानधर्मी हैं—जिनसे उसका पार्थक्य आवश्यक है। ये दो रूप हैं (१) नाट्य वृत्तियाँ: भारती, सात्वती, कैशिकी तथा आरभटी—जिन्हें आनन्दवर्धन और अभिनव ने अर्थ-वृत्तियाँ कहा है। (२) काव्य-वृत्तियाँ: उपनागरिका परुषा और कोमला (ग्राम्या)—जिन्हें आनन्दवर्धन तथा अभिनव ने शब्द-वृत्तियाँ कहा है। इन्हें अनुप्रास-जाति भी कहते हैं।

आनन्दवर्धन ने वृत्ति की परिभाषा इस प्रकार की है: *'व्यवहारो हि वृत्ति-रित्युच्यते'—अर्थात् व्यवहार या व्यापार का नाम वृत्ति है। अभिनवगुप्त ने इसी* की तात्विक व्याख्या करते हुए लिखा है: 'तस्माद् व्यापारः पुमर्थसाधको वृत्तिः'—पुरुषार्थ-साधक व्यापार का नाम ही वृत्ति है। और स्पष्ट शब्दों में, पात्रों की कायिक, वाचिक और मानसिक विचित्रता से युक्त चेष्टा ही वृत्ति है। इस व्यापार का वर्णन काव्य में सर्वत्र होता है—कोई भी वर्णन व्यापार-शून्य नहीं होता, इसीलिए वृत्ति को काव्य की माता कहा गया है:

---

१. पृथिव्यां नाना देशवेशभाषाचारवार्ता ख्यापयतीति प्रवृत्तिः। (नाट्य-शास्त्र)

सर्वेषामेव काव्यानां वृत्तयो मातृकाः स्मृताः । (भरत)

यहाँ वाचिक के साथ ही कायिक और मानसिक चेष्टाओं का भी अन्तर्भाव है—इसलिए वृत्ति का रूप शब्दगत और अर्थगत दोनों प्रकार का होता है। आगे चल कर ये दोनों रूप पृथक् हो जाते है। आनन्दवर्धन के शब्दों में रसानुगुण अर्थ-व्यवहार भारती, सात्वती आदि वृत्तियों का रूप धारण कर लेता है, और रसानुगुण शब्द-व्यवहार उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियों का— जिनके उद्भावक हैं आचार्य उद्भट। उद्भट ने इन्हें अनुप्रास-जाति माना है, अतएव उनके मत से ये वृत्तियां वर्ण-व्यवहार मात्र ही हैं—इनमें पद-संघटना का विचार नहीं है। इन वृत्तियों के स्वरूप के विषय में आचार्यों में मतभेद रहा है। रुद्रट ने वृत्ति को समास के आश्रित माना है और समासयुक्त पद-संघटना को उसका आधार स्वीकार किया है :

नाम्नां वृत्तिर्द्वेधा भवति समासासमासभेदेन ।

आनन्दवर्धन ने थोड़ा और व्यापक रूप देते हुए उसे शब्द-व्यवहार रूप माना है। परन्तु आगे चल कर मम्मट ने फिर उद्भट के अनुसरण पर उसे नियत वर्ण-व्यापार मात्र ही स्वीकार किया है। और बाद में चल कर तो वृत्ति का रीति में अन्तर्भाव ही हो गया।

अर्थ-वृत्ति : उपर्युक्त दो प्रकार की वृत्तियों में पहली का रीति से निकट सम्बन्ध नहीं है : इनका प्रयोग प्रायः नाटक के प्रसंग में ही होता है—आज उपन्यास के क्षेत्र में भी इनकी सार्थकता हो सकती है। 'कायवाङ्मनसां चेष्टा' (अभिनवगुप्त) होने के कारण इनकी परिधि अत्यन्त व्यापक है। रीति का सम्बन्ध जहाँ वाणी से ही है वहां इनका सम्बन्ध शारीरिक तथा मानसिक व्यापारों से भी है। अर्थ-वृत्ति का सम्बन्ध चरित्र-विधान तथा व्यक्तित्व-चित्रण से है : रीति वचन-रचना का प्रकार मात्र है। हाँ, दोनों के मूल में रसानुकूल्य का आधार होने के कारण रस के सम्बन्ध से उनका पारस्परिक सम्बन्ध स्थिर किया जा सकता है। इस दृष्टि से कैशिकी पांचाली के समानान्तर है, सात्वती और आरभटी गौड़ीया के, और भारती वैदर्भी के—भरत ने यद्यपि केवल शब्द-वृत्ति मानते हुए उसका क्षेत्र अत्यन्त सीमित कर दिया है फिर भी परवर्ती आचार्यों ने उसकी सत्ता सर्वत्र मानी है : 'वृत्तिः सर्वत्र भारती' (शारदातनय)।

वर्ण-वृत्ति : दूसरी वृत्तियों का—उपनागरिका, परुषा तथा कोमला का—

रीतियों से इतना प्रत्यक्ष तथा घनिष्ठ सम्बन्ध है कि प्रायः उनके विषय में भ्रान्ति हो जाती है। इस विषय में आचार्यों के तीन मत हैं :

(१) वृत्ति की सत्ता रीति से स्वतन्त्र है। उद्भट ने केवल वर्ण-व्यवहार रूप वृत्तियों का ही विवेचन किया है। रुद्रट ने भी समास को आधार मानते हुए वृत्ति का रीति से ईषत् पृथक् उल्लेख किया है। उधर आनन्दवर्धन तथा अभिनव में भी दोनों का पृथक् वर्णन है—यद्यपि आगे चलकर आनन्दवर्धन ने वृत्ति को शब्द-व्यवहार मानकर वृत्ति और रीति की एकता स्वीकार कर ली है।

(२) मम्मट और उनके परवर्ती आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ आदि वृत्ति और रीति को एक ही मानते हैं। मम्मट ने तो उपनागरिका आदि वृत्तियों का विवेचन करने के उपरान्त स्पष्ट ही लिख दिया है कि इन्हें ही वैदर्भी आदि रीतियों के नाम से अभिहित किया जाता है। जगन्नाथ ने रीति और वृत्ति दोनों शब्दों का ही वैदर्भी आदि के लिए प्रयोग किया है।

(३) कुछ आचार्य वृत्ति को रीति का अंग मानते हैं : वृत्ति से उनका तात्पर्य वर्ण-गुम्फ का है और वर्ण-गुम्फ रीति के अनेक तत्वों में से एक है—अतएव वह उसका अंग है। वामन ने वृत्ति का कैशिकी आदि के अर्थ में ही उल्लेख किया है, अनुप्रास-जाति के अर्थ में वृत्ति का प्रयोग उद्भट का आविष्कार है जिसे वामन ने ग्रहण नहीं किया। परन्तु उनके रीति-विवेचन से स्पष्ट है कि अनुप्रास-जाति को वे रीति का अंग मानते हैं। विश्वनाथ ने रीति के तीन तत्व माने हैं : रचना (शब्द-गुम्फ), समास, तथा वर्ण-संयोजना। अतएव उनके मत में भी वर्ण-संयोजना रूप वृत्ति सम्भवतः ही रीति का अंग है।

उपर्युक्त अभिमतों के परीक्षण के उपरांत यह परिणाम निकलता है कि यदि उद्भट का मत मान्य है और तदनुसार वृत्ति केवल वर्ण-गुम्फ का नाम है तब तो वह रीति का एक बाह्य आधार तत्व है, परन्तु यदि आनन्दवर्धन के अनुसार उसे शब्द-व्यवहार माना जाए तो फिर वह रीति का पर्याय मात्र है : उत्तर-ध्वनिकाल के आचार्यों का यही मत रहा है। हमारा अपना विनम्र मंतव्य यह है कि वृत्ति शब्द की इस अर्थ में उद्भावना और उसका अन्त तक प्रयोग उसके पृथक् अस्तित्व के प्रमाण हैं। वह वर्ण-व्यवहार—आधुनिक शब्दावली में वर्ण-संयोजना—रूप है, और रीति का एक बाह्य अंग है। रीति के दो बाह्य तत्व हैं : (१) संघटना (शब्द-योजना, समास आदि) और (२) वर्ण-योजना जिसका दूसरा नाम है वृत्ति।

रीति और शैली : रीति का समानधर्मा अब केवल एक शब्द रह जाता है : शैली। वैसे तो यह शब्द अत्यन्त प्राचीन है और इसकी व्युत्पत्ति शील से हुई है। शील का अर्थ है स्वभाव जो कुन्तक के मत से रीति का नियामक आधार है। जिस प्रकार स्वभाव की अभिव्यक्ति का मार्ग रीति है, उसी प्रकार शील (स्वभाव) की अभिव्यक्ति-पद्धति शैली भी है और उसके व्युत्पत्ति-अर्थ में भी वैयक्तिक तत्व मूलतः वर्तमान है। परन्तु फिर भी भारतीय काव्य-शास्त्र में इसका प्रयोग प्रस्तुत अर्थ में प्रायः नहीं हुआ। शास्त्र में यह शब्द व्याख्यान-पद्धति आदि के प्रसंग में ही प्रयुक्त हुआ है : यथा—'प्रायेण आचार्याणामियं शैली यत् सामान्येनाभिधाय विशेषेण विवृणोति।' (कुल्लूक भट्ट की टीका—मनुस्मृति १।४। : बलदेव उपाध्याय—भारतीय सा० शा० से उद्धृत)। अभिव्यक्ति की पद्धति के अर्थ में शैली का प्रयोग आधुनिक ही है जो अँगरेजी के 'स्टाइल' शब्द का पर्याय है।

विशिष्ट अर्थ में रीति और शैली में बहुत अन्तर नहीं है। शैली की अनेक परिभाषाएँ की गई हैं। शैली विचारों का परिधान है। शैली उपयुक्त शब्दावली का प्रयोग है। अभिव्यक्ति की रीति का नाम शैली है। शैली भाषा का व्यक्तिगत प्रयोग है। शैली ही व्यक्ति है, इत्यादि।

शैली के दो मूल तत्व हैं : एक व्यक्ति-तत्व और दूसरा वस्तु-तत्व।

यूरोप के काव्य-शास्त्र में इन दोनों तत्वों का विस्तृत विवेचन किया गया है। यूनानी आचार्यों के उपरांत रोम के, और उनके उपरांत फ्रांस, इँगलैंड आदि के अनेक काव्य-शास्त्रियों ने शैली के वस्तु-तत्व का सम्यक् विवेचन किया है। अब रह जाता है शैली का वैयक्तिक तत्व। वास्तव में शैली के व्यक्ति-तत्व और वस्तु-तत्व में व्यक्ति-तत्व ही प्रधान है : उसी के द्वारा शैलीकार शैली के बाह्य उपकरणों का समन्वय—अनेकता में एकता की स्थापना करता है। वैयक्तिक तत्व के दो रूप हैं : एक तो शैली द्वारा कवि की आत्माभिव्यंजना—अर्थात् शैली का आत्माभिव्यंजक रूप और दूसरा पात्र तथा परिस्थिति के साथ शैली का सामंजस्य। भारतीय रीति-विवेचन में पहला रूप विरल है। परन्तु इस प्रसंग में एक बात याद रखनी चाहिए : इसमें संदेह नहीं कि उसे वांछित महत्व नहीं दिया गया फिर भी उसकी स्वीकृति का सर्वथा अभाव नहीं है। दण्डी ने काव्य-मार्ग को प्रति-कवि-स्थित माना है और कुन्तक ने तो कवि-स्वभाव को ही शैली का मूल आधार माना है। उनके उपरान्त शारदातनय आदि ने भी 'पुंसि पुंसि विशेषेण कापि कापि सरस्वती' कह कर व्यक्ति-तत्व को

स्वीकृति दी है। वैयक्तिक तत्व के दूसरे रूप का विधान तो भारतीय काव्य-शास्त्र में निश्चय ही मिलता है। यद्यपि वामन ने इसका स्पष्टीकरण नहीं किया किन्तु वामन से पूर्व भरत ने स्पष्ट निर्णय दिया है कि नाटक में भाषा पात्र के शील-स्वभाव की अनुवर्तिनी होनी चाहिए। उधर आनन्दवर्धन ने तो वक्ता, वाच्य और विषय के औचित्य को रीतियों का नियामक ही माना है।

अब प्रश्न यह है कि क्या शैली और रीति पर्याय शब्द हैं, अथवा उनमें अन्तर है। डा० सुशीलकुमार डे ने उनको एक मानने के विरुद्ध चेतावनी दी है। उनका कहना है कि रीति में व्यक्ति-तत्व का अभाव है, और व्यक्ति-तत्व शैली का मूल आधार है, अतएव दोनों को एक मानना भ्रान्ति है। हिन्दी के विद्वानों ने भी उनके आधार पर इन दोनों का भेद स्वीकार किया है। जहाँ तक शैली के वस्तु-रूप का सम्बन्ध है, वहाँ तक तो रीति से उसका पार्थक्य करना अनावश्यक है। जैसा मैंने रीति-काव्य की भूमिका में स्पष्ट किया है यूरोप के आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट शैली के तत्व नामान्तर से रीति के तत्वों में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं—अथवा रीति के तत्वों का उपर्युक्त शैली-तत्वों में अन्तर्भाव हो जाता है। लय, स्वर-लालित्य आदि कला-तत्व वर्ण-गुम्फ और शब्द-गुम्फ के अन्तर्गत आ जाते हैं, बौद्धिक तत्वों का समावेश अर्थव्यक्ति, प्रसादादि गुणों और कतिपय अर्थालंकारों के अन्तर्गत हो जाता है और रागात्मक तत्व रस (कान्ति-गुण) माधुर्य और ओज गुणों में अन्तर्भूत हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में वस्तु-तत्व शैली और रीति दोनों के सर्वथा समान हैं—केवल नाम-भेद है। व्यक्ति-तत्व के सम्बन्ध में भी दोनों में इतना भेद नहीं है जितना कि डा० डे ने माना है: रीति पर व्यक्तित्व का प्रभाव दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों तथा कुन्तक, शारदातनय आदि नवीन आचार्यों ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। कुन्तक का विवेचन तो सर्वथा आधुनिक ही प्रतीत होता है—वे तो यूरोप के रोमांटिक आलोचकों की भाँति ही स्वभाव पर बल देते हैं। यूरोप में भी पुनर्जागरण काल और विशेष रूप से रोमांटिक युग के बाद ही व्यक्तित्व को यह उभार मिला है। यूनान और रोम के—बाद में इटली और फ्रांस के—आलोचकों ने तो प्रायः शैली के वस्तु-तत्व पर ही बल दिया है।

उपर्युक्त विवेचन के परिणाम इस प्रकार हैं:

(१) रीति और शैली का वस्तु-रूप एक ही है। आरम्भ में भारत और यूरोप दोनों के काव्य-शास्त्रों में प्रायः वस्तु-रूप का ही विवेचन हुआ है।

(२) भारतीय रीति में व्यक्ति-तत्व की सर्वथा अस्वीकृति नहीं है, जैसा कि डे आदि ने माना है।

(३) फिर भी अपने वर्तमान रूप में शैली में व्यक्ति-तत्व का जितना महत्व है, उतना भारतीय रीति में कभी नहीं रहा। विधान रूप में उसमें वस्तु-तत्व का ही प्राधान्य रहा है। वामन की दृष्टि तो वस्तु-परक है ही, आनन्दवर्धन जैसे सर्वमान्य आलोचकों ने भी—जिन्होंने व्यक्ति की सत्ता को उचित स्वीकृति दी है, रीति के स्वरूप में व्यक्ति-तत्व का प्रभाव अत्यन्त संयत मात्रा में ही माना है।

(४) इस प्रकार रीति और शैली के वर्तमान रूप में व्यक्ति-तत्व की मात्रा का अन्तर अवश्य हो गया है। कम से कम 'शैली ही व्यक्ति है' की भाँति भारतीय रीति व्यक्ति से एकाकार नहीं हो पाई। इस सम्बन्ध में कुन्तक जैसे आचार्य की एक-आध उक्ति को अपवाद ही मानना चाहिये।

गुण-विवेचन

गुण की परिभाषा : वामन से पूर्व भरत और दण्डी ने दस गुणों का सांगोपांग वर्णन तो किया है, परन्तु परिभाषा नहीं की।

भरत : भरत ने गुणों को भावात्मक तत्व न मान कर अभावात्मक—अर्थात् दोषों का विपर्यय माना है : 'गुण विपर्ययाद् एषाम् माधुर्योदार्यलक्षणाः।' (नाट्य-शास्त्र, काव्यमाला १६।६१)—अथवा 'एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः'। (नाट्य-शास्त्र-चौखम्बा—१७।६५०)। विपर्यय का वास्तविक अर्थ क्या है इस विषय में आचार्यों में मतभेद रहा है। इस शब्द के तीन अर्थ किये गये हैं : अभाव, अन्यथा-भाव और वैपरीत्य। अभिनवगुप्त ने विघात या अभाव को ही ग्रहण किया है। उनके अनुसार भरत का मत है कि दोष का अभाव गुण है। उत्तर-ध्वनिकाल के आचार्यों ने भी दोष के अभाव को गुण (सद्गुण) माना है : 'महान् निर्दोषता गुणः'। परन्तु फिर भी भरत के गुण-विवेचन से यह सिद्ध नहीं होता कि उनके सभी गुणों की स्थिति अभावात्मक है। उनके लक्षणों से स्पष्ट है कि कुछ गुणों को छोड़ कर शेष सभी की स्थिति निश्चय ही भावात्मक है। उदाहरण के लिए समता की स्थिति अवश्य ही अभावात्मक है, परन्तु उदारता, सौकुमार्य, ओजस् आदि गुण जिनमें दिव्यभाव, सुकुमार अर्थ, और शब्दार्थ-सम्पत्ति आदि का निश्चित रूप से सद्भाव रहता है अभावात्मक कैसे हो सकते हैं ? अन्यथा-भाव और वैपरीत्य की स्थिति विलोम रूप से भावात्मक हो जाती है—धन का सद्भाव भावात्मक स्थिति है, धन का अभाव अभावात्मक है, परन्तु ऋण का सद्भाव पुनः भावात्मक स्थिति है क्योंकि ऋण के अभाव-रूप में उसकी अभावात्मक स्थिति भी होती है। इसलिए विपर्यय का अर्थ वैपरीत्य ही मानना संगत है—भरत ने दोषों का विवेचन पहले किया है अतएव उसी क्रम में दोषों के सम्बन्ध से—उनके विपर्यय रूप में—उन्होंने गुणों का भी विवेचन किया है। और, जैसा कि जैकोबी ने समाधान किया है, यह क्रम सामान्य व्यवहार-दृष्टि से रखा गया

है जिसके अनुसार मनुष्य के दोष अधिक स्पष्ट रहते हैं—और गुणों की कल्पना हम प्रायः उन सहज-ग्राह्य दोषों के निषेध (अभाव अथवा विपर्यय) रूप में ही करते हैं।

अतएव हमारा निष्कर्ष यह है कि भरत ने गुण को दोष का वैपरीत्य ही माना है, परन्तु, (जैसा कि भिन्न मत रखते हुए भी एक स्थान पर डा० लाहिरी ने संकेत किया है) निर्दिष्ट दस गुण पूर्व-विवेचित दस दोषों के ही क्रमशः विपरीत रूप नहीं हैं : यह तो उनके नामकरण से ही स्पष्ट है। अर्थात् यह वैपरीत्य सामान्य है, विशिष्ट नहीं है।

इसके अतिरिक्त भरत के अनुसार, लक्षण (काव्य-बन्ध) तथा अलंकार की भाँति गुण की भी सार्थकता यही है कि वह वाचिक अभिनय को प्रभावशाली बनाता है। नाटक में जो वाचिक अभिनय है काव्य में वही काव्य-भाषा या शैली है, इस प्रकार काव्य के प्रसंग में गुण का कार्य है काव्य-शैली को समृद्ध करना—प्रभावशाली बनाना।

भरत ने नाटक का और उपचार से काव्य का मूल तत्व रस माना है—वाचिकाभिनय रस का साधन है अतएव रस के अधीनस्थ है, और उपर्युक्त गुण आदि तत्व भी जो वाचिकाभिनय के चमत्कार के अंग हैं, परम्परा-सम्बन्ध से रस के अधीनस्थ हैं।

उपर्युक्त विवेचन के सार रूप हम भरत के अनुसार गुण का लक्षण इस प्रकार कर सकते हैं :

दोषों के विपर्यय (वैपरीत्य) रूप गुण काव्य-शैली को समृद्ध करने वाले तत्व हैं जो परम्परा-सम्बन्ध से रस के आश्रित रहते हैं।

दण्डी :—दण्डी ने भी दस गुणों का विवेचन तो विस्तार से किया है, किन्तु गुण का सामान्य लक्षण नहीं किया। तथापि उनके दो श्लोक ऐसे हैं जिनसे यह निष्कर्ष निकालने में कठिनाई नहीं होती कि गुण के स्वरूप के विषय में उनकी धारणा क्या थी :

काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते ।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते, कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति ॥२,१॥
काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः
साधारणमलंकारजातमन्यत् प्रदर्श्यते ॥२,३॥

(काव्यादर्श)

काव्य के शोभाकारक धर्म अलंकार कहलाते हैं—उनकी कल्पना अब भी बराबर हो रही है। उनका समग्र रूप में वर्णन कौन कर सकता है?

(इससे) पूर्व भी मार्गों का विभाग करने के लिए कुछ अलंकारों[1] का वर्णन किया जा चुका है। (अब) साधारण अलंकारों का वर्णन किया जाता है।

उपर्युक्त श्लोकों का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है :

काव्य के शोभा-विधायक सभी धर्म अलंकार कहलाते हैं—उनकी संख्या नित्य वर्धमान है—वे असंख्य हो सकते हैं।

उपमा, रूपक आदि प्रसिद्ध अलंकारों को दण्डी ने 'साधारण अलंकार' कहा है।

इन साधारण अलंकारों के अतिरिक्त अन्य सभी सौन्दर्य-विधायक तत्व भी अलंकार ही हैं।

मार्ग-विभाजन के आधारभूत दस गुण भी अलंक्रिया अथवा अलंकार ही हैं।

अतएव (१) दण्डी के अनुसार गुण भी एक प्रकार के अलंकार—अर्थात् काव्य-शोभा-विधायक धर्म हैं : 'शोभाकरत्वं हि अलंकारलक्षणं, तल्लक्षणयोगात् तेऽपि (श्लेषादयो दशगुणा अपि) अलंकाराः' (तरुणवाचस्पति)।

(२) ये काव्य के स्वतंत्र अंग हैं—रस के आश्रित नहीं हैं, अर्थात् इनके द्वारा काव्य का सीधा उपकार होता है, रस के आश्रय से नहीं। दण्डी ने काव्य को इष्टार्थ-वाचक पदावली माना है—अतएव काव्य-शोभा का अर्थ हुआ शब्दार्थ की शोभा और उसके विधायक गुणों का सम्बन्ध सीधा शब्दार्थ से हुआ।

वामन :—गुण का लक्षण सबसे पहले वामन ने किया है : 'काव्य के शोभा-कारक धर्म गुण कहलाते हैं। शब्द और अर्थ के वे धर्म जो काव्य को शोभा-सम्पन्न करते हैं गुण कहलाते हैं। वे हैं ओज, प्रसादादि—यमक, उपमादि नहीं क्योंकि यमक,

---

१. दण्डी के टीकाकारों ने इनका अर्थ अनुप्रास आदि शब्दालंकार किया है – परन्तु डा० लाहिरी इनसे गुणों का आशय ग्रहण करते हैं। हमको डा० लाहिरी का ही मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

उपमादि अलंकार, अकेले, काव्य-शोभा की सृष्टि नहीं कर सकते। इसके विपरीत ओज, प्रसादादि अकेले ही काव्य को शोभा-सम्पन्न कर सकते हैं। × × ×।

गुण नित्य हैं—उनके बिना काव्य में शोभा नहीं आ सकती।

(काव्यालंकारसूत्र ३,१)

अर्थात्

(१) गुण शब्द और अर्थ के धर्म हैं।

(२) ये काव्य के मूल शोभाविधायक तत्व हैं।

(३) वे काव्य के काव्यत्व के लिए अनिवार्य हैं। उनके बिना काव्य काव्य-पद का अधिकारी नहीं होता।

इसके अतिरिक्त (४) भरत के प्रतिकूल तथा दण्डी के अनुकूल वामन गुणों को रस के धर्म न मानकर शब्दार्थ के ही धर्म मानते हुए काव्य में उनकी स्वतन्त्र तथा प्रमुख सत्ता मानते हैं।—गुण रस के आश्रित नहीं है वरन् कान्ति गुण का अंग होने के कारण रस ही गुण का अंग है :—'दीप्तरसत्व कान्तिः'।

ध्वनिकार तथा उनके अनुयायी :—ध्वनिकार ने गुणों का स्वतन्त्र अस्तित्व न मानकर उन्हें रस के आश्रित माना है। उन्होंने गुण का लक्षण इस प्रकार किया है : "तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।" अर्थात् जो प्रधानभूत (रस) अंगी के आश्रित रहने वाले हैं उनको गुण कहते हैं। इस प्रकार ध्वनिकार ने उन्हें आत्मभूत रस के धर्म माना है, शरीरभूत शब्दार्थ के नहीं।

ध्वनिकार के उपरान्त प्रायः उन्हीं का मत मान्य रहा। मम्मट ने उनके लक्षण को और स्पष्ट करते हुए लिखा है :

ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः
उत्कर्षहेतवः ते स्युः अचलस्थितयो गुणाः ॥

(काव्यप्रकाश)

आत्मा के शौर्यादि (गुणों) की भाँति अंगीभूत रस के उत्कर्षकारी अचल-स्थिति धर्म गुण कहलाते हैं।

अर्थात् (१) गुण रस के धर्म हैं।

(२) वे अचल-स्थिति अथवा नित्य हैं।

(३) वे रस का उत्कर्ष करते हैं।

विश्वनाथ आदि परवर्ती आचार्यों ने प्रायः इसी लक्षण को प्रकारान्तर से दुहराया है। केवल पण्डितराज जगन्नाथ ने गुण को रस-धर्म मात्र मानने में आपत्ति की है। उनका तर्क है कि काव्य का आत्मन् होने के कारण रस तो गुणशून्य हुआ—उसका धर्म अथवा गुण कैसा ? (परमात्मा गुणशून्य एवेति मायावादिनो मन्यन्ते।) अतएव गुण शब्दार्थ का धर्म है। परन्तु आगे चलकर उनके विवेचन में शब्द-अर्थ के साथ-साथ रस को भी गुण का आधार माना गया है जिससे गुण का रसधर्मत्व फिर स्थापित हो जाता है। और वास्तव में अन्ततोगत्वा पण्डितराज ने इसका निषेध नहीं किया।—ध्वनि की मान्यता स्वीकार कर लेने पर वह सम्भव भी नहीं था।'''

निष्कर्ष यह है कि गुण काव्य के उत्कर्ष-साधक तत्व हैं इस विषय में सबकी पूर्ण सहमति है। परन्तु वामन आदि पूर्व-ध्वनिकाल के आचार्यों ने उन्हें शब्दार्थ के धर्म माना है जिनकी सत्ता स्वतन्त्र है—रस कान्ति का अंग होने के नाते गुण का अंग है, गुण रस के आश्रित अथवा रस के धर्म नहीं है। अर्थात् वे शब्दार्थ-रूप काव्य का साक्षात् उपकार करते हैं—रस के आश्रय से नहीं। इसके विपरीत उत्तर-ध्वनिकाल के आचार्य उन्हें प्राण-रूप रस के धर्म मानते हैं—शरीर-रूप शब्दार्थ के नहीं।—वे रस के आश्रय से ही काव्य की उत्कर्ष-साधना करते हैं। आगे चलकर गुण की यही परिभाषा सर्वमान्य हो गई और मम्मट ने उत्तर-ध्वनिकाल के आचार्यों की गुण-विषयक धारणाओं को पारिभाषिक शब्दों में बाँध दिया। गुणों का साक्षात् सम्बन्ध रस से ही स्थापित हो गया—शब्दार्थ के साथ उसका सम्बन्ध केवल औपचारिक ही माना गया है। परन्तु इस विषय में स्थिति सर्वथा ।नर्भ्रान्त और संशय-हीन नहीं रही—जगन्नाथ ने तो स्पष्ट ही गुणों को शब्दार्थ के (कम से कम शब्दार्थ के भी) धर्म माना। मम्मट और विश्वनाथ ने भी माधुर्य तथा ओज आदि का वर्णों से स्पष्ट सम्बन्ध माना है—व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध भी एक प्रकार का घनिष्ठ सम्बन्ध है। माधुर्यादि के, स्वरूप-निर्धारण में वर्ण-गुम्फ तथा शब्द-गुम्फ का आधार सदा ही निश्चयपूर्वक ग्रहण किया गया है। अतएव मूलतः रस के साथ सम्बद्ध होते हुए भी गुण शब्दार्थ से सर्वथा असम्बद्ध नहीं है : उन्हें रस के धर्म तो मानना ही चाहिए, परन्तु साथ ही शब्दार्थ के धर्म मानने में भी आपत्ति नहीं करनी चाहिए। शौर्यादि

की उपमा भी इस मन्तव्य की पुष्ट ही करती है क्योंकि इसमें सन्देह नहीं कि वे मूलतः आत्मा के—अन्तरंग व्यक्तित्व के धर्म हैं—परन्तु बाह्य व्यक्तित्व से उनका कोई सम्बन्ध ही न हो यह भी नहीं माना जा सकता। मधुर व्यक्तित्व अथवा ओजस्वी व्यक्तित्व के लिए आत्मा के ही माधुर्य अथवा ओज की अपेक्षा नहीं होती, आकृति के माधुर्य और तेज की भी आवश्यकता रहती है—केवल औपचारिक कह कर उसको टाल देना पर्याप्त नहीं है।

अतः गुण उन तत्वों को कहते हैं जो विशेष रूप से प्राणभूत रस के और गौण रूप से शरीरभूत शब्दार्थ के आश्रय से काव्य का उत्कर्ष करते हैं।

अथवा

गुण काव्य के उन उत्कर्ष-साधक तत्वों को कहते हैं जो मुख्य रूप से रस के और गौण रूप से शब्दार्थ के नित्य धर्म हैं।

गुण के आधार-तत्व

दण्डी और वामन आदि पूर्व-ध्वनि आचार्यों ने गुण को शब्द और अर्थ का धर्म माना है: उनके गुण-विवेचन से स्पष्ट है कि शब्द और अर्थ के चमत्कार (वर्ण-गुम्फ, शब्द-गुम्फ आदि शब्द-चमत्कार और उधर अग्राम्यत्व, अपारुष्य, रस आदि अनेक प्रकार के अर्थ-चमत्कार) गुण के आधार-तत्व हैं। इनके उपरान्त जब ध्वनिकार ने और उनके अनुयायियों ने गुण को रस-धर्म मान लिया तो स्वभावतः ही उसका स्वरूप सूक्ष्मतर हो गया: वह शब्द-चमत्कार या अर्थ-चमत्कार न रह कर 'चित्त-वृत्ति' माना गया। अभिनव, मम्मट, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ ने उसे स्पष्ट शब्दों में चित्तवृत्ति-रूप माना है: वर्णादि व्यंजक रूप में उसके आधार हैं। जगन्नाथ ने, इससे भी अधिक, उन्हें प्रयोजन-रूप माना है। रस-ध्वनिवादियों के अनुसार माधुर्यादि गुण द्रुति आदि चित्तवृ-त्तियों के तद्रूप ही हैं—उनका वास्तविक आधार रस ही है, परन्तु व्यंजक रूप में वर्ण-गुम्फ, समास तथा रचना आदि भी गुण के आधार हैं। जैसा कि मैंने अभी स्पष्ट किया है गुण रस और शब्दार्थ का धर्म होने के नाते उसे वर्ण-गुम्फ और शब्द-गुण पर आश्रित भी मानना पड़ेगा: गुण के स्वरूप-निरूपण में वर्ण, समास आदि का अनिवार्य आधार इसका प्रमाण है। अतएव गुण अपने सूक्ष्म-रूप में चित्तवृत्ति-रूप है और स्थूल अथवा मूर्त रूप में वर्ण-गुम्फ तथा शब्द-घटना रूप हैं; द्रुति, दीप्ति व्यापकत्व नामक चित्त-वृत्ति उसका आंतर आधार-तत्व है तथा वर्ण-गुम्फ और शब्द-गुम्फ बाह्य।

गुण की मनोवैज्ञानिक स्थिति

उपर्युक्त व्याख्या से गुण का लक्षण तो निर्धारित हो जाता है, परन्तु उसके वास्तविक स्वरूप का उद्घाटन पूर्णतः नहीं होता। उसके लिए गुण की मनोवैज्ञानिक स्थिति का स्पष्टीकरण आवश्यक है। आनन्दवर्धन ने तो केवल यही कहा है कि शृङ्गार, रौद्र आदि रसों में, जहां चित्त आह्लादित और दीप्त होता है, माधुर्य, ओज आदि गुण बसते हैं, परन्तु आह्लादन (द्रुति) और दीप्ति से गुणों का क्या सम्बन्ध है, यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। क्या माधुर्य और चित्त की द्रुति अथवा ओज और चित्त की दीप्ति परस्पर अभिन्न हैं अथवा उनमें कारण-कार्य सम्बन्ध है? इस समस्या को अभिनव ने सुलझाया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि गुण चित्त की अवस्था का ही नाम है। माधुर्य चित्त की द्रवित अवस्था है, ओज दीप्ति है और प्रसाद व्यापकत्व है। चित्त की यह द्रुति, दीप्ति अथवा व्याप्ति रस-परिपाक के साथ ही घटित होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि शृङ्गार रस की अनुभूति से चित्त में जो एक प्रकार की आर्द्रता का संचार होता है वही माधुर्य है, वीर रस के अनुभव से उसमें जो एक प्रकार की दीप्ति उत्पन्न होती है वही ओज है, और सभी रसों के अनुभव से चित्त में जो एक व्यापकत्व आता है वही प्रसाद है। इस प्रकार अभिनव के अनुसार माधुर्य आदि गुण चित्त की द्रुति आदि अवस्थाओं से सर्वथा अभिन्न हैं और चूंकि ये अवस्थाएँ रसानुभूति के कारण ही उत्पन्न होती हैं, अतएव रस को कारण और गुण को उसका कार्य कहा जा सकता है। कारण और कार्य में अन्तर होना अनिवार्य है, इसलिए रस और चित्त-द्रुति आदि के अनुभव में भी अन्तर अवश्य मानना होगा, कम से कम काल-क्रम का अन्तर तो है ही। परन्तु चूंकि रस की पूर्ण स्थिति में दूसरे अनुभव के लिए स्थान नहीं रहता, अतएव चित्त-द्रुति आदि का भी सहृदय को पृथक् अनुभव नहीं रह पाता। वह रस के अनुभव में ही निमग्न हो जाता है। आनन्दवर्धन ने गुणों को रस के नित्य धर्म इसी दृष्टि से माना है।

अभिनव के उपरान्त माधुर्य आदि गुणों को मम्मट ने रस के उत्कर्ष-वर्धक एवं अचल-स्थिति धर्म माना और उन्हें चित्त-द्रुति आदि का कारण माना है। अभिनव ने रस को गुण का कारण माना था और गुण को चित्त-द्रुति आदि से अभिन्न स्वीकार किया था। मम्मट गुण को चित्त-द्रुति आदि का कारण मानते हैं। गुण का स्वरूप क्या है इस विषय में मम्मट ने कुछ प्रकाश नहीं डाला। मम्मट का प्रतिवाद विश्वनाथ ने किया। उन्होंने फिर अभिनव के मत की ही प्रतिष्ठा की। अर्थात् चित्त के

द्रुति दीप्तत्व-रूप आनन्द को ही गुण माना। परन्तु उनका मत था कि 'द्रवीभाव या द्रुति आस्वाद-स्वरूप आह्लाद से अभिन्न होने के कारण कार्य नहीं है, जैसा कि अभिनव ने किसी अंश तक माना है। आस्वाद या आह्लाद रस के पर्याय हैं। द्रुति रस का ही स्वरूप है, उससे भिन्न नहीं है।' इस तरह विश्वनाथ ने एक प्रकार से गुण को रस से ही अभिन्न मान लिया है।

इन मान्यताओं को पण्डितराज जगन्नाथ ने चुनौती दी। सबसे पहले उन्होंने अभिनवगुप्त के तर्क का प्रतिवाद किया। अभिनवगुप्त के अनुसार एक ओर तो गुण रस के धर्म हैं और दूसरी ओर द्रुति आदि के तद्रूप होने के कारण रस के कार्य हैं—अतएव वे रस के धर्म और कार्य दोनों ही हैं। पण्डितराज की तार्किक बुद्धि ने इस मन्तव्य को असिद्ध घोषित किया क्योंकि धर्म और कार्य की स्थिति अभिन्न नहीं होती : उष्णता अनल का धर्म है, दाह कार्य है—उष्णता की स्थिति दाह के बिना भी सिद्ध है अतएव दोनों को अभिन्न नहीं माना जा सकता। ऐसी दशा में गुण रस का धर्म और कार्य कैसे हो सकता है ? विश्वनाथ की स्थापना तो और भी असंगत है—यदि गुण रस से अभिन्न है तो उसकी पृथक् सत्ता क्यों मानी जाये ? पण्डितराज ने इन दोनों का खण्डन करते हुए मम्मट के दृष्टिकोण को आंशिक रूप में स्वीकार किया। मम्मट ने गुण और चित्त-वृत्ति को एक नहीं माना—उन्होंने गुण को कारण और चित्त-वृत्ति को कार्य माना है। जगन्नाथ इनमें प्रयोजक-प्रयोज्य सम्बन्ध मानते हैं : गुण प्रयोजक है और चित्त-वृत्ति प्रयोज्य—प्रयोजक और प्रयोज्य सम्बन्ध से दोनों को एक भी माना जा सकता है : 'प्रयोजकता सम्बन्धेन द्रुत्यादिकम एव वा माधुर्यादिकमस्तु।' रस गंगाधर पृ० ५५। यह विवेचन भी निर्भ्रान्त नहीं है। एक ओर तो पण्डितराज गुण को वस्तु-रूप में ही रस और शब्दार्थ दोनों का धर्म मानते हैं और दूसरी ओर प्रयोजक-प्रयोज्य सम्बन्ध से उसे चित्तवृत्ति-रूप भी मानते हैं। रस-धर्म होने के नाते तो यह गुण चित्तवृत्ति-रूप अवश्य हो सकता है। परन्तु शब्दार्थ का धर्म होने के नाते यह सम्भव नहीं है—क्योंकि द्रुति आदि चित्त-वृत्तियों की आह्लाद-रूप रस में तो स्थिति सम्भव है, परन्तु शब्द और अर्थ में उनकी अवस्थिति कैसे मानी जा सकती है ?

वास्तव में संस्कृत साहित्य-शास्त्र में गुण की स्थिति पूर्णतया स्पष्ट नहीं है। काव्य में उसकी पृथक् सत्ता स्वीकार करने में भी यत्किंचित् संदेह अन्त तक बना रहता है। फिर भी उसकी सत्ता निरपवाद रूप से मानी ही गई है और उसका एक साथ निषेध करना अधिक संगत न होगा।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो रस और गुण दोनों ही मनःस्थितियाँ हैं (इस विषय में अभिनव, मम्मट आदि सभी सहमत हैं)। रस वह आनन्द-रूपी मनःस्थिति है, जिसमें हमारी सभी वृत्तियाँ अन्वित हो जाती हैं और यह स्थिति अखण्ड है। उधर गुण भी मनःस्थिति है, जिसमें कहीं चित्त-वृत्तियाँ द्रवित हो जाती हैं, कहीं दीप्त और कहीं परिव्याप्त। यहाँ तक तो कोई कठिनाई नहीं है। यह भी ठीक है कि विशेष भावों में और विशेष शब्दों में भी चित्त-वृत्तियों को द्रवित अथवा दीप्त करने की शक्ति होती है। उदाहरण के लिए मधुर वर्णों को सुनकर और प्रेम, करुणा आदि भावों को ग्रहण कर हमारे चित्त में एक प्रकार का विकार पैदा हो जाता है, जिसे तरलता के कारण द्रुति कहते हैं। और महाप्राण वर्णों को सुनकर एवं वीर और रौद्र आदि भावों को ग्रहण कर हमारे चित्त में दूसरे प्रकार का विकार हो जाता है जिसे विस्तार के कारण दीप्ति कहते हैं। परन्तु इन विकारों को पूर्णतः आह्लाद-रूप नहीं कह सकते। यहाँ काव्य (वस्तु) भावकत्व की स्थिति को पार करके भोजकत्व की ओर बढ़ रहा है। अभी उसमें वस्तु-तत्व निःशेष नहीं हुआ, और स्पष्ट शब्दों में हमारी चित्त-वृत्तियाँ उत्तेजित होकर अन्विति की ओर बढ़ रही हैं। अभी इनमें पूर्ण अन्विति की स्थापना नहीं हुई, क्योंकि तब तो रस का परिपाक ही हो जाता। जैसा भट्ट नायक ने एक जगह संकेत किया है, यह काव्य के भोजकत्व की एक प्रारम्भिक स्थिति है, जो पूर्ण रसत्व की पूर्ववर्ती है। अतएव गुण को अनिवार्यतः आह्लाद रूप न मान कर केवल चित्त की एक दशा ही माना जाय, तो उसे सरलता से रस-परिपाक की प्रक्रिया में रस-दशा से ठीक पहली स्थिति माना जा सकता है जहाँ हमारी चित्त-वृत्तियाँ पिघलकर, दीप्त होकर, या परिव्याप्त होकर अन्विति के लिए तैयार हो जाती हैं।

'भाविते च रसे तस्य भोगः। योऽनुभाव-स्मरण-प्रतिपत्तिभ्यो विलक्षण एव द्रुति-विस्तार-विकासनामा रजस-तमो-वैचित्र्यानुविद्धसत्वमयनिज-चित्-स्वभाव-निवृत्ति-द्रुति-विश्रान्तिलक्षणः परब्रह्मास्वादसचिवः ॥'

(लोचन के पृ० ६८ पर उद्धृत)

गुणों की संख्या :—भरत ने गुणों की संख्या दस मानी है और उनका वर्णन इस क्रम से किया है :

श्लेषः प्रसादः समता समाधिः
माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च
कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते ॥

दण्डी ने भी ये ही दस गुण माने हैं—उनका क्रम थोड़ा भिन्न है :

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः॥

परन्तु इन क्रमों के पीछे कदाचित् छंद का ही आग्रह है—इसके अतिरिक्त सापेक्षिक महत्वादि का आधार मानना संगत नहीं होगा। दण्डी की अनेक परिभाषाएँ भरत से भिन्न हैं—उनके समाधि, कान्ति आदि गुणों का तो भरत के समाधि, कान्ति आदि से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। वामन ने भी इन दस गुणों को ही ग्रहण किया है : परन्तु उन्होंने प्रत्येक गुण के शब्द-गुण और अर्थ-गुण—दो भेद माने हैं। इस प्रकार वामन की गुण-संख्या बीस हो जाती है : दस शब्द-गुण और दस अर्थ-गुण। यह प्रेरणा उन्हें भरत से ही मिली है क्योंकि भरत ने दस गुण मानते हुए भी उनमें से अनेक के दो-दो लक्षण दिये हैं—जो प्रायः, जैसा कि अभिनवगुप्त ने माना है, शब्द-गुण और अर्थ-गुण का ही संकेत करते हैं। वामन के पश्चात् भोज ने गुण-संख्या में और वृद्धि की है—और २४ गुणों का वर्णन किया है। उन्होंने तीन प्रकार के गुण माने हैं : बाह्य, आभ्यन्तर और वैशेषिक। इनमें से बाह्य गुण शब्द-गुण के ही नामान्तर हैं, आभ्यन्तर गुण अर्थ-गुण हैं, वैशेषिक गुण भावात्मक नहीं हैं—वे सामान्य रूप से दोष हैं—परन्तु विशेष संदर्भ में गुण बन जाते हैं। भोज ने उपर्युक्त प्रत्येक वर्ग में भी २४ गुण माने हैं— इस प्रकार उनके अनुसार पूर्ण योग ७२ हो जाता है। भोज ने भरत, दण्डी तथा वामन के दस गुण तो थोड़े-बहुत लक्षण-भेद के साथ प्रायः यथावत् स्वीकार कर लिये हैं—परन्तु साथ ही लगभग इन्हीं के भेद-रूप चौदह नवीन गुणों की उद्भावना कर डाली है।

नवीन शब्द-गुण तथा अर्थ-गुण (बाह्य तथा आभ्यन्तर) :

उदात्तता, और्जित्य, प्रेयस्, सुशब्दता, सौक्ष्म्य, गांभीर्य, विस्तार, संक्षेप, सम्मितत्व, भाविक, गति, रीति, उक्ति तथा प्रौढ़ि।

वैशेषिक गुण :—असाधु (अनुकरण में), अप्रयुक्त (अनुकरण में), कष्ट (दुर्वाचनादि में), अनर्थक (यमकादि अलंकारों में), अन्यार्थ (प्रहेलिका आदि में), अपुष्टार्थ (छन्द-पूर्ति में), असमर्थ (कामशास्त्र आदि में), अप्रतीत (विशिष्ट विद्या-विशारदों के सम्भाषणादि में), क्लिष्ट (व्याख्यानादि में—जहाँ गूढ़ार्थ का स्पष्ट संकेत होता है), नेयार्थ (प्रहेलिका आदि में), संदिग्ध (प्रसंग आदि के कारण आशय स्पष्ट

हो जाने पर), विरुद्ध (इच्छापूर्वक प्रयुक्त किये जाने पर, जहाँ विपरीत प्रकल्पना ही अभीष्ट हो), अप्रयोजक (अप्रयोजक विशेषण के अपने आप में सुन्दर होने के कारण), देश्य (महाकवियों द्वारा प्रयुक्त होने पर), ग्राम्य (घृणावत्, अश्लील तथा अमंगल रूप ग्राम्य दोष क्रमशः संवित अर्थात्—सहज भाव से स्वीकृत, गुप्त और लक्षित होने पर गुण बन जाता है)—ये गुण १६ हैं, परन्तु भोज ने ग्राम्य के घृणावत्, अश्लील तथा अमंगल रूपों के तीन-तीन भेद और किये हैं।—इस प्रकार वैशेषिक गुणों का सर्वयोग भी २४ हो जाता है। इनके अतिरिक्त वाक्य और वाक्यार्थ दोषों पर आश्रित चौबीस-चौबीस वैशेषिक गुण और भी हैं।

अग्निपुराण में गुणों की संख्या २४ से घट कर १८ रह गई। उसमें गुणों के तीन वर्गों का उल्लेख है : शब्द-गुण, अर्थ-गुण और उभय गुण। शब्द-गुण ६ हैं—श्लेष, लालित्य, गांभीर्य, सुकुमारता, औदार्य, तथा ओजस्। अर्थ-गुण भी ६ हैं—माधुर्य, संविधान, कोमलता, उदारता, प्रौढ़ि तथा सामयिकता। ६ उभय गुण इस प्रकार हैं : प्रसाद, सौभाग्य, यथासंख्य, प्राशस्त्य, पाक और राग।

गुणों की संख्या में एक ओर जहाँ वृद्धि हो रही थी—वहाँ दूसरी ओर गंभीर रुचि के आचार्यों की ओर से उन्हें वैज्ञानिक आधार पर नियमित करने का सत्प्रयत्न भी किया जा रहा था। काव्य-शास्त्र के आरम्भिक युग में ही भामह ने केवल तीन गुणों का अस्तित्व स्वीकार किया था—बाद में जब ध्वनि-रसवादियों ने काव्य के सभी अंगों का पुनराख्यान किया तो भामह के ये तीन गुण ही मान्य हुए। गुणों को जब रस-धर्म मान लिया गया तो उनका रूप बाह्य तथा मूर्त न रह कर आन्तरिक हो गया—वे चित्त-वृत्ति रूप माने गये। काव्यास्वादन की स्थिति में चित्त की तीन अवस्थाएँ होती हैं : द्रुति, दीप्ति और व्यापकत्व—गुण भी तदनुसार तीन ही हुए : माधुर्य, ओज और प्रसाद। भामह और उनके उपरान्त आनन्दवर्धन, अभिनव तथा मम्मट आदि ने इन्हीं को ग्रहण किया है।

कुन्तक ने परम्परा से कुछ हट कर गुण-विवेचन किया है। उन्होंने कवि-स्वभाव को प्रमाण मानते हुए सुकुमार, विचित्र और मध्यम तीन काव्य-मार्ग और उनमें से प्रत्येक के चार विशेष और दो सामान्य गुणों का निरूपण किया है। सामान्य गुण काव्य के अनिवार्य गुण हैं—उनके अभाव में काव्य काव्य नहीं रहता अतएव तीनों मार्गों में उनकी स्थिति समान रूप से रहती है। सामान्य गुण हैं : औचित्य और सौभाग्य—औचित्य का अर्थ है यथोचित विधान और सौभाग्य का अर्थ है चेतना को

चमत्कृत करने का गुण, जिसका मूल आधार है प्रतिभा। इनके अतिरिक्त चार विशिष्ट गुण हैं जिनके स्वरूप प्रत्येक गुण में भिन्न-भिन्न रहते हैं—ये हैं: माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य। इस प्रकार कुन्तक के अनुसार गुणों की संख्या ६ है।

विवेचन :—भेद-प्रभेदों का प्रस्तार अपने आप में कोई मौलिक उद्भावना नहीं है। भोज ने गुण-क्षेत्र में संख्या-वृद्धि कर कोई विशेष सिद्धि प्राप्त नहीं की। उन्होंने गुण-विवेचन को अधिक स्पष्ट और प्रामाणिक बनाने के स्थान पर और भी उलझा दिया। और तथ्य यह है कि काव्य-शास्त्र की परम्परा में उनके गुण-विस्तार को विशेष महत्व कभी नहीं मिला। परवर्ती विद्वानों ने या तो भामह तथा आनन्द-वर्धन आदि के अनुसरण पर केवल तीन गुणों की ही सत्ता स्वीकार की—या फिर अधिक से अधिक भरत, दण्डी तथा वामन के दस गुणों को मान्यता दी। वास्तव में भोज और अग्निपुराण का गुण-विवेचन अत्यन्त अपुष्ट तथा बहुत-कुछ अनर्गल-सा है। उनके अनेक गुण तो मान्य भेदों के प्रभेद मात्र हैं, कुछ केवल अलंकार ही हैं। कुछ-एक में ध्वनि का संकेत है, प्रेयस् और ओर्जोत्य पूर्व-ध्वनिकाल के आचार्यों के अनुसार अलंकार और उत्तर-ध्वनिकाल के आचार्यों के अनुसार रसभाव हैं। भोज ने प्रायः दण्डी और वामन के गुण-विवेचन के आधार पर तथाकथित नवीन उद्भावनाएँ कर डाली हैं—कभी वे एक से लक्षण और दूसरे से नाम ग्रहण कर लेते हैं—और कभी किसी एक गुण के वैकल्पिक रूपों को नये नाम दे देते हैं जैसे वामन की अर्थ-प्रौढ़ि के तीन रूपों को उन्होंने तीन स्वतन्त्र गुणों का रूप दे दिया है। इसके अतिरिक्त उनकी उद्भावनाओं के पीछे कोई तर्क अथवा संगति भी नहीं है। भोज के शब्द-गुण गांभीर्य, प्रौढ़ि, ओर्जोत्य तथा प्रेयस् स्पष्टतः ही अर्थ के चमत्कार हैं, इसी प्रकार कतिपय गुण ऐसे हैं जिनका सौन्दर्य शब्द और अर्थ दोनों पर आश्रित है, परन्तु उन्हें भोज ने मनमाने ढंग से शब्द-गुण या अर्थ-गुण की श्रेणी में डाल दिया है। वास्तव में शब्द और अर्थ का स्पष्ट पार्थक्य बहुत दूर तक निभाना कठिन होता है। वामन दस गुणों में ही बुरी तरह असफल रहे हैं, फिर भोज चौबीस गुणों में उसका निर्वाह किस प्रकार करते? इस पार्थक्य का आधार है आश्रय-आश्रयी-भाव परन्तु वह स्वयं असिद्ध रहता है—और भोज ने तो यह आधार भी विधिवत् ग्रहण नहीं किया। अतएव उनका विवेचन अत्यन्त असंगत एवं अनर्गल हो गया है। अग्निपुराण के भेद-प्रभेदों के विषय में भी यही कहा जा सकता है, उसका विवेचन और भी अस्पष्ट है। पहले तो शब्द-गुण, अर्थ-गुण तथा उभय गुण के वर्ग ही प्रामाणिक नहीं हैं: शब्द और अर्थ के चमत्कार प्रायः एक दूसरे की सीमा का उल्लंघन कर बैठते हैं, और फिर उभय

गुणों का पृथक् वर्ग तो अपनी स्वतन्त्र सत्ता की रक्षा करने में सर्वथा असमर्थ ही है। पुराणकार ने दण्डी, वामन और भोज के विवेचन को केवल उलझा कर रख दिया है।

सारांश यह है कि भोज के चौबीस या बहत्तर और अग्निपुराण के अठारह गुण काव्य-मर्मज्ञों का ध्यान आकृष्ट करने में असमर्थ ही रहे। वास्तविक विवाद रहा वामन के दस गुणों के बीच। जैसा कि मैंने अन्यत्र स्पष्ट किया है वामन और आनन्दवर्धन का विवाद संख्या के विषय में मूलतः नहीं है—यह विवाद गुण के स्वरूप, अथवा उसके भी आगे काव्य के स्वरूप से सम्बद्ध है। वामन के गुण शब्द-अर्थ के धर्म होने के नाते रीति-चमत्कार हैं; आनन्दवर्धन के गुण रस-धर्म होने के नाते चित्तवृत्ति-रूप हैं अतएव स्वभावतः वामन के गुणों का आधार मूर्त और संकीर्ण है, आनन्दवर्धन के गुणों का आधार सूक्ष्म और व्यापक है जिसके परिणामस्वरूप वामनीय गुणों की संख्या भी अधिक है। ध्वनिवादियों ने माधुर्य, ओज और प्रसाद—केवल ये तीन गुण ही माने हैं। उनका तर्क है कि रसानुभूति की प्रक्रिया में चित्त की तीन अवस्थाएँ होती हैं—द्रुति, दीप्ति तथा व्यापकत्व : शृंगार, करुण आदि के आस्वादन में चित्त द्रवीभूत तथा वीर रौद्रादि के अनुभव में दीप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त सभी रसों की अनुभूति के समय चित्त की एक और अवस्था होती है जिसे समर्पकत्व या व्यापकत्व कहा जा सकता है, जो रस-प्रतीति का सहज परिणाम होती है। इन्हीं चित्त-वृत्तियों के तद्रूप होने के कारण, गुण भी केवल तीन ही होते हैं—द्रुति का प्रतीक माधुर्य, दीप्ति का ओज और व्यापकत्व का प्रसाद। रसानुभूति की प्रक्रिया में चित्तकी केवल ये ही तीन अवस्थाएँ होती हैं अतएव तीन से अधिक गुणों की कल्पना निराधार है। मम्मट ने सिद्ध किया है कि वामन की दश-गुण-कल्पना भी वास्तव में किसी पुष्ट आधार पर स्थित नहीं है, अतिरिक्त गुण या तो इन्हीं तीनों में अन्तर्भूत हो जाते हैं, या वे दोषाभाव मात्र हैं, अथवा अलंकार हैं या फिर उक्ति-वैचित्र्य मात्र।

वामन के शब्द-गुण ओज, श्लेष, समाधि, उदारता, तथा प्रसाद प्रसिद्ध ओज गुण में अन्तर्भूत हो जाते हैं, माधुर्य माधुर्य में और अर्थव्यक्ति प्रसाद में। ओज का लक्षण है गाढ़-बन्धत्व, श्लेष में अनेक पद एक पद जैसे प्रतीत होते हैं, प्रसाद में पद-रचना ओज मिश्रित शैथिल्य-युक्त होती है, समाधि में आरोह-अवरोह-क्रम रहता है, उदारता में भी बन्ध-विकटत्व रहता है—उसमें पद नृत्य-सा करते हैं। स्पष्टतः ये सभी विशेषताएँ प्रसिद्ध ओज गुण के लक्षण के अन्तर्गत आ जाती हैं—ओजोदीप्त

वाणी में गाढ़-बन्धत्व, विकट-बन्धत्व, आरोह-अवरोह आदि विशेषताओं का समावेश स्वभाव से ही हो जाता है—अतएव उसी के विभिन्न रूप होने के कारण ये सभी ओज के अन्तर्गत आ जाते हैं। वामन के शब्द-गुण माधुर्य का स्वरूप है पृथक्-पदत्व, जो प्रसिद्ध माधुर्य का भी बाह्य तत्व है। अर्थव्यक्ति, जिसमें पद तुरंत ही अपने अर्थ के प्रति समर्पण कर देते हैं, प्रसाद का प्रसिद्ध लक्षण है। समता में एक ही मार्ग अथवा पद-रचना-शैली का आरम्भ से अन्त तक अवलम्बन रहता है, परन्तु यह गुण तो एकरसता के कारण विरस भाव उत्पन्न करता हुआ दोष बन जाता है। अपरुष बन्ध-रूप सौकुमार्य कष्टत्व अथवा श्रुति-कटु दोष का अभाव रूप है और पद-औज्ज्वल्य-रूप कान्ति ग्राम्यत्व दोष का निषेध मात्र है। वामन के अर्थ-गुणों की भी यही स्थिति है। अर्थ-प्रौढ़ि रूप ओज जिसमें एक शब्द के लिए सम्पूर्ण वाक्य का प्रयोग, सम्पूर्ण वाक्य के लिए एक शब्द का प्रयोग, व्यास, समास, तथा साभिप्राय-विशेषण प्रयोग होता है कथन का प्रकार अथवा उक्ति-वैचित्र्य मात्र है। इसी प्रकार अनेक विचारों का संघटन-रूप अर्थ-गुण श्लेष भी कथन का ही वैचित्र्य है, गुण नहीं है। ये दोनों भावात्मक गुण नहीं हैं। वामन के पाँच अर्थ-गुण प्रसाद, माधुर्य, उदारता, सौकुमार्य और समता केवल दोषाभाव है। अर्थ-वैमल्य-रूप प्रसाद—जहाँ आवश्यक का ग्रहण और अनावश्यक का त्याग रहता है—अधिक-पदत्व दोष का निषेध मात्र है। अर्थ-गुण माधुर्य उक्ति-वैचित्र्य का नाम है—परन्तु उक्ति-वैचित्र्य तो काव्य-शैली का अनिवार्य लक्षण है, उसके अभाव में रचना अनवीकृत दोष से दूषित रहती है। ऐसी स्थिति में उसे भावात्मक गुण नहीं माना जा सकता—वह अनवीकृत दोष का, निषेध मात्र है। उदारता का तो लक्षण ही ग्राम्यत्व का अभाव है—इसलिए उसे ग्राम्यत्व नामक दोष का अभाव ही मानना संगत है। सौकुमार्य भी पारुष्य का अभाव-रूप है—पारुष्य का अर्थ है अप्रिय अथवा अमंगल—यहाँ अमंगल-वाचक शब्दों के परिहार द्वारा अमंगल तथ्य के पारुष्य का परिहार किया जाता है। अतएव यह भी अमंगल-रूप अश्लील दोष का अभाव ही सिद्ध होता है। अर्थ के अवैषम्य अथवा क्रम के अभंग को अर्थ-गुण समता कहते हैं जो प्रक्रम-भंग दोष का अभाव है। अर्थव्यक्ति जहाँ वस्तुओं के स्वभाव की अभिव्यक्ति होती है—स्वभावोक्ति अलंकार से अभिन्न है। रस से दीप्त कान्तिगुण रसध्वनि आदि में अन्तर्भूत हो जाता है, और अर्थ-गुण समाधि तो कोई गुण ही नहीं है। वामन के अनुसार समाधि नामक अर्थ-गुण के द्वारा अर्थ-दर्शन होता है अर्थात् चित्त के एकाग्र होने से वास्तविक अर्थ प्रकट हो जाता है। परन्तु यह तो काव्य के रसास्वादन की पहली शर्त है, अर्थ-दर्शन के बिना तो न रस है, न गुण, न रीति। वैसे भी अर्थ-दर्शन गुण कैसे हो सकता है ?

मम्मट ने वामन के दश-गुण-विवेचन का लगभग इसी प्रकार खण्डन करते हुए, केवल तीन गुणों का ही अस्तित्व सिद्ध किया है। मम्मट का यह व्याख्यान प्रायः युक्तियुक्त ही है—इससे असहमत होने का कोई विशेष कारण नहीं है।

वास्तव में भेद-प्रस्तार का तो कोई अन्त ही नहीं हो सकता। वर्गीकरण अथवा वर्ग-विभाजन सर्वथा निर्दोष प्रक्रिया नहीं है—फिर भी उसका एक मूल सिद्धान्त यह है कि समान गुणशील इकाइयों का वर्ग में अन्तर्भाव होते रहना चाहिए। वर्ग जाति का प्रतिरूप है, व्यक्ति को जाति से तभी पृथक् नाम-रूप देना चाहिए जब उसका स्वरूप इतना व्यापक और महत्वपूर्ण हो जाए कि वह अपने आप में एक जाति या उपजाति का ही वाचक बन जाए। भारतीय काव्य-शास्त्र में, भेद-प्रस्तार करते समय अनेक हल्की रुचि के आचार्यों ने इस मूल सिद्धान्त की प्रायः उपेक्षा कर दी है—जिससे उनकी उद्भावनाएं अनावश्यक और असंगत हो गई हैं। गम्भीर आचार्यों को इसीलिए, समय-समय पर इस प्रस्तार-प्रवृत्ति को नियंत्रित करने का प्रयत्न करना पड़ा है। भामह, आनन्दवर्धन, अभिनव, मम्मट आदि गहनचेता विचारकों का सबसे महत्वपूर्ण योग यही रहा है कि उन्होंने विस्तार-प्रस्तार की अपेक्षा नियमन तथा समंजन का प्रयत्न ही अधिक किया है।

अतएव, अन्त में पूर्व-ध्वनिकाल के दस गुणों और उत्तर-ध्वनिकाल के तीन गुणों में—ये पिछले तीन गुण ही मान्य हुए : माधुर्य, ओज और प्रसाद—जो क्रमशः चित्त की द्रुति, दीप्ति और व्यापकत्व के तद्रूप हैं। इनमें प्रसाद तो चित्त की निर्मलता की—समरसता की स्थिति है जो सभी रसों के आस्वादन के लिए अनिवार्य है। हमारा मन जब तक निर्मल अथवा समरस नहीं होगा तब तक रसानुभूति सम्भव नहीं है—कामातुर व्यक्ति शृंगार रस का आस्वादन नहीं कर सकता, भयभीत व्यक्ति भयानक रस की प्रतीति करने में असमर्थ रहेगा, क्रुद्ध अथवा शोक-विह्वल नर-नारी रौद्र या करुण का आनन्द नहीं ले सकते। चित्त की इसी निर्मलता को आनन्दवर्धन ने समर्पकत्व अथवा व्यापकत्व कहा है और इसी के आधार पर प्रसाद गुण को शब्द और अर्थ की स्वच्छता रूप माना है : 'प्रसादस्तु स्वच्छता शब्दार्थयोः।' यह स्वच्छता—बाह्य रूप में शब्द और अर्थ की, और आन्तर रूप में चित्त की स्वच्छता—सर्व-रस-साधारण क्रिया है, इसके बिना रसानुभूति सम्भव नहीं है।

समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः॥

अर्थात् (शुष्केन्धन में अग्नि के समान, अथवा स्वच्छ वस्त्र में जल के समान) काव्य का समस्त रसों के प्रति जो समर्पकत्व (बोद्धा के हृदय में झटिति व्यापन-कर्तृत्व) है, उसे समस्त रसों में और रचनाओं में (सर्वसाधारणी क्रिया वृत्तिः स्थितिः यस्य सः) रहने वाला प्रसाद गुण समझना चाहिए।

(हिन्दी ध्वन्यालोक २,१० पृ० १३८)

इस प्रकार प्रसाद तो सामान्य अथवा साधारण गुण है। अब शेष रह जाते हैं माधुर्य और ओज। मानव-स्वभाव की सामान्यतः दो मूल प्रवृत्तियाँ ही लक्षित होती हैं—कोमल और परुष, अथवा मधुर और उर्जस्वित। इन्हीं दोनों की विभिन्न मात्राओं के मिश्रण से मानव-मन के असीम वैचित्र्य का निर्माण होता है: मौलिक प्रवृत्तियां ये ही दो रहती हैं। कुन्तक ने इसी आधार पर कवि-स्वभाव दो प्रकार के माने हैं: सुकुमार और विचित्र जो इन्हीं दो के भिन्न नाम हैं। माधुर्य और ओज इन्हीं दो प्रवृत्तियों के प्रतीक है। इन दो प्रवृत्तियों के अतिरिक्त अन्य प्रवृत्तियों की कल्पना अनावश्यक है क्योंकि वे सभी प्रवृत्तियां इन्हीं दो के मिश्रण से ही निर्मित हैं—रति तथा शोक कोमल वृत्तियाँ हैं, हास्य भी अपने सहज रूप में कोमल वृत्ति ही है—उत्साह और क्रोध परुष हैं—भय आश्रय की दृष्टि से कोमल और आलम्बन की दृष्टि से परुष है, जुगुप्सा और अद्भुत में दोनों का मिश्रण (अद्भुत में कुछ आचार्य केवल दीप्ति—भी मानते हैं), शान्त में दोनों का सन्तुलन या सामरस्य है।

गुण के स्वरूप को और भी स्पष्ट करने के लिए कतिपय समानधर्मा तत्वों से उसका पार्थक्य-प्रदर्शन उपयोगी होगा।

गुण और रीति :

सबसे पूर्व गुण और रीति को ही लीजिए। गुण और रीति के परस्पर-सम्बन्ध का विवेचन किया जा चुका है। दण्डी ने गुण को रीति का मूल तत्व माना है। वामन ने इस सम्बन्ध को और भी दृढ़ करते हुए लिखा है: 'विशिष्टा पद-रचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा।' १,२,७-८। अर्थात् रीति का वैशिष्ट्य गुणात्मक है। इस सूत्र का आगे चलकर आनन्दवर्धन ने व्याख्यान किया है। उन्होंने तीन विकल्प उपस्थित किए हैं।

गुणों का और संघटना (रीति) का ऐक्य है अथवा व्यतिरेक अर्थात् अभेद है अथवा भेद। व्यतिरेक में भी दो मार्ग हैं: गुणाश्रित संघटना (है) अथवा

मम्मट ने वामन के दश-गुण-विवेचन का लगभग इसी प्रकार खण्डन करते हुए, केवल तीन गुणों का ही अस्तित्व सिद्ध किया है। मम्मट का यह व्याख्यान प्रायः युक्तियुक्त ही है—इससे असहमत होने का कोई विशेष कारण नहीं है।

वास्तव में भेद-प्रस्तार का तो कोई अन्त ही नहीं हो सकता। वर्गीकरण अथवा वर्ग विभ जन सर्वथा निर्दोष प्रक्रिया नहीं है—फिर भी उसका एक मूल सिद्धान्त यह है कि समान गुणशील इकाइयों का वर्ग में अन्तर्भाव होते रहना चाहिए। वर्ग जाति का प्रतिरूप है, व्यक्ति को जाति से तभी पृथक् नाम-रूप देना चाहिए जब उसका स्वरूप इतना व्यापक और महत्वपूर्ण हो जाए कि वह अपने आप में एक जाति या उपजाति का ही वाचक बन जाए। भारतीय काव्य-शास्त्र में, भेद-प्रस्तार करते समय अनेक हल्की रुचि के आचार्यों ने इस मूल सिद्धान्त की प्रायः उपेक्षा कर दी है—जिससे उनकी उद्भावनाएँ अनावश्यक और असगत हो गई हैं। गम्भीर आचार्यों को इसीलिए, समय-समय पर इस प्रस्तार-प्रवृत्ति को नियंत्रित करने का प्रयत्न करना पड़ा है। भामह, आनन्दवर्धन, अभिनव, मम्मट आदि गहनचेता विचारकों का सबसे महत्वपूर्ण योग यही रहा है कि उन्होंने विस्तार-प्रस्तार की अपेक्षा नियमन तथा समंजन का प्रयत्न ही अधिक किया है।

अतएव, अन्त में पूर्व-ध्वनिकाल के दस गुणों और उत्तर-ध्वनिकाल के तीन गुणों में—ये पिछले तीन गुण ही मान्य हुए : माधुर्य, ओज और प्रसाद—जो क्रमशः चित्त की द्रुति, दीप्ति और व्यापकत्व के तद्रूप हैं। इनमें प्रसाद तो चित्त की निर्मलता की—समरसता की स्थिति है जो सभी रसों के आस्वादन के लिए अनिवार्य है। हमारा मन जब तक निर्मल अथवा समरस नहीं होगा तब तक रसानुभूति सम्भव नहीं है—कामातुर व्यक्ति शृंगार रस का आस्वादन नहीं कर सकता, भयभीत व्यक्ति भयानक रस की प्रतीति करने में असमर्थ रहेगा, क्रुद्ध अथवा शोक-विह्वल नर-नारी रौद्र या करुण का आनन्द नहीं ले सकते। चित्त की इसी निर्मलता को आनन्दवर्धन ने समर्पकत्व अथवा व्यापकत्व कहा है और इसी के आधार पर प्रसाद गुण को शब्द और अर्थ की स्वच्छता रूप माना है : 'प्रसादस्तु स्वच्छता शब्दार्थयोः।' यह स्वच्छता—बाह्य रूप में शब्द और अर्थ की, और आन्तर रूप में चित्त की स्वच्छता—सर्व-रस-साधारण किया है, इसके बिना रसानुभूति सम्भव नहीं है।

समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः॥

अर्थात् (शुष्केन्धन में अग्नि के समान, अथवा स्वच्छ वस्त्र में जल के समान) काव्य का समस्त रसों के प्रति जो समर्पकत्व (बोद्धा के हृदय में झटिति व्यापन-कर्तृत्व) है, उसे समस्त रसों में और रचनाओं में (सर्वसाधारणी क्रिया वृत्तिः स्थितिः यस्य सः) रहने वाला प्रसाद गुण समझना चाहिए।

(हिन्दी ध्वन्यालोक २,१० पृ० १३८)

इस प्रकार प्रसाद तो सामान्य अथवा साधारण गुण है। अब शेष रह जाते हैं माधुर्य और ओज। मानव-स्वभाव की सामान्यतः दो मूल प्रवृत्तियाँ ही लक्षित होती हैं—कोमल और परुष, अथवा मधुर और उर्जस्वित। इन्हीं दोनों की विभिन्न मात्राओं के मिश्रण से मानव-मन के असीम वैचित्र्य का निर्माण होता है: मौलिक प्रवृत्तियाँ ये ही दो रहती हैं। कुन्तक ने इसी आधार पर कवि-स्वभाव दो प्रकार के माने हैं: सुकुमार और विचित्र जो इन्हीं दो के भिन्न नाम हैं। माधुर्य और ओज इन्हीं दो प्रवृत्तियों के प्रतीक है। इन दो प्रवृत्तियों के अतिरिक्त अन्य प्रवृत्तियों की कल्पना अनावश्यक है क्योंकि ये सभी प्रवृत्तियाँ इन्हीं दो के मिश्रण से ही निर्मित हैं—रति तथा शोक कोमल वृत्तियाँ हैं, हास्य भी अपने सहज रूप में कोमल वृत्ति ही है—उत्साह और क्रोध परुष है—भय आश्रय की दृष्टि से कोमल और आलम्बन की दृष्टि से परुष है, जुगुप्सा और अद्भुत में दोनों का मिश्रण (अद्भुत में कुछ आचार्य केवल दीप्ति—भी मानते हैं), शान्त में दोनों का सन्तुलन या सामरस्य है।

गुण के स्वरूप को और भी स्पष्ट करने के लिए कतिपय समानधर्मा तत्वों से उसका पार्थक्य-प्रदर्शन उपयोगी होगा।

गुण और रीति :

सबसे पूर्व गुण और रीति को ही लीजिए। गुण और रीति के परस्पर-सम्बन्ध का विवेचन किया जा चुका है। दण्डी ने गुण को रीति का मूल तत्व माना है। वामन ने इस सम्बन्ध को और भी दृढ़ करते हुए लिखा है: 'विशिष्टा पद-रचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा।' १,२,७-८। अर्थात् रीति का वैशिष्ट्य गुणात्मक है। इस सूत्र का आगे चलकर आनन्दवर्धन ने व्याख्यान किया है। उन्होंने तीन विकल्प उपस्थित किए हैं।

गुणों का और संघटना (रीति) का ऐक्य है अथवा व्यतिरेक अर्थात् अभेद है अथवा भेद। व्यतिरेक में भी दो मार्ग हैं: गुणाश्रित संघटना (है) अथवा

संघटनाश्रित गुण (हैं)[१]।

अर्थात्　१. क्या रीति और गुण अभिन्न हैं ?

२. क्या रीति गुणाश्रित है ?

३. क्या गुण रीति-आश्रित हैं ?

यों तो आनन्दवर्धन से पूर्व भी इस विषय का विवेचन हो चुका था। वामन ने रीति और गुण को अभिन्न माना था—और उद्भट ने गुण को रीति-आश्रित। परन्तु ये अभिमत आनन्दवर्धन को मान्य नहीं हुए, उन्होंने अपने ढंग से इन विकल्पों का उत्तर दिया। "यदि गुण और संघटना (रीति) एक तत्व हैं, अथवा संघटना के आश्रित गुण रहते हैं तो संघटना के समान गुणों का भी अनियत-विषयत्व हो जाएगा। गुणों का तो विषय-नियम निश्चित है। जैसे, करुण और विप्रलम्भ शृंगार में ही माधुर्य और प्रसाद का प्रकर्ष (होता) है, ओज रौद्र और अद्भुत विषय में (ही प्रधानतः रहता है)। माधुर्य और प्रसाद रस, भाव और तदाभास विषयक ही होते हैं। इस प्रकार (गुणों का) विषय-नियम बना हुआ है। (परन्तु) संघटना में यह बिगड़ जाता है। क्योंकि शृंगार में भी दीर्घ-समासा (रचना-संघटना) पाई जाती है और रौद्रादि रसों में भी समास-रहित (रचना पाई जाती है)। × × × इसलिए गुण न तो संघटना-रूप हैं और न संघटनाश्रित हैं।

इस प्रकार पहले दोनों विकल्पों का आनन्दवर्धन खण्डन कर देते हैं।—रीति और गुण एक नहीं है, इसमें तो कोई विशेष आपत्ति नहीं है : रीति (पद) रचना है और गुण उसको अनुप्राणित करने वाला तत्व, अतएव इन दोनों का अभेद सम्भव नहीं है। परन्तु गुण किसी रूप में भी रीति के आश्रित नहीं है—यह प्रश्न विचारणीय है। आनन्दवर्धन का तर्क निस्संदेह ही संगत है—रीति के आश्रित होने से गुण भी अनियत-विषय हो जाएगा जबकि गुण का विषय नियत है, रीति का अनियत। शृंगार रस में गुण तो माधुर्य ही हो सकता है—ओज नहीं हो सकता, परन्तु रीति दीर्घ-समासा भी हो सकती है। इसी प्रकार रौद्र में केवल ओज गुण ही होगा, परन्तु रीति असमासा या लघु-समासा भी हो सकती है। यह युक्ति आंशिक रूप में ही सत्य है क्योंकि एक तो संघटना या रीति केवल समासाश्रित ही नहीं है, वर्णाश्रित भी है—इसका स्पष्टीकरण मम्मट, विश्वनाथ आदि ध्वनि-रसवादियों ने आगे चलकर किया है। समास की अपेक्षा वर्णों को अनियत विषय मानना थोड़ा कठिन है। परन्तु

---

१. हिन्दी ध्वन्यालोक—पृ० २३३

यहाँ भी कोई अकाट्य नियम नहीं है—कथित कठोर वर्णों का प्रयोग होने पर भी भाव की तीव्रता के द्वारा शृंगारादि रसों का परिपाक सम्भव है, अनुभव-गम्य है। फिर भी इस बात का निषेध नहीं किया जा सकता कि दीर्घ-समास और कठोर वर्ण शृंगारादि रसों के और असमास रचना तथा कोमल वर्ण रौद्रादि-रसों के परिपाक में बाधक होते हैं। कठोर वर्ण और दीर्घ-समास शृंगार रस की द्रुति में विघ्नकारी होते हैं, समासहीन पृथक् पद तथा कोमल वर्णों से रौद्र की दीप्ति का पूर्ण विकास नहीं हो पाता, यह मनोविज्ञान का तथ्य सहृदय के प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है। स्वयं आनन्द ने भी इसको मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है।

तीसरा विकल्प है: क्या रीति गुण के आश्रित है? इसका उत्तर आनन्दवर्धन स्वीकारात्मक देते हैं। उनकी संघटना की परिभाषा में ही वह निहित है: 'गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन्'। आनन्दवर्धन का पक्ष सर्वथा ग्राह्य है, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं। रीति गुण के आश्रित है—शब्द-गुम्फ, वर्ण-गुम्फ-रूपिणी पद-रचना का स्वरूप माधुर्य, ओज आदि के द्वारा ही निर्धारित होता है। रीति का मुख्य कार्य है रस की अभिव्यक्ति करना और रस की अभिव्यक्ति वह प्रत्यक्ष रूप से नहीं कर सकती, गुण के आश्रय से ही कर सकती है। वह माधुर्य, ओज और प्रसाद के द्वारा चित्त को द्रवित, दीप्त और परिव्याप्त करती हुई रस-दशा तक पहुँचाने में सहायक होती है। अतएव आनन्दवर्धन के पक्ष को स्वीकार करने में तो कोई आपत्ति हो ही नहीं सकती। रीति गुण के आश्रित है—इसमें सन्देह नहीं, परन्तु गुण भी रीति-निरपेक्ष नहीं है। उपचार से तो आनन्द भी यह मान लेते हैं।

निष्कर्ष यह है कि रीति और गुण एक नहीं है—परन्तु उनका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। दोनों में गुण का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक है—मूलतः रीति उसी के आश्रित रहती है। परन्तु गुण भी रीति से अप्रभावित नहीं रहता: रीति के वर्ण-गुम्फ और शब्द-गुम्फ चित्त की द्रुति, दीप्ति और परिव्याप्ति के निश्चय ही साधक अथवा बाधक हो सकते हैं।

गुण और अलंकार:

आरम्भ में गुण और अलंकार के विषय में भ्रान्ति रही। वामन से पूर्व इनका पृथक् निर्देश तो भरत, दण्डी तथा भामह आदि आचार्यों ने किया है, परन्तु इन दोनों का तात्विक भेद किसी ने स्पष्ट नहीं किया।

वामन ने पहली बार इस मर्म का स्पर्श किया। उन्होंने अपने सिद्धान्त के अनुसार निर्भ्रान्त रूप में दोनों का पार्थक्य स्पष्ट कर दिया।

"गुण : काव्य-शोभा के कारक (विधायक) धर्म गुण हैं।"

काव्य-शोभाया: कर्तारो धर्मा गुणाः।

अलंकार : काव्य-शोभा के अतिशयहेतु (वृद्धिकारक धर्म) अलंकार हैं :

तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।

अपने मत को वृत्ति द्वारा और स्पष्ट करते हुए वामन ने लिखा है : शब्दार्थ के जो धर्म काव्य-शोभा (की सृष्टि) करते हैं वे गुण हैं। ये गुण हैं ओज-प्रसादादि, यमक-उपमादि नहीं। क्योंकि यमक-उपमादि अकेले ही काव्य-शोभा का सृजन नहीं कर सकते—इसके विपरीत ओज-प्रसादादि अकेले ही काव्य को शोभा-सम्पन्न कर सकते हैं।

× × × ×

इस प्रसंग में दो श्लोक हैं :

शुद्ध गुण काव्य-युवती के सहज रूप के समान आकर्षक लगता है, और अलंकार-सज्जा से वह और भी बढ़ जाता है।

(किन्तु) यदि वाणी गुणों से रहित है तो उसकी स्थिति यौवनविहीना स्त्री के समान है जो सुन्दर अलंकार धारण कर और भी अपकर्षक हो जाती है।

गुण नित्य हैं। उनके बिना काव्य में शोभा नहीं आ सकती।

अतएव वामन के अनुसार गुण और अलंकार की पारस्परिक स्थिति इस प्रकार है।

साम्य

१. गुण और अलंकार दोनों ही शब्द-अर्थ के धर्म हैं।

२. दोनों का कर्म भी प्रायः समान है—अर्थात् दोनों काव्य का उत्कर्ष-साधन करते हैं।

वैषम्य

परन्तु १. गुण शब्द-अर्थ के नित्य धर्म हैं, अलंकार अनित्य।

२. गुण काव्य-शोभा का सृजन करते हैं, अलंकार केवल उसकी श्रीवृद्धि।

३. गुण के अभाव में काव्य-सौन्दर्य का अस्तित्व ही नहीं होता, परन्तु अलंकार के अभाव में गुण का सद्भाव होने पर काव्य-शोभा बनी रहती है।

४. गुण के अभाव में अलंकार का सद्भाव काव्य का उल्टा अपकर्ष करता है।

वामन का यह पार्थक्य-प्रदर्शन उनके अपने सिद्धान्त के अनुसार सर्वथा स्पष्ट और निर्भ्रान्त है। परन्तु सिद्धान्त-भेद हो जाने से ध्वनिवादियों ने इसे केवल आंशिक रूप में ही स्वीकार किया—मूलतः उन्होंने इसे अपूर्ण ही माना। गुण काव्य के नित्य धर्म हैं और अलंकार अनित्य—यह तो उन्हें स्वीकार्य है।—गुण काव्य में अनिवार्य रूप से वर्तमान रहते हैं अलंकारों की स्थिति अनिवार्य नहीं है, यह तो ठीक है। परन्तु इसके आगे गुणों को भी शब्द-अर्थ के ही धर्म मानना रस-ध्वनिवादियों को ग्राह्य नहीं है। आनन्दवर्धन के शब्दों में गुण-अलंकार का भेद इस प्रकार है:

"जो उस प्रधानभूत (रस) अंगी के आश्रित रहने वाले (माधुर्यादि) हैं, उनको गुण कहते हैं और जो (उसके) अंग (शब्द तथा अर्थ) में आश्रित रहने वाले हैं उनको कटकादि के समान अलंकार कहते हैं।" (हि० ध्वन्यालोक, २,६)। अर्थात् गुण और अलंकार का मूलभेद यह है कि गुण प्राणभूत रस के धर्म हैं, और अलंकार शरीरभूत शब्द-अर्थ के। अलंकारों की स्थिति कटक आदि आभूषणों की सी है जिनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध देह से है।

मम्मट ने इसी को स्पष्ट करते हुए लिखा है:

आत्मा के शौर्यादि गुणों की भांति जो अंगभूत रस के उत्कर्ष-वर्धक अचल-स्थिति धर्म हैं वे गुण कहलाते हैं।

इसके विपरीत अलंकार शब्द अर्थ के धम हैं और वे अचल-स्थिति नहीं हैं: 'सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।'—काव्य के लिए सगुणता अनिवार्य है, परन्तु अलंकृति कभी नहीं भी होती।

विश्वनाथ ने अलंकार की परिभाषा में ही यह भेद निहित कर दिया—"शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः"—अलंकार शब्द-अर्थ के शोभातिशायी अस्थिर धर्म हैं। गुण के समान उनकी स्थिति आवश्यक नहीं है : "अस्थिरा इति नैषां गुणवदावश्यकी स्थितिः" (सा० दर्पण)।

अतएव रस-ध्वनिवादियों के अनुसार गुण और अलंकार का भद इस प्रकार है :

(१) गुण प्राणभूत रस के धर्म हैं, अलंकार अंगभूत शब्द-अर्थ के।

(२) स्वभावतः गुण काव्य के आंतरिक तत्व हैं—वे द्रुति, दीप्ति आदि चित्त-वृत्तियों के तद्रूप हैं, अलंकार बाह्य तत्व हैं।

(३) रसानुभूति की प्रक्रिया में गुणों का योग प्रत्यक्ष रहता है। अलंकारों का अप्रत्यक्ष, वे वाच्य-वाचक का उपकार करते हुए व्यंग्य रस के परिपाक में योग देते हैं।

(४) अतएव गुण काव्य के नित्य धर्म हैं, अलंकार अनित्य।

(५) रसादि अंतर्तत्वों की भाँति गुण व्यंग्य रहते हैं, अलंकार वाच्य।

साधारणतः रस-ध्वनिवादियों का यह विवेचन ही मान्य रहा और वास्तव में यही संगत भी है यद्यपि इसमें थोड़ा अतिवाद अवश्य है। वह अतिवाद यह है कि इन्होंने गुण को सिद्धान्त में एकान्त रस-धर्म मान लिया है। परन्तु जैसा कि हमने अन्यत्र सिद्ध किया है, और व्यवहार में रस-ध्वनिवादियों ने भी माना है, गुण शब्द और अर्थ से सर्वथा असम्बद्ध नहीं हैं। इसी प्रकार अलंकार भी मूलतः वाचक शब्द और वाच्य अर्थ के धर्म होते हुए भी व्यंग्य अर्थ से सर्वथा असम्बद्ध नहीं होते। गुण चित्त-वृत्ति रूप हैं, अलंकार वाणी-प्रसाधन हैं अर्थात् अभिव्यंजना को प्रभावशाली बनाने के उपकरण हैं। परन्तु मूलतः चित्त-वृत्ति रूप होने पर भी जिस प्रकार गुण गौण रूप में शब्द और अर्थ : वर्ण-गुम्फ और शब्द-गुम्फ, से भी सम्बन्ध रखते हैं इसी प्रकार मुख्य रूप में शब्द और अर्थ के धर्म—अभिव्यंजना के चमत्कार—होते हुए भी अलंकार गौण रूप में चित्त को भी चमत्कृत करते हैं। आंतरिक और बाह्य तत्व की यही सापेक्षिक प्रमुखता गुण और अलंकार का मुख्य अंतर है—गुण मूलतः काव्य के आंतरिक तत्व हैं, और अलंकार बाह्य।

दोष-दर्शन

दोषों का वर्णन संस्कृत साहित्य-शास्त्र में आरम्भ से ही मिलता है और आचार्यों ने प्रायः दोष-विवेचन पहले किया है, गुण-अलंकार-वर्णन बाद में। यह मानव-स्वभाव की सहज प्रवृत्ति का ही परिणाम है, इसीलिए आदि वैदिक ऋषि ने अपनी प्रार्थना में दुरित के परिहार की वांछा पहले की है और भद्र की कामना बाद में—'विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव—यद्भद्रं तन्न आसुव। भारतीय काव्य-शास्त्र में भी दोष-वर्णन इतने आग्रह के साथ इसीलिए किया गया है। क्योंकि दोष-परिहार को काव्य की पहली शर्त माना गया है। दण्डी ने प्रबल शब्दों में घोषणा की है कि काव्य में रंचमात्र दोष की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए क्योंकि एक छोटा-सा भी कुष्ट का दाग सुन्दर से सुन्दर शरीर को कुरूप कर सकता है। (काव्यादर्श, १,७)। प्राचीन आचार्यों ने ही नहीं, उत्तर-ध्वनिकाल के आचार्यों ने भी निर्दोषता को काव्य-लक्षण का अनिवार्य अंग माना है। पूर्व-ध्वनिकाल से वामन और उत्तर-ध्वनिकाल से मम्मट का काव्य-लक्षण उदाहरण-रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। निर्दोषता को अपने आप में एक महान गुण माना गया है : 'महान् निर्दोषता गुणः।' काव्य के लिए निर्दोषता की अपेक्षा अधिक है अथवा रसवत्ता की ? दोनों में से कौन-सा काव्य के लिए अनिवार्य है ? या मनुष्य अथवा काव्य में निर्दोषता कहाँ तक सम्भव है ? ये विवादास्पद प्रश्न हैं जिनका समाधान अन्यत्र किया जाएगा। परन्तु दोष का विवेचन काव्य-शास्त्र का—विशेषकर रीति-सिद्धान्त का—अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है, इसमें संदेह नहीं। काव्य के सौंदर्य-असौंदर्य अथवा प्रभाव का विश्लेषण करने के लिए दोष-दर्शन सर्वथा अनिवार्य है।

दोष की परिभाषा :

प्राचीनतर आचार्यों ने—भरत, भामह और दण्डी—तीनों ने दोष का लक्षण नहीं किया। भरत ने केवल इतना ही निर्देश किया है कि दोष की स्थिति भावात्मक

है, गुण उसका विपर्यय है : 'एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः । (नाट्य-शास्त्र ७,६५) । भामह ने भी दोषों के वर्ग—सामान्य दोष, वाणी के दोष-भेद, तथा दोष के गुणत्व-साधन आदि का विवेचन तो किया है, परन्तु सामान्य लक्षण नहीं दिया—केवल यह कह दिया है कि काव्य में सत्कवि इसका प्रयोग नहीं करते : 'कवयो न प्रयुंजते ।' दण्डी ने विशेष दोष-वर्णन विस्तारपूर्वक किया है, किन्तु दोष की परिभाषा नहीं की । उन्होंने सामान्य दोष के स्वरूप के विषय में केवल दो बातें कही हैं :

(१) दोषा विपत्तये तत्र × × × ।
(२) इति दोषा दशैवैते वर्ज्याः काव्येषु सूरिभिः ।

(१) दोष काव्य में विफलता के कारण होते हैं । × × ।
(२) विद्वानों को काव्य में इनका परिहार करना चाहिए ।

'गुण की भाँति दोष का लक्षण भी सबसे पहले वामन ने ही किया है : गुण-विपर्ययात्मनो दोषाः' अर्थात् गुण के विपर्यय का नाम दोष है । यहाँ भी प्रश्न उठ सकता है कि विपर्यय का क्या अर्थ है : वैपरीत्य या अभाव या अन्यथाभाव ? वामन के विवेचन से स्पष्ट है कि विपर्यय से उनका अभिप्राय वैपरीत्य का ही है—उनके दोष काव्य-सौंदर्य (गुण) के अभाव के द्योतक नहीं हैं, वे काव्य-सौंदर्य के घातक हैं । उनके अधिकांश गुण सौंदर्य-शास्त्र तथा लोक-औचित्य आदि के निषेध अथवा उल्लंघन द्वारा काव्य-सौंदर्य की हानि करते हैं : अतएव उनकी स्थिति विलोम-रूप से भावात्मक ही है । इस प्रकार वामन के अनुसार दोष उन तत्वों को कहते हैं जो काव्य-सौंदर्य की हानि करते हैं । वामन की दृष्टि में सौंदर्य वस्तुगत है, इसलिए दोष भी वस्तुगत ही हैं—वे बाह्य रूप की विकृतियाँ मात्र हैं, आंतरिक चित्त-वृत्ति के उद्वेग नहीं हैं ।

ध्वनि की स्थापना के उपरान्त चित्र बदल गया । काव्य का सौंदर्य रूपगत न रहकर आत्मगत हो गया—अतएव दोषों की स्थिति भी बदल गई : वे भी मूलतः आत्मगत (रस से सम्बद्ध) और उसके आश्रय से ही गौण रूप में शब्द और अर्थगत माने गए । आनन्दवर्धन तथा अभिनव ने इस तथ्य का संकेत किया, और मम्मट ने उसे स्पष्ट रूप में प्रस्तुत कर दिया :

'मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः ।'—अर्थात् दोष वह है जिससे मुख्य अर्थ की हानि हो । यह मुख्य अर्थ है रस और उसके आश्रय से गौण रूप में वाच्य भी । विश्वनाथ ने इसी बात को और भी सीधे ढंग से कह दिया :

'दोषास्तस्यापकर्षकाः'—उसके (रस के) अपकर्षक दोष कहलाते हैं।

इस प्रकार जो रस का अपकर्षण अथवा हानि करे वह दोष है। रस के अपकर्षण अथवा हानि का अर्थ क्या है ? रस की हानि तीन प्रकार से सम्भव है : रस-प्रतीति में (१) विलम्ब द्वारा, (२) अवरोध द्वारा, और (३) रस-प्रतीति के पूर्ण विनाश या विघात द्वारा। रस आनन्द की अवस्था है, अतएव उसका विलम्बन, अवरोधन अथवा विघात निश्चय ही उद्वेगजनक होगा—इसीलिए अग्निपुराण ने प्रभाव को आधार मानकर ही दोष का लक्षण किया है : 'उद्वेगजनको दोषः'—काव्यास्वाद में तत्पर चित्त में जो उद्वेग उत्पन्न करे वह दोष है। यह दोष आंतरिक उद्वेग-रूप है। इस प्रकार पूर्व-ध्वनि और उत्तर-ध्वनिकाल की दोष-विषयक धारणाओं में भी मौलिक अन्तर मिलता है, पूर्व-ध्वनिकाल में दोष के बाह्य वस्तुगत अर्थात् शब्द-अर्थगत रूप पर बल दिया गया, और उत्तर-ध्वनि काल में आन्तरिक आत्मगत अर्थात् रसगत रूप पर। किन्तु यह केवल दोष-विषयक धारणा का भेद नहीं है—यह तो मूलतः काव्य-विषयक धारणा का भेद है। जब काव्य का रूप बाह्य तथा वस्तुगत माना जाता था, दोष वस्तुगत ही थे, किन्तु जब काव्य का रूप आत्मगत मान लिया गया तो दोष भी आत्मगत हो गए : काव्य के सम्बन्ध में उनकी स्थिति यही रही—पहले भी ये काव्य के अपकारक थे और बाद में भी यही रहे। अतएव दोष का सामान्य लक्षण यही संगत है : काव्य के अपकारक तत्वों का नाम दोष है। काव्य के दो अंग हैं प्राणभूत रस और देहभूत शब्द-अर्थ। अतएव काव्य के अपकारक का अर्थ हुआ रस तथा शब्द और अर्थ के अपकारक—और दोष की स्पष्ट परिभाषा हुई : मूल रूप में रस और गौण रूप में शब्द और अर्थ के अपकर्ष द्वारा काव्य का अपकार करने वाले तत्व दोष कहलाते हैं।

दोष की मनोवैज्ञानिक स्थिति :

अभी हमने स्पष्ट किया है कि दोष का अर्थ है काव्य का अपकार करने वाला और काव्य के अपकार का अर्थ है मूलतः रस का ही अपकार क्योंकि शब्द और अर्थ का अपकार अप्रत्यक्ष रूप से रस का ही अपकार है : जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ फिर वह दोष नहीं रहता। इस प्रकार तत्व रूप में सभी दोषों का रसापकर्ष से सम्बन्ध है, और जैसा विश्वनाथ आदि ने कहा है, वे (१) या तो रस की प्रतीति को रोक देते हैं या (२) रस की उत्कृष्टता को विघातक किसी वस्तु को बीच में खड़ा कर देते हैं या (३) रसास्वाद में विलम्ब कर देते हैं। और गहरे में जाएँ तो हम देखते

हैं कि समस्त दोषों का मूल औचित्य का व्यतिक्रम है। औचित्य का अर्थ है सहज स्थिति या सामान्य व्यवस्था। उसका उत्कर्ष गुण है, अपकर्ष दोष है। साहित्य में यह औचित्य कई प्रकार का होता है, एक पद-विषयक औचित्य जो शब्द और अर्थ के सामंजस्य पर निर्भर रहता है, दूसरा व्याकरण-विषयक औचित्य जो पदों की आर्यो व्यवस्था पर आश्रित रहता है, तीसरा बौद्धिक औचित्य जो हमारी ज्ञान-वृत्तियों के समन्वय का परिणाम होता है, चौथा भावना-विषयक औचित्य जिसका हमारी भाव-वृत्तियों की अन्विति से सम्बन्ध है। यह औचित्य जहाँ कहीं खण्डित हो जाता है वहीं दोष का आविर्भाव हो जाता है। उदाहरण के लिए पद-विषयक औचित्य की हानि से श्रुति-कटुत्वादि पद-दोषों का जन्म होता है, व्याकरण-विषयक औचित्य की हानि से न्यूनपद, समाप्त-पुनरात्त आदि प्रायः सभी वाक्य-दोष उत्पन्न हो जाते हैं। बौद्धिक औचित्य का त्याग प्रसिद्धि-त्याग, भग्न-प्रक्रम, अपुष्ट, कष्टार्थ आदि दोषों की सृष्टि करता है और भावना-विषयक औचित्य खण्डित होकर सीधा रस-दोषों की अथवा अश्लीलता, ग्राम्यत्व आदि की सृष्टि करता है। इनमें पहले प्रकार के दोष तो प्रायः ऐन्द्रिय (कर्णगोचर) संवेदन और मानसिक संवेदन में असामंजस्य उत्पन्न करते हुए, दूसरे और तीसरे प्रकार के दोष अर्थ-ग्रहण में बाधक होकर बौद्धिक संवेदनों को विशृंखल करते हुए, तथा अन्तिम प्रकार के दोष प्रत्यक्ष रूप में ही हमारी चित्त-वृत्तियों की अन्विति में बाधक होते हुये रस का अपकर्ष करते हैं। श्रुति-कटुत्वादि में विरोधी ऐन्द्रिय चित्र का मानसिक चित्र पर आरोप होने से गड़बड़ हो जाती है, न्यूनपद, कष्टार्थ आदि में मानसिक चित्र अत्यन्त धुंधला और अस्पष्ट उतरता है, और रस दोषों में दो परस्पर-विरोधी मानसिक चित्रों का एक दूसरे पर आरोप होने से भाव-चित्र पूरा नहीं हो पाता।

दोष-भेद

भरत ने दोषों की संख्या दस मानी है—

१. गूढ़ार्थ—जहाँ किसी क्लिष्ट-कल्पित विशेषण का (अनावश्यक) प्रयोग हो, २. अर्थान्तर—जहाँ अवर्ण्य का वर्णन हो—अर्थात् अनावश्यक कथन हो, ३. अर्थहीन—जहाँ असम्बद्ध अर्थात् असंगत (परस्पर-विरोधी) कथन हो, अथवा जहाँ आशय अपूर्ण रह जाए, ४. भिन्नार्थ—जहाँ अर्थ छिन्न-भिन्न हो जाए—अर्थात् (अ) जहाँ असभ्य अथवा ग्राम्य अर्थ का वाचन हो, अथवा जहाँ (आ) अभीष्ट अर्थ की दूसरे अर्थ में परिणति हो जाए। ५. एकार्थ—एक अर्थ के लिए अनेक (अनाव-

र्थक) शब्दों का प्रयोग, ६. अभिप्लुतार्थ—जहाँ प्रत्येक चरण में अर्थ पूरा हो जाए और विभिन्न अर्थों में कोई अन्विति न हो। ७. न्यायादपेत—अर्थात् प्रमाण (तर्क) से रहित, ८. विषम—जहाँ छन्दोभंग हो, ९. विसन्धि—जहाँ सन्धि-योग्य शब्दों में सन्धि न की जाए, १०. शब्दहीन—जहाँ अशब्द (व्याकरण-अशुद्ध शब्द) का प्रयोग हो।[1]

भरत के उपरान्त भामह ने तीन प्रकार के दोष माने हैं :—

सामान्य दोष—१. नेयार्थ, २. क्लिष्ट, ३. अन्यार्थ, ४. अवाचक, ५. अयुक्तिमत् और ६. गूढ़-शब्द।

वाणी दोष—१. श्रुति-दुष्ट, २. अर्थ-दुष्ट, ३. कल्पना-दुष्ट, ४. श्रुति-कष्ट।

अन्य दोष—१. अपार्थ २. व्यर्थ ३. एकार्थ ४. ससंशय ५. अपक्रम ६. शब्दहीन ७. यति-भ्रष्ट ८. भिन्न-वृत्त ९. विसन्धि १०. देश-काल-कला-लोकन्यायागम-विरोधी ११. प्रतिज्ञा-हेतु-दृष्टान्तहीन।

भामह के इन तीन दोष-वर्गों का पार्थक्यकारी आधार अधिक स्पष्ट नहीं है। उनके विवेचन से न तो यह स्पष्ट है कि वाणी के दोषों से उनका अभिप्राय क्या है और न यह कि सामान्य तथा अन्य दोषों का आधारभूत अन्तर क्या है। वाणी के दोष यदि शब्द-दोष हैं तब श्रुति-कष्ट तो ठीक है—श्रुति-दुष्ट भी खींचखाँच कर मान लिया जाय परन्तु अर्थ-दुष्ट और कल्पना-दुष्ट शब्द-दोष कैसे हो सकते हैं? ये तीनों क्रमशः वामन के पदार्थ-दोष अश्लील के घृणा, व्रीड़ा तथा अमंगल-वाचक रूपों के ही पर्याय हैं।

भामह को इस प्रकार के वर्गीकरण की प्रेरणा कहाँ से प्राप्त हुई यह कहना भी कठिन है। उनके अन्य दोष तो बहुत कुछ भरत से प्रेरित हैं, परन्तु सामान्य तथा वाणी-दोषों का उद्गम-स्थान अज्ञात है। ऐसा प्रतीत होता है कि भामह के समय में पण्डित-समाज में काव्य-दोषों की तीन पृथक् रूपों में चर्चा थी, और भामह ने उन

---

१. निगूढमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम्।
न्यायादपेतं विषमं विसन्धिशब्दच्युतं वै दश काव्यदोषाः॥

नाट्य-शास्त्र (१७,८८)

तीनों को ही अपने ग्रन्थ में सन्निविष्ट कर लिया। प्रत्येक शास्त्र की प्रारम्भिक अवस्था में प्रायः आगमन-शैली का ही प्रयोग होता है—प्रस्तुत विशिष्ट सामग्री के विवेचन-विश्लेषण द्वारा निगमन-शैली से सामान्य सिद्धान्तों अथवा रूपों का ग्रहण किया जाता है। भामह के समय में भारतीय साहित्य-शास्त्र अपनी प्रारम्भिक अवस्था में था—उस समय प्राप्त काव्य का विश्लेषण करते हुए विशेष से सामान्य की उपलब्धि की जा रही थी। गुण, अलंकार, दोष आदि का विवेचन इसी रूप में हो रहा था। कुछ आचार्यों ने अपने ढंग से प्रथम वर्ग के छः दोषों की उद्भावना की होगी—कुछ ने द्वितीय वर्ग के चार दोषों की और कतिपय अन्य आचार्यों ने—भरत आदि ने—अथवा उनसे भी पूर्व अन्य आचार्यों ने—तृतीय वर्ग के ग्यारह दोषों की। भामह ने अपने विवेचन में इन तीनों का ही समावेश कर लिया है।

दण्डी ने भामह के 'अन्य दोष' अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ आदि यथावत् अपना लिए हैं: इनमें से केवल अन्तिम दोष 'प्रतिज्ञा-हेतु-दृष्टान्तहीन' उन्हें ग्राह्य नहीं है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है:

'प्रतिज्ञा-हेतु-दृष्टान्त की हानि दोष है या नहीं यह एक कर्कश विचार है अर्थात् जटिल समस्या है, उसके साथ उलझने से क्या लाभ?' (काव्यादर्श, ३,१२७)।

इस प्रकार दण्डी ने दस दोष माने हैं:—

१. अपार्थ—जहाँ समग्र रूप में कोई अर्थ ही न निकलता हो, २. व्यर्थ—जहाँ एक वाक्य अथवा प्रबन्ध में पूर्वापर-विरोध हो, ३. एकार्थ—जहाँ पूर्वकथन की, बिना किसी वैचित्र्य के, शब्द अथवा अर्थ में आवृत्ति हो, ४. ससंशय—जहाँ अर्थ के स्पष्टीकरण के लिए प्रयुक्त वचन संशय उत्पन्न करते हों, ५. अपक्रम—जहाँ क्रम से वर्णित वस्तुओं का आगे उसी क्रम से वर्णन न हो, ६. शब्दहीन—जहाँ व्याकरण-अशुद्ध तथा शिष्टजन द्वारा अस्वीकृत शब्द का प्रयोग हो, ७. यति-भ्रष्ट—जहाँ यति-भंग हो, ८. भिन्न-वृत्त—जहाँ न्यूनाधिक वर्णों का प्रयोग हो, अथवा गुरु-लघु की व्यवस्था का भंग हो, ९. विसन्धि—जहाँ सन्धि-नियम का उल्लंघन हो, १०. देश-काल-कला-लोकन्यायागम-विरोधी—जहाँ देश, काल, लोक, न्याय, आगम का विरोध हो।

भामह और दण्डी का यह दश-दोष-वर्णन भरत के दोष-वर्णन से स्पष्टतः प्रभावित है। उनके १. एकार्थ तथा २. विसन्धि तो नाम और स्वरूप दोनों में एक

हैं ही—३. विषम और भिन्न-वृत्त में केवल नाम का भेद है—दोनों में छन्दोभंग का ही वर्णन है। इनके अतिरिक्त भरत का ४. अर्थहीन और भामह-दण्डी का व्यर्थ, भरत का ५. न्यायादपेत तथा भामह-दण्डी का देश-काल-कला-लोक-न्यायागम-विरोधी, भरत का ६. शब्द-च्युत तथा भामह-दण्डी का शब्दहीन भी प्रायः अभिन्न ही हैं। भरत के ७. भिन्नार्थ के दो रूप हैं (अ) ग्राम्य तथा (आ) संदिग्ध—इनमें से दूसरा रूप भामह-दण्डी का ससंशय दोष है। उधर भरत का ८. अभिप्लुतार्थ और भामह-दण्डी का अपार्थ भी प्रायः समान ही हैं। इस प्रकार भरत तथा भामह-दण्डी के आठ दोष लगभग समान ही हैं। भरत के दो दोष गूढ़ार्थ और अर्थान्तर इन परवर्ती आचार्यों ने ग्रहण नहीं किये। इनमें से वास्तव में अर्थान्तर का अन्तर्भाव तो एकार्थ में ही जाता है केवल एक दोष रह जाता है गढ़ार्थ। इनके अतिरिक्त भामह-दण्डी ने दो नवीन दोषों का उल्लेख किया है—अपक्रम और यति-भ्रष्ट। पर इन दो दोषों में से भी यति-भ्रष्ट का अन्तर्भाव भिन्न-वृत्त में माना जा सकता है—अतः केवल अपक्रम ही एक ऐसा दोष रह जाता है जो भरत के प्रभाव से मुक्त है।

वामन ने गुण की भाँति दोष के भी शब्दगत और अर्थगत भेद किये हैं। वामन-कृत भेद तो चार हैं—पद-दोष, पदार्थ-दोष, वाक्य-दोष और वाक्यार्थ-दोष—परन्तु उनका आधार मूलतः शब्द और अर्थ ही है। वामन के अनुसार भेदों की संख्या २० है।

पाँच पद-दोष :—१. असाधु अर्थात् व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध, २. कष्ट अर्थात् श्रुति-विरस (कर्ण-कटु) ३. ग्राम्य, ४. अप्रतीत अर्थात् अप्रचलित पारिभाषिक शब्द आदि का प्रयोग, ५. अनर्थक अर्थात् निरर्थक जहाँ केवल पाद-पूर्ति के लिए भर्तों के शब्द 'तु' 'खलु' आदि रख दिये जाते हैं।

पाँच पदार्थ-दोष :—१. अन्यार्थ—जहाँ शब्द का रूढ़ि-च्युत अर्थ में प्रयोग हो यथा प्रस्मरण=विस्मरण=का स्मरण के अर्थ में प्रयोग। २. नेयार्थ अर्थात् कल्पितार्थ, जिसका अर्थ कल्पना से लगाना पड़ता हो, यथा दशरथ के लिए पंक्ति-विहंगमनामभृत् विशेषण का प्रयोग (पंक्ति=दश+विहंगमनाम=चक्र+भृत्=धारण करने वाला=रथ) ३. गूढ़ार्थ=अप्रसिद्धार्थ ४. अश्लील ५. क्लिष्ट—जहाँ अर्थ अत्यंत दूरारूढ़ हो।

तीन वाक्य-दोष :—१. भिन्न वृत्ति २. यति भ्रष्ट ३. विसंधि।

सात वाक्यार्थ दोष :—१. व्यर्थ=पूर्वापर-विरोधी, २. एकार्थ—जिसमें उक्तार्थ पद की निष्प्रयोजन आवृत्ति हो ३. संदिग्ध, ४. अप्रयुक्त—जहाँ सर्वथा काल्पनिक अथवा भ्रान्तिपूर्ण अर्थ का आरोप हो—इसके उदाहरण प्रायः दुर्लभ हैं, ५. अपक्रम—जहाँ अर्थ में क्रम न हो, ६. अलोक जिसका अर्थ देश, काल और प्रवृत्ति के विरुद्ध हो, ७. विद्या-विरुद्ध जिसका अर्थ कला और शास्त्र के मान्य सिद्धान्तों के विरुद्ध हो।

वामन अपने इस दोष-विस्तार के लिए भरत, भामह तथा दण्डी तीनों के ही ऋणी हैं। उनके नौ वाक्यार्थ दोष भामह और दण्डी के आठ दोषों से अभिन्न हैं, भिन्न-वृत्त, यति-भ्रष्ट, विसंधि, व्यर्थ, एकार्थ, संदिग्ध, अपक्रम, अलोक तथा विद्या-विरुद्ध यथावत् भामह और दण्डी से ही ग्रहण कर लिए गये हैं : केवल एक साधारण-सा अन्तर यह है कि वामन ने अलोक और विद्या-विरुद्ध दो पृथक् दोष माने हैं, परन्तु भामह, दण्डी ने उन्हें एक ही माना है। वामन का पद-दोष असाधु, भरत का शब्द-च्युत और भामह, दण्डी का शब्द-हीन है। उनका पद-दोष अनर्थक, पदार्थ-दोष नेयार्थ, अन्यार्थ तथा क्लिष्ट थोड़े बहुत अन्तर से भामह के 'सामान्य दोषों' के अन्तर्गत आ जाते हैं। वामन का कष्ट अथवा श्रुति-विरस भामह का श्रुति-कष्ट नामक वाणीदोष ही है। इस प्रकार पन्द्रह दोषों का हिसाब लग जाता है—शेष रह जाते हैं पांच :—दो पद-दोष—ग्राम्य तथा अप्रतीत, दो पदार्थ-दोष—गूढ़ार्थ तथा अश्लील, एक वाक्यार्थ दोष—अप्रयुक्त। इनमें अश्लील के घृणा, व्रीड़ा तथा अमंगल-वाचक तीनों रूप भामह के श्रुति-दुष्ट, अर्थ-दुष्ट तथा कल्पना-दुष्ट के ही विकसित रूप हैं। ग्राम्य दोष भी अश्लील से मूलतः भिन्न नहीं है—यहाँ ग्राम्यता शब्द में है, अर्थ में नहीं है।

गूढ़ार्थ नामक दोष भरत ने भी माना है परन्तु लक्षण को देखते हुए उनका यह दोष नेयार्थ तथा क्लिष्ट के निकट पड़ता है। भामह का भी एक सामान्य दोष, गूढ़ाभिधान नाम का है। वामन का यह दोष इनमें ही खप जाता है। इसी प्रकार अप्रतीत का अन्तर्भाव भी गूढ़ार्थ आदि में हो सकता है। अप्रयुक्त को स्वयं वामन ने अत्यंत विरल माना है और उसका उदाहरण भी नहीं दिया।

वामन के दोषों में एक-दूसरे का संक्रमण करने की प्रवृत्ति लक्षित होती है : क्लिष्ट, नेयार्थ तथा गूढ़ार्थ आदि की सीमाएँ मिली-जुली हैं। अप्रतीत भी इनसे दूर नहीं है। अप्रयुक्त का स्पष्ट निर्देशन ही वामन ने नहीं किया है अतएव वह क्लिष्ट, गूढ़ार्थ आदि से कितना भिन्न है यह कहना कठिन है। वामन का सबसे बड़ा योग-दान

यह है कि उन्होंने शब्द और अर्थ के आधार-भेद से दोषों का विभाजन किया है। अपनी दृष्टि से वामन ने शब्द, शब्दार्थ, वाक्य तथा वाक्यार्थ के पार्थक्य का निर्वाह अत्यन्त स्वच्छता से किया है, इसमें संदेह नहीं। परन्तु यह कार्य थोड़ी जोखिम का है। शब्द और उसके अर्थ में इतना स्पष्ट भेद करना या पदार्थ तथा वाक्यार्थ में बहुत दूर तक पार्थक्य निभाना कठिन ही है।

पूर्व-ध्वनिकाल में दोष-विवेचन की यही स्थिति रही। काव्य के अन्य अंगों की भांति दोषों का विवेचन भी वस्तुगत ही रहा : दोष मूलतः केवल दो प्रकार के माने गये : शब्दगत और अर्थगत। वैसे इनके भी अवान्तर भेद किए गए।

शब्द-दोष के तीन भेद : पदगत, पदार्थगत और वाक्यगत; और अर्थ-दोष के दो भेद : पदार्थगत तथा वाक्यार्थगत। परन्तु वास्तविक आधार शब्द और अर्थ ही रहे।

उत्तर-ध्वनिकाल में रस-ध्वनि की काव्यात्मा रूप में प्रतिष्ठा हो जाने पर रसौचित्य को काव्य की मुख्य कसौटी माना गया और उसके गुण-दोष का विवेचन तदनुसार ही किया गया। इस प्रकार रस-दोषों का भी आविर्भाव हुआ।

भोज ने वाक्य-दोषों के अन्तर्गत एक और वर्ग माना है अरीतिमत् जिन्हें उन्होंने विपर्यय-दोष भी कहा है। ये दोष समाधि को छोड़ अन्य नौ गुणों के वैपरीत्य हैं। अतएव जहाँ गुणों के विपर्यय प्रयुक्त हों वहाँ अरीतिमत् अर्थात् रीति-विरोधी दोष होते हैं। समाधि को कदाचित् इसलिए छोड़ दिया गया है कि दण्डी ने उसे काव्य के लिए प्रायः अनिवार्य ही माना है। वामन ने भी दोषों को गुणों के विपर्यय माना है परन्तु वे अपने लक्षणों में इस वैपरीत्य का निर्वाह नहीं कर सके—उनका दोष-वर्णन स्वतन्त्र-सा हो गया है; भोज के दोष वास्तव में ही गुणों के विपर्यय रूप हैं।

उत्तर-ध्वनिकालीन दोष-दर्शन का सार मम्मट के काव्यप्रकाश में संगृहीत है। उसमें सत्तर दोषों का वर्णन है : सैंतीस शब्ददोष, तेईस अर्थ-दोष तथा दस रस-दोष। ये दोष रसौचित्य के आधार पर दो प्रकार के होते हैं—नित्य और अनित्य। ये दोष जो सभी अवस्थाओं में काव्य की आत्मा का अपकार करते हैं नित्य दोष हैं। अन्य दोष, जिनका सम्बन्ध रूप-आकार से है, अनित्य दोष हैं—वे सर्वत्र ही रसौचित्य की हानि नहीं करते : उदाहरण के लिए श्रुति-कटुत्व आदि शृंगारादि के अपकारक हैं परन्तु रौद्रादि के उपकारक, अतएव वे अनित्य दोष हैं अर्थात् रस के दोष नित्य हैं

और शब्द तथा अर्थ के दोष अनित्य हैं। इसी स्थापना को आधार मान कर भोज ने वैशेषिक गुणों की कल्पना कर डाली है। ये वैशेषिक गुण, जैसा कि मैंने अन्यत्र स्पष्ट किया है, अनित्य दोष ही हैं जो अनुकूल परिस्थिति में गुण बन जाते हैं।

दोषों के मुख्य वर्ग और भेद ये ही हैं—इसमें संदेह नहीं कि भरत अथवा भामह-दण्डी-कृत दोष-भेदों में काव्य के समस्त अपकारक तत्वों का समावेश नहीं होता, अतएव दोषों की संख्या निश्चय ही दस से अधिक माननी पड़ेगी। फिर भी मम्मटादि के सत्तर दोषों का विश्लेषण करने पर यह धारणा अवश्य होती है कि वहाँ कुछ अधिक भेद-विस्तार किया गया है। मम्मट के अनेक भेद एक दूसरे की सीमा में संक्रमण कर जाते हैं। इस क्षेत्र में भी अन्य क्षेत्रों की भाँति वर्गीकरण तथा वर्ग-विभाजन के मूल सिद्धांत की प्रायः उपेक्षा कर दी गयी है।

संस्कृत काव्य-शास्त्रियों में मम्मट इस दृष्टि से अत्यन्त सतर्क आचार्य हैं: हमारा काव्य-शास्त्र नियमन तथा व्यवस्था के लिए उनका चिर-ऋणी रहेगा। फिर भी शाखा-विस्तार की प्रवृत्ति का वे पूर्णतः संवरण नहीं कर सके। अलंकारों की भाँति दोषों के क्षेत्र में भी और अधिक नियमन तथा व्यवस्था की अपेक्षा है।

दोषों के वर्गों का विवेचन अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक है। पहला वर्ग शब्द और अर्थ को आधार मान कर चलता है। काव्य जैसी अर्थ-गर्भा वस्तु में शब्द और अर्थ का पार्थक्य करना सहज नहीं है क्योंकि अर्थ से भिन्न शब्द का अस्तित्व वहाँ प्रायः नहीं ही रहता। फिर भी सापेक्षिक महत्व के आधार पर दोनों का भेद माना जा सकता है और माना जाता है। जहाँ दोष शब्द के ही आश्रित हो अर्थात् शब्द के परिवर्तन से—पर्याय के द्वारा, दोष का परिहार हो सके वहाँ शब्द-दोष होता है और जहाँ शब्द-परिवर्तन के उपरांत भी—पर्याय देने पर भी दोष बना रहे वहाँ अर्थ-दोष होता है। यह प्रमाण सर्वथा अकाट्य तो नहीं है फिर भी इसे बहुत कुछ विश्वसनीय माना जा सकता है। मम्मट आदि का दोष-विवेचन इसी पर आधृत है जो निर्दोष न होते हुए भी अधिक असंगत नहीं है।

रस-दोषों का आधार और भी पुष्ट है। इसमें नित्य और अनित्य की प्रकल्पना गम्भीर काव्य-मर्मज्ञता की द्योतक है। इसका वैज्ञानिक विवेचन तो आनन्दवर्धन तथा अन्य ध्वनिवादियों ने ही किया है, परन्तु यह उनकी अपनी उद्भावना नहीं है। उनसे पूर्व भामह और दण्डी दोनों ने ही दोष के गुणत्व-साधन पर प्रकाश डाला है:

"विशेष स्थिति में कुत्सित कथन भी शोभित हो जाता है जिस प्रकार माला के मध्य में गुंथा हुआ नील पलाश।"

(काव्यालंकार १,४५)

"इस प्रकार का (दोषयुक्त) सभी विरोध कभी-कभी कवि-कौशल से दोषों की सूची से निकाल कर गुणों की परिधि में पहुँच जाता है।" (काव्यादर्श, ३,१७९)

इससे यह स्पष्ट है कि पूर्व-ध्वनिकाल के आचार्य भी काव्य के मर्म से अनभिज्ञ नहीं थे—उनकी अपनी दृष्टि-सीमा अवश्य थी, परन्तु काव्य के मर्म का ज्ञान उन्हें निस्संदेह था।

इसी से सम्बद्ध दोषों के वर्ग-विभाजन का एक अन्य प्रकार भी है जिसका मूल आधार भी रस ही है। इसका आधार-भूत सिद्धान्त यह है कि काव्य की चरम सिद्धि रस है और सभी प्रकार के दोषों का सम्बन्ध अन्ततः उसी के साथ रहता है। ये दोष तीन प्रकार से रस का अपकर्ष करते हैं : रस की प्रतीति को अवरुद्ध कर, उसके मार्ग में व्यवधान खड़ा कर, और उसमें विलम्ब उपस्थित कर। इसी आधार पर दोषों के तीन वर्ग माने हैं : १. रस प्रतीति को अवरुद्ध करने वाले, २. रस-प्रतीति में व्यवधान उपस्थित करने वाले और ३. रस-प्रतीति में विलम्ब उपस्थित करने वाले। यह वर्ग-विभाजन निस्संदेह ही तात्विक है और काव्य-दोष के मनोवैज्ञानिक विवेचन से सम्बन्ध रखता है। संस्कृत काव्य-शास्त्र में इस आधार का स्पष्ट विवेचन किया गया है, परन्तु उसके अनुसार दोषों का वर्गीकरण नहीं किया गया—कदाचित् इसलिए कि सूक्ष्म आधार की अपेक्षा किसी मूर्त आधार पर वर्गीकरण करना सहज होता है। हमारी धारणा है कि उपर्युक्त आधार पर काव्य-दोषों का पुनराख्यान होना चाहिए : वह अधिक तात्विक होगा और काव्य के आन्तरिक विश्लेषण में उससे अधिक सहायता मिलेगी।

रीति के प्रकार

भामह ने कदाचित् काव्य नाम से और दण्डी ने मार्ग नाम से रीति के दो प्रकार माने हैं : वैदर्भ और गौड़ीय। भामह ने इन दोनों के पार्थक्य को तो स्वीकार किया है : वैदर्भ मार्ग में पेशलता, ऋजुता आदि गुण रहते हैं, और गौड़ीय में अलंकार आदि। परन्तु वे यह मानने को तैयार नहीं हैं कि वैदर्भ सत्काव्य का और गौड़ीय असत्काव्य का पर्याय है। काव्य के मूलभूत गुणों के संयोग से, और अपने अपने गुणों के संयत प्रयोग से दोनों ही सत्काव्य हो सकते हैं : केवल नाम के आधार पर ही एक को उत्कृष्ट और अपर को निकृष्ट कह देना गतानुगतिकता है। दण्डी ने इसके विपरीत, यह माना है कि वैदर्भ दस गुणों से अलंकृत होता है और गौड़ीय में इनके विपर्यय मिलते हैं। किन्तु दण्डी ने गुण-विपर्यय को दोष नहीं माना है क्योंकि उस स्थिति में तो गौड़ीय मार्ग काव्य संज्ञा का अधिकारी ही नहीं रहेगा। उन्होंने, जैसा कि आगे चल भोज ने अपने ढंग से स्पष्ट किया है, स्वभावोक्ति और रसोक्ति को वैदर्भ के मूल गुण, और वक्रोक्ति को अर्थात् वैचित्र्य तथा अलंकार आदि को गौड़ीय की मूल विशेषता स्वीकार किया है। हाँ, यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि दण्डी गौड़ी की अपेक्षा वैदर्भी को उत्कृष्ट काव्य मानते थे।

वामन ने रीति शब्द का सर्वप्रथम उपयोग करते हुए तीन रीतियाँ मानीं १ वैदर्भी, २ गौड़ीया और ३ पांचाली। १ 'समस्त गुणों से भूषित वैदर्भी कहलाती है।' २ 'ओज और कान्ति से विभूषित गौड़ीया रीति होती है। + + इसमें माधुर्य और सौकुमार्य का अभाव रहता है, समासों का बाहुल्य होता है और पदावली कठोर होती है।' ३ 'माधुर्य और सौकुमार्य से उपपन्न रीति का नाम है पांचाली। + + ओज और कांति के अभाव में इसकी पदावली अकठोर होती है और यह रीति कुछ निष्प्राण (ओहीन) सी होती है।' कवियों ने उस

३. योग-परम्परा ।

मैथिली का राजशेखर के पूर्व किसी ने वर्णन नहीं किया—उनके उपरान्त भी केवल श्रीपाद नामक एक विद्वान् ने उसका उल्लेख किया और उन्होंने भी उसे मागधी का पर्याय ही माना है। विस्तार-प्रिय भोज ने रीति-क्षेत्र में भी अपनी प्रवृत्ति का परिचय दिया। उन्होंने सब मिलाकर छः रीतियां मानीं : वैदर्भी, पांचाली, लाटीया, गौड़ीया, अवन्तिका और मागधी। इनमें से वैदर्भी-गौड़ीया भामह-दण्डी की अथवा उनसे भी पूर्व की रीतियां हैं, पांचाली वामन की तथा लाटीया रुद्रट की उद्भावना है, मागधी का उल्लेख राजशेखर और श्रीपाद में मिलता है। अवन्तिका अवन्ती के राजा भोज की नवीन कल्पना है जो कदाचित् स्वदेश-प्रेम आदि व्यक्तिगत कारणों से प्रेरित है। इस नवीन उद्भावना का कोई संगत आधार नहीं है—भोजराज ने इसे वैदर्भी और पांचाली की अन्तरालवर्तिनी माना है जिसमें तीन-चार समास होते हैं। लाटीया के विफल होने पर खण्ड-रीति मागधी होती है। यह रीति-विस्तार प्रायः भोज पर ही समाप्त हो जाता है—केवल एक अप्रसिद्ध लेखक ने, जिसका नाम था सिंहदेवगणि, भोज की अवन्तिका का त्याग करते हुए वच्छोमी को स्वतन्त्र रीति माना है और अपनी षट्-रीतियों का रस के साथ कुछ मनमाने ढंग से समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है : लाटी=हास्य, पांचाली=करुण और भयानक, मागधी=शान्त, गौड़ी=वीर और रौद्र, वच्छोमी=बीभत्स और अद्भुत, वैदर्भी=शृंगार।[1]

रस-ध्वनिवादियों ने विस्तार को महत्व न देकर सदा व्यवस्था को ही महत्व दिया है, अतएव उन्होंने रीति-विस्तार का भी नियमन ही किया है। आनन्दवर्धन तथा मम्मट आदि ने, प्रायः वामन की तीन रीतियों को ही स्वीकार्य माना है : उपनागरिका, परुषा और कोमला—वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली। कवि-स्वभाव को आधार मानते हुए प्रायः इसी प्रकार के तीन मार्ग कुन्तक ने माने हैं : सुकुमार, विचित्र और मध्यम।

उपर्युक्त वर्णन से यह निष्कर्ष निकलता है कि संस्कृत काव्य-शास्त्र में प्रायः वामन की तीन रीतियां ही मान्य हुईं। रस-ध्वनिवादी तथा अन्य गम्भीर-चेता आचार्यों ने उन्हें ही मान्यता दी है और वास्तव में यह उचित भी है। यदि रीति के आन्तरिक आधार गुण को प्रमाण माना जाय तब भी तीन गुणों के अनुसार

१. देखिए डा० राघवन के 'रीति' नामक निबन्ध की पाद-टिप्पणी।

उपर्युक्त तीन रीतियाँ ही मान्य हो सकती हैं। मनोविज्ञान के अनुसार भी कोमल और परुष ये स्वभाव के दो स्पष्ट भेद हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त एक तीसरा भेद भी इतना ही स्पष्ट है—प्रसन्न; जिसमें इन दोनों का संतुलित मिश्रण रहता है। इसे ही चित्त की निर्मलता अथवा प्रसाद कहा गया है। अतएव इन तीन प्रकार के स्वभावों की माध्यम तीन रीतियों का अस्तित्व ही मान्य है। वैसे मानव-स्वभाव अनन्त रूप है—उसका कोई पार नहीं पाया जा सकता। परन्तु उसकी मूल प्रवृत्तियाँ प्रायः ये ही हैं। इसी प्रकार (जैसा कि दण्डी ने कहा है और कुन्तक ने पुष्ट किया है) वाणी की रीतियाँ भी अनेक हैं। परन्तु उनके मूल भेद दो-तीन से अधिक नहीं हो सकते।

बाह्य आधार : समास, वर्ण-गुम्फ आदि को प्रमाण मान कर भी स्थिति यही रहती है। समास की दृष्टि से रचना असमासा या लघु-समासा, मध्यम-समासा तथा दीर्घ-समासा तीन ही प्रकार की हो सकती है : अब इनके बीच में समासों की गणना से और भी भेद-प्रस्तार करना विशेष तर्क-संगत नहीं है। रुद्रट की लाटीया तथा भोजराज की अवन्तिका आदि का आधार इसलिए पुष्ट नहीं है। इसी प्रकार वर्ण भी मूलतः तीन प्रकार के ही हो सकते हैं—कोमल और परुष और इनके अतिरिक्त शेष अन्य वर्ण जो न एकान्त कोमल होते हैं और न सर्वथा परुष। कहने का तात्पर्य यह है कि रुद्रट की लाटीया और भोज की अतिरिक्त रीतियाँ अनावश्यक हैं।

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है—मेरे मन में भी उठा है। वैदर्भी और गौड़ी ही अलम् क्यों नहीं है—क्या पांचाली की कल्पना भी अनावश्यक नहीं है ? इसका उत्तर यह है कि वैदर्भी में पांचाली का यदि अन्तर्भाव मान लिया जाता है तो फिर गौड़ी भी उसकी परिधि से बाहर नहीं पड़ती क्यों कि समग्रगुणसम्पदा से अलंकृत वैदर्भी में जिस प्रकार माधुर्य और सौकुमार्य का समावेश रहता है, उसी प्रकार ओज और कान्ति का भी। अतएव वैदर्भी गौड़ी की विपरीत रीति नहीं—गौड़ी की विपरीत रीति पांचाली ही है। जिस प्रकार मानव-स्वभाव के दो छोर हैं नारीत्व और पुरुषत्व, इसी प्रकार अभिव्यंजना के भी दो छोर हैं स्त्रैण पांचाली और परुषा गौड़ी। नारीत्व की *अभिव्यंजक* पांचाली, और पुरुषत्व की *अभिव्यंजक* गौड़ी—इनके अतिरिक्त इन दोनों के समन्वय से समृद्ध व्यक्तित्व की माध्यम वैदर्भी। इस प्रकार वामन ने पांचाली की उद्‌भावना द्वारा वास्तव में एक अभाव अथवा असंगति का ही निराकरण किया है, अनावश्यक नवीनता का प्रदर्शन नहीं।

मम्मट के आधार पर भी यदि इस प्रश्न पर विचार किया जाए तो भी रीतियों या वृत्तियों की संख्या तीन ही ठीक बैठती हैं : माधुर्यगुण-विशिष्ट उपनागरिका और ओजोमयी परुषा क्रमशः द्रवणशील मधुर स्वभाव और दीप्तिमय ओजस्वी स्वभाव की प्रतीक हैं। मधुर और ओजस्वी के अतिरिक्त एक तीसरे प्रकार का भी स्वभाव होता है जिसमें न माधुर्य का अतिरेक होता है और न ओज का—वरन् इन दोनों का संतुलन रहता है। इसको सामान्य (नार्मल) या स्वस्थ-प्रसन्न (विशद) स्वभाव कह सकते हैं। मानव-स्वभाव का यह भेद भी इतना ही स्पष्ट है जितने कि मधुर और ओजस्वी। अतएव इसकी अभिव्यंजक कोमला रीति या वृत्ति का अस्तित्व भी मानना उचित ही है।

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में रीति

भारतीय काव्य-शास्त्र तथा पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में विचित्र साम्य है और यह साम्य केवल मूल सिद्धान्तों में ही नहीं है, रूप-भेदों में भी है। भारतीय रीति और पाश्चात्य शैली-विवेचन की पारस्परिक समानता तो वास्तव में आश्चर्यजनक है। यूरोप में शैली का प्रारम्भिक विवेचन और विकास बहुत कुछ उसी पद्धति पर हुआ है जिस पर भारतीय रीति का—अथवा कालक्रमानुसार यह कहना संगत होगा कि भारतीय रीति-निरूपण प्रायः उसी पद्धति पर हुआ है जिस पर यूरोप में यूनानी और रोमी आचार्यों का शैली-विवेचन, क्योंकि यूनानी तथा कतिपय रोमी आचार्य भारत के काव्याचार्यों के पूर्ववर्ती हैं इसमें संदेह नहीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह साम्य पारस्परिक सम्पर्क अथवा प्रभाव का द्योतक नहीं है—मानव-चिंतन की मूलभूत एकता का द्योतक यह साम्य बहुत कुछ आकस्मिक ही था।

यूरोपीय आलोचना के उदय-युग के तीन चरण हैं :

१. यूनानी व्यंग्य नाटकों में प्राप्त सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक आलोचना—इस दृष्टि से ऐरिस्टोफ़ेनीस का नाटक 'फ़ाग्स' अत्यन्त महत्वपूर्ण है। २. यूनानी दार्शनिकों का सौंदर्य-विवेचन। ३. यूनानी-रोमी रीति-शास्त्रियों का रीति-विवेचन।

एरिस्टोफ़ेनीस ने 'फ़ाग्स' नामक व्यंग्य-नाटक में अपने युग के नाट्यकारों तथा उनकी शैली आदि का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण किया है। उन्होंने यूरिपाइडीज और ऐसकाइलस नामक प्रसिद्ध नाट्यकारों के विवाद द्वारा अपने युग में प्रचलित दो विरोधी काव्य-शैलियों का अत्यन्त स्पष्ट निर्देश किया है। यूरिपाइडीज सरल और सहज शैली का समर्थक है। वह एक ओर सहज मानवीय[1] भाषा और वाणी की

---

१. Oh, let us at least use the language of men ! (यूरिपाइडीज)

स्वाभाविक[२] स्वतन्त्रता का प्रबल पक्षपाती है, दूसरी ओर कृत्रिम गर्जन[३]-तर्जन तथा शब्दाडम्बर का घोर विरोधी। इसके विपरीत ऐसकाइलस उदात्त शैली को महत्व देता है—वह इस कथित सहजता को निस्सार मानता है। उसकी मान्यता है कि विषय-वस्तु[४] तथा भाव के गौरव के साथ भाषा भी अनिवार्यतः गौरव-सम्पन्न हो जाती है। इस प्रकार यूरोपीय साहित्य-शास्त्र के आदिम काल में ही इन दो परस्पर-विरोधी शैलियों का अन्तर स्पष्ट हो गया था : वहाँ भी भारतीय वैदर्भी और गौड़ी के समान दो काव्य-रीतियाँ आरम्भ से ही प्रचलित तथा स्वीकृत थीं।

प्लेटो

व्यंग्य-नाटकों के उपरान्त यवन दार्शनिकों के ग्रन्थों में प्रसंगानुसार काव्यालोचन की झाँकियाँ मिलती हैं। प्लेटो तथा अरस्तू आदि ने शैली को तत्व में प्रायः हेय ही माना है, परन्तु व्यवहार-रूप में उन्होंने भी प्रस्तुत विषय पर अत्यन्त महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं—अरस्तू ने तो रीति-शास्त्र (रहैटरिक) नाम से एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही लिखा है। प्लेटो ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ गणराज्य (रिपब्लिक) में काव्य-भाषा (शैली) का विवेचन इस प्रकार किया है : काव्य-भाषा (शैली) के ये दो भेद हैं। × × × इनमें से पहली में कोई बड़ा उतार-चढ़ाव नहीं होता। भाषा के अनुकूल संगीत तथा लय का माध्यम प्राप्त हो जाने पर वह सम गति से चलती रहती है।

तो फिर दूसरी का क्या स्वरूप है ? क्या उसे सर्वथा विपरीत माध्यम की अपेक्षा नहीं होती ? सभी राग और सभी लयें उसके लिए अपेक्षित होती हैं—क्योंकि उसमें अत्यधिक परिवर्तन होते रहते हैं। × × ×

सभी कवि और लेखक इनमें से एक काव्य-शैली का अथवा इन दोनों के मिश्रण से निर्मित मिश्र शैली का प्रयोग करते हैं।

---

२. Next I taught all the town to talk with freedom. (युरिपाइडीज)
३. I never crashed and lightened. (")
४. When the subject is great and the sentiment, then, of necessity, great grows the word. (ऐसकाइलस)

इस प्रकार प्लेटो के अनुसार तीन शैलियाँ हैं—१. सहज-सरल २. विचित्र और ३. मिश्र। इनमें से प्लेटो मिश्र-शैली को सर्वोत्कृष्ट मानते हैं : सरल के विषय में भी उनकी सम्मति अच्छी है, परन्तु विचित्र को वे निकृष्ट मानते हैं जो बालकों, भृत्यों तथा ग्रामीणों को प्रिय होती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये तीनों मार्ग कुन्तक के सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम मार्गों से अभिन्न हैं।

इसके अतिरिक्त एक स्थान पर प्लेटो ने काव्य-शैली के कतिपय भौगोलिक भेदों की ओर भी संकेत किया है। वास्तव में ये भेद संगीत के हैं किन्तु ये काव्य के माध्यम भी हैं।

करुण राग कौन से हैं ? + + +

मिश्रित लिडियन और हाईपर (आत्यंतिक) लिडियन।

+ + + +

कोमल तथा प्रसन्न राग कौन से हैं ?

ये हैं आयोनियन और लिडियन।

किन्तु क्या, इनका प्रयोग हम योद्धाओं के लिए भी कर सकते हैं ?

नहीं—कदापि नहीं। इनके लिए डोरियन और फ्रिजियन शेष हैं।[1]

उपर्युक्त नामों का आधार आरम्भ में निस्संदेह ही भौगोलिक रहा होगा—तदुपरान्त वे विशेष गुणों के वाचक हो गये। वैदर्भ और गौड़ आदि के विषय में भी यही हुआ।

अरस्तू

प्लेटो के उपरान्त अरस्तू ने काव्य-शैली का विस्तारपूर्वक विवेचन-विश्लेषण किया है। वैसे तो उन्होंने अपने ग्रन्थ काव्य-शास्त्र में भी इस प्रसंग का निर्देश किया है, परन्तु उनके दूसरे ग्रन्थ रीति-शास्त्र[3] का तो एक मात्र विषय ही यही है।

---

१. ग्रीक लिटरेरी क्रिटिसिज्म (डेनिस्टन, पृ० ६३)

२. पोयटिक्स ३. रहैटरिक्स

अपने समय के दार्शनिकों की भाँति अरस्तू ने भी एक स्थान पर शैली को एक ग्राम्य (स्थूल तथा अनुदात्त[1]) विषय माना है। परन्तु अन्यत्र विवेचन के समय उन्होंने शैली के महत्व को असंदिग्ध शब्दों में स्वीकार किया है : अब हम शैली का विवेचन करते हैं क्योंकि केवल वर्ण्य विषय पर अधिकार होना पर्याप्त नहीं है किन्तु यह आवश्यक है कि हम उसको उचित रीति से प्रस्तुत करें, और इससे वाणी में वैशिष्ट्य (चमत्कार) का समावेश होता है।

+ + + जहाँ तक विषय-प्रतिपादन की स्पष्टता का प्रश्न है अपने मन्तव्य को एक प्रकार से अथवा दूसरे प्रकार से अभिव्यक्त करने से बड़ा अन्तर पड़ जाता है[2]।

अरस्तू गद्य और पद्य की शैली में स्पष्ट भेद करते हैं : कविता तथा गद्य-साहित्य की शैलियाँ भिन्न हैं।

शैली के गुण

अरस्तू के अनुसार शैली के दो मूल गुण हैं : स्पष्टता (प्रसाद) और औचित्य। शैली का गुण यह है कि वह स्पष्ट हो (इसका एक प्रमाण यह कि जब तक शैली भाव को स्पष्ट नहीं करती तब तक वह अपने उद्देश्य में सफल नहीं होती) और उसका स्तर न तो निम्न हो और न विषय की गरिमा से ऊँचा ही हो—वरन् सर्वथा विषयोचित हो।

प्रसाद :—स्पष्टता का समावेश ऐसी संज्ञाओं और क्रियाओं के प्रयोग पर निर्भर है जो सामान्य प्रयोग में आती है[3]।

एक और प्रसंग में अरस्तू ने चार बातों को शैली की स्पष्टता का आधार माना है १.—पढ़ने और समझने में सौकर्य २.—यति, विराम आदि की असंदिग्ध स्थिति तथा अनावश्यक पर्यायोक्तियों का अभाव ३.—मिश्र तथा द्वि-अर्थक अभिव्यंजना का अभाव ४.—अवान्तर वाक्य-खण्डों का अनधिक प्रयोग।[4]

---

१. देखिए सेन्ट्सबरी का संग्रह-ग्रन्थ लोसाइ क्रिटीकी पृ० २३
२. वही पृ० २२, २४
३. „ पृ० २५
४. हॉब्स डाइजेस्ट आफ एरिस्टोटल्स र्‌हैटरिक पृ० १५३ और लोसाइ क्रिटीकी पृ० २८।

गरिमा (ग्रौदार्य) तथा ग्रौचित्य : सामान्य प्रयोगों से भिन्नता भाषा को गरिमा प्रदान करती है क्यों कि शैली से भी मनुष्य उसी प्रकार प्रभावित होते हैं जिस प्रकार विदेशियों से ग्रथवा नागरिकों से। इसलिए आप अपनी पद-रचना को विदेशी रंग दीजिए क्यों कि मनुष्य असाधारण की प्रशंसा करता है ग्रौर जो प्रशंसा का विषय है वह प्रसन्नता का भी विषय होता है। + + +

निम्नलिखित तत्व शैली को गरिमा प्रदान करते हैं : नाम के स्थान पर लक्षण का प्रयोग, यदि विषय-वर्णन में किसी प्रकार का संकोच हो तो लक्षण में संकोच का कारण होने पर नाम का प्रयोग ग्रौर नाम के संकोच-जनक होने पर लक्षण का प्रयोग, ग्रलंकार (रूपक) तथा विशेषण का प्रयोग, एकवचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग।[1]

उपर्युक्त विवेचन भारतीय रीति-सिद्धान्त के अत्यन्त निकट है। असाधारण शब्द-प्रयोग भारतीय रीतिकारों का शब्द-गुण कान्ति है, वामन के शब्द-गुण कान्ति में साधारण शब्दों का परिहार रहता है ग्रौर उनके स्थान पर उज्ज्वल, कांतिमय शब्दों का प्रयोग रहता है। इसी प्रकार संकोच-निवारण के लिए नाम के स्थान पर लक्षण का प्रयोग ग्रथवा लक्षण के स्थान पर नाम का प्रयोग वामन के ग्रर्थ-गुण ग्रोजस् तथा सौकुमार्य की ओर संकेत करता है : ग्रर्थ-गुण ग्रोजस् में पद के स्थान पर वाक्य-रचना ग्रौर वाक्य के स्थान पर पद का प्रयोग तथा समास-गुण के लिए साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग किया जाता है ग्रौर अर्थ-गुण सौकुमार्य में अशुभ ग्रर्थ का परिहार करने के लिए पदार्थों से काम लिया जाता है।

किन्तु ग्ररस्तू गरिमा के स्वेच्छाचारी प्रयोग के पक्षपाती नहीं हैं, उस पर वे सुरुचि तथा ग्रौचित्य का नियंत्रण ग्रनिवार्य मानते हैं : 'किन्तु (गद्य के क्षेत्र में भी काव्य की भाँति) सुरुचि का सिद्धान्त यही है कि विषय के अनुकूल ही भाषा-शैली का स्तर नीचा या ऊँचा रहना चाहिए। इसलिए हमारा यह (विदेशी रंग देने का) प्रयत्न लक्षित नहीं होना चाहिए, यह आभास नहीं मिलना चाहिए कि हम सचेष्ट होकर वाणी का प्रयोग कर रहे हैं—वरन् यही प्रतीत होना चाहिए कि हमारी वाणी ग्रथवा शैली सर्वथा स्वाभाविक है। + +

'दूसरा गुण है ग्रौचित्य। शैली में इस गुण का समावेश उस समय मानना चाहिए जब वह (वक्ता के) भाव तथा व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करे और विषय-वस्तु के ग्रनुकूल हो।'[2]

१. लोसाई क्रिटिकी पृ० २६, २८-२९। २. वही पृ० २६, २९।

रीति के प्रसंग में औचित्य का विवेचन हमारे यहाँ दो रूपों में हुआ है : एक तो आनन्दवर्धन-प्रतिपादित वक्तृ-औचित्य तथा वस्तु-औचित्य के रूप में, और दूसरे कुन्तक के 'औचित्य' गुण के रूप में। इन दोनों रूपों में ही भारतीय तथा यवन आचार्यों का विवेचन सर्वथा समान है। दोनों ने वक्ता और विषय के औचित्य तथा सुरुचि को शैली का नियामक माना है।

शैली के दोष

शैली के अरस्तू ने चार मुख्य दोष माने हैं : (१) समासों का अधिक प्रयोग (२) अप्रचलित शब्दों का प्रयोग (३) दीर्घ, अनुपयुक्त तथा अधिक विशेषणों का प्रयोग, (४) दूरारूढ़ तथा अनुपयुक्त रूपकों का प्रयोग।

ये चारों दोष वास्तव में गौड़ी के असंयत रूप के दोष हैं—इनसे रचना में शब्दाडम्बर का समावेश हो जाता है। इनमें अप्रचलित शब्दों का प्रयोग और दीर्घ तथा अनुपयुक्त विशेषणों का प्रयोग वामन के अन्यार्थ (मम्मटादि के अप्रयुक्त) तथा नेयार्थ सदृश पदार्थ-दोषों में आ जाते हैं।

दूरारूढ़ तथा अनुपयुक्त रूपकों का प्रयोग भी वामन के संदिग्ध, अप्रयुक्त जैसे वाक्यार्थ दोषों अथवा मम्मटादि के कष्टार्थ आदि दोषों में अन्तर्भूत हो जाता है। अधिक समास-प्रयोग गौड़ी की विशेषता है जिसका अतिचार निश्चय ही दोष है।

शैली के भेद

अरस्तू ने भी शैली के भेद किये हैं। उन्होंने पहले तो दो मुख्य भेद माने हैं : १. साहित्य-शैली[1] २. विवाद-शैली[2]। फिर विवाद-शैली के दो उपभेद किए हैं—(क) संसदीय शैली तथा (ख) न्यायालय की शैली। संसदीय शैली बृहत् भीति-चित्र-शैली के समान होती है : दोनों में सूक्ष्म-अंकन के लिए स्थान नहीं है, वास्तव में सूक्ष्म-अंकन से उसकी हानि ही होती है। न्यायालय-शैली आलंकारिक प्रसाधनों पर कम से कम निर्भर रहती है : इसमें सम्बद्ध तथा असम्बद्ध का भेद अत्यन्त स्पष्ट रहता है और आडम्बर का सर्वथा अभाव होता है।

१. लिटरेरी स्टाइल।
२. ऐगोनिस्टिक स्टाइल।

इनके अतिरिक्त शैली के मधुर तथा उदात्त आदि भेद करना अनावश्यक है क्यों कि फिर तो संयत और उदार आदि अनेक भेद और भी हो सकते हैं।[१]

भारतीय काव्य-शास्त्र की दृष्टि से उपर्युक्त विवेचन में एक ओर कोमला तथा परुषा वृत्तियों की ओर संकेत है, दूसरी ओर माधुर्य, ओज आदि गुणों पर आश्रित भेदों को अनावश्यक विस्तार माना गया है।

सिसरो तथा अन्य रोमी रीतिकार

काल-चक्र के प्रभाववश संस्कृति का केन्द्र यूनान से हटकर रोम में स्थानान्तरित हो गया। अरस्तू की परम्परा टेरेन्स, सिसरो, हॉरेस तथा क्विण्टीलियन आदि रोमी तथा डायोनीसियस और डिमेट्रियस प्रभृति यूनानी रीति-शास्त्रियों के ग्रन्थों में विकसित हुई। कालक्रमानुसार पहले सिसरो (प्रथम शताब्दी ईसा-पूर्व) के रीति-विवेचन को लीजिए। सिसरो का विवेचन स्पष्ट, पुष्ट तथा उनके व्यक्तित्व के तेज से दीप्त है।

व्यक्ति-तत्व :—उन्होंने शैली के व्यक्ति-तत्व तथा वस्तु-तत्व दोनों को सम्यक् महत्व दिया है। उनका मत है कि प्रत्येक व्यक्ति की शैली निरन्तर परिवर्तनशील मानव-प्रकृति और रुचि के अनुसार बदलती रहती है—इस प्रकार सिसरो शैली को व्यक्तित्व की अभिव्यंजना मानते हैं। भारतीय आचार्यों ने भी इस प्रसंग में यही अभिमत व्यक्त किया है—उनकी शब्दावली भी प्रायः समान है :

अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।

× × × ×

तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः॥

(दण्डी—काव्यादर्श प्र० प०)

अर्थात् वाणी की अनेक शैलियां हैं जिनमें परस्पर सूक्ष्म भेद हैं। प्रत्येक कवि की अपनी भिन्न शैली होती है—इस प्रकार शैली के भेदों का वर्णन अशक्य है।

औचित्य :—व्यक्ति-तत्व के अतिरिक्त सिसरो के अनुसार शैली के दो नियामक तत्व और भी हैं : परिस्थिति (प्रसंग—अथवा विषय) तथा प्रयोजन। इनका भी

१. देखिए ग्रीक लिटरेरी क्रिटिसिज्म (डेनिस्टन) पृ० १४१ और १४३।

प्रकारान्तर से भारतीय रीति-शास्त्र में आनन्दवर्धन तथा मम्मटादि उल्लेख कर चुके हैं : सिसरो के ये दोनों तत्व आनन्दवर्धन के वस्तु-औचित्य तथा रसौचित्य के अन्तर्गत आ जाते हैं। और, आगे चलकर सिसरो ने औचित्य[1] को शैली का मूल तत्व माना भी है : औचित्य का विचार कला का मूल तत्व है परन्तु फिर भी यही एक ऐसा तत्व है जिसका शिक्षण कला द्वारा सम्भव नहीं है।

शैली के आधार-तत्व :—सिसरो ने शैली के तीन तत्व माने हैं : १. उपयुक्त शब्द-चयन—साधारणतः प्रचलित शब्दों का ही प्रयोग श्रेयस्कर है, किन्तु शैली को उदात्त एवं रंजक रूप देने के लिए असामान्य शब्दों का प्रयोग भी उचित है—पर ये शब्द ग्राम्य, प्रादेशिक अथवा क्षुद्र न हों।

२. स्पष्टता : भाषा स्पष्ट, मुहावरेदार और चलती होनी चाहिए।

३. पद-रचना (बन्ध) : चुने हुए शब्दों की रचना सामंजस्यपूर्ण होनी चाहिए।

४. वर्ण-गुम्फ : स्वर और व्यंजनों की योजना श्रुति-कटु तथा कर्कश नहीं होनी चाहिए।

उपर्युक्त चारों तत्वों का आख्यान भारतीय रीति-शास्त्र में अत्यन्त विस्तार के साथ किया गया है। जैसा कि मैंने आरम्भ में स्पष्ट किया है वर्ण-गुम्फ तथा पद-रचना भारतीय शैली के बाह्य तत्व हैं। स्पष्टता तथा शब्द-वैचित्र्य का अन्तर्भाव हमारे दस गुणों में—अर्थव्यक्ति तथा शब्द-गुण कांति आदि में—हो जाता है।

शैली के भेद :—सिसरो के समय दो भिन्न शैलियों में प्रतिस्पर्धा आरम्भ हो गई थी—ये शैलियाँ थीं ऐटिक और एशियाटिक। ऐटिक शैली सहज, सरल, स्वच्छ, यथातथ्य वस्तु-निरूपिणी तथा अनलंकृत होती थी। इसके गुण थे परिष्कृति तथा संयम, आडम्बर का अभाव। यह कांति तथा समास गुण से विभूषित थी।

इसके विपरीत एशियाटिक शैली अतिशय अलंकृत तथा चमत्कारपूर्ण होती थी।

इन दोनों में ऐटिक शैली का आदर अधिक था—सिसरो ने भी उसी को श्रेष्ठ माना है। परन्तु उन्होंने शुद्धतावादियों का विरोध करते हुए लिखा है कि

१. डेकोरम

ऐटिक शैली के लिए कठोर संयम की आवश्यकता नहीं है—अन्यथा वह विरस और निष्प्राण हो जाती है। अतएव उसे नाद और लय की समृद्धि तथा रचना-सौंदर्य की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार उन्होंने एक ओर एशियाटिक शैली के सुरुचिहीन अतिचारों और दूसरी ओर ऐटिक शैली की संकीर्णता का तिरस्कार कर ऐटिक शैली के उदार रूप की प्रतिष्ठा की।

उपर्युक्त विवेचन प्रकारान्तर से वैदर्भी और गौड़ी रीतियों का ही विवेचन है। जिस प्रकार वैदर्भी और गौड़ी का आधार आरम्भ में भौगोलिक था किन्तु बाद में ये दोनों नाम गुण-वाचक बन गए, इसी प्रकार ऐटिक और एशियाटिक भी आरम्भ में क्रमशः एथेन्स नगर और एशियाई यवन-प्रदेशों से सम्बद्ध थे, परन्तु बाद में विशेष गुणों के प्रतीक बन गये। इसके अतिरिक्त दोनों में पूर्ण रूप-साम्य भी है: ऐटिक वैदर्भी का और एशियाटिक गौड़ी का पाश्चात्य रूपान्तर मात्र है।

होरेस

रोम के प्रसिद्ध रीति-शास्त्रकार होरेस का ग्रन्थ 'आर्स पोयटिका' वास्तव में रीति-शास्त्र का ग्रन्थ न होकर काव्य-शास्त्र का ग्रन्थ है। फिर भी उन्होंने उसमें शैली तथा काव्य-भाषा के प्रश्न पर प्रकाश डाला है। उनका मत है कि काव्य-शैली के विषय में पहली बात तो यह है कि उसमें विवेक से काम लेना चाहिए। अन्यत्र उन्होंने शब्द-चयन, शब्द-योजना तथा अपनी समकालीन काव्य-शैलियों का विश्लेषण किया है। शब्द-चयन के विषय में उनका कथन है कि आडम्बरपूर्ण शब्दों को काट-छाँट देना चाहिए, कठोर शब्दों को मसृण कर देना चाहिए, और शक्ति तथा गरिमा से शून्य शब्दों का एकान्त बहिष्कार कर देना चाहिए। किन्तु इस तीसरी श्रेणी में वे घिसे-पिटे और निष्प्राण शब्दों का ही तिरस्कार करते हैं, नित्यप्रति के प्रयोग के सामान्य शब्दों का नहीं। इसके अतिरिक्त उन्होंने समृद्ध शब्दावली के आदान पर बल दिया है जिसके लिए कवि को यह अधिकार है कि वह प्रचलित शब्दों को ग्रहण कर सकता है तथा लैटिन धातुओं से यूनानी व्युत्पत्ति के आधार पर नवीन शब्दों का निर्माण कर सकता है। व्युत्पन्न कवि प्रचलित शब्दों को विचित्र रंग देकर उन्हें काव्योपयोगी बना सकता है। काव्य-शैली का दूसरा प्रमुख गुण है बंध—शब्द-योजना: होरेस ने उसे शैली का प्रमुख तत्व माना है। और, तीसरा गुण है स्पष्टता। कहने की आवश्यकता नहीं कि होरेस द्वारा निर्दिष्ट उपर्युक्त शैली-तत्व भारतीय गुणों

में सहज ही अन्तर्भूत हो जाते हैं : विवेक औचित्य का ही दूसरा नाम है। समृद्ध, वैचित्र्यपूर्ण तथा मसृण शब्दावली का वामन के शब्द-गुण कान्ति, सौकुमार्य आदि में अन्तर्भाव हो जाता है। गरिमा तथा शक्ति से शून्य निष्प्राण शब्दों का बहिष्कार ग्राम्य आदि शब्द-दोषों का अभाव है। इसी प्रकार बंध का महत्व भारतीय रीतिकारों ने भी मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है।

अन्य रीतिकारों की भाँति होरेस ने भी अपने युग के उस विवाद की चर्चा की है जो ऐटिक और एशियाटिक (नवीन) शैलियों को लेकर चला था। उन्होंने भी सिसरो की तरह—और भारत में भामह की तरह, यही माना है कि निरपेक्ष रूप से इनमें से एक को श्रेष्ठ और दूसरी को निकृष्ट कहना उचित नहीं है—शैली के विषय में कोई निश्चित, बँधे हुए नियम नहीं हैं : अन्तिम प्रमाण विवेक अथवा औचित्य ही है।

डायोनीसियस (३०—ईसा-पूर्व)

पाश्चात्य रीति-शास्त्र की विकास-परम्परा में डायोनीसियस का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। होरेस की प्रवृत्ति काव्य-शास्त्र की ओर अधिक थी, परन्तु इस यूनानी आचार्य का मुख्य प्रतिपाद्य रीति-सिद्धान्त ही था। इनके ग्रन्थ का नाम ही 'पद-रचना' (या 'रीति') है।

पद-रचना :—

डायोनीसियस ने शब्द-चयन की अपेक्षा शब्द-योजना पर अधिक बल दिया है : उनका कथन है कि काव्याभिव्यंजना में सौंदर्य का आधार शब्दावली नहीं है वरन् शब्द-गुम्फ या पद-रचना ही है। सुन्दर शब्दों का अभीष्ट प्रभाव तभी पड़ता है जब उनकी योजना भी सुन्दर हो। यही कलात्मक पद-रचना काव्य-शैली का मूल तत्व है। इस प्रकार डायोनीसियस और वामन का सिद्धान्त सर्वथा समान है। कलात्मक पद-रचना ही वामन की विशिष्ट पद-रचना अथवा रीति है : और उसकी प्रमुखता की घोषणा 'रीतिरात्मा काव्यस्य' की ही घोषणा है।

रीति में व्यक्ति-तत्त्व :—प्लेटो और सिसरो की भाँति डायोनीसियस भी शैली को व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मानते हैं। पद-रचना या रीति कोई यांत्रिक क्रिया नहीं है : उसमें व्यक्तिगत वैशिष्ट्य सदैव रहता है। इसके अतिरिक्त शैली के नियामक

तत्व और भी हैं : भाव तथा विषय-वस्तु ।—शैली अर्थ अथवा मूल संवेद्य की अनुवर्तिनी होती है । इस प्रकार डायोनीसियस व्यक्तित्व, भाव (रस) तथा वस्तु का नियमन स्वीकार करते हुए शैली के व्यक्ति-तत्व, और अवयवों का वस्तुगत विश्लेषण कर उसके वस्तु-तत्व—दोनों को ही महत्व देते हैं ।

शैली के तत्व : डायोनीसियस के अनुसार शैली के मुख्य तत्व हैं : शुद्धता, स्पष्टता और *समास-गुण* । इनके अतिरिक्त कुछ अन्य तत्व भी हैं जो गौण हैं, जैसे सजीवता, उदात्तता, गरिमा, शक्ति, शोभा, आदि—और विशेष रूप से औचित्य जिसे वे काव्य का सर्वश्रेष्ठ गुण मानते हैं । भारतीय रीति-शास्त्र में उपर्युक्त प्रायः सभी गुणों का दण्डी, वामनादि ने दस गुणों में अन्तर्भाव कर लिया है । स्पष्टता प्रसाद, अर्थव्यक्ति आदि में अंतर्भूत है, समास-गुण श्लेष में, उदात्तता, गरिमा, शक्ति, सजीवता आदि ओज तथा औदार्य में, और शोभा माधुर्य तथा सौकुमार्य में । आगे चलकर डायोनीसियस ने शैली के वर्ण-गुम्फ आदि बाह्य तत्वों का विवेचन किया है । उनका निष्कर्ष है कि शब्द का सौन्दर्य वर्णों के सौन्दर्य पर आश्रित है । उन्होंने स्वरों और व्यंजनों के संगीत का सूक्ष्म विश्लेषण किया है । दीर्घ स्वर अधिक संगीतमय होते हैं और ह्रस्व स्वरों में संगीत-तत्व कम होता है । व्यंजनों में वे ल, म, न, र आदि में संगीत की मात्रा स्वीकार करते हैं—शेष व्यंजनों को वे निश्चय ही अमधुर मानते हैं । कुशल कलाकार स्वरों और व्यंजनों की संयोजनाओं द्वारा अपनी शैली में वर्ण-संगीत का समावेश करता है । किन्तु वर्ण-संगीत से तात्पर्य केवल कोमल वर्ण-योजना से नहीं है—वर्ण-संगीत का सम्बन्ध तो प्रेरक भाव या रस से है । होमर प्रायः कठोर वर्णों के साथ मधुर-कोमल वर्णों को गुम्फित कर रसानुकूल कलात्मक सामंजस्य की सृष्टि कर लेता है । हमारे वर्ण-विवेचन और डायोनीसियस के इस वर्ण-विवेचन में कितना साम्य है ! हमारे यहाँ भी स्वरों को व्यंजनों की अपेक्षा अधिक सुकुमार और संगीतमय माना गया है—इसीलिए तो वर्णानुप्रास गौड़ीया रीति का गुण है । व्यंजनों में, भारतीय रीति-शास्त्र में भी, ल, म, न आदि का माधुर्य सर्व-स्वीकृत है । इसके अतिरिक्त केवल कोमल वर्ण-योजना को हमारे रीति-शास्त्र में भी अधिक स्पृहणीय नहीं माना गया—अति-सौकुमार्य पांचाली का गुण है जो स्त्रैण रीति मानी गयी है । डायोनीसियस ने होमर के जिस कलात्मक संगुम्फन की प्रशंसा की है, वामन के शब्द-गुण प्रसाद में भी कुछ वैसा ही संकेत है—डायोनीसियस कठोर और कोमल वर्णों के सुरुचिपूर्ण समंजन को श्लाघ्य मानते हैं, वामन ने गाढ़ और शिथिल पद-बंधों के सामंजस्य को प्रसाद-गुण का मूल आधार माना है ।

शैली के भेद :—डायोनीसियस भी अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की भाँति शैली के तीन भेद मानते हैं। थ्योफ्रास्टस के समान वे भी यह मानते हैं कि काव्य-भाषा तीन प्रकार की होती है : उदात्त और अलंकृत, प्रसादमय (सरल), तथा मिश्र—और तदनुसार रचना के भी तीन भेद हैं—कठिनोदात्त[1], मसृण या सज्जित[2], मिश्र अथवा समंजित[3]।

१. कठिनोदात्त शैली के मूल तत्व हैं गरिमा, तीव्रता, अनगढ़ शक्ति आदि। इसमें प्रभावोत्पादक तथा असाधारण शब्दों का प्रयोग होता है और कृत्रिम मसृणता, ऋजुता आदि का नियमित रूप से बहिष्कार रहता है। इसी शैली में अनियमित पद-रचना तथा कर्कश-ध्वनियों से उत्पन्न काठिन्य होता है। इस प्रकार यह शैली एक अनगढ़ तथा अनलंकृत शैली है।

डायोनीसियस के शब्दों में—

"कठिनोदात्त शैली के विशिष्ट गुण इस प्रकार हैं : इसमें शब्द स्तम्भों की भाँति दृढ़ता से नियोजित रहते हैं। यह कर्कश ध्वनियों के प्रयोग से तनिक भी नहीं घबराती—(वरन् उनका उसी प्रकार उपयोग करती है) जैसे भवन-निर्माण में अनगढ़ प्रस्तर-खण्डों का होता है। इसकी प्रवृत्ति दीर्घ (समस्त) शब्दावली के माध्यम से विस्तार की ओर रहती है। विशेष स्थितियों को छोड़ इसमें लघु वर्णों का प्रयोग निंद्य समझा जाता है। इसकी वाक्य-रचना में उदात्त लयों का प्रयोग होता है। वाक्यांशों की रचना किसी समानुपात अथवा कठोर नियंत्रण के अधीन नहीं होती —वह भव्य, उज्ज्वल और स्वच्छन्द होती है। + + + इसमें सज्जा के लिए अवकाश नहीं है : इसमें एक प्रकार का आभिजात्य तथा प्रकृत मुखरता होती है—और किसी प्रकार की पालिश नहीं होती।"

२. मसृण या सज्जित शैली का गुण है सहज-सौकुमार्य—इसमें न तो प्राचीन शब्दावली का प्रयोग होता है और न काव्य-रूढ़ शब्दावली का। इसमें साधारण शब्द अपने साधारण अर्थ में प्रयुक्त होते हैं—और उनके प्रयोग में सरलता तथा अनेकरूपता रहती है जिसकी एक अपनी नवीनता होती है।

"मसृण या सज्जित शैली के गुण निम्नलिखित हैं : + + + इसकी भाषा में स्वच्छन्द प्रवाह होता है—इसके शब्द एक दूसरे के पश्चात् सहज-

---

१. ऑस्टीयर २. स्मूथ या फ्लोरिड ३. मिक्स्ड

सम्बद्ध रूप से चिरप्रवाहित धारा के समान निरन्तर आगे बढ़ते हैं। इस दृष्टि से यह शैली बारीक बुने वस्त्रों के समान अथवा उन चित्रों के सदृश है जिनमें प्रकाश और छाया अनायास ही एक दूसरे में घुले-मिले रहते हैं। इसकी शब्दावली संगीतमय, मसृण तथा किशोरी के मुख के समान कोमल होती है। इसमें कर्कश तथा कर्ण-कटु वर्णों का अभाव रहता है, और, जोखिम के, असंतुलित प्रयोगों का सायास बहिष्कार किया जाता है। + + + जहाँ तक अलंकारों का सम्बन्ध है, इसमें प्रचलित तथा रूढ़ अलंकारों—अथवा गरिमा-गाम्भीर्य आदि के व्यंजक अलंकारों का प्रयोग नहीं होता, वरन् प्रायः ऐसे अलंकारों का प्रयोग होता है जो मधुर और रम्य हों—जिनमें ललित कल्पना की छलना हो। सामान्य रूप से इस शैली के प्रमुख एवं मूल तत्व कठिनोदात्त शैली के तत्वों के सर्वथा विपरीत हैं।" सैफ़ो आदि गीति-कवि इसके प्रतिनिधि हैं।

३. मिश्र अथवा समंजित शैली का नाम मध्यमा भी है। इसमें ऐसे साधारण शब्दों का चयन होता है जिनकी प्रवृत्ति तो अलंकृति की ओर होती है, परन्तु वे प्राचीन, अप्रचलित तथा काव्य-रूढ़ नहीं होते। इस मध्यमा अथवा समंजित शैली में एक ओर सुख-सरल मसृणता, समानुपात आदि सरल शैली के गुण और दूसरी ओर गरिमा आदि कठिनोदात्त शैली के गुण भी वर्तमान रहते हैं।

"तीसरी शैली उपर्युक्त दोनों शैलियों की मध्यवर्तिनी है। अधिक उपयुक्त नाम के अभाव में मैं इसे समंजित शैली कहूँगा। इसका अपना कोई विशिष्ट रूप तो नहीं होता परन्तु इसमें अन्य दोनों शैलियों के सर्वोत्कृष्ट गुण रहते हैं। मुझे लगता है यही सबसे उत्तम शैली है क्योंकि इसमें मध्यम मार्ग ग्रहण किया गया है, और अरस्तू तथा उनके अनुयायी दार्शनिकों के अनुसार जीवन, व्यवहार तथा कला की श्रेष्ठता मध्यम मार्ग में ही निहित रहती है। + + +। इस शैली का सर्वश्रेष्ठ प्रयोक्ता होमर है—जिसके काव्य में मसृण-कोमल तथा कठिनोदात्त रूपों के कुशल समन्वय द्वारा इस शैली का चरम विकास मिलता है।[1]

उपर्युक्त भेद सर्वथा मौलिक नहीं हैं। यूनानी रीति-शास्त्र में इनका उल्लेख आरम्भ से ही मिलता है और प्लेटो और सिसरो ने प्रायः इसी रूप में इनका वर्णन किया है। उधर थ्योफ़्रास्टस का ऋण तो स्वयं डायोनीसियस ने ही माना है। भारत

१. ग्रीक लिटरेरी क्रिटिसिज़्म में उद्धृत डब्ल्यू० ए० रौबर्ट्स का अनुवाद।

में भी वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली इन्हीं के प्रकारान्तर हैं—पांचाली मसृण या सज्जित शैली के निकट है और गौड़ी कठिनोदात्त के, वैदर्भी प्रायः मध्यमा अथवा समंजित शैली की समानान्तर है। उधर कुन्तक के तीन मार्ग-भेद इनके और भी अधिक निकट हैं—वहाँ नामसाम्य भी है : सुकुमार और मसृण-कोमल एक हैं और मध्यम तो दोनों में समान ही है। इस प्रकार भारतीय तथा यूनानी-रोमी रीति-शास्त्रों में शैली के वर्गीकरण का आधार ही नहीं वरन् उनके तत्वों का विश्लेषण भी बहुत-कुछ समान है।

डिमॅट्रियस

अरस्तू, सिसरो तथा डायोनीसियस की रीति-परम्परा को डिमॅट्रियस तथा क्विण्टीलियन ने और आगे बढ़ाया। डिमॅट्रियस ने शैली पर एक स्वतन्त्र रीति-ग्रन्थ ही लिखा है। उन्होंने शैली की कोई औपचारिक परिभाषा नहीं की। अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की भाँति वे भी शैली को लेखक के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति और व्यक्ति-तत्व को आत्मा मानते हैं, परन्तु इसके साथ ही वे कुछ ऐसे निर्देशक सिद्धान्तों तथा नियमों का अस्तित्व भी स्वीकार करते हैं जो कलात्मक रचना (रीति) में सहायक हैं। इसी प्रकार वे यह भी स्वीकार करते हैं कि वस्तु-विषय शैली का प्रमुख नियामक तत्व है—किन्तु साथ ही उसको प्रस्तुत करने के ढंग पर भी बहुत कुछ निर्भर करता है।

डिमॅट्रियस ने शैली के चार प्रकार माने हैं :

उदात्त[1], मधुर या मसृण[2], प्रसादमय[3] और ओजस्वी[4]। इनमें पहले तीन तो सिसरो तथा डायोनीसियस द्वारा प्रतिपादित शैली-भेद ही हैं—ओजस्वी इन्होंने अपनी ओर से और जोड़ दिया है। परन्तु यह भी इनकी अपनी उद्भावना नहीं है—इनसे पूर्व फ़िलोडेमस उपर्युक्त तीन भेदों के अतिरिक्त एक चौथे भेद 'प्रबल[5]' का उल्लेख कर चुके थे।

१. ऐलीवेटिड
२. एलीगेन्ट (मावसन ने इसे पालिश्ड कहा है।)
३. प्लेन
४. फ़ोर्सीवल
५. वैहिमेंट

डिमैट्रियस के अनुसार उदात्त शैली का मूल तत्व है असामान्यता, क्यों कि उनका मत है कि 'प्रत्येक सामान्य वस्तु प्रभावहीन होती है।' उदात्त शैली के तत्व इस प्रकार हैं : विशिष्ट तथा विचित्र शब्दावली, समास, अलंकार, काव्य-रूढ़ भाषा का बहुधा प्रयोग। उसकी पदावली उल्बण होती है, मसृण और कोमल के लिए उसमें अधिक अवकाश नहीं होता। उसकी वर्ण-योजना प्रगाढ़ होती है जिसके आरम्भ में तथा अन्त में गुरु वर्णों का प्रयोग रहता है क्यों कि इस प्रकार प्रयुक्त गुरु वर्णों में प्रायः विस्फोट का प्रभाव होता है। इस शैली की पद-रचना में क्रमिक आरोह रहता है और रूपक, पर्यायोक्ति तथा अन्योक्ति-रूपक[1] आदि अलंकारों का सयत्न प्रयोग होता है : रूपकों से शैली में गरिमा और रमणीयता का समावेश होता है, अन्योक्ति-रूपक के प्रयोग से शैली उदात्त बनती है—क्यों कि अन्योक्ति-रूपक रात्रि और अंधकार का व्यंजक है। इसी प्रकार वक्रतामूलक अलंकार तथा समास-गुणयुक्त पदावली का भी यही उपयोग है।

मधुर अथवा मसृण शैली शोभा और कान्तियुक्त होती है। इसके विषय हैं परियों के उपवन, विवाह-उत्सव-गीत, प्रेम-कथाएं आदि—इस प्रकार की विषय-वस्तु में ही एक प्रकार की उज्ज्वलता एवं कान्ति होती है। इस शैली के उपादान हैं मधुर शब्द, मसृण गुम्फ, छन्द-लय की अन्तर्धारा आदि। मधुर शब्दों से अभिप्राय ऐसे शब्दों का है जो किसी मधुर चित्र की व्यंजना करते हों अथवा जिनकी ध्वनि मधुर हो : उदाहरण के लिए 'गुलाब-रंजित' शब्द की चित्र-व्यंजना रमणीक है, और 'ल' 'न' आदि वर्णों की ध्वनि मधुर है। मसृण गुम्फ का अर्थ यह है कि वर्ण और शब्द एक दूसरे में घुलते चले जाएं। इस प्रकार रचना में एक मधुर तारल्य आ जाता है—इसे ही डिमैट्रियस ने संगीत की अन्तर्धारा कहा है। वे छन्द को नहीं छन्द की व्यंजना को शैली का गुण मानते हैं।

तीसरी शैली है प्रसादमयी (प्रसन्न) शैली जिसका मूल लक्ष्य है स्पष्टता और सरलता। अतएव इसमें नित्य-प्रति की भाषा का प्रयोग रहता है जिससे सभी असामान्य तत्वों, जैसे रूपक, समास, नव-रचित शब्द आदि का बहिष्कार कर दिया जाता है। दीर्घ स्वर-व्यंजन-योजना, विचित्र अलंकार, अत्यधिक समासगुण (श्लेष) आदि समस्त अलंकरण-प्रसाधन इस शैली के लिए त्याज्य हैं। वास्तव में इसका प्राण-तत्व है अर्थ-वैमल्य—और अर्थ-वैमल्य के प्रमुख उपादान हैं १. सामान्य शब्दावली २. सामान्य पद-रचना ३. लघु वाक्य ४. लघु वर्ण-योजना ५ आनुगुण्य (एक्युरेसी)

१. एलिगरी

—अर्थात् 'अन्यून-अनतिरिक्त' शब्द-प्रयोग। ये ही प्रसन्न-शैली के तत्व हैं १. उल्वण पदावली, २. समास, ३. सार, ४. सुकुमारोक्ति' आदि अलंकारों का प्रयोग ५. शब्द-बाहुल्य एवं व्यास-गुण का अभाव और ६. सरलता तथा मसृणता का अभाव। उल्वण पदावली से शक्ति और ओज का संचार होता है—कठोर ध्वनियाँ ओज-गुण की व्यंजक हैं और ये प्रायः विषम शब्द-योजना के आश्रित रहती हैं। समास से गाढ़-बन्धत्व और उससे रचना में बल आता है। व्यास-गुण से शक्ति की हानि होती है—संक्षिप्त सार-गर्भित उक्ति प्रभुता की द्योतक है और विस्तृत व्याख्या से विनय अथवा प्रार्थना का आभास मिलता है। सार आदि अलंकारों में शब्दार्थ का तारतम्यिक आरोह रहता है—इससे शैली प्राणवान बनती है। पाश्चात्य रीति-शास्त्र का एक अलंकार है सुकुमारोक्ति जिसमें अमंगल अथवा अशुभ अर्थ को मांगलिक शब्दों द्वारा व्यक्त किया जाता है। हमारे यहाँ वक्रतामूलक अलंकार—पर्यायोक्ति—में इसका अन्तर्भाव हो सकता है। परन्तु वामन का अर्थ-गुण सौकुमार्य ठीक इसी अर्थ की व्यंजना करता है : जहाँ परुष (अप्रिय या अशुभ) अर्थ में अपरुष (प्रिय अथवा शुभ) का प्रयोग हो वहाँ अर्थ-गुण सौकुमार्य होता है—यथा मृत के लिए 'यशः शेष' शब्द का प्रयोग।'

(काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ३,२,१२)

डिमेट्रियस 'सुकुमारोक्ति' को भी ओजस्वी शैली का गुण मानते हैं क्योंकि इससे रचना में गरिमा और गम्भीरता का समावेश होता है। उपर्युक्त तत्वों का सद्भाव सरलता और मसृणता के अभाव का द्योतक है : यह स्पष्ट है कि इन गुणों के साथ सरल-कोमल शब्दावली की संगति नहीं बैठती।

उपर्युक्त शैली-विवेचन तथा भारतीय रीति-निरूपण में स्पष्टतया अत्यधिक साम्य है। डिमेट्रियस ने एक स्थल पर लिखा है कि कुछ लोग इन चार शैलियों का दो वर्गों में अन्तर्भाव कर केवल दो ही मूल शैलियाँ मानते हैं परन्तु यह प्रयास बेतुका है। यद्यपि डिमेट्रियस अपनी चारों शैलियों के स्वतन्त्र अस्तित्व पर इतना अधिक बल देते हैं, फिर भी—जैसा कि पं० बलदेव उपाध्याय ने निर्दिष्ट किया है—इनको दो वर्गों में रखना असंगत नहीं है : प्रसादमयी तथा मसृण शैलियों को एक वर्ग में, और उदात्त तथा ओजस्वी को दूसरे वर्ग में। वास्तव में उदात्त और ओजस्वी का अन्तर सूक्ष्म है—उनमें आधार का अन्तर नहीं है, सूक्ष्म अवयव का भेद है; अतएव उनको पृथक् शैलियाँ मानना वर्गीकरण-सिद्धान्त के प्रतिकूल है।

१. यूफ़ेमिज़्म

वर्ग-विस्तार का मोह भारतीय रीतिकारों को भी रहा है, और उन्होंने इस प्रकार की त्रुटियाँ प्रायः की हैं। इस प्रकार डिमैट्रियस की अन्तिम दो शैलियों को एक ही मानना उचित है, उदात्त के लिए ओज और ओज के लिए उदात्त गुण अनिवार्य है। भारतीय गौड़ी शैली इनके समानान्तर है। वैदर्भी की कल्पना प्रसादमयी तथा मसृण शैलियों से अधिक व्यापक है। प्रसाद वैदर्भी का प्रधान गुण है—अर्थ-वैमल्य उसकी मूल विशेषता है, *परन्तु माधुर्य और सौकुमार्य का वैभव भी उसमें रहता है।* डिमैट्रियस की मसृण शैली वामन की पांचाली की पर्याय है : 'माधुर्य-सौकुमार्योपपन्ना पांचाली' (का० सू० वृ० १।२।१३)। किन्तु प्रसन्न शैली वैदर्भी की पर्याय नहीं है क्योंकि अकेला प्रसाद-गुण वैदर्भी की समृद्धि का वहन नहीं कर सकता। वास्तव में वैदर्भी डायोनीसियस की समंजित शैली और प्लेटो की मध्यमा शैली के ही निकट है जिसमें उदात्त तथा मसृण दोनों शैलियों के श्रेष्ठ गुणों का समन्वय रहता है। 'समग्रगुणा वैदर्भी' का भी यही गौरव है, इसीलिए प्लेटो तथा डायोनीसियस ने समंजित शैली को और दण्डी, वामनादि भारतीय आचार्यों ने वैदर्भी को सर्वश्रेष्ठ माना है। *डिमैट्रियस की ये शैलियाँ मम्मट आदि की उपनागरिका और कोमला के अधिक* निकट हैं : मम्मट के टीकाकारों के अनुसार कोमला प्रसादगुण-विशिष्ट है। इस प्रकार प्रसन्न शैली कोमला की पर्याय है, और मसृण शैली माधुर्य-विशिष्ट उपनागरिका की। संस्कृत काव्य-शास्त्र में उपनागरिका को वामन की वैदर्भी का पर्याय माना गया है—परन्तु यह सर्वथा संगत नहीं है।

विकृत शैलियाँ : ये तो इन शैलियों के वास्तविक रूप हुए। अनधिकारी के हाथ में पड़कर इनके रूप विकृत भी हो जाते हैं। विकृत रूपों में उपर्युक्त गुणों के विपर्यय मिलते हैं : उदात्त शैली का विपरीत रूप है—आडम्बरपूर्ण[1] शैली। इसमें अनावश्यक रूप से क्षुद्र विषयों के लिए अत्युक्तिमयी भाषा का प्रयोग रहता है। अत्युक्ति अलंकार सबसे अधिक आडम्बरपूर्ण अलंकार होता है। इस शैली में एक प्रकार की निष्प्रभाव वाचालता रहती है। मधुर या मसृण शैली का विपर्यय है कृत्रिम[2] शैली—इस प्रकार की शैली में बनावट और कुछ स्त्रैणता-सी रहती है। प्रसन्न शैली का विकृत रूप—शुष्क[3] या नीरस शैली जिसमें सजीव विषयों का भी वर्णन निर्जीव होता है। चौथी है ओजस्वी जिसका विपरीत रूप है अप्रिय[4] शैली—यह शिथिल-आडम्बरपूर्ण शैली से बहुत-कुछ मिलती जुलती है—इसके बन्ध शिथिल और भाषा उखड़ी हुई होती है।

---

१. फ़िजिड २. मफ़ैविटड
३. एरिड ४. डिस-एग्रिएबिल।

इस प्रकार का विवेचन भारतीय काव्य-शास्त्र में भी है। वामन ने दोषों व गुणों का विपर्यय माना है। दण्डी ने भी प्रत्येक गुण का एक विपर्यय माना जो कहीं गुण के वैपरीत्य का और कहीं भिन्नता मात्र का द्योतक है। दण्डी के श्लेष—गाढ़-बन्धत्व—का विपर्यय है शैथिल्य। डिमेट्रियस के अनुसार गाढ़-बन्धत्व उदात्त शैली की मूल विशेषता है और शैथिल्य उसकी विपरीत शिथिल-आडम्बरपूर्ण शैली की। डिमेट्रियस की यह शिथिल-आडम्बरपूर्ण शैली भारतीय गौड़ी के विकृत रूप की समानार्थक है। यही डिमेट्रियस की 'अप्रिय शैली' के विषय में कहा जा सकता है—जहाँ भाषा उखड़ी हुई और शब्द खोखले हों। इसका संकेत वामन के 'वैषम्य' में भी मिल जाता है जो उनके शब्द-गुण समता का विपर्यय है। शैली की विषमता का अर्थ यही कि उसमें पद-रचना उखड़ी हुई होती है। नीरस शैली की ओर हमारे यहाँ अनवीकृत दोष के लक्षण में संकेत है—जहाँ उक्ति में किसी प्रकार की नवीनता एवं वैचित्र्य न हो वहाँ अनवीकृत दोष होता है। नीरस शैली इसी दोष से दूषित रहती है। इसी प्रकार कृत्रिम शैली की ओर भी भामह ने संकेत किया है: उनका कहना है कि पुष्ट अर्थ तथा वक्रता के अभाव में केवल 'श्रुतिपेशल' शैली वांछनीय नहीं है। डिमेट्रियस ने कृत्रिम शैली के विषय में यही कहा है कि उसमें अर्थ-सौन्दर्य तथा चमत्कार नहीं होता केवल एक प्रकार की बनावट और स्त्रैणता—कृत्रिम कोमलता अथवा श्रुतिपेशलता मात्र रहती है।

लॉन्जाइनस

यूनानी-रोमी काव्य-शास्त्र में लॉन्जाइनस का नाम चिर-ज्वलंत है। परन्तु उनका विषय मूलतः काव्य-शास्त्र ही है, रीति-शास्त्र नहीं है। काव्य के मूलभूत सिद्धान्तों का विवेचन ही उन्हें अभीष्ट रहा है—उन्हीं के प्रसंग में लॉन्जाइनस ने शैली पर भी अपने विचार व्यक्त किये हैं।

लॉन्जाइनस का अभिमत है कि महान शैली "आत्मा की महत्ता की प्रतिध्वनि है।" और, इसी दृष्टि से उन्होंने शैली का विवेचन-विश्लेषण भी किया है। उन्होंने शैली के पाँच उद्गम माने हैं: धारणा की भव्यता[१], भावना की तीव्रता[२], अलंकारों का उपयुक्त प्रयोग[३], भाषागत आभिजात्य[४] तथा पद-रचना की गरिमा और औदार्य।[५]

१. ग्रेन्जर आफ़ कन्सैप्शन २. इन्टेन्सिटी आफ़ इमोशन
३. एप्रोप्रियेट यूस आफ़ फ़िगर्स ४. नोबिलिटी आफ़ डिक्शन
५. डिगनिटी एण्ड ऐलीवेशन आफ़ वर्ड-आर्डर।

भारतीय रीति-शास्त्र में भाषागत आभिजात्य का उल्लेख कुन्तक के आभिजात्य गुण-वर्णन में और पद-रचना की गरिमा और औदार्य का विवेचन औदार्य, कान्ति तथा श्लेष आदि गुणों के विवेचन में किया गया है।

वास्तव में लॉन्जाइनस का विवेचन सर्वथा भावगत है—उन्होंने शैली के मनोविज्ञान का ही विवेचन किया है, तत्वों का वस्तुगत विश्लेषण नहीं। अलंकार-प्रयोग में भी उन्होंने अलंकारों के स्वरूप तथा भेद आदि का वर्णन न कर उनकी रागात्मक शक्ति का ही विश्लेषण किया है। पद-रचना के विषय में उन्होंने पद-रचना-सौष्ठव के प्रभाव का सामान्य विवेचन मात्र किया है। इस प्रकार रीति के वस्तुगत विवेचन में लॉन्जाइनस का योग-दान अधिक नहीं है—वास्तव में यह मेधावी आचार्य रीतिवाद से बहुत दूर था। उसका उदात्त सिद्धान्त रस-ध्वनिवाद के अन्तर्गत ही आता है।

क्विण्टीलियन

लॉन्जाइनस के परवर्ती रोमी आचार्य क्विण्टीलियन वास्तव में रीतिकार थे।

क्विण्टीलियन के अनुसार शैली का मुख्य आधार है शब्द—शब्द पृथक् रूप में और संयोजित रूप में। शैली के उन्होंने तीन तत्व माने हैं। १. शब्द-चयन २. अलंकरण ३. (कलात्मक) पद-रचना।

शब्द-चयन :—क्विण्टीलियन चार प्रकार के शब्दों को काव्य के लिए विशेष उपयोगी मानते हैं। कुछ शब्द अपने औज्ज्वल्य और श्रुति-माधुर्य के कारण अन्य शब्दों की अपेक्षा अधिक रुचिकर होते हैं। कुछ शब्दों में साहचर्य अथवा सम्पर्क-जन्य महिमा होती है—महान काव्य में तथा श्रेष्ठ कवियों द्वारा प्रयुक्त किये जाने से उनमें एक विशेष गरिमा आ जाती है। कहीं-कहीं सामान्य शब्दों का भी अत्यन्त स्वस्थ प्रभाव पड़ता है। उधर प्राचीन काव्य-रूढ़ शब्दावली का भी अपना गौरव होता है।—इनमें पहले वर्ग के (उज्ज्वल और श्रुति-मधुर) शब्द वामन के शब्द-गुण सौकुमार्य और कान्ति आदि में आ जाते हैं। महाकवियों के प्रयोग से गौरवान्वित प्राचीन काव्य-रूढ़ शब्दों का महत्व भारतीय काव्य-शास्त्र में आप्त वचनों के रूप में मान्य रहा है। महाकवियों का प्रयोग हमारे यहाँ असाधु आदि अनेक दोषों का परिहार करने में समर्थ माना गया है।

पद-रचना :—क्विण्टीलियन के अनुसार शैली का दूसरा तत्व है पद-रचना। पद-रचना के लिए पहला गुण है स्पष्टता। स्वच्छ पद-रचना अर्थ-वैमल्य की जननी है। अर्थ-वैमल्य के लिए यह आवश्यक है कि शब्दों का प्रयोग नपा-तुला हो—न कम हो न अधिक। यही वामन का भी मत है : अर्थ की विमलता से अभिप्राय है आवश्यक मात्र का ग्रहण 'प्रयोजकमात्रपदपरिग्रह।' क्विण्टीलियन ने पद-रचना के इस गुण को अत्यधिक महत्व दिया है। इसके विषय में उनका एक वाक्य अत्यन्त अर्थ-गर्भित है : रचना का उद्देश्य केवल यह नहीं होना चाहिए कि उससे पाठक अथवा श्रोता को समझने में सरलता हो—वरन् यह होना चाहिए कि उसके लिए न समझना असम्भव हो जाए। किन्तु यह तो पद-रचना का एक पक्ष हुआ—दूसरा पक्ष है सज्जा पक्ष। पद-रचना कलात्मक भी होनी चाहिए, यह आवश्यक नहीं है कि शब्दों की सहज योजना ही सर्वश्रेष्ठ योजना हो—उसको सुन्दर रूप देने के लिए पुनर्योजना प्रायः आवश्यक हो जाती है। इस पुनर्योजना में वाक्य-योजना, पद-योजना और वर्ण-योजना तीनों का ही समावेश है—क्विण्टीलियन वर्ण-संगीत को भी रचना का विशिष्ट गुण मानते हैं। वामन के शब्द-गुण श्लेप तथा औदार्य आदि में भी वाक्य-योजना तथा पद-योजना के सौंदर्य का संकेत है। शब्द-गुण श्लेष का आधार है मसृणत्व, जिसमें बहुत से पद भी एक जैसे प्रतीत होते हैं—"यस्मिन् सति बहून्यपि पदानि एकवद् भासन्ते।" औदार्य का आधार है विकटता—जिसमें पद नृत्य-सा करते प्रतीत होते हैं "यस्मिन् सति नृत्यन्तीव पदानि।।" ये दोनों बन्ध अर्थात् पद-रचना के ही गुण हैं। वर्ण-गुम्फ का सौंदर्य मम्मट आदि के माधुर्य-गुण में निहित है जहाँ ट, ठ, ड, ढ, से रहित ककार से लेकर मकार तक वर्ण अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण के साथ इस प्रकार संयुक्त रहते हैं कि पंचम वर्ण पहले आता है और स्पर्श वर्ण पीछे। रेफ और णकार ह्रस्व स्वर से अन्तरित होते हैं।—

(काव्यप्रकाश ८।७४)

अलंकरण :—क्विण्टीलियन की शैली का तीसरा तत्व है अलंकरण। वे उन अलंकारों को महत्व देते हैं जो कल्पना के आश्रित हैं—जिनमें मूर्ति-विधान की क्षमता है क्योंकि अलंकार का मुख्य उद्देश्य है सजीव चित्रण, और वही उसकी सिद्धि है।

गुणों का वर्णन करते हुए इस रीतिकार ने शैली के कुछ दोषों का भी उल्लेख किया है : ये दोष हैं १. अनुपयुक्त शब्द २. अधिक शब्द ३. आडम्बरपूर्ण तथा अत्यधिक श्रुतिपेशल शब्द और ४. विषम शब्द-योजना। इन दोषों का भारतीय

रीति-शास्त्र में प्रायः यथावत् उल्लेख मिलता है। हमारे असमर्थ तथा अधिक-पद दोष क्विण्टीलियन के क्रमशः अनुपयुक्त तथा अधिक-शब्द दोषों के पर्याय हैं। तीसरे दोष को भारतीय रीतिकारों ने अक्षराडम्बर कहा है जिसके लिए गौड़जन कुख्यात थे : 'गौड़ेष्वक्षराडम्बरः' (बाण, हर्षचरित्र)। विषम शब्द-योजना की भर्त्सना वामन ने शब्द-गुण समता के प्रसंग में की है : समता में पद-रचना समंजित रहती है—इसका विपर्यय है विषमता, जहाँ रचना में अनेक रीतियों का अनमेल मिश्रण रहता है।

शैली के भेद :—क्विण्टीलियन के पूर्व से ही शैली के तीन भेद परम्परा से चले आ रहे थे : प्रसन्न (सरल), उदात्त तथा मध्यम अथवा सज्जित। क्विण्टीलियन सामान्य रूप से इन्हें स्वीकार कर लेते हैं। उनका मत है कि इन तीनों शैलियों के तीन पृथक् उद्देश्य हैं : प्रसन्न (सरल) शैली शिक्षा के लिए अत्यन्त उपयुक्त है, उदात्त शैली का लक्ष्य है भावों को उद्बुद्ध करना, और सज्जित शैली का उद्देश्य है मनःप्रसादन। किन्तु क्विण्टीलियन इस विभाजन को सर्वथा निर्दोष तथा पूर्ण नहीं मानते—उनका स्पष्ट मत है कि इस प्रकार का विभाजन स्थूल है : सभी शैलियों को इन तीन वर्गों में परिसीमित नहीं किया जा सकता—'शैली के अनेक मार्ग हैं।'

इन तीन भेदों के अतिरिक्त क्विण्टीलियन ने तीन भौगोलिक भेदों का भी उल्लेख किया है—"प्राचीन काल से लेखकों के दो प्रसिद्ध वर्ग मान्य रहे हैं—ऐटिक और एशियाटिक। पहले वर्ग के कवियों की शैली समास-गुणयुक्त और सजीव मानी गयी है और दूसरे वर्ग के कवियों की शैली वाचाल और निस्सार। सन्त्रा आदि कुछ विद्वानों का मत है कि जब यूनानी भाषा धीरे-धीरे समीपस्थ एशियाई देशों में फैलने लगी तो वहाँ के निवासी जो भाषा में व्युत्पन्न तो नहीं थे किन्तु जिन्हें उसमें भाषणादि देने की आकांक्षा थी, सीधी-सादी बात को आडम्बरपूर्ण शब्दावली में व्यक्त करने लगे, और वही शैली स्वीकार कर ली गयी। किन्तु मेरा विचार है कि वक्ताओं का स्वभाव-वैचित्र्य और श्रोता-समाज की विभिन्नता ही शैली-भिन्नता का कारण है। एथेन्स के निवासियों का रहन-सहन संस्कृत और विचार-धारा स्पष्ट थी—अतएव उन्हें निस्सार शब्दाडम्बर असह्य था। एशिया के लोग लम्बी-चौड़ी हाँकने के अभ्यस्त थे, अतएव उनकी शैली में आडम्बर होता था। इनके अतिरिक्त एक तीसरी शैली का भी उदय हुआ : इसका नाम था रहोडियन। यह शैली दोनों की मध्यवर्ती थी। उसमें न तो ऐटिक शैली का अत्यधिक संयम था और न एशियाटिक शैली की मुखरता। + + + इसकी समता न तो निर्मल फ़व्वारों से की जा सकती थी और न संकुल जल-प्रपातों से, यह तो शान्त गति से बहते हुए सरोवर के समान थी।"

भारतीय रीति-शास्त्र में वैदर्भी, गौड़ी तथा पांचाली का वर्ग-विभाजन उपर्युक्त विभाजन के बहुत निकट है। दोनों का आधार आरम्भ में भौगोलिक था, फिर क्रमशः विशेषता का वाचक हो गया : परन्तु प्रादेशिक छाप उसकी मिटी नहीं। ऐटिक शैली वैदर्भी से दूर नहीं है—जिस प्रकार अपने यहाँ विदर्भ लोगों की रुचि संस्कृत तथा कलात्मक थी, इसी प्रकार प्राचीन यूरोप में ऐटिक लोगों की भी थी। इसीलिए उनकी शैली परिष्कृत, सज्जित तथा कलात्मक थी। एशियाटिक शैली गौड़ी की पर्याय है। आरम्भ में एशिया निवासियों की भाँति गौड़ों को भी शब्दाडम्बर और वाचालता के प्रति आकर्षण था—धीरे-धीरे दोनों की भौगोलिकता नष्ट हो गई। तीसरी शैली र्‌होडियन दोनों की मध्यवर्तिनी है।—पं० बलदेव उपाध्याय ने इसे पांचाली के समकक्ष माना है, परन्तु यह संगत नहीं है क्योंकि र्‌होडियन दोनों की मध्यवर्तिनी है और पांचाली मध्यवर्तिनी नहीं है। पांचाली में माधुर्य और सौकुमार्य—ये दो कोमल गुण ही होते हैं, कोमल और परुष का समन्वय नहीं मिलता। अतएव र्‌होडियन शैली पांचाली नहीं है।

क्विण्टीलियन के बाद यूरोप के काव्य-शास्त्र में एक प्रकार का अन्धकार-युग सा आ जाता है। रोम के पतन से लेकर पुनर्जागरण काल तक का समय यूरोप के इतिहास का मध्य-युग कहलाता है। जैसा कि सेण्ट्सबरी ने लिखा है, मध्य-युग वास्तव में आलोचना का युग नहीं था—वह अबाध सृजन का युग था। काव्य, नाटक, इतिहास आदि सभी क्षेत्रों में मौलिक सर्जना दुर्दाम वेग से चल रही थी जिसमें आलोचना के लिए अवकाश नहीं था। इतिहासकारों ने मध्य-युग के तीन भाग किए हैं। आरम्भिक मध्य-युग में तीन रीति-शास्त्रियों के नाम हमारे सामने आते हैं : बीड, इसीडोर और एलकुइन। इनका मुख्य विषय अलंकार था और, दृष्टिकोण परम्परा-वादी था। केवल एलकुइन ने शैली पर कुछ विचार व्यक्त किए हैं। उनके अनुसार शैली का प्रथम गुण है व्याकरण की दृष्टि से शुद्धता, और स्वच्छ शब्द-योजना। शब्दों के चयन में कान्तिमय शब्दों को महत्व दिया जाना चाहिए। रूपक के द्वारा शैली का अलंकरण होता है। पद-रचना के विषय में एलकुइन ने केवल यही कहा है कि समान वर्णों का संगुम्फन अरुचिकर होता है। उपर्युक्त विवेचन में कोई नवीनता नहीं है—वह अरस्तू आदि के विचारों की ही प्रतिध्वनि मात्र है। मध्य-युग का मध्य और भी अनुर्वर है—उसमें रीति-शास्त्र ने किसी प्रकार प्रगति नहीं की। वास्तव में मध्य-युग के इन दोनों भागों में रीति-शास्त्र के नाम पर व्याकरण, छन्द-शास्त्र, अलंकार चित्रकाव्य आदि का ही रूढ़िबद्ध व्याख्यान-विवेचन होता रहा, काव्य अथवा रीति का मौलिक एवं तात्विक विवेचन नहीं हुआ।

दान्ते

मध्य-युग के अन्तिम चरण में दान्ते का आविर्भाव हुआ। दान्ते ने उत्कृष्ट काव्य-सर्जना के अतिरिक्त प्रौढ़ शास्त्र-विवेचन भी किया है। उन्होंने अत्यन्त प्रबल शब्दों में युग की आवश्यकता के अनुकूल लैटिन के विरुद्ध इटालियन भाषा की गौरव-प्रतिष्ठा की। दान्ते ने काव्य-भाषा और काव्य-शैली पर बहुमूल्य विचार व्यक्त किये हैं। उन्होंने *शैली अथवा रचना के चार भेद किये हैं: १. निर्जीव अथवा रुचिविहीन* २. केवल सुरुचिपूर्ण ३. सुरुचिपूर्ण तथा सुन्दर ४. सुरुचिपूर्ण, सुन्दर तथा उदात्त। इनमें अन्तिम शैली ही सर्वोत्तम है।

शैली-भेदों के अतिरिक्त दान्ते का शब्द-विवेचन भी अत्यन्त मनोरंजक है: कुछ शब्द बच्चों की तरह तुतलाते हैं, कुछ शब्दों में स्त्रियोचित लोच-लचक रहती है, और कुछ शब्दों में पौरुष मिलता है। अंतिम वर्ग के शब्दों में कुछ ग्राम्य होते हैं और कुछ नागर—नागर शब्दों में भी कुछ मसृण[1] और चिक्कण[2] होते हैं, और कुछ प्रकृत[3] और अनगढ़[4]।

"इन शब्दों में से मसृण तथा प्रकृत को ही हम उदात्त शब्दावली कहते हैं, चिक्कण और अनगढ़ शब्दों में आडम्बर मात्र रहता है। × × उदात्त शैली में 'तुतले' शब्दों के लिए कोई स्थान नहीं है क्योंकि वे अतिपरिचित शब्द होते हैं, स्त्रैण शब्द अपनी स्त्रैणता के कारण और ग्राम्य शब्द अपने काठिन्य के कारण त्याज्य हैं। नागर शब्दावली के चिक्कण और अनगढ़ शब्द भी ग्राह्य नहीं हैं। इस प्रकार केवल मसृण और प्रकृत शब्द रह जाते हैं और ये ही शब्द भव्य हैं"।

दान्ते के वर्गीकरण में कोई नवीनता नहीं है—उसमें भी उसी परम्परा की स्वीकृति है जो सिसरो, डायोनीसियस, डिमेट्रियस आदि में मिलती है। दान्ते की चार शैलियों में पहली अर्थात् निर्जीव या सुरुचिहीन शैली तो वास्तव में साहित्य की शैली ही नहीं है—वह तो शैली का विकृत रूप है जो डिमेट्रियस द्वारा निर्दिष्ट शुष्क (एरिड) नामक विकृत शैली से बहुत-कुछ मिलता है। 'केवल सुरुचिपूर्ण' परम्परागत प्रसन्न शैली के ओर, 'सुरुचिपूर्ण एवं सुन्दर' सुन्दर (मधुर) शैली के समकक्ष है। 'सुरुचिपूर्ण सुन्दर तथा उदात्त' यूनानी-रोमी परम्परा के किसी रूप के अन्तर्गत नहीं आती—उदात्त में सुन्दर के लिए अधिक अवकाश नहीं है। यह वास्तव में हमारी

१. कूम्बड २. स्लिपरी ३. पैगी ४. रम्पिल्ड।

वैदर्भी की ही पर्याय है जो प्रसाद, माधुर्य तथा ओज तीनों से सम्पन्न होती है। भारतीय रीति-शास्त्र में वैदर्भी की सभी प्रशस्तियों में उसकी सकल-गुण-सम्पदा का उल्लेख है। दान्ते भी अपनी चतुर्थ शैली को ही सर्वोत्कृष्ट मानते हैं क्योंकि वही सर्वगुण-सम्पन्न है।

इस दृष्टि से दान्ते का शब्द-विवेचन अपेक्षाकृत अधिक मौलिक है। भारतीय रीति-शास्त्र में उनके स्त्रैण शब्दों का विवेचन वामन के शब्द-गुण माधुर्य तथा सौकुमार्य में और मसृण शब्दों का विवेचन शब्द-गुण कान्ति में मिल जाता है। अनगढ़ शब्द हमारे यहाँ भी श्रुति-कटु दोष के कारण माने गये हैं।

मध्य-युग के उपरान्त यूरोप में उस स्वर्ण-युग का आरम्भ हुआ जो इतिहास में पुनर्जागरण काल के नाम से प्रसिद्ध है। यह युग अगाध श्रद्धा और अदम्य विद्रोह का युग था—इन्हीं दो परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों का अद्भुत समन्वय इस युग की अन्तःप्रेरणा का मूल आधार था। वास्तव में व्यक्ति की भाँति, युग की भी महत्ता उसकी अन्तर्विरोधों की समंजन-शक्ति में ही निहित रहती है। अन्तर्विरोध जितने प्रबल और तीव्र होते हैं, उनके समंजन के लिए उतनी ही शक्ति की आवश्यकता होती है। पुनर्जागरण काल में एक ओर पुरातन साहित्य के प्रति असीम श्रद्धा थी, दूसरी ओर नवीन जीवन-चेतना को अभिव्यक्त करने की दुर्दम्य स्फूर्ति। यूरोप में इस आन्दोलन का सबसे प्रबल रूप इँगलैण्ड में व्यक्त हुआ। वहाँ उपर्युक्त दोनों प्रवृत्तियाँ अत्यन्त स्पष्ट रूप में सामने आईं—बैन जॉन्सन पहली प्रवृत्ति के प्रतीक हैं, शेक्सपियर दूसरी के। बैन जॉन्सन ने यूनान और रोम की शास्त्रीय परम्पराओं को अवतरित किया—और शेक्सपियर ने आत्मा के उन्मुक्त विक्षेप[1] को।

बैन जॉन्सन

बैन जॉन्सन ने शैली पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। उनके अनुसार शैली का मुख्य गुण है प्रसाद—शैली का प्रमुख दोष यह है कि उसके लिए व्याख्याता की आवश्यकता पड़े। प्राचीन शब्दों के प्रयोग से शैली में एक प्रकार की गरिमा का समावेश होता है, और प्रायः उनका अपना एक विशेष चमत्कार होता है। "किन्तु फिर भी नवीन शब्दों में से प्राचीनतम और प्राचीन शब्दों में से नवीनतम शब्दों का चयन ही अधिक श्रेयस्कर है। + + + कुछ शब्दों का चयन

१. फ्रैन्ज़ी

अलंकार के लिए किया जाता है—जैसे कि भवनों को सजाने के लिए या मालाएँ गूँथने के लिए फूलों का चयन किया जाता है। किन्तु ये भी शैली के सहज अंग-रूप में ही अधिक खिलते हैं—जैसे कि फूल शाद्‌वल में ही अधिक सुन्दर लगते हैं।"

बैन जॉन्सन ने शैली के चार भेद माने हैं: संक्षिप्त शैली[1], समस्त शैली[2], व्यस्त शैली[3], समंजित शैली[4]। ये भेद प्राचीनों के शैली-भेदों से भिन्न हैं। परन्तु आगे चल कर बैन जॉन्सन ने परम्परागत भेदों की ओर भी संकेत किया है। उन्होंने मानव-शरीर का रूपक बाँधते हुए भाषा-शैली के अनेक अंग माने हैं। आकार, स्वरूप, परिधान (त्वचा), रक्त-मांस आदि आकार की दृष्टि से शैली के तीन भेद होते हैं: उदात्त, क्षुद्र और मध्यम। उदात्त शैली में शब्द चुने हुए होते हैं, उनका नाद-गुण गम्भीर होता है, पद-रचना प्रचुर और प्रबल होती है। क्षुद्र शैली में शब्द निःसत्व और जड़ होते हैं—वाक्य-रचना में समंजन और शक्ति का अभाव रहता है। मध्यम शैली में भाषा प्रसन्न होती है—उसमें ऋजुता, संगठन, शोभा और आनुगुण्त्व रहता है। ये तीनों शैलियाँ विषय के आश्रित रहती हैं—विषय-वस्तु में विपर्यय हो जाने से इनका स्वरूप भी विकृत हो जाता है। स्वरूप के अन्तर्गत वाक्य-संघटना आती है। वाक्य-संघटना भी कई प्रकार की हो सकती है: ऋजु-सरल, दृढ़-स्फीत आदि। उधर परिधान (त्वचा तथा वस्त्र) के अन्तर्गत बैन जॉन्सन ने रचना को ग्रहण किया है। इसी प्रकार कुछ अन्य शैलियाँ भी हैं—जैसे मांसल तथा पुष्ट। मांसल में वागाडम्बर रहता है—पुष्ट शैली रस और रक्त से परिपुष्ट कही गयी है।

वास्तव में बैन जॉन्सन का विवेचन अधिक वैज्ञानिक नहीं है—उनकी व्यस्त शैली शैली न होकर शैली-दोष मात्र है। संक्षिप्त और समस्त शैलियों में कोई मौलिक प्रकार-भेद नहीं है। उदात्त शैली का उल्लेख यूरोप के प्राचीन आचार्य पहले ही कर चुके हैं, क्षुद्र शैली भी काव्य की शैली नहीं है—उसकी विशेषताएँ काव्य-दोषों के अन्तर्गत आती हैं। मध्यम शैली प्राचीनों की प्रसन्न शैली का ही दूसरा नाम है। मांसल शैली भारतीय गौड़ी का विकृत रूप है, और पुष्ट शैली का रस हमारे माधुर्य गुण का तथा रक्त ओज गुण का पर्याय है।—बैन जॉन्सन के विवेचन में कोई व्यवस्था नहीं है।

पुनर्जागरण काल में रीति-शास्त्र ने कोई प्रगति नहीं की। वह सर्जना का युग था, समीक्षा का नहीं। रीति-शास्त्र का सम्बन्ध शास्त्रीय परम्परा से ही है, आत्मा

१. ब्रीफ २. कन्साइज ३. एब्रप्ट ४. कान्ग्रएण्ट एंड हारमोनियस।

पोप

पोप में नव्य-शास्त्रवाद का प्रतिनिधि रूप मिलता है। उन्होंने भी बोइलो के स्वर में स्वर मिलाते हुए प्रकृति की गौरव-प्रतिष्ठा की—उनकी प्रकृति भी वही रीतिबद्ध प्रकृति है जो शास्त्र का पर्याय है। नव्य-शास्त्रवादियों के सिद्धान्त और व्यवहार में एक विचित्र विरोध दृष्टिगत होता है: उनके सिद्धान्तों में जहाँ काव्य के मौलिक तत्वों की प्रतिष्ठा है, वहाँ व्यवहार में काव्य की अनेक कृत्रिमताओं का नियमित रूप से समावेश रहता है। उदाहरण के लिए उन्होंने काव्य में शब्द की अपेक्षा अर्थ को ही महत्व दिया है, परन्तु उनके अपने काव्य का प्रधान गुण है भाषा की मसृणता तथा प्रसन्नता। उन्होंने भाषा को निखारने के लिए भाव की प्रायः बलि दे दी है। वास्तव में यही युग यूरोप में रीतिवाद का युग है। पोप ने अपने आलोचना-विषयक छन्दोबद्ध निबन्ध में शैली के सम्बन्ध में विचार व्यक्त किये हैं: शैली (अभिव्यंजना) विचार का परिधान है और वह जितना संगत होगा उतना ही सुन्दर लगेगा। किसी क्षुद्र कल्पना को यदि चमक-दमक वाली शब्दावली में अभिव्यक्त किया जाए तो वह ऐसी लगेगी मानों विदूषक को राजसी परिधान पहना दिये हों, क्योंकि जैसा विषय हो वैसी ही शैली होनी चाहिए जिस तरह कि ग्राम, नगर और राजदरबार की पोशाक अलग अलग होती है। + + + +

अशुद्ध शैली और शुद्ध शैली :—मिथ्या वाग्मिता ही अशुद्ध शैली है। उसकी स्थिति एक ऐसे शीशे के समान है जो चारों ओर अपने भड़कीले रंगों को बिखेर देता है जिससे हम पदार्थों के सहज स्वरूप को नहीं देख पाते। सभी में एक जैसी चमक-दमक उत्पन्न हो जाती है—किसी में कोई भेद नहीं रहता। परन्तु शैली का यह गुण है कि वह सूर्य के प्रकाश के समान प्रत्येक पदार्थ को व्यक्त कर देती है। उसके रूप को भी चमका देती है। वह सभी को स्वर्णिम आभा से दीप्त कर देती है किन्तु किसी के स्वरूप को नहीं बदलती।

आगे चलकर पोप वर्ण-योजना की चर्चा करते हैं। केवल श्रुतिपेशल वर्ण-गुम्फ अपने आप में स्तुत्य नहीं है—केवल संगीत के लिए काव्य का अनुशीलन करना असंगत है। परिवर्तनहीन रणन-ध्वनियों की झंकार एक प्रकार की अरुचिकर एकस्वरता को जन्म देती है। किसी गतिहीन पंक्ति में रेंगते हुए निर्जीव शब्द काव्य का उत्कर्ष नहीं कर सकते। शब्द में अर्थ की गूंज रहनी चाहिए। काव्य के पारखी

देखिये—पोप का 'एसे ऑन क्रिटिसिज्म'।

प्रसन्न ऊर्जस्विता का ही आदर करते हैं—जहाँ ओज और माधुर्य का समन्वय रहता है[1]।

पोप के इन विचारों में भारतीय रीति-सिद्धान्त के अनेक तत्व वर्तमान हैं। पोप ने एक ओर वस्तु-औचित्य की अत्यन्त निर्भ्रान्त शब्दों में प्रतिष्ठा की है, दूसरी ओर प्रसाद, ओज और माधुर्य तीनों गुणों के समन्वय पर बल दिया है। उनकी *आदर्श शैली वैदर्भी की भाँति ही प्रसादमयी, ओजस्वी और माधुर्य-संवलित है।* 'केवल श्रुतिपेशल' के विरुद्ध उनका अभिमत भामह की निम्नलिखित उक्ति का स्मरण दिलाता है :

अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजु कोमलम् ।
भिन्नगेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम् ॥[2]

भामह—१।३४।

वैदर्भी में यदि पुष्ट अर्थ तथा वक्रोक्ति का अभाव, और केवल ऋजु-प्रसन्न कोमल शब्दावली मात्र हो तो वह गीत की भाँति केवल श्रुतिपेशल हो सकती है—अर्थात् वह हमारे कानों को प्रिय लग सकती है परन्तु उससे हमारी चेतना का परिष्कार नहीं हो सकता है—जो काव्य का चरम उद्देश्य है।

व्यवहार में इस युग के काव्य-सिद्धान्त रीति-सिद्धान्त के और भी अधिक निकट हैं। सिद्धान्त की दृष्टि से तो इस युग में अर्थ-गौरव तथा भाव-सौन्दर्य पर ही बल दिया गया परन्तु वास्तविक व्यवहार में इन कवियों का ध्यान मूलतः भाषा-शैली पर ही केन्द्रित रहा। *भाषा-शैली को सँवार और सजाकर इन्होंने काव्य-भाषा* को एक पृथक् रूप ही दे दिया—सिद्धान्त में अर्थ को गौरव देते हुए व्यवहार में इन्होंने शैली या रीति को ही काव्य की आत्मा माना। रीतिवाद और नव्य-शास्त्रवाद में निम्नलिखित समानताएँ अत्यन्त स्पष्ट हैं :

१. काव्य में भाव (रस) की अपेक्षा रीति का महत्त्व।

२. काव्य के प्रति वस्तु-परक दृष्टिकोण।

---

१. देखिए—'ऐसे ऑन क्रिटिसिज़्म'

२. तुलना कीजिए :

हू हान्ट पारनेसस बट टू प्लीज़ दिअर ईअर
नाट मेन्ड दिअर माइन्ड्स. —पोप

३. काव्य के बाह्य रूप के उत्कर्षकारी तथा उत्कर्ष-वर्धक तत्वों (गुण तथा अलंकार)) का यत्नपूर्वक ग्रहण और अपकर्षकारी तत्वों (दोष) का त्याग।

स्वच्छन्दतावाद

अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते अनेक आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक कारणों से काव्य-क्षेत्र में भी मौलिक परिवर्तन आरम्भ हो गया। काण्ट, फ़िक्टे, शैलिंग आदि जर्मन दार्शनिकों ने दृष्टि को वस्तु से हटा कर आत्माभिमुख कर दिया। काण्ट ने स्पष्ट लिखा—"अब तक यह विश्वास रहा है कि हमारा समस्त ज्ञान वस्तु के अनुकूल होना चाहिए परन्तु अब इस बात का समय आ गया है कि क्या मानव-उन्नति के लिए (इसके विपरीत) यह धारणा अधिक श्रेयस्कर नहीं है कि वस्तु को हमारे ज्ञान के अनुकूल होना चाहिए।" इन दार्शनिकों के प्रभाव से काव्य में विवेक और रीति के स्थान पर अन्तर्प्रेरणा, अन्तर्दृष्टि, अन्तर्प्रकाश, कल्पना, आनन्दातिरेक आदि का प्राबल्य घोषित हुआ। बाह्य रूप-आकार का वस्तुगत सौंदर्य केवल छाया-सौंदर्य रह गया। इस प्रकार इस युग में रीति-सिद्धान्त पर सबसे घातक प्रहार हुआ। आत्मा के इस अग्निद्रव में कविता के बाह्य अलंकरण-शृंगार अनायास ही भस्म हो गये। परन्तु इस युग की कविता अनलंकृत है—यह बात नहीं है। जर्मनी में गेटे, और इँगलैण्ड में कॉलरिज, कीट्स आदि की काव्य-शैली अनुपम है, परन्तु यह साधन मात्र ही है, सिद्धि नहीं है। शैली की निम्नलिखित पंक्तियों में काव्य-रचना के प्रति रोमानी दृष्टिकोण का सार अन्तर्निहित है—" + + किन्तु जब रचना आरम्भ होती है तो अन्तर्प्रेरणा का ह्रास उससे पूर्व ही आरम्भ हो जाता है, विश्व में उपलब्ध सर्वश्रेष्ठ कविता कवि की मूल कल्पना की हलकी छाया मात्र है।" —रीति-सिद्धान्त का इससे स्पष्ट निषेध और क्या हो सकता है? वास्तव में रोमानी काव्य-शास्त्र में जहाँ "अकेला शब्द भी चिरदीप्त विचार का स्फुलिंग माना गया हो" —जहाँ "कविता के शब्दों में विद्युत्-शक्ति के वास की कल्पना की गई हो," विशिष्ट पद-रचना के वस्तुगत सौंदर्य के लिए कोई स्थान नहीं है।

इस युग में रीति-सिद्धान्त की दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण कॉलरिज और वर्ड्सवर्थ का काव्य-शैली-विषयक विवाद है। वर्ड्सवर्थ ने अठारहवीं शताब्दी की काव्य-भाषा का उग्र विरोध किया—उन्होंने उस चमक-दमक वाली कृत्रिम तथा निष्प्राण भाषा को काव्य के अनुपयुक्त माना। काव्य की भाषा के विषय में उनके मूल सिद्धान्त

दो हैं : (१) सहज मानव-भाषा ही काव्य की भाषा होनी चाहिए। मानव-भाषा का सहज रूप ग्राम्य जन की भाषा में मिलता है क्यों कि इन व्यक्तियों का ऐसी वस्तुओं से निरन्तर सम्पर्क रहता है जो भाषा के सर्वोत्कृष्ट अंगों के मूल उद्गम हैं। अतएव भाषा का सच्चा रूप यही है—कवि इसी को अपनी कल्पना के रंगों से रंग कर काव्य-भाषा का रूप दे देता है।

(२) यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि गद्य और पद्य की भाषा में कोई अन्तर न है और न हो सकता है।

रीति-शास्त्र के क्षेत्र में वर्ड्सवर्थ की यह घोषणा वास्तव में घोर विप्लव की घोषणा थी। इसका विरोध स्वाभाविक था—सबसे प्रथम तो वर्ड्सवर्थ के अभिन्न मित्र कॉलरिज ने ही इसके विरुद्ध शस्त्र-ग्रहण किया। उन्होंने उपर्युक्त दोनों स्थापनाओं का प्रबल विरोध किया। पहले तो उन्होंने उपर्युक्त "सहज या वास्तविक मानव-भाषा" के 'सहज' या 'वास्तविक' शब्द पर आपत्ति की। "प्रत्येक मनुष्य की भाषा का स्वरूप उसके ज्ञान की परिधि, उसकी शक्तियों की क्रियाशीलता और उसकी अनुभूति की गहनता अथवा संवेदन-शक्ति के अनुसार भिन्न होता है। प्रत्येक मनुष्य की भाषा में एक तो उसके अपने व्यक्तिगत विशिष्ट गुण होते हैं, दूसरे उसके वर्ग के सामान्य गुण होते हैं और तीसरे सार्वभौम प्रयोग के शब्द और वाक्यांश होते हैं। + + + + अतएव 'सहज' या 'वास्तविक' भाषा के स्थान पर 'साधारण' भाषा का प्रयोग करना उपयुक्त होगा।"—इसके उपरांत कॉलरिज ने वर्ड्सवर्थ की दूसरी मान्यता पर प्रहार किया : "पहले तो स्वयं गद्य की भाषा ही—कम से कम सभी तर्क-प्रधान तथा निबद्ध रचनाओं की भाषा बोलचाल की भाषा से भिन्न होती है और होनी चाहिए, जिस प्रकार पढ़ने में और बातचीत करने में भेद रहता है।—कॉलरिज का तर्क है कि पद्य की भाषा आवेग की भाषा है। पद्य में एक प्रकार की मधुर जिज्ञासा उत्पन्न करने और उसे तृप्त करने की शक्ति रहती है। फलतः उसमें चित्रमय भाषा का प्रयोग स्वभावतः अधिक रहता है। गद्य के लिए यह सब अनावश्यक है—प्रायः बाधक भी हो सकता है। अतएव वर्ड्सवर्थ की यह युक्ति अधिक सार्थक नहीं है कि पद्य की अनेक सुन्दर पंक्तियों की शब्द-योजना गद्य-भाषा की शब्द-योजना से सर्वथा अभिन्न है : प्रश्न शब्दों की योजना का नहीं है—प्रश्न यह है कि क्या कतिपय वाक्यांश, रचना-भंगिमाएँ अथवा अभिव्यंजनाएँ जो प्रौढ़ गद्य के लिए सर्वथा उपयुक्त हैं पद्य के लिए अनुपयुक्त तथा विजातीय नहीं होतीं? इसलिए पद्य और गद्य की भाषा में मूल भेद होता है और होना चाहिए।

वर्ड्सवर्थ की प्रथम स्थापना तो भारतीय रीति-सिद्धान्त के मूल पर ही कुठाराघात करती है। भारतीय शास्त्र में वैदर्भी को निर्विवाद रूप से सर्वश्रेष्ठ रीति माना गया है और उसकी श्रेष्ठता का आधार है उसमें नागर गुणों का प्राचुर्य—इसीलिए परवर्ती आचार्यों ने उसका नाम ही उपनागरिका रख लिया था। वैदर्भी की संस्कृत में अनेक प्रशस्तियां हैं जिनमें उसके नागर गुणों का यशोगान है। भामह ने और भामह से भी पूर्व बाण भट्ट ने रीति की अग्राम्यता पर अत्यधिक बल दिया है :

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या + + ।
(बाण)

अलंकारवदग्राम्यम् अर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम् ।
(भामह)

परन्तु वर्ड्सवर्थ इसके विरुद्ध ग्राम्य जन की भाषा को ही सच्ची मानव-वाणी और तदनुसार वास्तविक काव्य-भाषा घोषित करते हैं। वर्ड्सवर्थ का सिद्धान्त स्पष्टतः ही सदोष है। इसमें दो दोष हैं : एक तो यह कि ग्राम्य जन की भाषा को आदर्श काव्य-भाषा मानना असंगत है। जैसा कि कॉलरिज ने लिखा है, ग्राम्य जन की धारणाएँ अत्यन्त परिसीमित होती हैं,—अतएव उनकी भाषा स्वभावतः सीमित तथा अविकसित होती है। दूसरे, उसमें प्रकृत गुण अवश्य होते हैं, परन्तु संस्कार नहीं होता, और काव्य की भाषा का संस्कार-विहीन होना दुर्गुण ही है। दूसरा दोष इसी का परिणाम है—और वह यह कि वर्ड्सवर्थ ने नागरता को कृत्रिमता का पर्याय मान लिया है। नागर भाव संस्कार और परिष्कार का द्योतक है—कृत्रिमता का नहीं। व्यक्तित्व की समृद्धि की भांति भाषा की समृद्धि के भी आधारभूत तत्व दो हैं : हार्दिक विभूतियां और बौद्धिक विभूतियां। ग्राम्य जीवन में पहला तत्व प्रचुर मात्रा में परन्तु अपने अनगढ़ रूप में मिलता है किन्तु दूसरा तत्व अत्यन्त विरल होता है। अतएव ग्राम्यता यदि दोष नहीं है तो गुण भी नहीं है—कम से कम काव्य-भाषा का प्रमुख तत्व नहीं है। इसी प्रकार नागर गुणों की उपादेयता का भी अवमूल्यन नहीं किया जा सकता।

वर्ड्सवर्थ की दूसरी स्थापना में संस्कृत के अध्येता के लिए कोई विशेष वैचित्र्य नहीं है क्योंकि संस्कृत में गद्य और पद्य का वैसा प्रखर पार्थक्य नहीं है जैसा यूरोप की भाषाओं में रहा है। यहाँ गद्य और पद्य दोनों काव्य के अंग माने गये हैं, उनकी आत्मा में कोई मूल भेद नहीं माना गया। वास्तव में गद्य का सच्चा स्वरूप संस्कृत गद्य-काव्य में मिलता भी नहीं है। फिर भी रीति-विवेचन में दोनों के पार्थक्य

का थोड़ा-सा निर्देशन अवश्य है—उदाहरण के लिए गद्य के लिए प्रायः गौड़ी रीति ही अधिक उपादेय मानी गयी है और वैदर्भी तथा पांचाली का स्वाभाविक क्षेत्र पद्य ही है। इस प्रकार वर्ड्सवर्थ-कॉलरिज के इस विवाद में संस्कृत का रीति-शास्त्री कॉलरिज के पक्ष में ही मत देता।

रोमाण्टिक युग के बाद ज्ञान के अन्य क्षेत्रों की भाँति आलोचना पर भी विज्ञान का समाघात हुआ। टेन ने आलोचना के लिए इतिहास को और सेंट बिवुए ने व्यक्ति को प्रमाण माना। इस प्रकार यहाँ से अलोचना विज्ञान का रूप धारण करने लगी और क्रमशः समाज-विज्ञान, मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण-शास्त्र आदि के सिद्धान्तों से ओतप्रोत होने लगी। रूप-सम्बन्धी[1] आलोचना समय से पिछड़ गयी।

मैथ्यू आर्नल्ड ने एक बार फिर गंभीर काव्यगत मूल्यों को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया : उन्होंने प्राचीन काव्य को काव्य का आदर्श मानते हुए विषय की गुरुता को काव्य-सर्वस्व घोषित किया। उन्होंने काव्य के लिए तीन तथ्यों पर बल दिया—'विषय-निर्वाचन का सर्वाधिक महत्व, यथातथ्य वस्तु-विधान की आवश्यकता और अभिव्यंजना अथवा शैली की विषयाधीनता[2]।' आर्नल्ड प्राचीनों की उदात्त शैली के प्रशंसक थे—परन्तु उस शैली की महत्ता का रहस्य भी वे यही मानते थे कि उसको कभी आवश्यकता से अधिक महत्व नहीं दिया गया—वह अत्यन्त सरल तथा सर्वथा विषयाधीन है, और वह अपनी शक्ति सीधे विषय के अर्थ-गौरव से ही प्राप्त करती है[3]। इस प्रकार मैथ्यू आर्नल्ड ने एक दूसरे मार्ग से रीतिवाद पर प्रहार किया—रीतिवाद के प्रति उनका दृष्टिकोण प्रायः वही है जो हमारे काव्य-शास्त्र में रस-ध्वनिवादियों का है।

बीसवीं शताब्दी में यूरोप के आलोचना-शास्त्र की प्रवृत्तियों ने जोर पकड़ा : एक ओर तो आर्नल्ड आदि द्वारा प्रतिपादित विषय की गंभीरता के विरोध में एक बार फिर कला में शैली अथवा अभिव्यंजना की महत्व-प्रतिष्ठा के लिए आंदोलन चला। दूसरी ओर मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण-शास्त्र को आधार मानकर काव्य के तत्वों की व्यवस्था की गयी। इस शती की इन दो प्रमुख प्रवृत्तियों को हम सौंदर्य-शास्त्रीय आलोचना और मनोवैज्ञानिक आलोचना कह सकते हैं।

---

१. फ़ॉर्मल
२. प्रिफ़ेस टू पोइम्स
३ प्रिफ़ेस टू पोइम्स

सौंदर्य-शास्त्रीय आलोचना का मूल सिद्धान्त है अभिव्यंजनावाद। अभिव्यंजना का महत्व तो अपने आप में कोई नवीन उद्भावना नहीं है—यूनानी-रोमी आलोचकों के ग्रन्थों में इस विषय में अनेक संकेत मिलते हैं। परवर्ती काव्य-शास्त्र में आर्नल्ड से पहले ही विक्टर ह्यूगो इस तथ्य की घोषणा कर चुके थे: 'काव्य में अच्छे-बुरे विषय नहीं होते—अच्छे-बुरे कवि ही होते हैं। + + + यह देखिए कि रचना किस प्रकार की गयी है—यह नहीं कि किस विषय पर या क्यों ?' इस सूत्र को बाद में स्विनबर्न, पेटर, आस्कर वाइल्ड, आदि ने पकड़ लिया और क्रोचे ने इसे दार्शनिक आधार देकर शास्त्र का रूप दे दिया।

पेटर की स्थिति अपेक्षाकृत मध्यवर्ती है। वे केवल अभिव्यंजना को महत्व नहीं देते—वास्तव में वे विषय-वस्तु को ही अधिक महत्व देते हैं। अपने प्रसिद्ध निबन्ध 'शैली' के अन्त में उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि महान कला रूप पर निर्भर नहीं है, तत्व पर निर्भर है। परन्तु उनके निबन्ध का मूल प्रतिपाद्य यह नहीं है, उसका मूल प्रतिपाद्य है शैली और विषय-वस्तु का अनिवार्य सहभाव—साहित्य, जिसे उन्होंने 'अपने अर्थ के प्रति निष्ठा', 'शब्द का अर्थ के साथ पूर्ण सामंजस्य' आदि वाक्यांशों द्वारा अभिव्यक्त किया है। फ्लॉबर्ट की भाँति वे भी शैलियों में विश्वास नहीं करते—उनका तो केवल एक शैली में विश्वास है। "अनेक शब्दों के समूह में से एक तथ्य, एक विचार के लिए केवल एक शब्द जो यथेष्ट हो: शैली की समस्या वहाँ यह थी (फ्लावर्ट के सामने) कि केवल एक ही अद्वितीय शब्द, वाक्यांश, वाक्य, अनुच्छेद, निबन्ध या गीत—कुछ भी हो उसका मन की छवि या मन के चित्र के साथ पूर्ण तादात्म्य हो।" इसीलिए अलंकार, शाब्दिक चमत्कार, तथा अन्य प्रसाधन जो अभिव्यंजना के अभिन्न अंग नहीं हैं—जिनका पृथक् अस्तित्व है, शैली का वास्तव में उपकार नहीं करते। वे उसकी मूलभूत एकता को नष्ट कर देते हैं। "शब्द का औचित्य वहीं सिद्ध होता है जहाँ वह अर्थ के साथ तदाकार हो जाता है।"

हमारे काव्य-शास्त्र में पेटर का सम्पूर्ण विवेचन अकेले 'साहित्य' शब्द में निहित है: 'साहित्य' में शब्द और अर्थ का अनिवार्य सहभाव रहता है। कुन्तक आदि ने इसकी व्याख्या में प्रायः वही शब्दावली प्रयुक्त की है जो पेटर ने अपने मन्तव्य को स्पष्ट करने में। "न च काव्ये शास्त्रादिवदर्थप्रतीत्यर्थं शब्दमात्रं प्रयुज्यते, सहितयोः शब्दार्थयोः तत्र प्रयोगात् साहित्यं तुल्यकक्षत्वेनान्यूनानतिरिक्तत्वम्।" अर्थात् काव्य में शास्त्रादि की भाँति केवल अर्थ-प्रतीति के लिए शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता—साहित्य की रचना तो तब होती है जब शब्द और अर्थ एक दूसरे के तुल्य-

कक्ष होकर, परस्पर स्पर्धा करते हुए (परस्परस्पर्धाधिरोहः), अन्यून और अनतिरिक्त रूप से पूर्ण सहभाव के साथ प्रयुक्त किये जाएं। उधर वामन ने अपने अर्थ-गुण प्रसाद में भी इसी विशेषता पर बल दिया है—अर्थ-गुण प्रसाद का अर्थ है अर्थ-वैमल्य जिसके लिए प्रयोजक मात्र का प्रयोग अनिवार्य है और प्रयोजक मात्र के प्रयोग का अभिप्राय भी अन्यून-अनतिरिक्त ही है।

पेटर ने शैली के दो मूल तत्व माने हैं : मस्तिष्क और आत्मा। "मस्तिष्क के द्वारा कलाकार रूप-विधान के उन स्थिर तथा वस्तुगत संकेतों द्वारा हमारे मन तक पहुँचता है जो सभी के लिए सुस्पष्ट रहते हैं। आत्मा द्वारा वह अस्थिर सहानुभूति के माध्यम से, एक प्रकार का सद्यःसम्पर्क स्थापित करता हुआ कुछ विचित्र मनमाने-से ढंग से हम तक पहुँचता है।" मस्तिष्क के द्वारा रूप-विधान की अन्विति, और आत्मा के द्वारा वातावरण की अन्विति घटित होती है—मस्तिष्क रूप देता है और आत्मा रंग। "मस्तिष्क के अन्तर्गत विवेक-सम्मत संघटना और आत्मा के अन्तर्गत रंग तथा रहस्यमयी गन्ध का अन्तर्भाव है।"—स्पष्ट शब्दों में मस्तिष्क का अर्थ है शैली का वस्तु-तत्व और आत्मा का अर्थ है व्यक्ति-तत्व। वस्तु-तत्व बाह्य रूप से सम्बद्ध—अतएव मूर्त है, व्यक्ति-तत्व अमूर्त अतएव अनिर्वचनीय है।

भारतीय काव्य-शास्त्र की शब्दावली में शैली का मस्तिष्क अथवा बुद्धि-पक्ष रीति है, और आत्मा ध्वनि है। वामन-प्रतिपादित वस्तु-परक पदरचना-रूपिणी रीति को ही पेटर ने रूप-विधान आदि शब्दों से अभिहित करते हुए 'मस्तिष्क' संज्ञा दी है। आत्मा वह सूक्ष्म आभासमान तत्व है जो रंग अथवा गन्ध के समान अनुभूत तो होता है, परन्तु शब्द-बद्ध नहीं किया जा सकता, जो 'विभाति लावण्यमिवांगनासु'—यही ध्वनि है। वामन शैली के मस्तिष्क तक ही पहुँच पाये इसीलिए उनका विवेचन अपूर्ण रहा : आनन्दवर्धन ने उसकी आत्मा की खोज निकाला और उनका विवेचन पूर्ण हो गया। पेटर शैली के मस्तिष्क के साथ आत्मा का संयोग कर, अज्ञात रूप से, मानों रीतिवाद की त्रुटि का परिहार करते हुए आनन्दवर्धन के मत को पुष्ट कर रहे हैं।

वाणी और अर्थ की अभिन्नता के आधार पर ही अंगरेजी में वाल्टर रैले ने शैली पर अपनी लोकप्रिय पुस्तिका लिखी। उन्होंने विषय-वस्तु और रूप-विधान के

देखिए—एप्रिसियेशन्स—स्टाइल

पार्थक्य को दुष्कर माना : उनके अनुसार साहित्य का कार्य द्विविध है—अर्थ के लिए शब्द ढूंढना और शब्द के लिए अर्थ ढूंढना।[1] इन दोनों का सामंजस्य ही साहित्य है। उन्होंने शैली के दो प्रकार के तत्व माने हैं जिसमें कुछ आन्तरिक हैं और कुछ बाह्य। व्यक्त परिणाम—प्रसाद तथा संयमन, आत्म-निषेध आदि, बाह्य तत्व हैं और इनके आंतरिक तत्व हैं निश्छलता, शक्ति आदि। बाह्य तत्वों में सबसे प्रमुख है शब्द, जिसके तीन गुण हैं : नाद-गुण, चित्र-गुण तथा अर्थ-गुण। नाद-गुण के अन्तर्गत वर्ण-संगीत आदि आते हैं, चित्र-गुण के अन्तर्गत शब्द की मूर्ति-विधायिनी शक्ति आती है, और अर्थ से अभिप्राय है अर्थ-गौरव का : चित्र में ऐन्द्रिय पक्ष है, अर्थ में बौद्धिक पक्ष। आगे चल कर रैले ने काव्य के अलंकारों[2] तथा प्रसाधनों[3] का विवेचन किया है। अलंकार को वे उक्ति से अभिन्न मानते हैं, प्रसाधन उक्ति से पृथक् किया जा सकता है। अलंकृत शैली अपने परम उदात्त रूप में अत्यन्त गम्भीर और अत्यन्त शुद्ध-प्रसन्न भी हो सकती है। किन्तु अलंकार का प्रसाधन के रूप में भी प्रयोग होता है, ऐसी स्थिति में वह विषय और शैली को अनेक प्रकार की विषयेतर कल्पना-सामग्री से समृद्ध करता हुआ अपनी उपादेयता सिद्ध करता है।[4]

रैले का शैली-विवेचन पेटर के निबन्ध से बहुत प्रभावित है—यहाँ तक कि शैली के बुद्धि-पक्ष और आत्म-पक्ष का प्रायः पेटर के शब्दों में ही विवेचन करते हुए वे अपने निबंध का उपसंहार करते हैं। रैले द्वारा निर्दिष्ट आंतरिक तत्व—निश्छलता तथा संयम शैली के वैयक्तिक तत्व हैं जिनका भारतीय रीति-शास्त्र में विवेचन नहीं है। रीति में व्यक्ति-तत्व की सत्ता स्वीकार करते हुए भी भारतीय रीति-शास्त्र ने उसका विश्लेषण नहीं किया, केवल वस्तु-तत्व का ही किया है। अतएव निश्छलता जैसे अत्यन्त वैयक्तिक तत्व का विवेचन हमारे यहाँ नहीं है—रसौचित्य के प्रसंग में भी नहीं है क्यों कि वहाँ भी औचित्य कवि-निबद्ध पात्रों के रस का ही है, कवि के वैयक्तिक रस का नहीं। हाँ, संयम-तत्व की ओर वामन के दो अर्थ-गुणों में—प्रसाद तथा ओज में संकेत मिलता है। अर्थ-गुण प्रसाद में प्रयोजक-मात्र के प्रयोग का अर्थ संयम ही है। इसी प्रकार अर्थ-गुण ओज में अर्थ-प्रौढ़ि का 'संमास' रूप भी संयम का

१. देखिए : स्टाइल पृ० ६३ 'टु फ़ाइण्ड वर्ड्स फ़ॉर ए मीनिंग ऐण्ड टु फ़ाइण्ड ए मीनिंग फ़ॉर वर्ड्स।'
२. फ़िगर्स आफ़ स्टाइल
३. डैकोरेशन
४. देखिए स्टाइल पृ० १००

ही द्योतक है। बाह्य तत्वों में नाद-गुण का विवेचन हमारी वर्ण-योजना के अन्तर्गत मिलता है—मम्मट आदि ने माधुर्य और ओज के प्रसंग में शब्दों के नाद-गुण का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। चित्र-गुण का संकेत वामन के सौकुमार्य, कान्ति आदि शब्द-गुणों में मिल जाता है। सौकुमार्य का अर्थ है अपारुष्य और कान्ति का अर्थ है औज्ज्वल्य। अपारुष्य और औज्ज्वल्य दोनों ऐन्द्रिय संवेदना के विषय हैं—अपरुष शब्दावली सुकुमार तथा कोमल चित्र प्रस्तुत करती है और उज्ज्वल शब्दावली भास्वर—रंग और प्रकाश के—चित्र मन में जगाती है। इसी प्रकार रैले का अर्थ-गुण (मीनिंग) वामन के अर्थ-गुण समाधि से बहुत दूर नहीं पड़ता जिसका आधार है अर्थ-दृष्टि—अर्थात् अर्थ को स्पष्ट रूप से ग्रहण करने के लिए चित्त का अवधान। किन्तु यह शब्द के अर्थ-गुण का केवल एक रूप है—उसके अन्य रूप भी होते हैं। रैले द्वारा निर्दिष्ट अलंकार तथा प्रसाधन का भेद भारतीय काव्य-शास्त्र में वामनकृत गुणालंकार-भेद का स्मरण दिलाता है। वामन के अनुसार गुण और अलंकार दोनों सौंदर्य में अंग हैं—गुण नित्य अंग हैं, अलंकार अनित्य। गुण काव्य-उत्कर्ष के साधक हैं, अलंकार उत्कर्ष के वर्धक मात्र हैं—अर्थात् गुण काव्य के आंतरिक एवं अविच्छेद्य अंग हैं, अलंकार बाह्य तथा विच्छेद्य। यही बात रैले अलंकार तथा प्रसाधन के सम्बन्ध में कहते हैं। वास्तव में रैले का अलंकार हमारे काव्य-शास्त्र की 'वक्रता' के और भी अधिक निकट है—उक्ति-वक्रता को ही रैले ने अलंकार की संज्ञा दी है और अप्रस्तुत-विधान को प्रसाधन की।

इस विचारधारा का दार्शनिक रूप क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में मिलता है। अभिव्यंजनावाद के सिद्धान्त के अनुसार कला अथवा काव्य अभिव्यंजना मात्र है। रूप से भिन्न सौंदर्य का कोई अस्तित्व नहीं है। क्रोचे के इस सिद्धान्त-वाक्य को सुनकर 'रीतिरात्मा काव्यस्य' की ओर ध्यान जा सकता है: परन्तु अभिव्यंजनावाद और रीतिवाद में साम्य की अपेक्षा वैषम्य ही अधिक है। दोनों उक्ति को महत्व देते हैं इसमें संदेह नहीं।—अभिव्यंजनावाद उक्ति के अतिरिक्त अर्थ का अस्तित्व ही नहीं मानता—दूसरे शब्दों में यह उक्ति को ही सर्व-महत्व-सम्पन्न मानता है। उधर रीति-वाद रीति को ही काव्य का प्राण-तत्व मानता है और रीति भी मूलतः उक्ति ही है। अतएव दोनों में उक्ति की महत्व-स्वीकृति है। परन्तु इस आधारभूत साम्य के अतिरिक्त वैषम्य भी दोनों में पर्याप्त है। पहला भेद तो यह है कि रीति केवल उक्ति नहीं है, यह विशिष्ट पद-रचना है—विशिष्ट पद-रचना भी उक्ति ही है यह ठीक है, परन्तु रीति में उसकी विशिष्टता और रचना पर ही बल अधिक है। इसके विपरीत अभिव्यंजना-वाद के अनुसार तो अभिव्यंजना या उक्ति में विशेष और सामान्य का भेद हो नहीं

है—उसका तो एक ही रूप है। वह सफल असफल का भेद ही नहीं मानता क्यों कि असफल अभिव्यंजना तो अभिव्यंजना ही नहीं है। उधर रीति का आधार रचना की विशिष्टता ही है और विशिष्टता का अर्थ यहां अद्वितीयता नहीं है, असाधारण मात्र है जो गुण तथा अलंकार के आदान और दोष के त्याग पर आश्रित है। अभिव्यंजनावाद गुण, अलंकार, दोष आदि को सर्वथा अप्रासंगिक तथा मिथ्या कल्पना मात्र मानता है। अभिव्यंजना अखण्ड है और गुण, अलंकार आदि में उसे खण्डित नहीं किया जा सकता। अपना सौंदर्य वह स्वयं अपने आप है—अलंकार आदि में उसे खण्ड-रूप में नहीं देखा जा सकता। इस प्रकार रीति के समस्त तत्व अभिव्यंजनावाद के अनुसार व्यर्थ हो जाते हैं और रीतिवाद तथा अभिव्यंजनावाद का यह वैषम्य उनके साम्य से कम मौलिक नहीं है। वास्तव में इस वैषम्य का आधार और भी गहरा है : इन दोनों के दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न हैं—रीतिवाद वस्तु-परक सिद्धान्त है, अभिव्यंजनावाद शुद्ध आत्म-परक सिद्धांत है। दोनों कुछ क्षण के लिए एक स्थान पर पहुंच कर उक्ति के महत्व की घोषणा अवश्य कर देते हैं परन्तु मार्ग दोनों के सर्वथा भिन्न हैं।

यूरोप में आधुनिक काव्य-शास्त्र की दूसरी मुख्य प्रवृत्ति का विकास मनोवैज्ञानिक आलोचना में हो रहा है। इस प्रवृत्ति में रीतिवाद का पूर्ण निषेध मिलता है। इस पद्धति के अनुसार कला अथवा काव्य का सर्वस्व है अर्थ, जो मुख्यतः संवेदनात्मक तथा गौणतः धारणात्मक होता है, और, प्रत्येक संवेदना अथवा धारणा चेतन या अवचेतन मन की प्रक्रिया का परिणाम है। मन की यही प्रक्रिया इस पद्धति के लिए अन्तिम सत्य है—शैली अथवा रीति की यहां कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। रीति के शब्द, अलंकार, वर्ण-गुम्फ आदि सभी तत्व प्रतीक मात्र हैं—वे अपने में कुछ नहीं हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि मनोवैज्ञानिक आलोचना शैली अथवा उसके उपकरणों के अस्तित्व को स्वीकार ही नहीं करती।—नहीं, यहां भी भाषा, अलंकार, शब्द-शक्ति, लय आदि की विस्तार से चर्चा रहती है, परन्तु इनको स्वतन्त्र वस्तु-रूप में ग्रहण न कर मानसिक प्रक्रिया के मूर्त प्रतीक-रूप में ही माना जाता है। इंगलैण्ड के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक आलोचक रिचर्ड्स के कतिपय उद्धरण इस दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं :

"वास्तव में शब्द या ध्वनि का प्रभाव जैसी कोई वस्तु नहीं होती। उसका अपना कोई एक प्रभाव नहीं होता। शब्दों के अपने कोई साहित्यिक गुण नहीं होते। कोई शब्द न कुरूप होते हैं और न सुन्दर—न अपने आप में अरुचिकर होते हैं और

न रुचिकर। वरन् इसके विपरीत प्रत्येक शब्द के कतिपय सम्भाव्य प्रभाव होते हैं—और ये प्रभाव उन परिस्थितियों के अनुसार, जिनमें कोई शब्द ग्रहण किया जाता है, बदलते रहते हैं। × ×

शब्द-ध्वनि अपना विशेष गुण उस मानसिक प्रक्रिया से प्राप्त करती है जो पहले से ही आरम्भ हो जाती है। यह पूर्ववर्ती मानसिक उद्वेलन कतिपय सम्भाव्य गुणों में से ऐसे विशेष गुण को चुन लेता है जो उसके सबसे अधिक अनुकूल पड़ता हो। कोई स्वर अथवा वर्ण न विषण्ण होते हैं और न प्रसन्न—और किन्हीं अवतरणों के प्रभाव का स्वर-व्यंजन-मैत्री द्वारा विश्लेषण करने वाले अनेक आलोचक केवल खिलवाड़ करते रहते हैं। किसी शब्द-ध्वनि के ग्रहण किये जाने की विधि पहले से ही उद्बुद्ध भाव के अनुसार बदलती रहती है[1]।"

"चित्र, मूर्ति, वास्तु और काव्य-कला सभी में ऐसे व्यक्तियों से सावधान रहना चाहिए जो यह मानते हैं कि रूप-विधान अपने आप में कतिपय विशिष्ट एवं रहस्यमय गुणों से सम्पन्न होता है। प्रत्येक स्थिति में उसका प्रभाव उसके अन्तर्तत्वों से उद्बुद्ध प्रभावों की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया पर ही (योग पर नहीं) आधृत रहता है[2]।"

इसी प्रकार लय को रिचर्ड्स वर्ण-मैत्री का परिणाम न मानकर 'आशा, परितोष, निराशा तथा कुतूहल की प्रतिक्रियाओं की संयोजना मात्र मानते हैं[3]।'—वामन के रीतिवाद का यह आमूल निषेध है।

यूरोपीय काव्य-शास्त्र में रीति-सिद्धान्त का यही संक्षिप्त इतिहास है।

यूरोप में, सार रूप में, शैली का तीन अर्थों में प्रयोग हुआ है: व्यक्ति-वैशिष्ट्य[4] के रूप में, अभिव्यंजना-रीति[5] के रूप में, तथा निरपेक्ष[6] रूप में—अर्थात् कला के पूर्ण उत्कर्ष के रूप में। व्यक्ति-वैशिष्ट्य के रूप में वह लेखक के व्यक्तित्व की ऐकान्तिक अभिव्यक्ति है—उसके रूप-विधान पर लेखक की छाप इतनी स्पष्ट रहती है कि कोई भी विज्ञ पाठक उसके विषय में भ्रांति नहीं कर सकता। शैली जैसे शैली-

---

देखिए—आई० ए० रिचर्ड्स का ग्रन्थ प्रिंसिपल्स ऑफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज्म

१. पृ० १३६-३७   २. पृ० १३८   ३. पृ० १३८।

देखिए—मिडिलटन मरी का निबन्ध: शैली की समस्या (दी प्रॉबलम ऑफ़ स्टाइल)

४. पर्सनल इडियोसिन्क्रेसी   ५. टेकनीक ऑफ़ एक्सप्रेशन

६. एबसोल्यूट

कार के नाम को पुकार कर कह देती है। इस अर्थ में शैली सर्वथा शुभाशंसा का ही विषय नहीं होती—शैलीकार के व्यक्तित्व के अनुरूप ही वह स्तुति और निन्दा दोनों का ही विषय हो सकती है। भारतीय काव्य-शास्त्र में इस रूप को दण्डी आदि ने स्पष्ट शब्दों में मान्यता तो दी है, परन्तु उसका विवेचन नहीं किया। वास्तव में शैली का यह रूप इतना अधिक वैयक्तिक है कि इसकी वस्तु-परक विवेचना सम्भव ही नहीं है। इसकी केवल मनोवैज्ञानिक व्याख्या हो सकती है जो उस युग में भारतीय शास्त्रकार के लिए सम्भव नहीं थी। अभिव्यंजना की रीति के रूप में प्रायः वह भारतीय रीति का ही पर्याय है। उसके अन्तर्गत रचना-कौशल के सभी तत्व आ जाते हैं। इस अर्थ में रीति की स्थिति वस्तुगत है—और उसका शिक्षण तथा अभ्यास सम्भव है। यूनानी-रोमी रीति-शास्त्र में इसी का विवेचन है। तीसरा रूप शैली का निरपेक्ष रूप है—इस अर्थ में शैली विशेष और साधारण—वैयक्तिक और सार्वजनिक तत्वों का पूर्णतया समंजित रूप है। शैली का यही आदर्श रूप है। इसमें व्यक्ति-परक तथा वस्तु-परक दोनों दृष्टिकोणों का समन्वय है। वामन के गुण-विवेचन में ऐसे अनेक संकेत हैं, जो इस बात का निर्देश करते हैं कि 'रीतिरात्मा काव्यस्य' की स्थापना करते समय वामन के मन में अव्यक्त रूप से यही धारणा वर्तमान थी: उनकी प्रतिभा को इसका आभास तो था, किन्तु युग की परिसीमाओं में आबद्ध अपनी वस्तु-परक दृष्टि के कारण वे उसे सम्यक् रूप से व्यक्त नहीं कर पाये।

हिन्दी में रीति-सिद्धान्त का विकास

हिन्दी में रीति-सिद्धान्त लोकप्रिय नहीं हुआ। वास्तव में रीतिवाद को हिन्दी साहित्य में कभी मान्यता नहीं मिली। यह एक विषमता ही है कि स्वयं रीतिकाल का ही दृष्टिकोण सिद्धान्त रूप में रीतिवादी नहीं रहा—व्यवहार की बात हम नहीं करते। हिन्दी में कोई भी ऐसा कवि अथवा आचार्य नहीं हुआ जिसने रीति को काव्य की आत्मा माना हो। फिर भी रीति और उसके विभिन्न तत्वों—गुण, रचना (—अर्थात् वर्ण-गुम्फ तथा शब्द-गुम्फ या समास), और प्रभावात्मक रूप में दोष आदि की उपेक्षा न काव्य में सम्भव है और न काव्य-शास्त्र में, अतएव उनके प्रति हिन्दी साहित्य के भिन्न-भिन्न युगों में कवियों तथा आचार्यों का अपना कोई न कोई निश्चित दृष्टिकोण रहा ही है और उनका यथाप्रसंग विवेचन भी किया गया है। प्रस्तुत निबन्ध में हम उसी की ऐतिहासिक समीक्षा करेंगे।

हिन्दी साहित्य के आदिकाल में एक ओर स्वयंभू आदि प्राचीन हिन्दी के कवियों की ओर दूसरी ओर चन्द आदि पिंगल के कवियों की कतिपय काव्य-सिद्धान्त-सम्बन्धी पंक्तियाँ मिल जाती हैं। उनके आधार पर किसी निश्चित सिद्धान्त की स्थापना चाहे कठिन हो, किन्तु समग्र काव्य के अध्ययन के साथ-साथ तो उनकी सहायता से उनके रचयिताओं के काव्यगत दृष्टिकोण के विषय में धारणा बनाई ही जा सकती है। उदाहरण के लिए स्वयंभू की निम्नलिखित प्रसिद्ध पंक्तियाँ लीजिए :

अक्खर-वास जलोह मणोहर। सुयलंकार-छन्द मच्छोहर।
दीह-समास-पवाहा वंकिय। सक्कय पायय-पुलिणालंकिय।

देसी-भाषा उभय तडुज्जल। कवि-दुक्कर घण-सद्द सिलायल।
अथ्य-बहल कल्लोला णिट्ठिय। आसा-सय-सम ऊह परिट्ठिय।

अर्थात् रामकथा-रूपी सरिता में अक्षर ही मनोहर जलौक हैं, सुन्दर अलंकार तथा छन्द मीन हैं, दीर्घ समास बंकिम प्रवाह हैं। संस्कृत-प्राकृत के पुलिन हैं—देशी भाषाएँ दो उज्ज्वल तट हैं। कवियों के लिए दुष्कर सघन शब्दों के शिलातल हैं। अर्थ-बहुला कल्लोलें हैं, शत-शत आशाओं के समान तरंगे उठती हैं।

उपर्युक्त पंक्तियों में स्वयंभू ने स्वभावतः उन उपकरणों का उल्लेख किया है जिन्हें वे सत्काव्य के लिए आवश्यक समझते हैं: अक्षर-गुम्फ, अलंकार, छन्द, दीर्घ समास, संस्कृत-प्राकृत के शब्द, सघन शब्द-बंध, अर्थ-बाहुल्य आदि। इनमें से अक्षर-गुम्फ, दीर्घ समास, सघन शब्द-बंध आदि स्पष्टतः रीति के तत्व हैं। महाकाव्य की शैली स्वभाव से ही ओज-प्रधान होती है—अतएव उसके लिए गौड़ीया रीति के तत्व प्रायः अनुकूल पड़ते हैं। इस प्रकार स्वयंभू रीति को काव्य का आवश्यक अंग मानते हैं। परन्तु वैसे उनका दृष्टिकोण निस्सन्देह रसवादी ही है—वे तुलसीदास के साहित्यिक पूर्वज हैं।

चन्द आदि कवि भी रसवादी ही थे। शास्त्रविद् होने के कारण काव्य के शास्त्रीय तत्वों का—रीति, गुण, अलंकार आदि का—उनके काव्य में यथावत् सन्निवेश है, परन्तु रीतिवाद से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था। विद्यापति में रसवाद अपनी चरम सीमा पर है—परन्तु उनको अपनी काव्य-भाषा पर भी कम अभिमान नहीं था: बालचन्द के समान उनकी भाषा में नागर-मन को मुग्ध करने की अद्भुत शक्ति थी। इसी प्रसंग में उन्होंने काव्य-भाषा के विषय में एक बार फिर अपने विचार का संकेत दिया है:

> सक्कय बांणी बुहयन भावई, पाउअ रस को मम्म न पावई।
> देसिल बअना सब जन मिट्ठा, तें तैसन जम्पओं अवहट्ठा।
>
> (कीर्तिलता)

संस्कृत केवल विद्वानों को ही रुचिकर हो सकती है, प्राकृत रस का मर्म नहीं पाती। देशी वाणी सभी को मीठी लगती है, इसलिए मैं अवहट्ठ भाषा में काव्य-रचना करता हूँ। अतएव विद्यापति के मत से काव्य-भाषा के दो मूल गुण हैं—नागरता (अग्राम्यत्व) और माधुर्य। ये दोनों पांचाली के आधारभूत गुण हैं। इस प्रकार विद्यापति अपने संवेद्य रस के अनुसार पांचाली रीति का स्तवन करते हैं।

निर्गुण भक्ति-सम्प्रदाय के अन्तर्गत कबीर आदि ज्ञानमार्गी कवियों का तो रीति से कोई सम्बन्ध ही नहीं था—उनके काव्य में विशिष्ट पद-रचना के लिए

अवकाश ही नहीं था। इन कवियों की अपेक्षा प्रेममार्गी कवियों का लगाव काव्यांगों से थोड़ा अधिक था यद्यपि भारतीय काव्य-शास्त्र में उनकी भी कोई विशेष गति नहीं थी। स्वभावतः उनके काव्य में भी सैद्धान्तिक विवेचन कहीं नहीं मिलता—परन्तु उनके अध्ययन से इतना स्पष्ट अवश्य हो जाता है कि वे सब रस-ध्वनिवाद के अन्तर्गत ही आते हैं। रहस्यवाद, जिसमें व्यक्त की अपेक्षा अव्यक्त या अर्धव्यक्त के प्रति प्रणय-निवेदन है—जिसके रहस्य-संकेतों के लिए सांकेतिक भाषा का प्रयोग अनिवार्य हो जाता है—शास्त्रीय शब्दावली में रसध्वनि के अन्तर्गत ही आता है। व्यावहारिक दृष्टि से प्रेममार्गी काव्यों में रीति, गुण, अलंकार आदि की उपेक्षा नहीं हुई—जायसी, उसमान आदि की पद-रचना में गुण-सम्पदा यथास्थान वर्तमान है, परन्तु उनका रीतिवाद से कोई सम्बन्ध नहीं था। रीति का प्रयोग अनायास ही रस के आग्रह से हो गया है—उसे महत्व नहीं दिया गया।

सगुण भक्तों में कृष्णकाव्य के रचयिताओं ने काव्य के आन्तरिक तथा बाह्य दोनों पक्षों को समुचित महत्व दिया है। सूर की कला-समृद्धि और नन्ददास की पद-रचना का जड़ाव हिन्दी साहित्य में प्रसिद्ध है। मूलतः रसवादी होते हुए भी ये कवि पद-रचना के सौंदर्य के प्रति अत्यन्त सचेष्ट थे—नन्ददास को जड़िया की उपाधि देकर हिन्दी साहित्य की परम्परा उनके पद-रचना-वैशिष्ट्य का ही गुण-गान करती रही है, और इसमें सन्देह नहीं कि नन्ददास, हितहरिवंश आदि कवियों में रीति की जितनी प्रभूत गुण-सम्पदा मिलती है, उतनी अन्यत्र दुर्लभ है। फिर भी ये कवि रीतिवादी नहीं थे।—यही बात तुलसी आदि रामभक्त कवियों के विषय में भी कही जा सकती है। तुलसी का शास्त्र से घनिष्ठ परिचय था। स्वान्तःसुखाय भक्ति साधन-रूप होते हुए भी तुलसी का काव्य शास्त्रीय काव्य है। नन्ददास, हितहरिवंश आदि की भाँति तुलसीदास भी अपने रचना-कौशल के प्रति सचेष्ट हैं। तुलसी के काव्य में, व्यवहार-रूप में तो, रीति तथा उसके तत्वों का सम्यक् सन्निवेश है ही—एकाध स्थान पर सैद्धान्तिक उल्लेख भी है :

कवित-रीति नहिं जानौं, कवि न कहावौं।

यहाँ रीति शब्द का प्रयोग सामान्य अर्थ में हुआ है—मार्ग, अथवा कवि-प्रस्थान-हेतु के रूप में अथवा और भी व्यापक अर्थ में—जैसा कि हिन्दी काव्य-शास्त्र में हुआ है। इस प्रकार यहाँ कवित-रीति का अर्थ काव्य-कला का ही है : विशिष्ट

पद-रचना का नहीं है। रामचरितमानस की भूमिका में 'सकल कला, सब विद्या हीनू' कर तुलसीदास ने इसी अर्थ की पुष्टि की है। काव्य-कला के उपकरण हैं :

> आखर अरथ अलंकृत नाना। छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना।
> भाव-भेद रस-भेद अपारा। कवित-दोष-गुन विविध प्रकारा॥

अर्थात् वर्ण, अर्थ, अलंकार, छन्द, प्रबन्ध-विधान (वस्तु-विधान) रस, भाव तथा गुण, और भावात्मक रूप से दोष। इनमें से गुण तथा वर्ण-योजना रीति के तत्व हैं। पद-रचना अथवा शब्द-गुम्फ के महत्व की ओर भी तुलसी ने इसी प्रसंग में एक स्थान पर संकेत किया है : 'जुगुति बेधि पुनि पोहिअहिं राम चरित वर ताग'—यहाँ पोहना अथवा पिरोना शब्द का प्रयोग गुम्फन-कला—पद-रचना की ओर सूक्ष्म संकेत करता है। इस प्रकार तुलसीदास रीति और उसके तत्वों के महत्व को निस्संदेह ही स्वीकार करते हैं, परन्तु फिर भी उन्हें राम (रस) के अधीनस्थ ही मानते हैं, स्वतंत्र नहीं। काव्य का सम्पूर्ण चमत्कार राम (रस) के बिना व्यर्थ है :

> भनिति विचित्र सुकवि-कृत जोऊ। राम-नाम बिनु सोह न सोऊ।

और, आगे चलकर तो तुलसी ने काव्य-तत्वों के पारस्परिक महत्व को प्रायः स्पष्ट ही कर दिया है :

> अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरंद सुबासा।
> धुनि अवरेब कवित गुन जाती। मीन मनोहर से बहु भाँति।

अर्थ, भाव, आदि को उन्होंने जहाँ पराग और मकरन्द के सदृश माना है वहाँ ध्वनि, वक्रता गुण आदि को मीन कहा है। यद्यपि इस प्रकार के उल्लेख केवल संकेत मात्र हैं और उनमें यथातथ्य सिद्धान्त-निरूपण ढूंढना उचित नहीं होगा, तथापि उनसे कवि के दृष्टिकोण का आभास अवश्य मिल जाता है।

तुलसी के उपरान्त तो एक प्रकार से रीति-काव्य का ही आरम्भ हो जाता है—जिसमें काव्य के अंग-उपांगों का विवेचन सिद्धान्त रूप से किया गया है। जैसा कि मैंने आरम्भ में संकेत किया है, रीतिकाल में भी रसवाद का ही बोल-बाला रहा। रीतिवाद की पुनर्प्रतिष्ठा का तो प्रश्न ही नहीं उठा—रीति तथा उसके तत्वों का विवेचन भी प्रायः उपेक्षित ही रहा क्योंकि केवल छः-सात आचार्यों को छोड़ कर अन्य रीति-कवियों ने इस प्रसंग का स्पर्श ही नहीं किया।

केशवदास

केशवदास रीतिकाल के प्रवर्तक आचार्य हैं। उन्हें पूर्व-ध्वनि अलंकारवादी परम्परा और उत्तर-ध्वनि शृंगारवादी परम्परा—दोनों को हिन्दी में अवतरित करने का श्रेय प्राप्त है। उन्होंने कविप्रिया में अलंकार और दोष तथा रसिकप्रिया में मूलतः रस का वर्णन किया है। रीति का वर्णन तो उन्होंने नहीं किया—किन्तु रीति की सहधर्मा रसवृत्तियों का उल्लेख रसिकप्रिया के अन्त में अवश्य मिलता है।

बाँधहु वृत्ति कवित्त की, कहि केशव विधि चारि।　　१४।४२

ये चार वृत्तियाँ हैं—कैशिकी, भारती, आरभटी और सात्वती।

अथ कैशिकी लक्षण—

कहिये केशवदास जहँ, करुण हास शृंगार।
सरल बरण शुभ भाव जहँ, सो कैशिकी विचार॥

अथ भारती लक्षण—

वरणै जामैं वीर रस, अरु अद्‌भुत रस हास।
कहि केशव शुभ अर्थ जहँ, सो भारती प्रकास॥

आरभटी—

केशव जामैं रुद्र रस, भय वीभत्सक जान।
आरभटी आरम्भ यह, पद पद जमक बखान॥

सात्वती—

अद्‌भुत वीर शृंगार रस, सम रस वरणि समान।
सुनतहि समुझत भाव जिहि, सो सात्विकी सुजान॥

वास्तव में उपर्युक्त वृत्तियाँ मूलतः नाट्य-वृत्तियाँ ही हैं, काव्य में इनका प्रयोग सामान्यतः नहीं होता। इनका सम्बन्ध वाणी के अतिरिक्त कायिक और मानसिक चेष्टाओं से भी है : 'कायवाङ्‌मनसां चेष्टा एव सह वैचित्र्येण वृत्तयः॥' (अभिनव)

केशव ने भरत के आधार पर रस के प्रसंग में वृत्तियों का भी वर्णन चलते-चलते कर दिया है। परन्तु केशव के वृत्ति-वर्णन में शास्त्रीय वर्णन से कुछ भिन्नता

है—वास्तव में आरभटी को छोड़ शेष सभी के लक्षण भरत से भिन्न हैं। कैशिकी में भरत केवल शृंगार और हास्य का विधान मानते हैं, किन्तु केशव ने उसमें करुण भी जोड़ दिया है। भारती में भरत ने करुण और अद्भुत का विधान किया है, किन्तु केशव ने करुण के स्थान पर वीर और हास्य को भी भारती के आश्रयभूत रसों में मान लिया है। सात्वती जहाँ सत्व से उद्भूत 'वीररौद्राद्भुताश्रया' है, वहाँ केशव की सात्वती (सात्विकी ?) में रौद्र के स्थान पर शृंगार का विधान है और उसमें समरसता का गुण माना गया है। किन्तु टीकाकार सरदार कवि ने 'अद्भुत अरुवीर रस' पाठ का भी उल्लेख किया है जो भरत के मतानुकूल है। केशव के सात्वती लक्षण में एक और भी विशेषता का उल्लेख है : 'सुनतहि समुझत भाव जिहिं'—अर्थात् प्रसाद गुण। केशव का विवेचन अधिक शास्त्र-सम्मत नहीं है—रसिकप्रिया में नाट्य-वृत्तियों का वर्णन करने की संगति भी कुछ नहीं बैठती। वास्तव में केशव की वृत्ति, जैसा कि डा० भगीरथ मिश्र ने लिखा है, रस-वर्णन शैली जान पड़ती है, और कैशिकी तथा सात्वती के लक्षणों में 'सरल वरण' 'पद पद जमक बखान', और 'सुनतहि समुझत भाव जिहिं'—जैसे वाक्यांशों से इस मत की पुष्टि हो जाती है।

इस प्रकार केशव की वृत्तियाँ नाट्य-वृत्तियों की अपेक्षा रीतियों के ही अधिक निकट हैं। उनमें अर्थ-गुण और शब्द-गुण दोनों का सामंजस्य है। सरलवर्णा तथा 'शृंगारकरुणहासाश्रया' कैशिकी पांचाली के समकक्ष है, यमकादि के प्राचुर्य से गाढ़-बन्धा तथा रौद्र-भयानक-वीभत्स रसों की आश्रिता आरभटी गौड़ीया के, और यदि रसिकप्रिया का स्वीकृत पाठ ही शुद्ध है (?) तो, समरस सात्वती सर्वरस-साधारण वैदर्भी के समकक्ष है।

सेनापति के लक्षण-ग्रन्थ तो उपलब्ध नहीं हैं, परन्तु उनके कवित्तरत्नाकर में कुछ पंक्तियाँ ऐसी मिल जाती हैं जो उनकी रीति-सम्बन्धी धारणा की ओर थोड़ा-सा संकेत करती हैं :

१. दोष सो मलीन गुनहीन कविताई है तो,
कीने अरवीन परवीन कोई सुनि है।

२. राम अरचतु सेनापति चरचतु दोऊ,
कवित रचतु याते पद चुनि चुनि है।

३. अच्छर हैं विसद करत ऊखें आपुस में,
जा ते जगती की जड़ताऊ विनसति है।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि सेनापति (१) दोष से मलिन तथा गुणहीन काव्य को सर्वथा निरर्थक प्रयास मानते हैं। इससे निष्कर्ष यह निकला कि सत्काव्य के लिए दोष का त्याग और गुण का ग्रहण अनिवार्य है। वामन ने रीति की परिभाषा में यही कहा है। (२) चुन-चुन कर पद-रचना करना जिसमें (३) अक्षर आपस में स्पर्द्धा करते हों—विशिष्ट पद-रचना की ही व्याख्या है। इस प्रकार सेनापति निश्चय ही रीति का महत्व स्वीकार करते हैं।

चिंतामणि

सेनापति के उपरान्त तो चिंतामणि के आविर्भाव के साथ-साथ रीति-काव्य की अखण्ड धारा प्रवाहित हो जाती है। चिंतामणि ने अपने 'कविकुलकल्पतरु' में रीति और उसके तत्वों का विवेचन किया है। उन्होंने काव्य-पुरुष का रूपक बांधते हुए विभिन्न काव्यांगों का स्थान निर्धारित किया है।

> सबद अर्थ तनु जानिये, जीवित रस जिय जानि।
> अलंकार हारादि ते उपमादिक मन आनि॥
> श्लेषादिक गुन सूरतादिक से मानो चित्त।
> बरनौ रीति सुभाव ज्यों, वृत्ति वृत्ति-सी मित्त॥

अर्थात् चिंतामणि के अनुसार शब्द-अर्थ काव्य का शरीर है, रस प्राण है, अलंकार आभूषण हैं, गुण शौर्यादि गुणों के समान हैं, रीति काव्य का स्वभाव है, और वृत्ति काव्य-पुरुष की वृत्ति के समान है।—इस प्रकार :

(१) वे रीति को काव्य का स्वभाव मानते हैं।

(२) और, रीति तथा वृत्ति में कदाचित् अन्तर मानते हैं—यद्यपि यह अन्तर अत्यन्त सूक्ष्म है जितना कि मनुष्य के स्वभाव और उसकी वृत्ति में।

इस स्थल पर कुछ प्रश्न अनायास ही उठ खड़े होते हैं। रीति को काव्य का स्वभाव मानने का क्या अर्थ है ? भारतीय काव्य-शास्त्र का अध्येता इस पर चौंक सकता है क्यों कि शास्त्र में रीति को आत्मा, अंग-संस्थान आदि तो माना गया है परन्तु स्वभाव प्रायः कहीं नहीं माना गया। स्वभाव का प्रयोग चिंतामणि ने किसके आधार पर किया है ? इससे उनका अभिप्राय क्या है ? और, स्वभाव तथा वृत्ति में क्या अन्तर है ?

संस्कृत काव्य-शास्त्र में केवल विद्यानाथ तथा अर्कसूरि ने रीति को काव्य का स्वभाव माना है। विद्यानाथ ने उसे काव्य का आत्मोत्कर्षावहस्वभाव कहा है और अर्कसूरि का अभिमत है :—स्वभावैरिव रीतिभिः।

चिंतामणि ने प्रचलित काव्य-ग्रन्थों को छोड़ विद्यानाथ का प्रतापरुद्रयशोभूषण तथा अर्कसूरि की अप्रकाशित कृति साहित्य-कौमुदी का अध्ययन किया था या नहीं और यदि किया भी था तो मान्य मतों को छोड़ इस अप्रचलित मत का ग्रहण क्यों किया, यह विचारणीय है। चिंतामणि अधीत कवि थे, इसमें सन्देह नहीं है। उनके कविकुलकल्पतरु से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, काव्यादर्श आदि प्रसिद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों का भी यथावत् अध्ययन किया था। यह किसी प्रकार भी असम्भाव्य नहीं है कि प्रतापरुद्रयशोभूषण भी उन्होंने देखा हो और उसके मत को अपनी धारणा के अनुकूल पाकर उद्धृत कर लिया हो। परन्तु मूल प्रश्न तो अब भी रह जाता है : स्वभाव से क्या तात्पर्य है ? कुन्तक ने मार्ग अथवा रीति का कवि-स्वभाव से प्रत्यक्ष सम्बन्ध माना है—'स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते।' स्वभाव तीन प्रकार के होते हैं : सुकुमार, विचित्र और मध्यम—अतएव काव्य-मार्ग भी इन्हीं के अनुसार तीन ही हैं : सुकुमार, विचित्र और मध्यम। जैसा कवि का स्वभाव होगा, वैसी ही उसकी रीति होगी। हमारा अनुमान है कि चिंतामणि ने कुन्तक का आधार ही अधिक ग्रहण किया है और उन्हीं के अनुसरण पर रीति को काव्य का स्वभाव मान लिया है : जिस प्रकार स्वभाव आत्मा की अभिव्यक्ति का प्रकार है, इसी प्रकार रीति भी रस की अभिव्यक्ति का प्रकार है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि चिंतामणि रीति को अंग-संस्थान की भाँति बाह्य तत्व न मानकर काव्य का आंतरिक तत्व मानते हैं—उनके मत से रीति का काव्य के साथ आंतरिक सम्बन्ध है।

अब दूसरा प्रश्न रह जाता है : स्वभाव और वृत्ति के भेद से चिंतामणि रीति और वृत्ति में क्या भेद मानते हैं ? स्वभाव और वृत्ति का भेद वास्तव में अत्यन्त सूक्ष्म है—स्वभाव अपेक्षाकृत व्यापक है, वृत्ति स्वभाव का एक रूप है : स्वभाव का अर्थ है प्रकृति, वृत्ति का अर्थ है व्यवहार : 'व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते।' व्यक्ति के सहज मौलिक गुणों का समन्वित रूप है प्रकृति या स्वभाव और उसके व्यवहार या प्रवर्तन का ढंग है वृत्ति या प्रवृत्ति। इस प्रकार दोनों में सूक्ष्म भेद यह है कि स्वभाव अधिक मूलगत और व्यापक है, वृत्ति अपेक्षाकृत बाह्य है और उसकी परिधि भी संकुचित है। यही अन्तर रीति और वृत्ति में भी है—रीति अधिक व्यापक है, उसमें अर्थ और शब्द

दोनों का सामरस्य रहता है; वृत्ति का आधार मूलतः वर्ण-ध्वनि है। दोनों ही रस की अभिव्यक्ति करती हैं परन्तु रीति का सम्बन्ध रस के साथ अधिक घनिष्ठ और आन्तरिक है, वृत्ति का अपेक्षाकृत बाह्य है। और यह मत प्रायः ठीक ही है।

परन्तु इस अन्तर का निर्वाह नहीं हो पाया। चिंतामणि ने मम्मट के अनुसार वृत्तियों का वर्णन वृत्त्यनुप्रास के भेदों के रूप में किया है :

माधुर्यो विजक वरन उपनागरिका होइ।
मिलि प्रसाद पुनि कोमला परुषा ओज समोइ॥

यहाँ मम्मट के ही अनुसरण पर चिंतामणि यह भी मान लेते हैं कि इन वृत्तियों को कुछ आचार्य (वामन आदि) वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली रीतियों के नाम से अभिहित करते हैं। यह मत पूर्वोक्त भेद-प्रदर्शन के प्रतिकूल प्रतीत होता है और मन में एक बार फिर यह प्रश्न उठता है कि चिंतामणि रीति और वृत्ति में भेद मानते भी थे या नहीं। चिंतामणि का विवेचन मम्मट पर अत्यधिक आश्रित है और प्रायः यही धारणा होती है कि इस प्रसंग में भी मम्मट का अनुसरण करते हुए उन्होंने वामनीया रीतियों को वृत्तियों का ही नामान्तर माना है। परन्तु फिर उपर्युक्त दोहे में रीति को काव्य का स्वभाव और वृत्ति को काव्य की वृत्ति मानने से क्या अभिप्राय है? इस द्विविधा का निराकरण यही हो सकता है कि चिंतामणि मूलतः तो काव्य के इन दो रूपों का पृथक् अस्तित्व मान कर चले हैं, परन्तु दोनों में अन्तर इतना सूक्ष्म है और मम्मट का प्रभाव उन पर इतना गहरा है कि अन्त में इन्हें यदि कोई एक भी मानता है तो उन्हें विशेष आपत्ति नहीं होती। वास्तव में कविकुल-कल्पतरु के प्रारम्भिक सिद्धान्त-विवेचन में चिंतामणि का अपना अभिमत अधिक व्यक्त हुआ है—उन्होंने अपने मत से काव्य के सामान्य सिद्धान्तों का निरूपण वहीं किया है।

यहाँ आधुनिक काव्य-शास्त्र के अध्येता के मन में दो शंकायें उठ सकती हैं : (१) कोमला को प्रसादगुण-विशिष्ट मानना कहाँ तक उचित है? (२) उपनागरिका, परुषा और कोमला को क्रमशः वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली का पर्याय मानने में क्या संगति है? परन्तु इन शंकाओं का सम्बन्ध चिंतामणि के विवेचन से न होकर उसके आधार-ग्रन्थ काव्य-प्रकाश से ही है। मम्मट ने उपनागरिका में माधुर्यव्यंजक शब्दों की स्थिति मानते हुए माधुर्य-गुण और उपनागरिका का नित्य सम्बन्ध माना है। इसी प्रकार परुषा में ओजोव्यंजक वर्णों का आधार मान कर परुषा और ओज का मौलिक सम्बन्ध माना गया है। कोमला के विषय में मम्मट का सूत्र है "कोमला परैः।"

'पर' का अर्थ है माधुर्य और ओजोव्यंजक वर्णों के अतिरिक्त अन्य वर्ण। मम्मट केवल इतना ही कहते है—किन्तु उनके टीकाकार गोविन्द ठक्कुर और वामनाचार्य आदि स्पष्ट ही 'परैः' का अर्थ कर देते हैं "ओजोमाधुर्यव्यंजकातिरिक्तैः प्रसादवद्भिरक्षरैः (काव्यप्रदीप)—अर्थात् प्रसादव्यंजक वर्णों के द्वारा।" और इस प्रकार कोमला का प्रसाद के साथ नित्य सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। क्या मम्मट का आशय यही था—यह कहना कठिन है, परन्तु उनके टीकाकार सभी दिग्गज विद्वान थे, अतएव यह मानना भी उतना ही कठिन है कि इन्होंने ही भूल की है। फिर भी प्रश्न औचित्य का है। क्या प्रसाद को कतिपय वर्णों और किसी एक वृत्ति में परिसीमित किया जा सकता है ? स्वयं मम्मट का स्पष्ट कथन है :

श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत् ।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः ॥

(का० प्र० ८।७६)

अतएव प्रसाद को तो वास्तव में 'सर्व-गुण-साधारण', 'सर्व-संघटना-साधारण' ही माना गया है—उसे न तो किसी विशिष्ट रस, न किसी विशिष्ट वर्ण-योजना और न किसी विशिष्ट संघटना या वृत्ति तक परिसीमित माना गया है।

मम्मट कहते हैं : + + + प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः।
+ + + सर्वत्रेति। सर्वेषु रसेषु, सर्वासु रचनासु च।

(काव्यप्रकाश ८।७१)

उपर्युक्त उक्तियों की 'कोमला और प्रसाद के नित्य सम्बन्ध से' किस प्रकार संगति बैठती है, यह विचारणीय है।

मम्मट इस शंका का समाधान कैसे करते यह कहना आज कठिन है। इसका एक समाधान हमारी समझ में यही आता है कि मम्मट प्रसाद को सर्व-वृत्ति-साधारण गुण मानते हैं जो उपनागरिका तथा गौड़ी दोनों में अनिवार्य रूप से वर्तमान रहता है। इन दोनों वृत्तियों में इस सामान्य गुण के साथ-साथ एक विशिष्ट गुण और भी होता है—यही इनकी विशेषता है। किन्तु कोमला में विशिष्ट गुण कोई नहीं रहता —केवल साधारण गुण प्रसाद ही रहता है। इस प्रकार वह पाश्चात्य रीति-शास्त्र की सरल (प्रसन्न) शैली की पर्याय प्रतीत होती है। प्रसाद गुण उसमें परिसीमित नहीं है—वरन् वह ही प्रसाद गुण तक परिसीमित है।—यह हमने अपने मन की शंका का समाधान किया है, मम्मट का रहस्य मम्मट के विशेषज्ञ जानें।

दूसरी शंका इसी से सम्बद्ध यह है कि वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली को उपनागरिका, परुषा और कोमला का पर्याय मम्मट ने किस तरह मान लिया है। जब उपनागरिका केवल माधुर्य के आश्रित है तो वह समग्रगुणभूषिता वैदर्भी की पर्याय कैसे हो सकती है? इसी प्रकार सौकुमार्य और माधुर्य पर आश्रित पांचाली की समतुल्य प्रसादगुण-विशिष्ट कोमला को कैसे माना जा सकता है? वास्तव में यदि संगति ही बैठानी है तो यह क्रम इस प्रकार होना चाहिए :

वैदर्भी रीति	—	समग्र गुण	—	उपनागरिका (प्रौढ़ा=रुद्रट) वृत्ति
गौड़ी रीति	—	ओज गुण	—	परुषा वृत्ति
पांचाली रीति	—	माधुर्य गुण	—	कोमला वृत्ति

परन्तु यह चिंतामणि का दोष नहीं है—वे तो अनुवादक मात्र हैं : 'अनुवादको न दुष्यते।' वास्तव में उपर्युक्त असंगति संस्कृत काव्य-शास्त्र में मम्मट के भी पहले से चली आ रही है, और उसका कारण कदाचित् यह है कि लक्षणों में वैदर्भी को समग्रगुण-सम्पन्न मानते हुए भी आरम्भिक प्रायः सभी आचार्यों ने व्यवहार में उसके माधुर्य आदि गुणों का ही यशोगान अधिक किया है।

कविकुलकल्पतरु में गुण की विस्तार के साथ चर्चा है। चिंतामणि मम्मट आदि के अनुसार केवल तीन गुणों की ही सत्ता मानते हैं—शेष गुण उन्हीं में अंतर्भूत हो जाते हैं।

प्रथम कहत माधुर्य पुनि ओज प्रसाद बखानि।
त्रिविधे गुन तिनमें सबै सुकवि लेत मनमानि ॥

इनमें माधुर्य चित्त की द्रुति, और ओज दीप्ति का कारण है। प्रसाद गुण वहाँ होता है जहाँ अक्षरों में अर्थ इस प्रकार व्यक्त रहता है जिस प्रकार सूखे ईंधन में अग्नि, या स्वच्छ जल में जल का गुण तरलता। माधुर्य गुण संयोग शृंगार, विप्रलंभ, करुण और शान्त में रहता है : संयोग की अपेक्षा विप्रलंभ, करुण और शान्त में उसका उत्कर्ष और भी अधिक होता है। इसी माधुर्य को चिन्तामणि कवित्व का मूल तत्व मानते हैं :

सो माधुर्य बखानिये यहई तत्व कवित्त।

मूल गुण ये ही तीन हैं। (दण्डी, वामन आदि) प्राचीनों ने दस गुण माने हैं जो वैदर्भी रीति के प्राण हैं। परन्तु चिंतामणि मम्मट के आधार पर यही मानते हैं कि शेष सात गुणों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

चिंतामणि ने इस प्रसंग में वामन के आधार पर प्रायः उन्हीं के लक्षण और कहीं-कहीं उनके उदाहरण भी देकर दस शब्द-गुणों और दस अर्थ-गुणों का सविस्तार वर्णन करते हुए अन्त में मम्मट की युक्तियों के द्वारा उन्हें कहीं दोषाभाव, कहीं अलंकार, कहीं दोष और कहीं अन्य गुणों के रूपान्तर मात्र सिद्ध किया है। वास्तव में हिन्दी रीति-शास्त्र में गुण का इतना सांगोपांग वर्णन अन्यत्र नहीं मिलता—चिंतामणि ने वामन और मम्मट दोनों के गुण-विवेचन का हिन्दी में सम्यक् अवतरण करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। हमारी धारणा है कि उनके अतिरिक्त वामन के गुण-विवेचन का प्रभाव हिन्दी के कदाचित् एकाध ही रीतिकार ने ग्रहण किया है।

उपर्युक्त विवेचन मौलिक नहीं है, इसे मम्मट के काव्यप्रकाश से प्रायः अनूदित ही समझना चाहिए। इसमें केवल एक नवीनता दृष्टिगत होती है: वह यह कि चिंतामणि ने माधुर्य को कविता का प्राण-तत्व माना है। मम्मट आदि का ऐसा मत नहीं है। इस अभिमत के लिए तो शृंगार आदि मधुर रसों के प्रति चिंतामणि का सहज आग्रह ही उत्तरदायी है।

कुलपति

चिंतामणि के उपरांत दूसरे प्रसिद्ध आचार्य हुए कुलपति मिश्र—उन्होंने रीति का स्वतन्त्र विवेचन न कर अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ रस-रहस्य के छठे वृत्तान्त में रीति के मूल तत्व गुण का वर्णन किया है और सातवें में रीति की पर्याय वृत्तियों का। चिंतामणि की भांति इनका आधार भी काव्यप्रकाश ही है, अपने गुण-लक्षण में कुलपति ने मम्मट का अक्षरशः अनुवाद मात्र करके रख दिया है:

> जो प्रधान रस धर्म को, निपट बड़ाई हेत।
> सो गुन कहिये अचल छित, सुख को परम निकेत ॥ (रस रहस्य)

> ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादया इवात्मना।
> उत्कर्ष-हेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥ (का० प्र०)

बीस गुणों में से इन्होंने भी तीन की ही सत्ता मानी है:—

तीन गुणन ही बीस गुण, मधुररु ओज प्रसाद।
अधिक सुखद लखिये नहीं, वरनैं कौन सवाद॥

कुछ का इन तीनों में ही अन्तर्भाव हो जाता है, कुछ दोषाभाव मात्र हैं और कुछ दोष-रूप ही हैं :

कछूक इनहीं करि गहे, कछूक दोष वियोग।
कछुक दोष ताको भजत, यों गुण बीस न जोग॥

प्राचीन कवि बीस गुणन को कहते हैं, वे इनसे न्यारे नहीं हैं।
(र० र०)

अतएव कुलपति ने केवल तीन गुणों के ही लक्षण किये हैं। इन गुणों के माध्यम हैं वर्ण, समास और रचना। सामान्यतः ये गुणों पर ही आश्रित हैं, किन्तु इन पर वक्ता, अर्थ (वाच्य) और प्रबन्ध का भी नियंत्रण रहता है : वक्ता, वाच्य और प्रबन्ध के विपर्यय से इनका रूप उलटा हो जाता है :

यद्यपि गुन सब हैं तऊ रचना बरन समास।
वक्ता अर्थ प्रबन्ध वश, उलटे होंहि विलास॥

इसके आगे गुण और अलंकार का भेद है :

होय बड़ाई दुहुन तें विरस करै नहिं कोय।
अलंकार अरु गुनन तें, भेद कौन विधि होय?
रसहिं बढ़ावै, होय जहँ कबहूँक अंग निवास।
अनुप्रास उपमादिदै, अलंकार सुप्रकाश॥

दोनों रस के उपकारक हैं—तब दोनों में भेद क्या है? भेद यह है कि अनुप्रास उपमादि अलंकार अंग में निवास करते हुए ही (अंगद्वारेण—मम्मट) रस का कभी-कभी उत्कर्ष करते हैं। अर्थात् अलंकार शब्द-अर्थ का पहले उत्कर्ष करता हुआ फिर रस का उत्कर्ष करता है—और वह भी कभी-कभी। किन्तु गुण सदा ही रस का उत्कर्ष करता है। और स्पष्ट शब्दों में गुण का रस के साथ नित्य सम्बन्ध है, अलंकार का अनित्य। कुलपति का आशय यही है—पर वे उसे पूरी तरह व्यक्त नहीं कर पाये। उनका उपर्युक्त दोहा मम्मट का असमर्थ अनुवाद मात्र होकर रह गया है।

कुलपति ने वृत्तियों का वर्णन भी मम्मट और चिंतामणि की भाँति वृत्यानुप्रास के अन्तर्गत ही किया है :

उपनागरिका मधुर गुन-व्यंजक वरनन होय।
ओज-प्रकाशक वरन तें, पुरुष कहिये सोय॥
वरन प्रकाश प्रसाद को, करै कोमला सोय।
तीन वृत्ति गुण भेद तें, कहैं बड़े कवि लोय॥

यहाँ भी चिंतामणि की भाँति कोमला और प्रसाद गुण का सम्बन्ध माना गया है, और अंत में इन तीनों वृत्तियों को रीतियों के साथ एकरूप कर दिया गया है :

वैदर्भी गौड़ी कहत पुनि पांचाली जानि।
इनहीं सों कोऊ कवी, वरनत रीति बखानि॥

देव

देव का रीति-गुण-वर्णन मम्मट की परम्परा से बहुत-कुछ भिन्न है। उन्होंने प्राचीन आचार्यों का आधार अधिक लिया है। रीति-गुण का विवेचन देव ने काव्य-रसायन में किया है। रीतियों को उन्होंने काव्य का द्वार मानते हुए, रस से उनका अभिन्न सम्बन्ध माना है—

तातें पहिले बनिए काव्य-द्वारा रस-रीति।

काव्य-पुरुष के रूपक में रीति की समता अंग-संस्थान से की गई है। देव का द्वार से तात्पर्य है माध्यम। इस प्रकार इस विषय में देव का मत रस-ध्वनिवादी आचार्यों के मत से लगभग मिल ही जाता है क्योंकि शरीर भी तो आत्मा की बाह्य अभिव्यक्ति का माध्यम ही है। परन्तु एक बात बड़ी विचित्र मिलती है : वह यह कि उन्होंने रीति और गुण को एक कर दिया है—या यों कहिए कि रीति शब्द का सर्वत्र गुण के स्थान पर प्रयोग किया है। संस्कृत, और हिन्दी के भी—आचार्यों ने वैदर्भी, गौड़ी आदि को रीति कहा है, और प्रसाद, ओज आदि को गुण। यह ठीक है कि गुण रीति की आत्मा है और रीतियों का वर्गीकरण गुणों के ही आधार पर हुआ है—परन्तु इन दोनों का एकीकरण किसी ने नहीं किया। वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली का

उल्लेख तक न कर प्रसाद, ओज, माधुर्य आदि का ही रीति नाम से वर्णन किया है। यह मानना तो निरर्थक होगा कि देव को इन दोनों के विषय में कोई भ्रांति थी। वास्तविकता यही है कि उन्होंने जानबूझ कर ऐसा किया है। परन्तु कारण कुछ भी हो यह एकीकरण संगत किसी प्रकार भी नहीं माना जा सकता क्योंकि रीति गुण की अपेक्षा अधिक व्यापक है—एक रीति के अन्तर्गत अनेक गुणों का समावेश हो जाता है।

संस्कृत काव्य-शास्त्र में, जैसा कि मैंने आरम्भ में स्पष्ट किया है, रीति और गुण के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में तीन् मत हैं: आनन्दवर्धन आदि आचार्य रीति को गुणाश्रित मानते हैं, उद्भट आदि गुण को रीति-आश्रित मानते हैं, और वामन् इन दोनों को प्रायः अभिन्न ही मानते हैं। वामन का मत है कि विशिष्ट पद-रचना का नाम रीति है और यह विशिष्टता गुणात्मक है। इस प्रकार रीति का स्वरूप गुणात्मक है। परन्तु तत्व-रूप में दोनों का ऐकात्म्य मानते हुए भी वामन ने व्यवहार-रूप में दोनों की पृथक् सत्ता मानी है: वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली रीतियाँ हैं—श्लेष, प्रसाद, समता आदि गुण हैं। गुण इन रीतियों के प्राण हैं—इनका वैशिष्ट्य सर्वथा गुणात्मक है, किन्तु फिर भी दोनों को सत्ता अलग ही है।

भरत ने दस गुण माने हैं:—१. श्लेष, २. प्रसाद, ३. समता, ४. समाधि, ५. माधुर्य, ६. ओज, ७. सौकुमार्य, ८. अर्थव्यक्ति, ९. उदारता, १०. कांति। भरत के उपरान्त दण्डी और वामन दोनों ने लक्षणों में परिवर्तन-परिशोधन करते हुए इनको ही स्वीकार किया है—दण्डी और वामन ही एक प्रकार से रीति-गुण सम्प्रदाय के अधिनायक हैं। परन्तु आगे चलकर ध्वनिकार ने गुणों की संख्या दस से घटाकर तीन कर दी—उन्होंने माधुर्य, ओज और प्रसाद में ही शेष सात गुणों का अन्तर्भाव कर दिया। मम्मट आदि ने भी इन्हीं को स्वीकृति दी और तब से प्रायः ये तीन गुण ही प्रचलित रहे हैं। परन्तु देव ने इस विषय में पूर्व-ध्वनि परम्परा का अनुसरण करते हुए उपर्युक्त दस गुणों (रीतियों) को ग्रहण किया है—वरन् उन्होंने तो अनुप्रास और यमक को भी गुणों (रीतियों) के अन्तर्गत मानते हुए उनकी संख्या बारह तक पहुँचा दी है। यमक और अनुप्रास को रीति (गुण) मानना साधारणतः असंगत है क्यों कि गुण काव्य की आत्मा का धर्म है, दूसरे शब्दों में काव्य का स्थायी धर्म है, इसके विपरीत यमक और अनुप्रास रस के आंतरिक तत्व न होने से काव्य के अस्थायी धर्म ही रहेंगे। परन्तु देव की इस स्थापना से एक महत्वपूर्ण संकेत अवश्य मिलता है: वह यह कि पण्डितराज जगन्नाथ की भाँति वे गुणों की स्थिति

अर्थ के साथ-साथ वर्णों में भी मानते हैं। उपर्युक्त दस गुणों के विवेचन में उन्होंने भरत और वामन की अपेक्षा प्रायः दण्डी का ही अनुसरण किया है। क्रम भी बहुत कुछ दण्डी से ही मिलता है, लक्षण तो कहीं-कहीं काव्यादर्श से अनूदित हो कर दिए गए हैं। श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति और ओज के लक्षण प्रायः दण्डी के ही अनुसार हैं। केवल दो-तीन गुण ही ऐसे रह जाते हैं जिनके लक्षण भरत, दण्डी और वामन तीनों से भिन्न हैं। कान्ति गुण में, देव के अनुसार, सुरुचि-पूर्ण चारु वचनावली होनी चाहिये जिसमें लोकमर्यादा की अपेक्षा कुछ विशेषता हो और जो अपने इस गुण के कारण लोगों को सुखकर हो :

> अधिक लोकमर्जाद ते, सुनत परम सुख जाहि।
> चारु वचन ये कांति रुचि, कांति वखानत ताहि॥
> (शब्द-रसायन)

इस लक्षण का शेष भाग तो दण्डी से मिल जाता है, परन्तु दण्डी जहाँ लोक-मर्यादा के अनुसरण को (लौकिकार्थनातिक्रमात्) अनिवार्य मानते हैं वहाँ देव में उसके अतिक्रमण का स्पष्ट उल्लेख है। दण्डी के अनुसार तो अप्राकृतिकता अथवा अस्वाभाविकता का बहिष्कार करते हुए लौकिक मर्यादा के अनुकूल स्वाभाविक वर्णन करना ही कान्ति गुण का मुख्य तत्व है। वामन ने समृद्धि अर्थात् औज्ज्वल्य और रस-दीप्ति को कान्ति गुण का सार-तत्व माना है—जिसके लिए साधारण प्रचलित शब्दावली का बहिष्कार अनिवार्य है। देव ने या तो दण्डी का अभिप्राय नहीं समझा—या फिर कुछ पाठ की गड़बड़ है। इसके अतिरिक्त एक संभावना यह हो सकती है कि 'अधिक लोक मर्जाद ते' से देव का अभिप्राय कदाचित् वामन द्वारा निर्दिष्ट साधारण वचनावली के बहिष्कार का ही हो—परन्तु यह कुछ क्लिष्ट कल्पना ही लगती है। इसी प्रकार उदारता के लक्षण में भी 'यस्मिन् उक्ते (जाहि सुनत ही)', तथा 'उत्कर्ष' आदि शब्द देव ने दण्डी से ही लिए हैं, परन्तु दण्डी जहाँ उत्कर्ष की भावना को उदारता का प्राण मानते हैं, वहाँ देव का कहना है :

> जाहि सुनत ही ओज को दूर होत उत्कर्ष।
> (शब्द-रसायन)

ओज का उत्कर्ष दूर होने से उनका क्या अभिप्राय है यह जानना कठिन है। प्रयत्न करने पर यही अर्थ निकाला जा सकता है कि उदारता में एक प्रकार का उत्कर्ष होता है, जो ओज के उत्कर्ष से भिन्न होता है—या फिर यहाँ भी प्रतिलिपि-

कार की कृपा से कुछ उलट-फेर है इसी प्रकार समाधि के लक्षण देव और दण्डी के यों तो समान हैं—किन्तु दण्डी के "लोकसीमानुरोधिना" (लोक मर्यादा के भीतर) के स्थान पर देव ने न जाने क्यों 'लोक सींव उलँघै अरथ" लिख दिया है। यहाँ भी या तो पाठ की गड़बड़ है या अर्थ समझने में भ्रांति हुई है।

इस प्रसंग में भी देव ने एक नवीन् उद्भावना कर डाली है—वह यह है कि आपने प्रत्येक रीति (गुण) के दो भेद माने हैं—नागर और ग्राम्य। इन दोनों में यह अन्तर है कि नागर रीति में सुरुचि का प्राधान्य होता है, ग्राम्य में रस का आधिक्य होते हुए भी सुरुचि का अभाव रहता है :

नागर गुन आगर, दुतिय रस-सागर रुचि-हीन।
(शब्द-रसायन)

वैसे दोनों की अपनी-अपनी विशेषता है—एक को उत्कृष्ट और दूसरी को निकृष्ट कहना अरसिकता का परिचय देना होगा। देव की अन्य उद्भावनाओं की भाँति यह भी महत्वहीन ही है और एक प्रकार से असंगत भी क्यों कि पहले तो मानव-स्वभाव में नागर और ग्रामीण का मूलगत भेद मानना ही युक्ति-संगत नहीं है (देव अपने उदाहरणों द्वारा यह अन्तर स्पष्ट करने में प्रायः असफल रहे हैं), फिर यदि इस स्थूल भेद को स्वीकार भी कर लिया जाए, तो कांति, उदारता आदि कतिपय गुण ऐसे हैं जिनके लिए अग्राम्यत्व अनिवार्य है। ऐसी दशा में इनके भी नागर और ग्रामीण भेद करना इनकी आत्मा का ही निषेध करना है।

शब्द-शक्ति, रीति, गुण आदि के अतिरिक्त देव ने कैशिकी, आरभटी, सात्वती और भारती वृत्तियों का वर्णन भी किया है जो कि श्रव्य-काव्य का अंग न होकर दृश्य-काव्य का ही अंग मानी जाती है। शृंगार, हास्य और करुण में कैशिकी (कौशिकी); रौद्र, भयानक और वीभत्स में आरभटी; वीर, रौद्र, अद्भुत और शांत में सात्वती; तथा वीर हास्य और अद्भुत में भारती वृत्ति का प्रयोग होता है। संस्कृत नाट्य-शास्त्र, दशरूपक, साहित्य-दर्पण आदि में भी रसों के अनुपक्रम से ही इनका विवेचन है—परन्तु देव का आधार यहाँ उपर्युक्त ग्रन्थ न होकर केशवदास की रसिक-प्रिया ही है। रसिक-प्रिया में ठीक इसी क्रम से इनका रसों के साथ सम्बन्ध बैठाया गया है, एक थोड़ा-सा अन्तर यह है कि सात्वती के अन्तर्गत शृंगार के स्थान पर देव ने भरत के आधार पर रौद्र को माना है, बस; परन्तु केशव में भी शायद यह लिपि-दोष है।

देव के उपरान्त दास तक प्रायः किसी भी कवि ने रीति अथवा रीति-तत्वों का विशेष विवेचन नहीं किया। इनके प्रसंग में दो बातें उल्लेख योग्य हैं : एक तो सूरति मिश्र ने अपने लक्षण में रीति का समावेश करते हुए उसको काव्य का आवश्यक अंग माना है।

> बरनन मन-रंजन जहाँ रीति अलौकिक होइ।
> निपुन कर्म कवि को जु तिहि काव्य कहत सब कोइ॥

जहाँ तक मुझे स्मरण है संस्कृत-हिन्दी के किसी कवि ने रीति का काव्य-लक्षण में समावेश नहीं किया—गुण का ही प्रायः किया है। दूसरी विशेष बात यह है कि श्रीपति ने अपने श्रीपति-सरोज में अर्थ-गुणों का अलग वर्णन किया है। हिन्दी में अर्थ और शब्द के आधार पर गुण-भेद प्रायः नहीं किये गये। एक चिंतामणि ही अपवाद है। संस्कृत में भी वामन या भोजराज आदि दो-एक आचार्यों को छोड़ किसी ने इस को स्वीकार नहीं किया। इस दृष्टि से श्रीपति का अर्थ-गुण-वर्णन एक उल्लेखनीय विशेषता है। सोमनाथ ने अपने 'रसपीयूषनिधि' में गुण का काव्य-लक्षण में उल्लेख किया है—मम्मट के आधार पर उनका लक्षण इस प्रकार है :

> सगुन पदारथ दोष बिनु, पिंगल मत अविरुद्ध।
> भूषणजुत कवि-कर्म जो, सो कवित्त कहि बुद्ध॥

परन्तु इन आचार्यों का गुण-लक्षण वामन से थोड़ा भिन्न है। ये गुण को रस का धर्म मानते हैं जबकि वामन उसे शब्द-अर्थ का ही धर्म मानते हैं—फिर भी व्यवहार रूप में दोनों के गुण-वर्णन में बहुत कुछ सादृश्य भी है, इसीलिए गुण का रीति के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध रहा है।

दास

दास का गुण-वर्णन रीतिकाल के प्रायः अन्य सभी आचार्यों की अपेक्षा अधिक मूल्यवान है। उन्होंने इस प्रसंग का वर्णन अधिक मनोयोग-पूर्वक और साथ ही स्वतन्त्र रीति से भी किया है।

> दस बिधि के गुन कहत हैं, पहिले सुकवि सुजान।
> पुनि तीनै गुन गनि रचौ, सब तिनके दरम्यान॥

ज्यों सतजन हिय ते नहीं सूरतादि गुन जाय।
त्यों विदग्ध हिय में रहें, दस गुन सहज स्वभाय ॥

अर्थात् जिस प्रकार सज्जन के हृदय में शौर्य आदि का वास रहता है, इसी प्रकार विदग्ध सहृदय के हृदय में स्वभाव से ही दस गुण निवास करते हैं। दास की यह स्थापना परम्परा से कुछ भिन्न है। परम्परा के अनुसार स्थायी भावों के विषय में यह प्रसिद्ध है कि वे वासना-रूप में सहृदय के हृदय में वर्तमान रहते हैं। दास गुणों की भी यही स्थिति मानते हैं : उनका तर्क कदाचित् यह है कि रस के धर्म होने के कारण गुणों का भी वासना से सहज सम्बन्ध है, और शौर्य आदि गुणों की भांति वे भी आत्मा में ही निवास करते हैं।

मम्मट आदि रस-ध्वनिवादी भी गुणों को चित्त की द्रुति, दीप्ति तथा व्याप्ति (समर्पकत्व) रूप मानते हुए इस तत्व की ओर संकेत करते हैं—और इसी कारण वे गुणों की संख्या दस न मान कर केवल तीन मानते हैं। दास का भी यही मत है : प्राचीन आचार्यों के अनुसार दस गुणों का वर्णन करने के उपरांत वे मूल गुणों की संख्या केवल तीन मानते हैं।

दस गुणों के वर्गीकरण में दास ने फिर परम्परा से भिन्न मार्ग का अवलम्बन किया है। उन्होंने गुणों के चार वर्ग किये हैं : (१) अक्षर-गुण—माधुर्य, ओज तथा प्रसाद (२) दोषाभाव-रूप गुण—समता, कान्ति और उदारता (३) अर्थ-गुण—अर्थव्यक्ति और समाधि (४) वाक्य-गुण—श्लेष तथा पुनरुक्तिप्रकाश।

अक्षर गुन माधुर्य अरु, ओज प्रसाद विचारि।
समता कान्ति उदारता, दूषन-हरन निहारि ॥

अर्थव्यक्ति समाधिये अर्थहि करें प्रकास।
वाक्यन के गुन श्लेष अरु, पुनरुक्ती-परकास ॥

यहाँ पहली बात तो यही विचारणीय है कि दास ने पुनरुक्तिप्रकाश नामक एक नये गुण की कल्पना की है और वामनादि के सौकुमार्य गुण को छोड़ दिया है।

एक शब्द बहु बार जहँ, परै रुचिरता अर्थ।
पुनरुक्तीपरकास गुन बरनैं बुद्धि समर्थ ॥

दास ने सौकुमार्य के स्थान पर इस नवीन गुण की कल्पना क्यों की यह कहना कठिन है, फिर भी यह अनुमान किया जा सकता है कि सौकुमार्य की कदाचित् वे पृथक् सत्ता

स्वीकार नहीं कर सके, अतएव उसे छोड़ कर उन्होंने एक अन्य प्रकार के पद-रचना चमत्कार को, जिसका व्रजभाषा में यथेष्ट प्रचार था, दस गुणों में समाविष्ट कर लिया। वामन ने शब्द-गुण सौकुमार्य का अर्थ किया है शब्द-गत अपारुष्य—इस दृष्टि से पुनरुक्तिप्रकाश की रुचिर पदावृत्ति को सौकुमार्य का एक साधन भी माना जा सकता है। सौकुमार्य का यह रूप अन्य रूपों की अपेक्षा अधिक विशिष्ट था, अतएव दास ने कदाचित् इसका स्वतन्त्र अस्तित्व मानना प्रचलित काव्य-भाषा के अधिक स्वरूपानुकूल समझा।

शेष नौ गुणों में से माधुर्य, ओज, प्रसाद, श्लेष, कान्ति और अर्थव्यक्ति के लक्षण तो दास ने प्रायः दण्डी अथवा वामन के अनुसार ही दिये हैं—परन्तु समता, औदार्य और समाधि में परम्परा से वैचित्र्य है।

समता—

प्राचीनन की रीति सों, भिन्न रीति ठहराइ।
समता गुन ताको कहैं, पै दूषनन्ह बराइ॥

अर्थात् दास के अनुसार समता गुण वहाँ होता है जहाँ परिपाटी-भुक्त रीति का अवलम्बन किया जाये—किन्तु परिपाटी से मुक्ति दुष्ट प्रयोगों की छूट नहीं देती। यह लक्षण कुछ-कुछ वामन के अर्थ-गुण माधुर्य से मिलता है। दण्डी और वामन के अनुसार समता का अर्थ है रीति का अवैषम्य।

उदारता—

जो अन्वय बल पठित ह्वै, समुझि परै चतुरैन।
औरन को लागे कठिन, गन उदारता ऐन॥

अर्थात् जहाँ अन्वय बल-पूर्वक लगाया जा सके—जो केवल विदग्ध जन की ही समझ में आये और दूसरों को कठिन प्रतीत हो वहाँ उदारता गुण होता है। प्रस्तुत लक्षण दास ने कहाँ से लिया है यह कहना कठिन है। भरत, दण्डी तथा वामनादि किसी ने भी इसका संकेत नहीं किया।

तीसरा गुण समाधि है जिसमें दास ने कुछ वैचित्र्य प्रदर्शित किया है। जहाँ रुचिर क्रम से आरोह-अवरोह हो वहाँ समाधि गुण होता है :

जुहै रोह-अवरोह गति रुचिर भाँति क्रम पाय।

इसके आगे दास ने समाधि का जो उदाहरण दिया है वह बहुत कुछ सार अलंकार से मिल जाता है। वामन ने भी क्रमिक आरोह-अवरोह को समाधि का लक्षण माना है, परन्तु वह आरोह-अवरोह अक्षर-गुम्फ का है, अर्थ का नहीं। अतएव यह वैचित्र्य बहुत कुछ भ्रान्ति-जन्य है।

दास का गुण-वर्गीकरण अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण है। माधुर्य, ओज और प्रसाद को अक्षर-गुण मानने का कारण यह है कि मम्मट आदि परवर्ती आचार्यों ने तत्व-रूप में गुण को रस का धर्म मानते हुए भी उसको वर्ण के आश्रित भी प्रकारान्तर से माना ही है—और पण्डितराज जगन्नाथ ने तो स्पष्ट ही यह मान लिया है कि गुण वर्ण के भी आश्रित हैं। वास्तव में गुण की स्थिति थोड़ी अस्पष्ट-सी रही है। सिद्धांत में गुण के रस-धर्मत्व की चर्चा करते हुए व्यवहार में प्रायः सभी आचार्य वर्णों के आश्रय से ही उसका स्वरूप-निरूपण करते रहे हैं। दास ने इसीलिए गुणों के मूर्त आधार को प्रमाण मानते हुए माधुर्य, ओज, प्रसाद को वर्ण-गुण मान लिया। इसी प्रकार श्लेष और पुनरुक्तिप्रकाश को वाक्य-गुण मानने में भी मूर्त-आधार को ही प्रमाण रूप में स्वीकार किया गया है, क्योंकि ये गुण वाक्य में ही सम्भव हैं—पृथक् पदों में अथवा वर्ण-योजना में इनकी स्थिति सम्भव नहीं है। अर्थव्यक्ति और समाधि को दास ने अर्थ-गुण माना है—पहले में अर्थ की स्पष्ट अभिव्यक्ति और दूसरे में अर्थ का क्रमिक आरोह-अवरोह होने के कारण। कांति, समता और उदारता को दास ने दूषण-हरण माना है—अर्थात् ये गुण दोषों का सम्मार्जन करते हुए काव्य का उत्कर्ष करते हैं। मम्मट ने काव्य-प्रकाश में जहाँ दस गुणों का माधुर्य, ओज, प्रसाद में अन्तर्भाव सिद्ध किया है, वहाँ कान्ति (शब्द-गुण), समता (अर्थ-गुण) तथा उदारता (अर्थ-गुण) को क्रमशः अग्राम्यत्व, प्रक्रम-भंग और अग्राम्यत्व दोष का अभाव मात्र माना है। इस प्रकार मम्मटादि के अनुसार उपर्युक्त तीनों गुण किसी न किसी रूप में दोषाभाव—दास के शब्दों में दूषण-हरण—माने जा सकते हैं। परन्तु दास-कृत समता तथा उदारता के लक्षण तो वामन के लक्षणों से भिन्न हैं—उनका समता गुण परिपाटी-भुक्त रीति के परित्याग तथा नवीन रीति के अवलम्बन में सन्निहित रहता है, और उदारता में पद-रचना इस प्रकार की जाती है कि विदग्ध जन ही उसे समझ सकते हैं, अन्य अर्थात् जन-साधारण की बुद्धि वहाँ तक नहीं पहुँच सकती। ये लक्षण यद्यपि वामन के लक्षणों से भिन्न हैं तथापि इन रूपों में भी उपर्युक्त दोनों गुण दोषा-भाव हो सकते हैं। समता गुण की परिभाषा बहुत-कुछ वामन के अर्थ-गुण माधुर्य से मिल जाती है, और इस प्रकार वह अनवीकृत दोष का अभाव-रूप हो जाता है। इसी तरह उदारता के लक्षण की भी ध्वनि यही है कि उसकी अभिव्यंजना में वैदग्ध्य

रहता है, सस्तापन नहीं होता : 'सस्तेपन' को ही ग्राम्यत्व भी कहा जा सकता है। अतएव प्रकारान्तर से दास के लक्षण को वामन के लक्षण से सम्बद्ध करते हुए इसको भी ग्राम्यत्व दोष का अभाव-रूप मानना असंगत नहीं होगा। निष्कर्ष यह है कि लक्षण-भेद होते हुए भी दास के ये तीन गुण दूषण-हरण माने जा सकते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से दास के गुण-वर्गीकरण के विषय में कुछ संकेत मिल जाते हैं। हमारा अनुमान है कि दास के दो वर्ग (१) अक्षर-गुण और (२) दूषण-हरण अर्थात् दोषाभाव वर्ग के लिए एक और संकेत दास को कदाचित् ध्वनिवादियों की इस स्थापना से भी प्राप्त हुआ हो : 'महान् निर्दोषता गुणः।'

अर्थ-गुण का आधार दण्डी और विशेष रूप से वामन का गुण-विवेचन है, और वाक्य-गुण वर्ग की उद्भावना दास ने स्वतन्त्र रीति से कर ली है। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि उपर्युक्त चारों वर्गों की कल्पना के पीछे दोष-वर्गीकरण की प्रेरणा रही हो क्यों कि दोषों का वर्गीकरण भी तो कुछ अंशों में अक्षर-योजना, अर्थ, वाक्य आदि के आधार पर हुआ है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये सभी वर्ग-विशेष तात्विक नहीं हैं—इनका आधार प्रायः बाह्य रचना ही है। स्वयं दास ने आगे चल कर प्रकारान्तर से इस तथ्य को अपनी एक अन्य स्थापना में स्वीकार किया है :

रस के भूषित करन ते, गुन वरने सुख दानि।
गुन भूपन अनुमानि कै, अनुप्रास उर आनि ॥

अर्थात् उपर्युक्त गुण तभी तक गुण हैं जब तक वे रस का उत्कर्ष करते हैं। जहाँ वे ऐसा नहीं कर पाते वहाँ वे अनुप्रास मात्र रह जाते हैं। इस स्थापना से दास मानों उपर्युक्त वर्गीकरण का निषेध कर देते हैं क्यों कि यदि गुण का रस के साथ अनिवार्य सम्बन्ध है, तो उनका वर्गीकरण रस के आधार पर ही होना चाहिए, रचना के बाह्य तत्वों—अक्षर-बन्ध, वाक्य आदि के आधार पर नहीं। यदि गुण रस का उत्कर्ष करने पर ही अपनी गुणता सिद्ध करते हैं तो माधुर्य, ओज और प्रसाद को अक्षर-गुण कहना उनकी गुणता का निषेध करना है : वैसी दशा में तो वे अनुप्रास मात्र ही रह जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि गुण की वास्तविक स्थिति की समस्या दास के सामने भी आयी है, और उनकी व्यावहारिक दृष्टि ने उसे अपने ढंग से हल करने का प्रयत्न किया है। तत्व दृष्टि से तो उन्होंने गुण का रस के साथ ही नित्य सम्बन्ध माना है, परन्तु व्यावहारिक रूप में उनके बाह्य स्वरूप को स्पष्ट करने का जहाँ प्रश्न आया है, वहाँ उन्होंने मूर्त आधार को ही प्रमाण मान कर गुणों का वर्णन तथा वर्गीकरण आदि

कर दिया है। संस्कृत के भी अनेक आचार्यों ने इस समस्या को कुछ इसी प्रकार से सुलझाने का प्रयत्न किया है, परन्तु दास का वर्णन आवश्यकता से अधिक निश्चयात्मक हो गया है। उससे कहीं गुण की मौलिक स्थिति के विषय में भ्रम उत्पन्न न हो जाए, इसलिए आगे चलकर दास को उतने ही निश्चयात्मक शब्दों में एक अन्य स्थापना करने की आवश्यकता पड़ी है। यह स्थापना परम्परा[1] से भिन्न होते हुए भी सत्य से दूर नहीं है क्योंकि रस से हीन वर्ण-योजना अनुप्रास के अतिरिक्त और क्या है? इस प्रकार दास के गुण-विवेचन में अन्तर्विरोध नहीं है—वास्तव में गुण की स्थिति को स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हुए वे भी उसी भँवर में पड़ गये हैं जिसमें कि संस्कृत के अधिकांश आचार्य फँस गये थे। सामान्यतः गुण, गुण और रस का सम्बन्ध, तथा काव्य में गुण का स्थान, आदि मूल विषयों के सम्बन्ध में उनका सिद्धान्त अपने आप में स्पष्ट है। एतद्विषयक सिद्धान्तों का सार दास ने इस प्रकार दिया है :

ज्यों जीवात्मा में रहै, धर्म सूरता आदि।
त्यों रस ही में होत गुन, बरनै गनै सबादि॥

रस ही के उत्कर्ष को, अचल स्थिति गुन होय।
अंगी धरम सुरूपता, अंग धरम नहिं कोय॥

कहुँ लखि लघु कादर कहै, सूर बड़ो लखि अंग।
रसहि लाज त्यों गुन बिना, अरि सो सुभग न संग॥

अर्थात् जिस प्रकार शौर्यादि आत्मा के धर्म हैं उसी प्रकार गुण रस के धर्म हैं। गुणों का कार्य है रस का उत्कर्ष करना, अतएव वे रस के ही अचल-स्थिति धर्म हैं, शब्द-अर्थ के धर्म नहीं हैं, क्यों कि सौन्दर्य आदि अन्ततः अंगी आत्मा के ही गुण ठहरते हैं, अंगभूत शरीर के नहीं। कहीं-कहीं व्यवहार में लघुकाय व्यक्ति को कायर और महाकाय को शूर कह देते हैं, परन्तु यह केवल व्यावहारिक प्रयोग है, तात्विक नहीं। इसी प्रकार शब्द-अर्थ के साथ गुणों का सम्बन्ध तात्विक नहीं है, उपचार-रूप में ही है। इसके विपरीत उपमा, अनुप्रास आदि शब्दार्थालंकार काव्य के बाह्य अलंकार हैं, जिस प्रकार हार आदि आभूषण प्रथमतः शरीर को अलंकृत करते हैं, इसी प्रकार उपमादि अलंकार शब्द-अर्थ के ही धर्म हैं—वे पहले शब्द-अर्थ का ही उत्कर्ष करते हैं। अतएव अलंकार की स्थिति रस के बिना भी सम्भव है :

---

१. और परम्परा से भी यह बहुत भिन्न नहीं है; प्राचीन आचार्यों ने—भामह, उद्भट आदि ने—वृत्तियों को तो अनुप्रास-जाति माना ही है।

अलंकार बिनु रसहु है, रसहु अलंकृति छंडि ।

परन्तु गुण की सत्ता रस के लिए अनिवार्य है—गुण के अभाव में रस का परिपाक नहीं हो सकता :—'रसहिं लाज त्यों गुन बिना ।'

इसके उपरांत उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियों का वर्णन है। मम्मट के अनुकरण पर दास ने भी वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली रीतियों का वर्णन न कर उपनागरिका आदि वृत्तियों का ही वर्णन किया है। दास का यह वृत्ति-विवेचन भी उद्भट आदि प्राचीन आचार्यों से थोड़ा भिन्न पूर्णतया मम्मट के विवेचन पर आश्रित है। उन्होंने भी उपनागरिका में माधुर्य-व्यंजक वर्णों को, परुषा में ओजोव्यंजक वर्णों को और कोमला में प्रसादव्यंजक वर्णों की स्थिति मानी है :

मिले बरन माधुर्य के, उपनागरिका निति।
परुषा ओज, प्रसाद के मिले कोमला वृत्ति ॥
(काव्यनिर्णय पृ० १९९)

अन्य रीतिकार

दास के उपरान्त उत्तर-रीतिकाल के कवियों ने इस प्रसंग के विवेचन में कोई विशेष योग नहीं दिया। रूपसाहि ने चार नाट्य-वृत्तियों का वर्णन किया है जो प्रायः केशव के आधार पर है। केवल एक ही ग्रन्थ ऐसा है जिसका उल्लेख करना यहाँ आवश्यक है—और वह है जगतसिंह का साहित्य-सुधानिधि (सम्वत् १८८५ वि०)। इस ग्रन्थ की नवीं तरंग में रीति-वर्णन है :

पंच, षष्ट, नग-वसु करि जहाँ समास।
पांचाली, लाटी, क्रम गौड़ी भास ॥

बिन समास जहँ कीजै पद-निर्वाह।
वैदर्भी सो जानो कविन सराह ॥

अर्थात् जहाँ पाँच, छः, सात-आठ समासों का प्रयोग हो वहाँ क्रमशः पांचाली, लाटी और गौड़ी रीति होती है। और स्पष्ट शब्दों में पांचाली में पाँच समास, लाटीया में छः और गौड़ीया में सात-आठ समास होते हैं। वैदर्भी में सर्वथा असमस्त पद-रचना होती है। यह रीति-वर्णन मान्य परम्परा से थोड़ा-सा भिन्न रुद्रट से प्रेरित है।

संस्कृत में केवल समास-संख्या के आधार पर रुद्रट ने रीति-विभाजन किया है :

द्वित्रिपदा पांचाली लाटीया पंच-सप्त वा यावत्।
शब्दाः समासवन्तो भवति यथाशक्ति गौड़ीया ॥
(रुद्रट-काव्यालंकार २।४-५)

इस प्रकार रुद्रट और जगतसिंह के रीति-वर्णन में केवल संख्या का भेद है। रुद्रट पांचाली में दो-तीन समासों की स्थिति मानते हैं परन्तु जगतसिंह पाँच की, लाटीया में रुद्रट के अनुसार पांच-सात समास होते हैं किन्तु जगतसिंह के अनुसार छः, गौड़ीया में रुद्रट के अनुसार यथाशक्ति समस्त पदों का ही प्रयोग रहता है, पर जगतसिंह ने उसके लिए भी सात-आठ समासों की संख्या निश्चित कर दी है। यह अन्तर विशेष महत्वपूर्ण नहीं है और न इसका कोई उचित आधार ही समझ में आता है। समास संख्या के आधार पर रीति-भेद करना भी बहुत न्याय्य नहीं है—संस्कृत में स्वयं रुद्रट की भी आलोचना हुई है। फिर लघु-समासा पांचाली में दो-तीन के स्थान पर पांच-सात समास मानने में तो और भी कोई तुक नहीं दिखाई देती। मध्यम-समासा लाटीया में रुद्रट और जगतसिंह के वर्णन में कोई स्पष्ट अन्तर नहीं है—रुद्रट पांच-सात समास मानते हैं, जगतसिंह छः। गौड़ीया में जगतसिंह ने कदाचित् जानबूझ कर अन्तर किया है क्यों कि संस्कृत में तो 'यथाशक्ति समस्त पदों का ही प्रयोग' सम्भव हो सकता है। किन्तु हिन्दी की प्रकृति इसे सहन नहीं कर सकती, अतएव जगतसिंह को यहाँ भी समास-संख्या निश्चित करनी पड़ी है। वैदर्भी के विषय में रुद्रट और जगतसिंह एकमत हैं—उसमें समास का अभाव रहता है। वैदर्भी की कवि-समाज में बड़ी प्रशंसा है—जगतसिंह का यह कथन सर्वथा सत्य ही है। संस्कृत में श्रीहर्ष, पद्मगुप्त, बिल्हण; नीलकण्ठ आदि कवियों ने इसका कीर्तन किया है; दण्डी तथा कालिदास जैसे कलाकारों ने इसका मनोयोग-पूर्वक व्यवहार किया है और वामन, राजशेखर, भोजराज प्रभृति आचार्यों ने इसे मूर्धन्य पर स्थान दिया है।

यह स्पष्ट ही है कि जगतसिंह के रीति-वर्णन में कोई मौलिकता नहीं है—उनका आधार रुद्रट का काव्यालंकार है। परन्तु हिन्दी में वैदर्भी, गौड़ी आदि रीतियों का वर्णन इतना विरल है कि इस प्रसंग में जगतसिंह का आभार मानना ही होगा। हिन्दी में वर्ण-वृत्तियों का वर्णन मम्मट के अनुसरण पर कई आचार्यों ने किया है, नाट्य-वृत्तियों का भी वर्णन हुआ है, किन्तु वामनीया रीति का वर्णन प्रायः दुर्लभ हो रहा है। जगतसिंह के उपरान्त रीतिकाल के चौथे चरण में—अर्थात् उन्नीसवीं विक्रम

शती के उत्तरार्ध में महाराज रामसिंह, पद्माकर, प्रतापसाहि आदि प्रमुख कवि-आचार्य हुए, किंतु इन में से प्रायः किसी ने भी रीति के प्रसंग को नहीं उठाया।

काल-विभाजन की दृष्टि से तो रीतियुग सम्वत् १९०० के आसपास समाप्त हो जाता है, किन्तु रीति-परम्परा बीसवीं शताब्दी में भी लुप्त नहीं हुई और 'आधुनिक युग' में भी अनेक उच्चकोटि के रीतिग्रन्थों की रचना हुई : ग्वाल कवि का रसरंग, लछिराम का रावणेश्वर-कल्पतरु, कविराज मुरारिदान का जसवंत-भूषण तथा अयोध्या-नरेश महाराजा प्रतापनारायणसिंह का रस-कुसुमाकर आदि इसी परम्परा के महत्वपूर्ण ग्रन्थ है—किन्तु रीति-गुण का वर्णन इनमें से जसवन्त-भूषण जैसे एकाध ग्रन्थ में ही है, और वह भी अत्यन्त संक्षिप्त है।

आधुनिक रीतिकार

वर्तमान युग में काव्य-शास्त्र की दिशा बदल गई है, आज के हिन्दी काव्यशास्त्र पर यूरोप के आलोचना-सिद्धान्तों तथा मनोविज्ञान का गहरा प्रभाव है—रीतिशास्त्र की अपेक्षा आज काव्य-शास्त्र पर अधिक बल है। फिर भी हिन्दी की प्राचीन रीति-परम्परा सर्वथा निश्शेष नहीं हुई : सेठ कन्हैयालाल पोद्दार की रस-मंजरी, तथा अलंकार-मंजरी, अर्जुनदास केडिया का भारती-भूषण, मिश्रबन्धुओं का साहित्यपारिजात और हरिऔध का रसकलस आदि प्राचीन परिपाटी के मान्य ग्रन्थ हैं। इनमें से रसकलस रस और नायिका-भेद का ग्रन्थ है। शेष सभी में रीति-गुण-वृत्ति का थोड़ा-बहुत विवेचन किया गया है। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के विवेचन का आधार मम्मट का काव्यप्रकाश है। उन्होंने यों तो अन्य आचार्यों के मतों का भी यत्र-तत्र उल्लेख किया है, किन्तु प्रमाण माना है मम्मट को ही : इस प्रकार इस ग्रन्थ में मौलिकता का सर्वथा अभाव है—इसका प्रमुख गुण इसकी स्पष्टता है। मम्मट के अनुसार पोद्दार जी ने भी रीति का वर्णन न कर केवल वृत्ति का ही वर्णन शब्दालंकार प्रसंग में अनुप्रास के अन्तर्गत किया है। उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियों का यह वर्णन मम्मट के वृत्ति-वर्णन का अनुवाद मात्र है—पोद्दार जी ने केवल स्पष्ट हिन्दी गद्य में उसका रूपान्तर कर दिया है। गुण का विवेचन रसमंजरी के षष्ठ स्तबक में किया गया है। इस स्तबक में गुण का लक्षण और स्वरूप, गुण-अलंकार का भेद, गुणों की संख्या तथा माधुर्य-ओज-प्रसाद का वर्णन है। अन्त में रचना अथवा रीति का भी अत्यन्त संक्षिप्त उल्लेख है। यह सब भी पूर्णतया मम्मट पर ही आश्रित है : गुण-

लक्षण मम्मट के लक्षण का अनुवाद है, दस गुणों में से तीन गुणों की स्वीकृति भी मम्मट के ही अनुसार है, इन तीन गुणों के लक्षण आदि मम्मट से अनूदित हैं, और गुण तथा अलंकार के भेद-प्रदर्शन में भी[1] काव्य-प्रकाश के सिद्धान्त का उल्लेख किया गया है :—"गुण रस के धर्म हैं, क्योंकि गुण के साथ नित्य रहते हैं। अलंकार रस का साथ छोड़ कर नीरस काव्य में भी रहते हैं। गुण रस का सर्वेव उपकार करते हैं, पर अलंकार रस के साथ रह कर कभी उपकारक होते हैं और कभी नहीं।" सेठ पोद्दार ने गुण को दोष का अभाव माना है—भरत मुनि का भी यही मत है, परन्तु वामन आदि आचार्यों ने इसका निराकरण किया है क्यों कि गुण भावात्मक विशेषताएँ हैं, अभावात्मक नहीं, निर्दोषता भी अपने आप में एक गुण है, परन्तु वह उपचार से है—वास्तविक गुण की स्थिति भावात्मक ही होनी चाहिये। इसी स्तबक के अन्त में रीतियों का भी उल्लेख है। रीति का ही नाम रचना है।[2]

"वैदर्भी, गौणी ? (गौड़ी) और पांचाली रीतियों को रचना कहते हैं, ये रीतियाँ गुणों के आश्रित हैं। गुण रस के धर्म और नित्य सहचारी हैं, इसलिए वर्ण और रचना में गुण और रस की व्यंजना एक ही साथ होती है।[3] + + + इन रीतियों को श्री मम्मट ने उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्ति के नाम से लिखा है और माधुर्य-गुण-व्यंजक वर्णों की रचना को उपनागरिका, ओज-गुण-व्यंजक वर्णों की रचना को परुषा और इन दोनों में प्रयुक्त वर्णों से अतिरिक्त वर्णों की रचना को कोमला वृत्ति बतलाया है।"—सेठ जी मम्मट के आधार पर ध्वनिवादी हैं—उन्होंने रीति को रचना-ध्वनि या वर्ण-ध्वनि के अन्तर्गत ही माना है।

श्री अर्जुनदास केडिया के भारतीभूषण में भी वृत्तियों का वर्णन शब्दालंकार के अनुप्रास प्रसंग में ही मिलता है। उनके वर्णन में एक साधारण-सी नवीनता यह है कि उन्होंने वृत्ति के लिए स्वरों का भी आधार माना है—ह्रस्व स्वर उपनागरिका के और दीर्घ स्वर परुषा के लिए उपयुक्त हैं। उपर्युक्त क्रम मिश्रबन्धुओं के साहित्य-पारिजात में भी रखा गया है : वहाँ भी वृत्तियों का वर्णन अनुप्रास के ही अन्तर्गत हुआ है : 'इसके (वृत्ति के) तीन भेदान्तर हैं, अर्थात् उपनागरिका या वैदर्भी, परुषा या गौणी ? (गौड़ी) और कोमला या पांचाली। + + + उपनागरिका में चित्त-द्रावक वर्णों में रचना रहती है। इसमें माधुर्य गुण के व्यंजक वर्ण आते हैं।'

---

१. रसमंजरी षष्ठ स्तबक पृ० ३८३।
२. रसमंजरी षष्ठ स्तबक पृ० ३८४।
३. वही ३८४ पाद टिप्पणी।

'परुषा या गौणी (?) में ओज के प्रकाशक वर्णों की अधिकता होती है।' 'कोमला या पांचाली में प्रसाद-व्यंजक रचना लानी चाहिये।' मिश्रबन्धुओं के विवेचन में दो विशेषताएँ हैं : एक तो उसका आधार प्रत्यक्षतः मम्मट का काव्यप्रकाश न होकर उससे प्रभावित दास का काव्यनिर्णय है। दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने सर्वत्र संस्कृत का ही आश्रय नहीं लिया है—यथास्थान हिन्दी की प्रकृति को भी प्रमाण माना है। उदाहरण के लिए माधुर्य-गुण-व्यंजक वर्णों का विश्लेषण उन्होंने हिन्दी की प्रवृत्ति के ही अनुसार किया है : "संस्कृत में 'ण' माधुर्य-व्यंजक वर्ण है, किन्तु व्रजभाषा में नहीं। खड़ी बोली में इसका प्रयोग काफ़ी है।" मिश्रबन्धुओं की यह विशेषता तो वास्तव में स्तुत्य है, परन्तु शास्त्र की दृष्टि से उनके विवेचन में पोद्दार जी के विवेचन की प्रामाणिकता एवं स्थिरता नहीं है।

रीति-परम्परा के इन आधुनिक ग्रन्थों में सबसे अधिक उपादेय है पं० रामदहिन मिश्र का ग्रन्थ 'काव्यदर्पण'। वे केवल काव्यप्रकाश पर आश्रित नहीं रहे—संस्कृत अलंकार-शास्त्र के प्रायः सभी प्रमुख ग्रन्थों का आधार ग्रहण करते हुए और इधर साहित्य की नवीन गतिविधि का भी ध्यान रखते हुए उन्होंने अपने विवेचन को अत्यन्त उपयोगी बना दिया है। काव्यदर्पण में गुण, रीति तथा वृत्ति तीनों का संक्षिप्त तथा स्पष्ट विवेचन मिलता है। उनके रीति-विवेचन के आधार वामन का काव्यालंकारसूत्र तथा विश्वनाथ का साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थ हैं वामन के अनुसार मिश्र जी ने तीन रीतियाँ ही मानी हैं—वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली। किन्तु अन्त में रुद्रट तथा विश्वनाथ की लाटी रीति का भी संक्षेप में वर्णन कर दिया है।

उनके गुण-विवेचन का आधार भी व्यापक है—भरत, भोज, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि के मत देकर अन्त में उन्होंने प्रायः मम्मट का अनुसरण किया है। तीन गुणों का वर्णन मम्मट के आधार पर ही किया गया है। किन्तु मम्मट द्वारा स्वीकृत तीन गुणों में ही वे गुण की इति श्री नहीं मान लेते : 'आजकल ऐसी अधिकांश रचनाएँ दीख पड़ती हैं जिनमें न तो प्रसाद गुण और न ओज गुण, बल्कि इनके विपरीत उनके अनेक स्वरूप दीख पड़ते हैं। + + + उपर्युक्त दस गुणों में इनका अन्तर्भाव हो सकता है।'[1] मिश्र जी की विशेषता यह है—और रीतिकार के लिए अत्यन्त आवश्यक भी है—कि उनका शास्त्र-विवेचन केवल संस्कृत काव्य-शास्त्र के ग्रन्थों पर ही आश्रित नहीं रहा, आधुनिक हिन्दी काव्य को भी उन्होंने आधार माना है। वर्तमान कवियोंकी प्रसिद्ध रचनाओं को उद्धृत कर उन्होंने अपने निरूपण को

१. काव्यदर्पण पृ० ३१५।

तो अधिक ग्राह्य बना ही दिया है, साथ ही हिन्दी रीति-ग्रन्थों की उस त्रुटि का भी परिहार किया है जिसे केशव से लेकर सेठ कन्हैयालाल पोद्दार तक हमारे सभी रीतिकार बराबर करते चले आए हैं। निम्नलिखित वक्तव्य में उनके रीति-गुण-विषयक दृष्टिकोण का सार निहित है :

'गुण तथा रीति का विचार हिन्दी की आधुनिक रचनाओं के विचार से होना चाहिए। संस्कृत की ये रूढ़ियाँ नियमतः नहीं, सामान्यतः लागू हो सकती हैं। × × × व्यक्ति-विशेष की शैली श्रेणी-विभाग का एक विशिष्ट उपादान होगी। तथापि गुण-रीति का ज्ञान काव्य-कला के अंतरंग में पैठने का द्वार है, इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।'[1]

गुणों तथा वृत्तियों का विवेचन मम्मट के आधार पर किया गया है। मिश्रजी ने भी केवल तीन ही गुणों की सत्ता स्वीकार की है—शेष का उन्हीं में अन्तर्भाव माना है। वृत्तियों का वर्णन वृत्यानुप्रास के अन्तर्गत हुआ है—इन्होंने भी प्रदीप के आधार पर माधुर्य का सम्बन्ध उपनागरिका से, ओज का गौड़ी से, और प्रसाद का कोमला से माना है।

हिन्दी काव्य-शास्त्र की दूसरी प्रवृत्ति का सम्बन्ध है आधुनिक आलोचना-पद्धति से जिसका आधार पाश्चात्य काव्य-शास्त्र तथा मनोविज्ञान है। स्वभावतः यह दूसरी प्रवृत्ति ही आज अधिक समर्थ है। इसके अन्तर्गत पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० श्यामसुन्दर दास तथा श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु आदि का महत्वपूर्ण स्थान है। रीति अर्थात् काव्य-भाषा-शैली के विषय में इन विद्वानों ने भी विचार व्यक्त किए हैं जिनका अपना विशेष मूल्य है।

आधुनिक आलोचक

पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी के सामने काव्य-भाषा और गद्य-भाषा का प्रश्न एक नवीन रूप में उपस्थित हुआ। उस समय काव्य की भाषा व्रज भाषा थी, और गद्य की भाषा खड़ी बोली। द्विवेदी जी ने वर्ड्सवर्थ के सिद्धान्त के आधार पर व्यावहारिक रूप से इस अन्तर को मिटाने का प्रयत्न किया। "मतलब यह कि भाषा बोलचाल की हो क्यों कि कविता की भाषा से बोलचाल की भाषा जितनी ही अधिक

---

१. काव्यदर्पण पृ० ३१६।

दूर जा पड़ती है, उतनी ही उसकी सादगी कम हो जाती है। × × × इसी तरह कवि को मुहावरे का भी ख्याल रखना चाहिए + + + हिन्दी-उर्दू में कुछ शब्द अन्य भाषाओं के भी आ गए हैं, वे यदि बोलचाल के हैं तो उनका प्रयोग सदोष नहीं माना जा सकता।" (रसज्ञ-रंजन पृ० ४६-४७)। कहने की आवश्यकता नहीं कि वर्ड्सवर्थ के प्रयत्न के समान ही यह प्रयत्न भी विफल ही रहा। इससे यह लाभ तो हुआ कि खड़ी बोली को काव्य-भाषा रूप में स्वीकृति मिल गई—किन्तु बोलचाल की गद्य से अभिन्न भाषा काव्य-भाषा नहीं बन सकी। द्विवेदी जी की कविता तो गद्यमयी हो गई—किन्तु गद्य-भाषा काव्य की भाषा न बन सकी। द्विवेदी जी ने उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार भाषा के गुणों की अपेक्षा उसकी शुद्धता आदि पर अधिक बल दिया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

आचार्य शुक्ल रसवाद के प्रबल समर्थक थे। उनका दृढ़ मत था कि शैली के समस्त उपकरणों—रीति, अलंकार आदि का चमत्कार अर्थ के चमत्कार—रस पर आश्रित रहता है। उन्होंने अनेक स्थानों पर अनेक प्रकार से इस तथ्य की उद्घोषणा की है। "अनूठी से अनूठी उक्ति काव्य तभी हो सकती है जब कि उसका सम्बन्ध, कुछ दूर का ही सही, हृदय के किसी भाव या वृत्ति से होगा।"[1]

"किसी भाव या मार्मिक भावना से असम्पृक्त अलंकार चमत्कार या तमाशे हैं।"[2] इस प्रकार वे रीतिवाद, अलंकारवाद तथा वक्रोक्तिवाद सभी के तत्व-रूप में घोर विरोधी हैं। किन्तु उनका विरोध रीतिवाद आदि से है—रीति, अलंकार तथा वक्रोक्ति को वे काव्य की आत्मा तो मानने के लिए तैयार नहीं हैं—फिर भी, इनसे उनका विरोध नहीं है। रस के आश्रित रह कर इनकी अपनी सार्थकता है, वे तो यहाँ तक मानते हैं कि उक्ति ही काव्य होती है: '+ + + हमारे यहाँ भी व्यंजक वाक्य ही काव्य माना जाता है'।[3]

काव्य-भाषा के विषय में उन्होंने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है—अर्थात् बाह्य रूपों का वर्णन न कर, उसके अन्तर्तत्वों का विश्लेषण किया है। काव्य-भाषा या रीति के उन्होंने चार मूल तत्व माने हैं। १. गोचर रूप-विधान करने वाले

१. काव्य में रहस्यवाद। २. कविता क्या है? ३. वही

शब्द, २. विशेष रूप-व्यापार-सूचक शब्द, ३. वर्ण-विन्यास अर्थात् श्रुति-कटु वर्णों का त्याग, लय, अन्त्यानुप्रास आदि शब्द-सौष्ठव के संगीतमय उपकरण, ४. साभिप्राय विशेषण। इनमें से पहला तत्व—'गोचर रूप-विधान करने वाली शब्दावली' लक्षणा पर आश्रित रहती है। रीतिवादियों की शब्दावली में यह दण्डी का समाधि गुण है: जहाँ एक वस्तु के धर्म का दूसरी वस्तु पर सम्यक् आधान या उपचार हो, वहाँ समाधि गुण होता है—जैसे कुमुद नेत्र बन्द करते हैं, कमल नेत्र खोलते हैं। दण्डी ने इसे काव्य-सर्वस्व माना है।

'तदेतत् काव्यसर्वस्वं समाधिर्नामयो गुणः।'[1]

दूसरा तथा चौथा तत्व—विशेष रूप-व्यापार-सूचक शब्द-प्रयोग और साभिप्राय विशेषण-प्रयोग वामन के अर्थ-गुण ओज के अन्तर्गत अर्थ-प्रौढ़ि के रूप-भेद माने गये हैं। अर्थ-प्रौढ़ि में कभी विशेष को उभारने के लिए व्यास और समास पद्धतियों का ग्रहण किया जाता है, और कभी साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग होता है। नाद-सौष्ठव के संगीतमय उपकरणों का अन्तर्भाव शब्द-गुण माधुर्य, उदारता, कान्ति आदि में हो जाता है। इस प्रकार शुक्लजी के शैली-तत्व रीतिवादियों के रीति-तत्वों से भिन्न नहीं हैं—यद्यपि उनका दृष्टिकोण सर्वथा विपरीत रहा है।

आधुनिक ढंग के काव्य-शास्त्र-ग्रन्थों में डाक्टर श्यामसुन्दर दास का 'साहित्यालोचन', प्रो० गुलाबराय के दो ग्रन्थ 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' और श्री० सुधांशु के दो ग्रन्थ 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' तथा 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' का विशेष महत्व है। इन ग्रन्थों में प्राच्य और पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों का समन्वय किया गया है। इस प्रकार ये 'काव्यकल्पद्रुम' आदि की परम्परा से भिन्न हैं।

डा० श्यामसुन्दर दास

डा० श्यामसुन्दर दास के रीति या शैली-विषयक सिद्धान्तों का सारांश इस प्रकार है :—

(१) काव्य में बुद्धि-तत्व, कल्पना-तत्व और भाव-तत्व के अतिरिक्त एक चौथा तत्व भी है—शैली।

१. काव्यादर्श १।८३, १।१००

(२) शैली का अर्थ है रूप-सौन्दर्य, रूप-चमत्कार अथवा रचना-चमत्कार। बाह्य दृष्टि से किसी कवि या लेखक की शब्द-योजना, वाक्यांशों का प्रयोग, वाक्यों की बनावट, और उनकी ध्वनि का नाम शैली है।

(३) शैली को विचारों का परिधान न कह कर उनका बाह्य और प्रत्यक्ष रूप कहना बहुत-कुछ संगत होगा। अथवा उसे भाषा का व्यक्तिगत प्रयोग कहना भी ठीक होगा।

(४) शैली के आधार तत्व हैं—शब्द और वाक्य। शब्द के अन्तर्गत शक्ति, गुण और वृत्ति का विधान है, और वाक्य के अन्तर्गत रचना का समावेश है।

(५) गुण, रीति, वृत्ति के विषय में डा० श्यामसुन्दर दास की धारणा है: "माधुर्य गुण के लिए मधुरा वृत्ति और वैदर्भी रीति : ओज गुण के लिए परुषा वृत्ति और गौड़ी रीति, तथा प्रसाद गुण के लिए प्रौढ़ा वृत्ति और पांचाली रीति आवश्यक मानी गई हैं।"

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि डाक्टर श्यामसुन्दर दास रीतिवादी नहीं थे—वास्तव में रीतिवाद का समर्थन आधुनिक युग में संगत भी नहीं है। उन्होंने बुद्धि-तत्व तथा भाव-तत्व अर्थात् अर्थ को ही काव्य में प्रमुख माना है। किन्तु उनका दृष्टिकोण समन्वयात्मक है—वाणी के बिना अर्थ का क्या रूप ? अतएव शैली को काव्य का आवश्यक अंग मानने में उन्होंने कोई आपत्ति नहीं की। उनके शैली या रीति के लक्षण पर पाश्चात्य काव्य-शास्त्र का प्रभाव है, परन्तु फिर भी वस्तु-दृष्टि से यह वामन के लक्षण से बहुत भिन्न नहीं है। रचना-चमत्कार या चमत्कृत रचना वामन की 'विशिष्टा पद-रचना' से भिन्न नहीं है। डा० श्यामसुन्दर दास के मत से शैली के आधार हैं—शब्द-शक्ति, गुण, वृत्ति तथा वाक्य-रचना। यह मत भी वामन के मत से प्रायः अभिन्न ही है। किन्तु इनका रीति-वृत्ति-विवेचन शास्त्रीय परम्परा से कुछ हटकर है : इन्होंने न तो वामन का ही अनुसरण किया है और न मम्मट का ही। वामन के अनुसार वैदर्भी समग्रगुणसम्पन्ना है—उसकी परिधि केवल माधुर्य तक ही सीमित नहीं है, और पांचाली के गुण हे माधुर्य तथा सौकुमार्य, न कि प्रसाद। इसी प्रकार मम्मट का विवेचन भी भिन्न है :—उन्होंने माधुर्य-विशिष्ट वृत्ति को उपनागरिका कहा है, न कि मधुरा, और प्रसादगुण-विशिष्ट वृत्ति को प्रौढ़ा नाम से नहीं वरन् कोमला नाम से अभिहित किया है। मधुरा और प्रौढ़ा नामों का प्रयोग रुद्रट में मिलता है और डा० श्यामसुन्दर दास ने इन्हें यहीं से ग्रहण किया है। परन्तु अनुसरण इन्होंने

रुद्रट का भी नहीं किया, क्यों कि रुद्रट ने मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता तथा भद्रा ये पांच वृत्तियां मानी हैं। रुद्रट ने न तो गुणों और वृत्तियों का कोई निश्चित सम्बन्ध माना है और न वृत्तियों तथा रीतियों का, उनकी तो रीतियां भी गुणाश्रित नहीं हैं। फिर भी डा० श्यामसुन्दर दास ने अकारण ही यह नाम-भेद नहीं किया—इसके पीछे कदाचित् रीति-गुण-वृत्ति सम्बन्धी उस असंगति को दूर करने की भावना रही है जिसका प्रारम्भ मम्मट अथवा मम्मट के टीकाकारों द्वारा हुआ है। परन्तु डाक्टर महोदय भी पूर्णतः सफल नहीं हुए हैं—उन्होंने एक त्रुटि को दूर कर दूसरी त्रुटि का सूत्रपात कर दिया है। प्रसाद-गुण-विशिष्ट वृत्ति का नाम कोमला की अपेक्षा प्रौढ़ा निश्चय ही अधिक संगत है। प्रसाद गुण प्रौढ़ रचना का परिचायक है, केवल कोमल रचना का नहीं। इसी प्रकार उपनागरिका के स्थान पर माधुर्य-विशिष्ट वृत्ति को मधुरा कहना भी ठीक ही है। परन्तु एक तो प्रौढ़ा वृत्ति और पांचाली रीति को पर्याय मानना असंगत है क्यों कि, जैसा कि मैंने अभी संकेत किया है, पांचाली रीति के उद्भावक वामन ने स्पष्ट ही उसे केवल माधुर्य और सौकुमार्य से उपपन्न माना है, प्रसाद से नहीं। दूसरे वैदर्भी और मधुरा को एक मानने में फिर उसी त्रुटि की पुनरावृत्ति हो जाती है। डा० श्यामसुन्दर दास इस उलझन को सुलझा नहीं सके हैं—वरन् एक प्रकार से और भी उलझा बैठे हैं।

बाबू गुलाबराय ने 'सिद्धान्त और अध्ययन' में रीति, गुण, वृत्ति का शैली के अन्तर्गत विवेचन किया है। बाबू जी की दृष्टि व्यापक और सहज समन्वयात्मक है, साथ ही उनका पाश्चात्य मनोविज्ञान तथा काव्य-शास्त्र से घनिष्ठ परिचय है। उन्होंने भी केवल मम्मट को प्रमाण नहीं माना—भरत, भामह, दण्डी, वामन, कुन्तक, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि प्रायः सभी के मतों का सारांश ग्रहण किया है और पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों के प्रकाश में उन्हें प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। गुणों के विषय में मम्मट के विवेचन को उचित गौरव देते हुए भी वे यह नहीं मानते कि वामन के दस गुणों का अन्तर्भाव केवल तीन गुणों में अनिवार्यतः कर ही देना चाहिए। उनकी धारणा है—और वह ठीक भी है—कि वामन के इन गुणों से शैली की अनेक विशेषताएँ प्रकाश में आती हैं। उन सभी को मान्यता देने से शैली के तत्वों के विश्लेषण में निश्चय ही सहायता मिलती है। गुण के प्रसंग में बाबू जी ने एक रोचक बात कही है—

> शुष्केन्धनाग्निवत्स्वच्छजलवत्सहसैव　　यः।
> व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः॥

—की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है : 'प्रसाद गुण माधुर्य और ओज दोनों के साथ रह सकता है, इसलिए उसके दो उपमान अग्नि और जल दिये गये हैं। अग्नि का सम्बन्ध ओज से है, और जल का सम्बन्ध माधुर्य से। यह बाबू जी की अपनी मौलिक सूझ तो नहीं है—काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने इसका संकेत किया है, तथापि यह आख्यान सर्वथा सटीक तथा अपने आप में अत्यन्त रोचक है। उनके रीति, गुण आदि के विवेचन में तो कोई विशेष मौलिकता नहीं है, परन्तु शैली और रीति का तुलनात्मक अध्ययन निश्चय ही उपयोगी है। यहाँ कुन्तक के उद्धरण के आधार पर रायवन से प्रेरणा प्राप्त कर बाबू जी ने यह सिद्ध किया है कि 'शैली ही व्यक्तित्व है' का सिद्धान्त भारतीय काव्य-शास्त्र के लिए अपरिचित नहीं था। कुल मिलाकर प्रो० गुलाबराय के रीति-गुण विवेचन में प्राच्य और पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय दृष्टिगत होता है, और यह उनकी अपनी विशेषता है।

सुमित्रानन्दन पन्त

वर्तमान युग हिन्दी में कला के पुनरुत्थान का युग है—कला की समृद्धि की दृष्टि से छायावाद का स्थान हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। छायावाद में कला की यत्नज तथा अयत्नज दोनों प्रकार की शोभा का उत्कर्ष मिलता है, और इस उत्कर्ष में सबसे अधिक योगदान है पन्त जी का। पन्त जी में छायावाद की मणि-कुट्टिम कला का अपूर्व वैभव है। वामन की वैदर्भी रीति और उसके समग्र गुणों की सम्पदा पन्त-काव्य से अधिक और कहाँ मिलेगी? पद-रचना-सौंदर्य पन्त की कला की विशेषता है। किन्तु सिद्धान्त रूप में पन्त जी रीतिवादी नहीं हैं—उन्होंने भी रीतिवाद का विरोध ही किया है। पल्लव की भूमिका में उन्होंने इस सम्बन्ध में अपने बहुमूल्य विचार प्रकट किये हैं।

रीतिकाव्य की रूढ़ि-ग्रस्त पद-रचना की कदर्थना करते हुए पन्त जी ने लिखा है—'भाव और भाषा का ऐसा शुक्र-प्रयोग, राग और छन्दों की ऐसी एकस्वर रिम-रिम, उपमा तथा उत्प्रेक्षाओं की ऐसी दादुरावृत्ति, अनुप्रास तथा तुकों की ऐसी अश्रान्त उपल वृष्टि क्या संसार के और किसी साहित्य में मिल सकती है? घन की घहर, भेकी की भहर, झिल्ली की झहर, बिजली की बहर, मोर की कहर, समस्त संगीत तुक की एक ही नहर में बहा दिया।'

पन्त जी का अभिमत है कि ब्रज-भाषा में केवल माधुर्य और सौकुमार्य गुणों का ही उत्कर्ष सम्भव है—अतएव यह पांचाली सदृश निर्जीव रीति के ही उपयुक्त है। काव्य की समर्थ भाषा में समस्त गुणों की सम्पदा होनी चाहिए। इसी तथ्य को अपनी रोचक लाक्षणिक शैली में अभिव्यक्त करते हुए वे कहते हैं :

"ब्रज-भाषा की उपत्यका में, उसकी स्निग्ध अंचल-छाया में सौंदर्य का काश्मीर भले ही बसाया जा सके, जहां चांदनी के झरने राशि-राशि मोती बिखराते हों, विहग-कुल का कलरव द्यावापृथ्वी को स्वर के तारों से गूंथ देता हो, सहस्र-रंगों की पुष्प-शय्या पर कल्पना का इन्द्रधनुष अर्ध-प्रसुप्त पड़ा हो, जहां सौन्दर्य की वासन्ती नन्दन-वन का स्वप्न देखती हो, पर उसका वक्षस्थल इतना विशाल नहीं कि उसमें पूर्वी तथा पश्चिमी गोलार्ध, जल-स्थल, अनिल-आकाश, ज्योति-अन्धकार, वन-पर्वत, नदी-घाटी, नहर-खाड़ी, दीप-उपनिवेश, उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक का प्राकृतिक सौन्दर्य, उष्णशीत-प्रधान देशों के वनस्पति-वृक्ष, पुष्प-पौधे, पशु-पक्षी, विविध प्रदेशों का जल-वायु, आचार-व्यवहार,—जिसके शब्दों में वात-उत्पात, वह्नि-बाढ़, उल्का-भूकम्प सब कुछ समा सके, बांधा जा सके, जिसके पृष्ठों पर मानव-जाति की सभ्यता का उत्थान-पतन, वृद्धि-विनाश, आवर्तन-विवर्तन, नूतन-पुरातन सब कुछ चित्रित हो सके।"

(पल्लव भूमिका पृ० १४-१५)

रीति-काव्य के ह्रास-युग में हीनतर कवियों के हाथ में पड़ कर रीति रूढ़ि का पर्याय बन गई थी। द्विवेदी युग के कवियों ने उसके रूढ़ि-पाश तो काट कर फेंक दिये—उसको संजीवन भी दिया, परन्तु वे उसके व्यक्तित्व को उचित समृद्धि प्रदान नहीं कर सके। यह परिष्कृति और समृद्धि उसे पंत जी से प्राप्त हुई। रीति रूढ़ि-मुक्त हुई, नवीन जीवन के अनुकूल गुण-सम्पदा से समृद्ध हुई, और कदाचित् फिर एक दूसरे प्रकार की रूढ़ियों में बंधने लगी। इस प्रकार सिद्धान्त की दृष्टि से रीतिवाद के समर्थक न होते हुए भी व्यवहार की दृष्टि से वर्तमान युग में रीति का सबसे अधिक उत्कर्ष पंत जी ने ही किया।

सामान्य रूप से वर्तमान युग की कला में रीति की अपेक्षा अभिव्यंजना का ही प्राधान्य रहा है। छायावाद की ही कला में अभिव्यंजना का अद्भुत विकास मिलता है। छायावाद के उपरान्त अब अभिव्यंजना-विषयक प्रयोगों का युग आया है—जहां शब्द में उसके प्रचलित अर्थ से भारी अर्थ भरने के प्रयत्न चल रहे हैं जिनके फल-स्वरूप रचना की नयी रीतियां सामने आ रही हैं। परन्तु इन रीतियों का अस्तित्व

वस्तु-परक न होकर सर्वथा व्यक्ति-परक ही है, अतएव वामनीया रीतियों से इनका सम्पर्क सर्वथा टूट गया है।

हिन्दी काव्य-शास्त्र में रीति-सिद्धान्त का यही संक्षिप्त इतिहास है। जैसा कि मैंने आरम्भ में ही कहा है हमारे काव्य-शास्त्र में रीतिवाद सिद्धान्त रूप में कभी लोकप्रिय नहीं रहा—वैसे रीति के प्रभाव से अछूता काव्य कौन-सा हो सकता है?

रीति-सिद्धान्त का अन्य सिद्धान्तों के साथ सम्बन्ध

रीति-सम्प्रदाय, जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट किया जा चुका है, भारतीय काव्य-शास्त्र का देहवादी सम्प्रदाय है—अतएव वह अलंकारवाद तथा वक्रोक्तिवाद का सहयोगी और रस तथा ध्वनिवाद का प्रतियोगी है। रीति-सिद्धान्त के स्वरूप को सम्यक् रूप से व्यक्त करने के लिए इन सहयोगी तथा प्रतियोगी सिद्धान्तों के साथ उसके सम्बन्ध पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

रीति और अलंकार

अलंकार सम्प्रदाय की स्थापनाएँ इस प्रकार हैं :

(१) काव्य का सौंदर्य शब्द-अर्थ में निहित है।

(२) शब्द-अर्थ के सौंदर्य के कारण हैं अलंकार :—

काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते। [दण्डी काव्यादर्श २.१]

(३) अलंकार के अन्तर्गत काव्य-सौंदर्य के सभी प्रकार के तत्व आ जाते हैं : काव्य का विषयगत सौंदर्य सामान्य अलंकार के अन्तर्गत आता है और शैलीगत सौंदर्य विशेष अलंकार के अन्तर्गत। इस प्रकार गुण, रीति आदि भी अलंकार हैं : 'काश्चिनमार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः।' (दण्डी) अर्थात् वैदर्भ तथा गौड़ीय मार्गों का भेद करने के लिए (श्लेष-प्रसाद आदि) कुछ अलकारों का वर्णन पहले ही किया जा चुका है।

और सन्धि, संध्यंग, वृत्ति, लक्षण आदि भी अलंकार हैं :

यच्च सन्ध्यंग-वृत्त्यंग लक्षणाद्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टं अलंकारतयैव नः॥ (दण्डी)

रीति-सम्प्रदाय के प्रवर्तक वामन की स्थापनाएँ इससे मूलतः भिन्न न होते हुए भी परिणामतः भिन्न हो जाती हैं :

(१) वामन भी काव्य का सौंदर्य शब्द-अर्थ में निहित मानते हैं।

(२) वामन भी अलंकार का प्रयोग काव्य-सौंदर्य के पर्याय रूप में करते हैं : 'सौन्दर्यमलंकारः।' परन्तु उनका आशय दण्डी आदि से भिन्न है।

(३) वे अलंकार की दो कोटियाँ मान लेते हैं : गुण और अलंकार। माधुर्यादि गुण सौंदर्य के मूल कारण अर्थात् काव्य के नित्य धर्म हैं, और उपमादि अलंकार उसके उत्कर्ष-वर्धक अर्थात् अनित्य धर्म हैं। दूसरे शब्दों में गुण नित्य अलंकार हैं और प्रसिद्ध 'अलंकार' अनित्य। इस प्रकार वामन अलंकार की परिधि संकुचित कर देते हैं और उसकी कोटि अपेक्षाकृत हीन हो जाती है। वामन स्पष्ट कहते हैं कि अकेला गुण काव्य को शोभा-सम्पन्न कर सकता है किन्तु अकेला अलंकार नहीं कर सकता। काव्य में यदि गुण का मूल सौंदर्य ही न हो तो 'अलंकार' उसे और भी कुरूप बना देता है।

बस यहीं आकर अलंकार-सिद्धान्त और रीति-सिद्धान्त में अन्तर पड़ जाता है। दोनों का दृष्टिकोण मूल रूप में समान है :—दोनों ही काव्य-सौंदर्य को शब्द-अर्थ में निहित मानते हैं, दोनों ही अलंकार को समष्टि रूप में काव्य-सौंदर्य का पर्याय मानते हैं। परन्तु अलंकार-सम्प्रदाय जहाँ उपमा आदि 'अलंकारों' को मुख्य रूप से और अन्य गुण, वृत्ति, लक्षणा आदि को उपचार रूप से अलंकार मानता है, वहाँ रीति-सम्प्रदाय रीति और गुण को मुख्य रूप से और उपमादि को गौण रूप से अलंकार मानता है। अर्थात् रीति-सम्प्रदाय में गुण अथवा गुणात्मा रीति की प्रधानता है, और उपमादि 'अलंकारों' की स्थिति अपेक्षाकृत हीन है—किन्तु अलकार-सम्प्रदाय में उनकी स्थिति यदि गुण आदि से श्रेष्ठतर नहीं तो कम से कम उनके समकक्ष अवश्य है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि पारिभाषिक शब्दों के आवरण को हटा कर गुणात्मा रीति और 'अलंकार' में वस्तुगत भेद क्या है ? और स्पष्ट शब्दों में, शब्द-अर्थ का कौन-सा प्रयोग रीति है, कौन सा 'अलंकार' ? वामन ने रीति का लक्षण किया है 'विशिष्टा पद-रचना'—अर्थात् गुणमयी पद-रचना। गुण के दो भेद हैं; शब्द-गुण और अर्थ-गुण : शब्द-गुण में वर्ण-योजना तथा समास-प्रयोग पर आश्रित सौंदर्य और

अर्थ-गुण में उपयुक्त सार्थक शब्द-चयन एवं रागात्मक तथा प्रज्ञात्मक तथ्यों के सुचारु क्रम-बन्धन आदि का अन्तर्भाव है। इस प्रकार रीति से अभिप्राय ऐसी रचना से है जो अपनी वर्ण-योजना, समस्त पदों के कुशल प्रयोग, उपयुक्त अर्थवान शब्दों के चयन तथा भावों एवं विचारों के सुचारु क्रम-बन्धन के कारण मन का प्रसादन करती है। अतएव रीति में रचना अर्थात् व्यवस्था एवं अनुक्रम का सौंदर्य है। अलंकार का सौंदर्य अनेक अंशों में इससे भिन्न है। अलंकारों को अलंकारवादियों ने शब्द-अर्थ (काव्य) के शोभाकर धर्म कहा है। धर्म शब्द से सबसे पहले तो स्फुटता का द्योतन होता है, अर्थात् अलंकार रचना का व्यवस्थित सौंदर्य न होकर स्फुट सौंदर्य-विधायक तत्व है। दूसरे उसमें चमत्कार का भी आभास है : आधुनिक शब्दावली में रीति वस्तुगत शैली की पर्याय है और अलंकार उक्ति-चमत्कार का अथवा शब्द-अर्थ के प्रसाधन का—वामन उसको अतिरिक्त प्रसाधन ही मानते हैं। इन दोनों में परस्पर क्या सम्बन्ध है ? अब यह प्रश्न है। इसका उत्तर यह है कि रीति का क्षेत्र अधिक व्यापक है—अलंकार रीति का अंग है; वामन ने और पाश्चात्य आचार्यों ने उसे रीति या शैली का अंग-रूप माना है। इसके अतिरिक्त, यद्यपि रीति का विधान भी प्रायः वस्तु-परक ही है, फिर भी अर्थ-गुण कान्ति या अर्थ-गुण माधुर्य में व्यक्ति-तत्व का सद्भाव रहता है। अलंकार में भी रसवत् तथा ऊर्जस्विन् आदि अलंकारों का अन्तर्भाव व्यक्ति-तत्व के समावेश का ही प्रयास है, परन्तु वहाँ रसवत् आदि अलंकारों का कोई विशेष महत्व नहीं है। रीति-सम्प्रदाय में अन्य गुणों के साथ अर्थ-गुण कान्ति भी वैदर्भी रीति अथवा सत्काव्य का अनिवार्य तत्व है—इस प्रकार रस का भी सत्काव्य के साथ अनिवार्य सम्बन्ध अप्रत्यक्ष रूप में हो ही जाता है। अतएव अलंकार-सिद्धान्त की अपेक्षा रीति-सिद्धान्त में व्यक्ति या आत्म-तत्व अधिक है।

रीति और वक्रोक्ति :

कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति का अर्थ है 'वैदग्ध्य-भंगी-भणिति'। वैदग्ध्य का अर्थ है काव्य या कला-नैपुण्य जो अर्जित विद्वत्ता या शास्त्र-ज्ञान से भिन्न प्रतिभा-जन्य होता है। भंगी-भणिति का अर्थ है उक्ति-चारुत्व। अतएव वक्रोक्ति का अर्थ हुआ कवि-प्रतिभा-जन्य उक्ति-चारुत्व। यह वक्रता या चारुत्व छः प्रकार का होता है : वर्ण-वक्रता, पद-पूर्वार्ध-वक्रता अर्थात् पर्याय शब्दों तथा विशेषण आदि का चारु प्रयोग, पद-परार्ध-वक्रता अर्थात् प्रत्यय-वक्रता, वाक्य-वक्रता अर्थात् अर्थालंकार-प्रयोग, प्रकरण-वक्रता या

कथा के किसी प्रकरण की चारु कल्पना, प्रबन्ध-वक्रता या प्रबन्ध-विधान-कौशल। इस प्रकार वक्रोक्ति का क्षेत्र रीति की अपेक्षा अत्यन्त व्यापक है; वर्ण से लेकर प्रबन्ध-विधान तक का चारुत्व उसके अन्तर्गत समाविष्ट है। रीति का क्षेत्र तो वास्तव में वक्रता के पहले चार भेदों तक ही सीमित है: वर्ण-वक्रता रीति के शब्द-गुणों की वर्ण-योजना है, पद-पूर्वार्ध तथा पद-परार्ध-वक्रता में अर्थ-गुण ओज, उदारता, सौकुमार्य आदि का अन्तर्भाव हो जाता है, वाक्य-वक्रता में अर्थालंकार हैं ही। बस रीति का अधिकार-क्षेत्र यहीं समाप्त हो जाता है। वह वर्ण, पद तथा वाक्य से आगे नहीं जाती: प्रकरण-कल्पना, प्रबन्ध-कल्पना उसकी परिधि से बाहर हैं। अर्थात् वह काव्य की भाषा-शैली तक ही सीमित है, काव्य की व्यापक वर्णन-शैली तक उसकी पहुँच नहीं है। रीति में वर्णों का, पदों का तथा भावों और विचारों का क्रम-बंधन मात्र है; जीवन की घटनाओं का, जीवन के स्थिर दृष्टिकोणों का वह क्रम-बन्धन या नियोजन नहीं आता जो वक्रोक्ति में आता है। और स्पष्ट शब्दों में रीति केवल भाषा-काव्य-शैली तक ही सीमित है, किन्तु वक्रोक्ति समस्त काव्य-कौशल की पर्याय है। इस प्रकार जैसा कि स्वयं कुन्तक ने ही निर्देश किया है रीति या मार्ग वक्रोक्ति का एक अंग मात्र है: वक्रोक्ति कवि-कर्म है, रीति कवि-मार्ग है।

दोनों सम्प्रदायों का दृष्टिकोण कुछ अंशों में समान है। दोनों में कवि-कर्म की बहुत-कुछ वस्तु-परक व्याख्या है। वर्ण-वक्रता से लेकर प्रबन्ध-वक्रता तक वक्रोक्ति के सभी रूपों में काव्य को कवि का कौशल मात्र माना गया है—कवि-कर्म अन्ततः नियोजन की कुशलता मात्र ठहरता है: उसमें कवि की प्रतिभा को तो आधार माना गया है, परन्तु कवि की सवासनता अथवा हार्दिक विभूतियों की ओर उधर पाठक और श्रोता की सहृदयता की उपेक्षा है। इस प्रकार रस की उपेक्षा तो दोनों सम्प्रदायों में है, परन्तु इसके आगे व्यक्ति-तत्व की उपेक्षा दोनों में समान नहीं मानी जा सकती क्योंकि वक्रोक्ति को कुन्तक निसर्गतः कविप्रतिभा-जन्य मानते हैं—उसका प्राण-तत्व है विदग्धता जो विद्वत्ता से भिन्न है। कहने का तात्पर्य यह है कि रीति-सम्प्रदाय तथा वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के दृष्टिकोणों में यहाँ तक तो मूलभूत समानता है कि दोनों ही रस की उपेक्षा कर कवि-कर्म का वस्तु-परक विश्लेषण करते हैं, परन्तु आगे चलकर वक्रोक्तिवाद व्यक्ति-तत्व को 'कवि-प्रतिभा' के रूप में आग्रह-पूर्वक स्वीकार कर लेता है। इसमें सन्देह नहीं कि वक्रोक्तिवाद की 'कवि-प्रतिभा' आधुनिक शब्दावली में सहृदयता की अपेक्षा कल्पना की ही महत्व-स्वीकृति है, परन्तु फिर भी कुन्तक का दृष्टिकोण व्यक्ति-तत्व को महत्ता को तो स्वीकार करता ही है। वक्रोक्ति को प्रतिभा-जन्य मानना, विदग्धता को वक्रता का प्राण-तत्व मानना, और मार्ग (रीति) में कवि-

स्वभाव को मूर्धन्य पर स्थान देना—यह सब व्यक्ति-तत्व का ही आग्रह है। वास्तव में कुन्तक के समय तक ध्वनि-सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा हो चुकी थी और रस का उत्कर्ष फिर स्थापित हो चुका था, इसलिए वामन की अपेक्षा उनके सिद्धान्त में व्यक्ति-तत्व का प्राधान्य होना स्वाभाविक ही था।

रीति और वक्रोक्ति का साम्य और वैषम्य संक्षेप में इस प्रकार है :

(१) दोनों के मूल दृष्टिकोणों में पर्याप्त साम्य है—दोनों में काव्य का वस्तु-परक विवेचन है। दोनों सिद्धान्त काव्य को रचना-नैपुण्य मानते हैं—आत्म-सृजन नहीं।

(२) रीति की अपेक्षा वक्रोक्ति की परिधि व्यापक है : रीति केवल वर्ण, पद, तथा वाक्य की रचना तक ही सीमित है, वक्रोक्ति का क्षेत्र प्रकरण तथा प्रबन्ध-रचना तक व्याप्त है।

(३) रीति की अपेक्षा वक्रोक्ति में व्यक्ति-तत्व का कहीं अधिक समावेश है—वक्रोक्ति में कवि-प्रतिभा और कवि-स्वभाव को आधार माना गया है। इसी अनुपात से वक्रोक्ति रीति की अपेक्षा रस-सिद्धान्त के भी निकट है।

रीति और ध्वनि :

रीति और ध्वनि-सिद्धान्तों के दृष्टिकोण परस्पर-विपरीत हैं। रीति-सम्प्रदाय देहवादी है और ध्वनि-सम्प्रदाय आत्मवादी। ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना रीति की स्थापना के लगभग अर्धशताब्दी उपरांत हुई है, अतएव प्रत्यक्ष-रूप में रीति-सिद्धान्त पर ध्वनि का प्रभाव या रीति में उसका अन्तर्भाव आदि तो सम्भव नहीं हो सकता किन्तु, जैसा कि आनन्दवर्धन ने सिद्ध किया है, रीति-सिद्धांत में ध्वनि के प्रच्छन्न संकेत निस्संदेह मिलते हैं। वामनकृत अर्थालंकार वक्रोक्ति के लक्षण—'सादृश्या-ल्लक्षणा वक्रोक्तिः' में व्यंजना की स्वीकृति है। स्वयं रीति-गुण के विवेचन में ही अनेक स्थलों पर ध्वनि के संकेत ढूंढ निकालना कठिन नहीं है। उदाहरण के लिए अनेक शब्द-गुणों में वर्ण-ध्वनि का संकेत है, अर्थ-गुण ओज के अन्तर्गत अर्थ-प्रौढ़ि के कई रूपों में भी ध्वनि की प्रच्छन्न स्वीकृति है : 'समास' भेद में केवल 'निमिपति' कह देने से ही दिवांगना का व्यक्तित्व ध्वनित हो जाता है, इसी प्रकार 'साभिप्राय विशेषण' प्रयोग में पर्याय-ध्वनि (पिनाकी और कपाली के ध्वनि-भेद) का ही प्रकारान्तर से वर्णन है। अर्थ-गुण कान्ति में तो असंलक्ष्य-क्रम ध्वनि की प्रत्यक्ष स्वीकृति है ही।

तरह रीति भी रस का उपकार करती हुई काव्य में अपनी सार्थकता सिद्ध करती है। इसीलिए उसे अंग-संस्थान के समान माना गया है। सुन्दर शरीर-रचना जिस प्रकार आत्मा का उत्कर्ष-वर्धन करती है, उसी प्रकार रीति भी रस का उपकार करती है।

इस प्रकार रीति और रस-सम्प्रदायों के दृष्टिकोण भी मूलतः परस्पर विपरीत हैं। रीति-सम्प्रदाय देह को ही जीवन-सर्वस्व मानता हुआ आत्मा को उसका एक पोषक तत्व मात्र मानता है, और उधर रस-सम्प्रदाय आत्मा को मूल सत्य मानता हुआ देह को उसका बाह्य माध्यम मात्र समझता है। दोनों की ओर से समझौते का प्रयत्न हुआ है, परन्तु यह समझौता परस्पर सम्मान-सूचक नहीं है: रीति रस को अपने उपकरण रूप में ग्रहण करती है और रस रीति को अपने अंग-संस्थान रूप से स्वीकार करता है। वाणी और अर्थ का वह काम्य समन्वय, जिसका आवाहन कालिदास ने किया है, दोनों की साम्प्रदायिक भावना के कारण मान्य नहीं हो सका— रीति ने अपने स्वरूप को आवश्यकता से अधिक वस्तुगत बना लिया है और रस ने व्यंजना के द्वारा अपने स्वरूप को अत्यधिक व्यक्ति-परक। पाश्चात्य साहित्य में मनोविज्ञान के प्रभाववश आज अनुभूति और अभिव्यक्ति अथवा भाव और शैली का जो अनिवार्य सहभाव माना गया है वह संस्कृत काव्य-शास्त्र में 'साहित्य' शब्द की व्युत्पत्ति में ही सीमित होकर रह गया, विधान-रूप में मान्य न हो सका।

ध्वनि-सम्प्रदाय समन्वयवादी है। ध्वनिकार आरम्भ में ही प्रतिज्ञा करके चले हैं कि ध्वनि में सभी सिद्धान्तों का समाहार हो जाएगा, अतएव रीति का भी ध्वनि में समाहार हुआ है। रीति के बाह्य तत्वों वर्ण-योजना और समास का अन्तर्भाव वर्ण-ध्वनि और रस-ध्वनि में किया गया है। उधर दस गुणों का अन्तर्भाव तीन गुणों के भीतर करते हुए उनका असंलक्ष्य-क्रम ध्वनि रस से अचल सम्बन्ध स्थापित किया गया है। वामन ने रीति को गुणात्मक मानते हुए रीति को प्रधानता दी थी—और कम से कम उसे गुण के समतुल्य अवश्य माना था। ध्वनिवादियों ने उसे संघटना-रूप मानते हुए गुण के आश्रित माना : गुण की स्थिति अचल है, संघटना की चल है। इस प्रकार ध्वनि-सिद्धान्त में रीति का स्थान गौण भी हो जाता है।

रीति और रस :

रीति-सिद्धान्त की स्थापना करते समय वामन के समक्ष रस-सिद्धान्त निश्चय ही विद्यमान था। वास्तव में रस को दृश्यकाव्योचित मानने के कारण ही अलंकार और रीति-सिद्धान्तों की उद्भावना हुई। वामन ने काव्य में रस को विशेष महत्वपूर्ण स्थान नहीं दिया और उसे रीति के गुणों में से केवल एक गुण—अर्थ-गुण कान्ति—का आधार-तत्व माना। इस प्रकार उनके मत से रस रीति का एक अंग मात्र है। रस की दीप्ति रीति की शोभा में योगदान करती है—यही रस की सार्थकता है। अर्थात् रस अंग है, रीति अंगी। परन्तु इसके विपरीत रसवाद रस को आत्मा और रीति को केवल अंगसंस्थानवत् मानता है। वर्ण-गुम्फ और समास से निर्मित रीति गुण पर आश्रित है और गुण रस का धर्म है, अतएव गुण के सम्बन्ध से रीति रसाश्रिता है। उसके स्वरूप का निर्णय रस के द्वारा ही होता है : आनन्दवर्धन ने रसौचित्य को रीति का प्रधान नियामक माना है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार कीजिए। रस चित्त की आनन्दमयी स्थिति है। गुण भी चित्त की स्थितियाँ ही हैं : माधुर्य द्रुति है, ओज दीप्ति और प्रसाद परिव्याप्ति—ये रस-दशा के पूर्व की स्थितियाँ हैं जो चित्त को उस आनन्दमयी परिणति के लिए तैयार करती हैं। वर्ण तथा शब्द मन की स्थितियों के प्रतीक हैं—वे स्वयं मन की स्थितियाँ तो नहीं हैं परन्तु विशेष मनोदशाओं के संस्कार उन पर आरूढ़ हैं। अतएव यह स्वाभाविक ही है कि कुछ वर्ण अथवा शब्द चित्त की द्रुति के अनुकूल पड़ें और कुछ दीप्ति के और कुछ परिव्याप्ति के। इस प्रकार ये वर्ण और शब्द द्रुति-रूप माधुर्य के, दीप्ति-रूप ओज के, और परिव्याप्ति-रूप प्रसाद के अनुकूल या प्रतिकूल पड़ते हैं। यही इनकी सार्थकता है। अलंकार की

तरह रीति भी रस का उपकार करती हुई काव्य में अपनी सार्थकता सिद्ध करती है। इसीलिए उसे अंग-संस्थान के समान माना गया है। सुन्दर शरीर-रचना जिस प्रकार आत्मा का उत्कर्ष-वर्धन करती है, उसी प्रकार रीति भी रस का उपकार करती है।

इस प्रकार रीति और रस-सम्प्रदायों के दृष्टिकोण भी मूलतः परस्पर विपरीत हैं। रीति-सम्प्रदाय देह को ही जीवन-सर्वस्व मानता हुआ आत्मा को उसका एक पोषक तत्व मात्र मानता है, और उधर रस-सम्प्रदाय आत्मा को मूल सत्य मानता हुआ देह को उसका बाह्य माध्यम मात्र समझता है। दोनों की ओर से समझौते का प्रयत्न हुआ है, परन्तु यह समझौता परस्पर सम्मान-सूचक नहीं है: रीति रस को अपने उपकरण रूप में ग्रहण करती है और रस रीति को अपने अंग-संस्थान रूप से स्वीकार करता है। वाणी और अर्थ का वह काम्य समन्वय, जिसका आवाहन कालिदास ने किया है, दोनों की साम्प्रदायिक भावना के कारण मान्य नहीं हो सका— रीति ने अपने स्वरूप को आवश्यकता से अधिक वस्तुगत बना लिया है और रस ने व्यंजना के द्वारा अपने स्वरूप को अत्यधिक व्यक्ति-परक। पाश्चात्य साहित्य में मनोविज्ञान के प्रभाववश आज अनुभूति और अभिव्यक्ति अथवा भाव और शैली का जो अनिवार्य सहभाव माना गया है वह संस्कृत काव्य-शास्त्र में 'साहित्य' शब्द की व्युत्पत्ति में ही सीमित होकर रह गया, विधान-रूप में मान्य न हो सका।

रीति-सिद्धान्त की परीक्षा

रीति-सिद्धान्त भारतीय काव्य-शास्त्र में अन्ततः मान्य नहीं हुआ—अलंकार-सम्प्रदाय तो फिर भी किसी-न-किसी रूप में वर्तमान रहा, परन्तु वामन के उपरान्त रीति-सिद्धान्त प्रायः निश्शेष ही हो गया। रीति को काव्य की आत्मा मानने वाला कोई विरला ही पैदा हुआ, समस्त संस्कृत काव्य-शास्त्र में वामन के पश्चात् केवल दो नाम ही इस प्रसंग में लिए जा सकते हैं। एक वामन के टीकाकार तिप्पभूपाल का—असवो रीतयः, और दूसरा अमृतानन्दयोगिन् का—रीतिरात्मास्त्र (अलंकारसंग्रह)। इनमें से एक तो केवल व्याख्याता मात्र हैं, और दूसरे का कोई विशिष्ट स्थान नहीं।

यह स्वाभाविक भी था क्यों कि अपने उग्र रूप में रीतिवाद की नींव इतनी कच्ची है कि वह स्थायी नहीं हो सकता था। देह को महत्व देना तो आवश्यक है, परन्तु उसे आत्मा या जीवन का मूल आधार ही मान लेना प्रवंचना है।

रीतिवाद में पद-रचना (शैली) को ही काव्य का सर्वस्व माना गया है—रस को शैली का अंग माना गया है और वह भी महत्वपूर्ण अंग नहीं। एक तो उसका समावेश बीस गुणों में से एक गुण कान्ति में ही है और दूसरे स्वयं कान्ति अपने आप में कोई विशिष्ट गुण नहीं है क्योंकि कान्ति और ओज गौड़ीया के गुण माने गये हैं और गौड़ीया को वामन ने निश्चय ही अप्रधान रीति माना है :'इनमें से पहली अर्थात् वैदर्भी ही ग्राह्य है क्योंकि उसमें सभी गुण वर्तमान रहते हैं। शेष दो अर्थात् गौड़ीया और पांचाली नहीं क्यों कि उनमें थोड़े से ही गुण होते हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि इन दो का भी अभ्यास करना चाहिए क्यों कि ये वैदर्भी तक पहुंचने के सोपान हैं। यह ठीक नहीं है क्यों कि अतत्व के अभ्यास से तत्व की प्राप्ति सम्भव नहीं है।" (काव्यालंकारसूत्र)। गौड़ीया के इस तिरस्कार से यह स्पष्ट है कि रीति-सिद्धान्त में कान्ति और उसके आधार-तत्व रस का कोई विशेष महत्व

नहीं है। रस का यह तिरस्कार या अवमूल्यन ही अन्त में रीतिवाद के पतन का कारण हुआ और यही संगत भी था। काव्य का मूल गुण है रमणीयता, उसकी चरम सिद्धि है सहृदय का मनःप्रसादन, और उद्दिष्ट परिणाम है चेतना का परिष्कार। यह सब भावों का ही व्यापार है—भाव-तत्व के कारण ही काव्य में रमणीयता आती है, भाव-तत्व ही सहृदय के भावों को उद्बुद्ध कर उन्हें उत्कट आनन्दमयी चेतना में परिणत करता है, और उसी के द्वारा भावों का परिष्कार सम्भव है। शैली में भी रमणीयता का समावेश भाव-तत्व के द्वारा ही होता है : भावों की उत्तेजना से ही वाणी में उत्तेजना आती है—चित्त के चमत्कार से ही वाणी में चमत्कार का समावेश होता है, यह स्वतः-सिद्ध मनोवैज्ञानिक तथ्य है। सामान्य एवं व्यापक रूप में भी जीवन का प्रेरक तत्व राग ही है। अतएव राग या रस का तिरस्कार दर्शन भी नहीं कर सका, काव्य का तो समस्त व्यापार ही उस पर आश्रित है। रीति-सिद्धान्त ने रीति को आत्मा और रस को एक साधारण अंग मात्र मान कर प्रकृत क्रम का विपर्यय कर दिया, और परिणामतः उसका पतन हुआ।

परन्तु फिर भी रीतिवाद सर्वथा सारहीन अथवा निर्मूल्य सिद्धान्त नहीं है। वामन अत्यन्त मेधावी आचार्य थे—उनके अपने युग की परिसीमाएँ थीं, तथापि उन्होंने भारतीय काव्य-शास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है, और उनके सिद्धान्त का अपना उज्ज्वल पक्ष है।

सब से पहले तो वह इतना एकांगी नहीं है जितना प्रतीत होता है। उसके अनुसार काव्य का आदर्श-रूप वैदर्भी में प्राप्त होता है जहाँ दस शब्द-गुणों और दस अर्थ-गुणों की पूर्ण सम्पदा मिलती है। दस शब्द-गुणों के विश्लेषण से, आधुनिक आलोचना-शास्त्र की शब्दावली में, निम्नलिखित काव्य-तत्व उपलब्ध होते हैं :

(१) वर्ण-योजना का चमत्कार—

- (क) झंकार (सौकुमार्य तथा श्लेष गुणों में)
- (ख) औज्ज्वल्य (कान्ति)

(२) शब्द-गुम्फ का चमत्कार (ओज, प्रसाद, समाधि, समता, अर्थव्यक्ति)

(३) स्फुट शब्द का चमत्कार (माधुर्य, कान्ति)

(४) लय का चमत्कार—(उदारता)

उपर दस अर्थ-गुणों का विश्लेषण निम्नलिखित काव्य तत्वों की ओर निर्देश करता है :

(१) अर्थ-प्रौढ़ि—अर्थात् समास तथा व्यास शैलियों का सफल प्रयोग, साभिप्राय विशेषण-प्रयोग आदि। (ओज)

(२) अर्थ-वैमल्य—अन्यून-अनतिरिक्त शब्दों का प्रयोग, आनुगुण्त्व (प्रसाद)।

(३) उक्ति-वैचित्र्य (माधुर्य)

(४) प्रक्रम (समता)

(५) स्वाभाविकता तथा यथार्थता। (अर्थव्यक्ति)

(६) अग्राम्यत्व—अभद्र, अमंगल तथा अश्लील शब्दों का त्याग (औदार्य और सौकुमार्य)।

(७) अर्थ-गौरव (समाधि, श्लेष)

(८) रस (कान्ति)

इनमें से अर्थ-गौरव, रस, अग्राम्यत्व तथा स्वाभाविकता वर्ण्य विषय के गुण हैं और अर्थ-वैमल्य, उक्ति-वैचित्र्य, प्रक्रम, अर्थ-प्रौढ़ि अर्थात् समास और व्यास शैली तथा साभिप्राय-विशेषण-प्रयोग वर्णन-शैली के गुण हैं।

इस प्रकार वामन के अनुसार आदर्श काव्य के मूल तत्व हैं :—

शैलीगत :—अर्थ-वैमल्य (आनुगुण्त्व), उक्ति-वैचित्र्य, प्रक्रम, अर्थ-प्रौढ़ि अर्थात् समास-शक्ति, व्यास-शक्ति तथा साभिप्राय-विशेषण-प्रयोग।

विषयगत :—अर्थ-गौरव, रस, परिष्कृति (अग्राम्यत्व) तथा स्वाभाविकता।

आधुनिक आलोचना-शास्त्र के अनुसार काव्य के चार तत्व हैं : राग-तत्व, बुद्धि-तत्व, कल्पना और शैली। उपर्युक्त गुणों में ये चारों तत्व यथावत् समाविष्ट हैं। रस, परिष्कृति (अग्राम्यत्व) तथा स्वाभाविकता राग-तत्व हैं; अर्थ-गौरव बुद्धि-तत्व है;

उक्ति-वैचित्र्य तथा साभिप्राय विशेषण कल्पना-तत्व हैं; और अर्थ-वैमल्य, समास-गुण तथा प्रक्रम शैली के तत्व हैं।

अतएव वामन का रीतिवाद वास्तव में सर्वथा एकांगी नहीं है—उसमें भी अपने ढंग से काव्य के सभी मूल तत्वों का समावेश है।

इसके अतिरिक्त रीति अथवा शैली को महत्व-प्रतिष्ठा अपने आप में भी कोई नगण्य सिद्धान्त नहीं है। वाणी के बिना अर्थ गूंगा है। शैली के अभाव में भाव उस कोकिल के समान असहाय है जिसे विधाता ने हृदय का मिठास देकर भी रसना नहीं दी और कल्पना उस पक्षी के समान असमर्थ है जिसे पर बांध कर पिंजड़े में डाल दिया गया हो। वास्तव में काव्य को शास्त्र से पृथक् करने वाला तत्व अनिवार्यतः शैली ही है। शास्त्र में विचार की समृद्धि तो रहती ही है—कल्पना का भी प्रचुर उपयोग हो सकता है; इसी प्रकार भाव का सौंदर्य भी लोक-वार्ता में निस्सन्देह रहता है, परन्तु अभिव्यंजना-कला—शैली—के अभाव में वे काव्य-पद के अधिकारी नहीं हो सकते। इस दृष्टि से शैली-तत्व की अनिवार्यता असंदिग्ध है, और रीतिवाद ने उस पर बल देकर काव्य-शास्त्र का निस्सन्देह ही उपकार किया है।

आचार्य कुन्तक

और

वक्रोक्ति-सिद्धान्त

वक्रोक्ति-सिद्धान्त

वक्रोक्ति के संस्थापक आचार्य कुन्तक भारतीय काव्य-शास्त्र के प्रमुख आधार-स्तम्भ हैं। अपनी मौलिक प्रतिभा और प्रखर मेधा के द्वारा उन्होंने काव्य के मूल सिद्धान्तों का सर्वथा नवीन रूप में पुनराख्यान किया और ध्वनि-सिद्धान्त के उद्भावक आनन्दवर्धन की सार्वभौम प्रतिष्ठा को ललकारा :—

निर्मूलत्वादेव तयोर्भावाभावयोरिव न कथंचिदपि साम्योपपत्तिरित्यलमनुचित-विषयवर्णनाचातुर्यचापल्येन।

—अर्थात् भाव और अभाव के समान उन दोनों (कामी तथा शराग्नि के सादृश्य) के निर्मूल होने से उन दोनों के साम्य का किसी प्रकार भी उपपादन नहीं हो सकता। इसलिए अनुचित विषय के समर्थन में चातुर्य दिखलाने का (ध्वन्या-लोककार का) प्रयत्न व्यर्थ है।

(हिन्दी वक्रोक्तिजीवित—तृ० उन्मेष परिशिष्ट)

इसी साहसपूर्ण मौलिक विवेचन के कारण कुन्तक का वक्रोक्ति-सिद्धान्त केवल सिद्धान्त न रह कर सम्प्रदाय बन गया है।

पूर्व-वृत्त

काव्य के जीवित रूप में वक्रोक्ति की स्थापना तो दसवीं शताब्दी में कुन्तक के द्वारा ही हुई, परन्तु उसके बीज संस्कृत काव्य-शास्त्र में पहले से ही वर्तमान थे। अन्य सिद्धान्तों की भांति वक्रोक्ति-सिद्धान्त भी कोई आकस्मिक घटना न होकर एक विचार-परम्परा की परिणति ही थी।

बाण भट्ट

वक्रोक्ति के व्यापक अर्थ की कल्पना कुन्तक के पूर्ववर्ती आचार्यों में ही नहीं, कवियों में भी मिलती है। उदाहरण के लिए बाण भट्ट ने कादम्बरी में वक्रोक्ति का इसी व्यापक अर्थ में प्रयोग करते हुए लिखा है : 'वक्रोक्तिनिपुणेन आख्यायिकाख्यान-परिचयचतुरेण' (कादम्बरी)। यहाँ वक्रोक्ति का प्रयोग निश्चय ही केवल वाक्छल-रूप शब्दालंकार के अर्थ में नहीं किया गया। वास्तव में बाण स्वयं भी वाणी के चमत्कार के बड़े प्रेमी थे : लगभग पाँच-छः शताब्दी के उपरान्त कविराज ने 'वक्रोक्तिमार्ग-निपुण' विशेषण देकर उनकी तथा सुबन्धु की प्रशस्ति की है :

> सुबन्धुर्बाणभट्टश्च कविराज इति त्रयः।
> वक्रोक्तिमार्गनिपुणाश्चतुर्थो विद्यते न वा॥
>
> (राघवपाण्डवीयम् १।४१)

बाण ने भी श्लेष प्रहेलिका आदि का प्रयोग करते हुए शब्द-क्रीड़ा का रस लिया है— परन्तु उपर्युक्त पंक्ति में वक्रोक्ति का अर्थ शब्द-क्रीड़ा मात्र नहीं है यद्यपि शब्द-क्रीड़ा— 'परिहास जल्पित'—का भी अन्तर्भाव उसमें है अवश्य। बाण की यह वक्रोक्ति इति-वृत्त वर्णन से भिन्न काव्य की चमत्कारपूर्ण शैली तथा वचन-विदग्धता की ही पर्याय है जिसका उन्होंने अन्यत्र इस प्रकार विश्लेषण किया है :

> नवोऽर्थो जातिरग्राम्या, श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
> विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्॥
>
> (हर्षचरित, १।८)

इस प्रकार स्पष्ट है कि बाण का वक्रोक्ति मार्ग शब्द और अर्थ दोनों के चमत्कार से सम्पन्न है, उसमें अक्लिष्ट श्लेष और नवीन अर्थ दोनों का चमत्कार है।

भामह

काव्य-शास्त्र में वक्रोक्ति का सर्वप्रथम नियमित विवेचन भामह के काव्यालंकार में मिलता है और इसमें संदेह नहीं कि वक्रोक्ति के व्यापक अर्थ की कल्पना का मूल उद्गम भामह का विवेचन ही है।

वक्रोक्ति में भामह ने शब्द और अर्थ दोनों की वक्रता का अन्तर्भाव माना है :

> वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टावाचामलंकृतिः। (काव्यालंकार १।६)

'वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते' (का० ५।६६) अर्थात् वक्रोक्ति से अभिप्राय है अर्थ और शब्द की वक्रता—'वक्राभिधेय शब्दोक्तिः' और 'वक्रार्थ शब्दोक्तिः' का एक ही अर्थ है। इस प्रकार भामह के अनुसार शब्द-वक्रता और अर्थ-वक्रता का समन्वित रूप ही वक्रोक्ति है। यह वक्रोक्ति ही इष्ट (अर्थ) और वाणी (शब्द) का मूल अलंकार है—अथवा यों कहिए कि अलंकार का मूल आधार है। आगे चलकर भामह ने अतिशयोक्ति के स्वरूप-वर्णन द्वारा वक्रता का आशय स्पष्ट किया है। अतिशयोक्ति के विषय में भामह का मत है :

निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम् ।
मन्यतेऽतिशयोक्तिं तामलंकारतया यथा ॥ २।८१

इत्येवमादिरुदिता गुणातिशययोगतः ।
सर्वैवातिशयोक्तिस्तु तर्कयेत् तां यथागमम् ॥ २।८४

इसका निष्कर्ष यह है :—

१. अतिशयोक्ति उस उक्ति का नाम है जिसमें गुण के अतिशय का योग हो।

२. अतिशय का अर्थ है लोकातिक्रान्तगोचरता—लोक का अतिक्रमण अर्थात्—लोक-सामान्य से वैचित्र्य।

३. अतएव अतिशय+उक्ति का अर्थ हुआ लोक-सामान्य (उक्ति) से विचित्र उक्ति : ऐसी उक्ति जिसमें शब्द और अर्थ का लोकोत्तर अर्थात् असाधारण या चमत्कारपूर्ण प्रयोग किया गया हो।

यह अतिशयोक्ति ही वक्रोक्ति है—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः + + + । (२।८५)

अतएव भामह की वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति पर्याय हैं:—'एवं चातिशयोक्तिरिति वक्रोक्तिरिति पर्याय इति बोध्यम्' (काव्यप्रकाश बालबोधिनी टीका पृ० ६०६), और उन दोनों का एक ही लक्षण है लोकातिक्रान्तगोचर उक्ति—आधुनिक शब्दावली में शब्द-अर्थ का लोकोत्तर अर्थात् इतिवृत्त कथन से भिन्न चमत्कारपूर्ण प्रयोग :—

(१) शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम्।

(२) लोकोत्तरेण चैवातिशयः''' । (लोचन—अभिनवगुप्त)

आगे चलकर भामह उपर्युक्त श्लोक में ही वक्रोक्ति की विशेषता को और स्पष्ट करते हुए लिखते हैं :

अनयार्थो विभाव्यते ।

अर्थात् इसके द्वारा अर्थ का विचित्र रूप में भावन होता है :—

अनया अतिशयोक्त्या विचित्रतया भाव्यते । (लोचन) ।

वक्रोक्ति का साम्राज्य सार्वभौम है—'कोऽलंकारोऽनया विना' । २।८५। काव्य का समस्त सौंदर्य उसी के आश्रित है । स्फुट अलंकारों में ही नहीं, काव्य के सभी व्यापक रूपों में—महाकाव्य रूपक आदि में भी वक्रोक्ति का ही चमत्कार है : 'युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते ।' १।३० । जहाँ वक्रता नहीं है वहाँ अलंकारत्व ही नहीं है—इसीलिए हेतु, सूक्ष्म और लेश को भामह ने अलंकार नहीं माना है :

हेतुः सूक्ष्मोऽथ लेशश्च नालंकारतया मतः ।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः ॥

अर्थात् वक्रोक्ति के अभाव के कारण हेतु, सूक्ष्म और लेश अलंकार नहीं हैं । वक्रोक्ति से हीन कथन को भामह ने वार्ता नाम दिया है । सूर्य अस्त हो गया, चन्द्रमा उदित है, पक्षी अपने नीड़ों को जा रहे हैं—यह भी कोई काव्य है ? यह तो वार्ता है (२।८७) । इसे ही शुक्ल जी ने इतिवृत्त-कथन कहा है—इसमें शब्द-अर्थ का साधारण प्रयोग होता है जैसा कि जन-सामान्य नित्य-प्रति की बोलचाल में करते हैं ।

सारांश यह है कि भामह के अनुसार—

(१) वक्रोक्ति का मूल गुण—वक्रोक्ति का मूल गुण है शब्द और अर्थ का वैचित्र्य ।

(२) वक्रोक्ति का प्रयोजन—वक्रोक्ति का प्रयोजन है अर्थ का विचित्र रूप से भावन ।

(३) वक्रोक्ति का महत्व—वक्रोक्ति का महत्व सर्वव्यापी है, इसके बिना अलंकार का अलंकारत्व ही सम्भव नहीं है । इसके अभाव में वाक्य काव्य न होकर वार्ता मात्र रह जाता है ।

दण्डी

भामह के उपरान्त दण्डी ने भी काव्यादर्श में वक्रोक्ति की चर्चा की है। उन्होंने वाङ्मय के दो व्यापक भेद किये हैं—स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति : 'द्विधा भिन्नं स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्' २।३६२। स्वभावोक्ति में पदार्थों का साक्षात् स्वरूप-वर्णन होता है, वह आद्य अलंकार है :—

> नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद् विवृण्वती।
> स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा॥ २।८

शास्त्रादि में उसी का साम्राज्य रहता है—'शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं।' २।१३। वक्रोक्ति इससे भिन्न है, उसमें साक्षात् अथवा सहज वर्णन न होकर वक्र अर्थात् चमत्कारपूर्ण वर्णन होता है, उपमादि अन्य अलंकार सभी वक्रोक्ति के प्रकार हैं—'वक्रोक्तिशब्देन उपमादयः संकीर्णपर्यन्ता अलंकारा उच्यन्ते' (हृदयंगमा टीका)। इन सभी के चमत्कार में, प्रायः किसी न किसी रूप से श्लेष का योग रहता है—'श्लेषो सर्वासु पुष्णाति प्रायः वक्रोक्तिषु श्रियम्।' २।३६३। उधर अतिशयोक्ति के प्रसंग में दण्डी ने अतिशयोक्ति को भी सभी अलंकारों का आधार माना है : 'अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।' २।२२०। इस प्रकार एक ओर वक्रोक्ति को ओर दूसरी ओर अतिशयोक्ति को सभी अलंकारों का आधार मान कर भामह की भाँति दण्डी भी दोनों की पर्यायता सिद्ध कर देते हैं। पर्याय हो जाने पर दोनों की परिभाषा भी फिर वही हो जाती है जो अतिशयोक्ति की। दोनों का मूल उद्गम एक ही है 'लोकसीमातिवर्तिनी विवक्षा' अर्थात् वस्तु के लोकोत्तर वर्णन की इच्छा—विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी (२।२१४)। यही लक्षण भामह ने भी माना है। अतएव वक्रोक्ति के सम्बन्ध में भामह और दण्डी का मत प्रायः एक ही है—दोनों लोकवार्ता से भिन्न वाक्-भंगिमा को वक्रोक्ति मानते हैं, अन्य सभी अलंकार इसी के (आश्रित) प्रकार हैं। अन्तर केवल इतना है कि भामह स्वभावोक्ति को भी वक्रोक्ति की परिधि के भीतर मानते हैं, परन्तु दण्डी के अनुसार दोनों भिन्न हैं। भामह के अनुसार स्वभाव-कथन भी अपने ढंग से वक्र-कथन होगा, परन्तु दण्डी स्वभाव-कथन को वक्र-कथन से निश्चय ही पृथक् तथा कम महत्वपूर्ण मानते हैं—काव्य के लिए वह अनिवार्य नहीं है—ईप्सित अथवा वांछनीय मात्र है : 'काव्येष्वप्येतदीप्सितम्' २।१३।

इस प्रकार वक्रोक्ति के विषय में दण्डी का अभिमत भामह के मत से मूलतः भिन्न नहीं है।

(१) वक्रोक्ति को उन्होंने व्यापक अर्थ में ही ग्रहण किया है—वह विशिष्ट अलंकार न होकर सर्व-सामान्य अलंकार है।

(२) वक्रोक्ति अतिशयोक्ति से अभिन्न है।

(३) किन्तु वह स्वभावोक्ति से भिन्न है, यद्यपि उसके विपरीत नहीं है। स्वभावोक्ति शास्त्र का सहज माध्यम है—काव्य में भी वह वांछनीय है, उधर वक्रोक्ति काव्य का अनिवार्य माध्यम है।

वामन

वामन ने वक्रोक्ति को सामान्य अलंकार न मानकर विशिष्ट ही माना है—किन्तु परवर्ती आचार्यों की स्वीकृत मान्यता के विपरीत उनकी वक्रोक्ति शब्दालंकार न होकर अर्थालंकार है और उसका लक्षण है : 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः'

(काव्यालंकारसूत्र ४।३।८)

अर्थात् "लक्षणा के बहुत से निबन्ध होते हैं, उनमें से सादृश्यनिबन्धना लक्षणा ही वक्रोक्ति कहलाती है। असादृश्यनिबन्धना लक्षणा वक्रोक्ति नहीं होती (वृत्ति)"। वामन की इस धारणा का आधार क्या है यह कहना कठिन है, किंतु वक्रोक्ति की यह परिभाषा प्रायः उनके पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती किसी भी ग्रन्थ में नहीं मिलती और अन्ततः स्वीकार्य भी नहीं हुई—उसका केवल ऐतिहासिक महत्त्व ही रहा। यह परिभाषा एक ओर वामन के पूर्ववर्ती दण्डी के समाधि-गुण लक्षण का स्मरण दिलाती है और दूसरी ओर उनके परवर्ती आनन्दवर्धन की ध्वनि-कल्पना का पूर्व-संकेत देती है। लक्षणा में थोड़ी-सी वक्रता अवश्य रहती है—अभिधा से भिन्नता ही वक्रता है, परन्तु फिर यह प्रश्न उठता है कि केवल सादृश्यनिबन्धना लक्षणा को ही वक्रोक्ति क्यों माना है : विपरीत लक्षणा आदि वक्रतर रूपों को क्यों छोड़ दिया गया है ?

यह तो हुआ विशिष्ट अर्थ। सामान्य अर्थ में भी वक्रोक्ति की वामन ने सर्वथा उपेक्षा की है, यह नहीं कहा जा सकता। वामन की 'विशिष्टा पद-रचना रीतिः' में विशिष्टता वक्रता से एकांत भिन्न नहीं है। वामन के शब्दों में विशेष का अर्थ है गुणात्मा और उनके अनेक शब्द तथा अर्थ-गुणों में वक्रोक्ति के अनेक रूपों का स्पष्ट अन्तर्भाव है। उदाहरण के लिए वामन के ओज, श्लेष, उदारता, कान्ति आदि अनेक शब्द-गुणों में कुन्तक की वर्ण-विन्यास-वक्रता का अन्तर्भाव है।—कान्ति में जहाँ पद-रचना उज्ज्वल होती है और जिसके अभाव में रचना पुराण की छाया-सी लगती है, और उदारता में जहाँ पद नृत्य-सा करते प्रतीत होते हैं, वर्ण-वक्रता अत्यन्त

मुखर रूप में प्रकट है। इसी प्रकार अर्थ-गुण ओज की अर्थ-प्रौढ़ि का वह रूप, जिसका मूल चमत्कार है साभिप्राय-विशेषण-प्रयोग, निश्चय ही कुन्तक की पर्याय-वक्रता अथवा विशेषण-वक्रता का समानधर्मा है।

उक्तिवैचित्र्यमय अर्थ-गुण माधुर्य-पदार्थ-वक्रता का ही रूप है। यही उदारता के विषय में कहा जा सकता है—उसमें ग्राम्य अर्थ का अभाव रहता है और यह अभाव पदार्थ-वक्रता का द्योतक है। सौकुमार्य में अप्रिय (अपरुष) अर्थ में प्रिय शब्द का प्रयोग होता है : यह कुन्तक की पद-वक्रता का एक रूप है। वामन के अर्थ-गुण श्लेष की परिभाषा है : क्रियाओं का ऐसी चतुराई के साथ एकत्र वर्णन करना कि सम्बन्धित व्यक्ति उसे समझ न सके। यहाँ भी चतुराई (मूल शब्द—कौटिल्य) वक्रता का ही द्योतक है—भोज के टीकाकार रत्नेश्वर का भी यही मत है। उनके मत से अर्थ-गुण समता में भी वक्रता है, परन्तु वास्तव में वह अधिक स्पष्ट नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि वामन ने अपने ढंग से वक्रता के अनेक रूपों का वर्णन किया है—केवल वक्रता या वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग इस अर्थ में नहीं किया। वक्रता के व्यापक रूप की कल्पना उन्होंने प्रकारान्तर से अपने सिद्धान्त के अनुसार निश्चय ही की है—उसका लोकोत्तर चमत्कार उन्हें पूर्णतया ग्राह्य है—केवल शब्दावली भिन्न है।

रुद्रट

रुद्रट वामन से एक पग और आगे बढ़े—उन्होंने वक्रोक्ति को सामान्य अलंकार की पदवी से च्युत तो किया ही, साथ ही उससे अर्थालंकार का पद भी छीन लिया। वक्र उक्ति का 'अर्थ वक्रीकृता उक्ति' करते हुए उन्होंने उसे वाक्छल पर आश्रित शब्दालंकार मात्र माना—और इस प्रकार वक्रोक्ति-चिंतन में एक क्रान्ति उपस्थित कर दी। रुद्रट ने इस वक्रोक्ति के दो भेद किये हैं : (१) काकु वक्रोक्ति और (२) भंग-श्लेष वक्रोक्ति। काकु में उच्चारण और स्वर के उतार-चढ़ाव द्वारा उक्ति का वक्र अर्थ किया जाता है और भंग-श्लेष में श्लेष के द्वारा। रुद्रट की स्थापना का प्रभाव कवियों पर भी पड़ा और उनके कुछ ही समय उपरान्त रत्नाकर नामक कवि ने भंग-श्लेष का चमत्कार प्रदर्शित करते हुए 'वक्रोक्ति-पंचाशिका' की रचना की।

आनन्दवर्धन

आनन्दवर्धन ने वक्रोक्ति का स्वतंत्र विवेचन नहीं किया। ध्वन्यालोक में वक्रोक्ति शब्द का उल्लेख, दूसरे उद्योत की २१वीं कारिका की वृत्ति के अन्तर्गत, केवल एक स्थान पर ही मिलता है : "तत्र वक्रोक्त्यादिवाच्यालंकार व्यवहार एव।"

इससे यह स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन ने उसे विशिष्ट अलंकार के रूप में ग्रहण किया है और कदाचित् रुय्यक की भांति अर्थालंकार माना है। परन्तु यह बात नहीं है— तृतीय उद्योत में उसके सामान्य रूप की भी स्पष्ट स्वीकृति है जहाँ उन्होंने भामह की वक्रोक्ति-विषयक इस प्रसिद्ध स्थापना की पुष्टि की है :—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥

अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति की पर्यायता स्वीकार करते हुए आनन्दवर्धन ने लिखा है : + + "सबसे पहले तो सभी अलंकार अतिशयोक्ति-गर्भ हो सकते हैं। महाकवियों द्वारा विरचित वह (अन्य अलंकारों की अतिशयोक्तिगर्भता) काव्य को अनिर्वचनीय शोभा प्रदान करती है। अपने विषय के अनुसार किया हुआ अतिशयोक्ति का सम्बन्ध (योग) काव्य में उत्कर्ष क्यों नहीं लाएगा। भामह ने भी अतिशयोक्ति के लक्षण में यह कहा है :—(जो अतिशयोक्ति पहले कह चुके हैं, सब अलंकारों की चमत्कार-जननी) यह सब वही वक्रोक्ति है। इसके द्वारा पदार्थ चमक उठता है। कवियों को इसमें विशेष प्रयत्न करना चाहिए। इसके बिना अलंकार ही क्या है?

उसमें कवि की प्रतिभावश अतिशयोक्ति जिस अलंकार को प्रभावित करती है, उसको (ही) शोभातिशय प्राप्त होता है। अन्य तो (चमत्कारातिशय-रहित) अलंकार ही रह जाते हैं। इसी से सभी अलंकारों का रूप धारण कर सकने की क्षमता के कारण अभेदोपचार से वही सर्वालंकार-रूप है, यही अर्थ समझना चाहिए।"—(हिन्दी ध्वन्यालोक पृ० ३९४-९५)

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि आनन्दवर्धन के मत से—

(१) वक्रोक्ति अतिशयोक्ति की पर्याय एवं सर्वालंकार-रूपा है,

(२) उसका चमत्कार कवि-प्रतिभाजन्य है,

(३) विषय का औचित्य उसका नियामक है अर्थात् वक्रता अथवा अतिशय का प्रयोग विषय के अनुकूल ही होना चाहिए।

इस तीसरे तथ्य के द्वारा आनन्दवर्धन ने वक्रोक्ति को अपने सिद्धान्त के अनुशासन में ले लिया है।

प्रत्यक्ष रूप में आनन्दवर्धन के ग्रन्थ में वक्रोक्ति की इतनी ही चर्चा है। और वह भी अतिशयोक्ति के द्वारा। किन्तु अप्रत्यक्ष रूप में उनके ध्वनि-निरूपण का कुन्तक

के वक्रोक्ति-विवेचन पर गहरा और व्यापक प्रभाव है। वक्रोक्ति-जीवितम् की रूपरेखा का विधान ही कुन्तक ने ध्वन्यालोक के आधार पर किया है: दोनों ग्रन्थों की निरूपण-योजनाएँ समानान्तर रूप से चलती हैं। इसके अतिरिक्त वक्रोक्ति-जीवितम् में अनेक प्रसंग ऐसे हैं जहाँ ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिध्वनि स्पष्ट सुनाई देती है: उदाहरण के लिए वक्रोक्ति का विस्तार भी ध्वनि की भाँति वर्ण तथा प्रत्यय, विभक्ति आदि से लेकर सम्पूर्ण प्रबन्ध-काव्य तक माना गया है: वर्ण-विन्यास-वक्रता और वर्ण-ध्वनि-पद-वक्रता और पद-ध्वनि में कोई मौलिक भेद नहीं है। अनेक चमत्कार-भेद तो ऐसे हैं जिनमें केवल ध्वनि और वक्रोक्ति का नाम-भेद मात्र है—आनन्द ने उसे ध्वनि कहा है, कुन्तक ने वक्रोक्ति। आनन्दवर्धन की उक्ति है:

सुप्-तिङ्-वचन-सम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः।
कृत्-तद्धित-समासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित्॥ (३।१६ ध्वन्यालोक) × × × च शब्दान्निपातोपसर्गकालादिभिः प्रयुक्तैरभिव्यज्यमानो दृश्यते।

अर्थात् सुप् (प्रथमादि विभक्तियाँ), तिङ् (क्रिया विभक्तियाँ), वचन, सम्बन्ध (षष्ठी विभक्ति), कारक शक्ति, कृत् (धातु से विहित तिङ् भिन्न प्रत्यय), तद्धित और समास से कहीं-कहीं असंलक्ष्यक्रम ध्वनि अभिव्यक्त होती है।

+ + + च शब्द से निपात, उपसर्ग, कालादि के प्रयोग से अभिव्यक्त होता देखा जाता है।

इन भेदों की व्याख्या में ध्वनिकार ने अनेक उदाहरण दिये हैं जिनमें विभक्तियाँ, क्रिया-रूप, वचन, कारक, काल, उपसर्ग, निपात आदि की ध्वनि अन्तर्भूत है। इनमें से कतिपय उदाहरण कुन्तक ने उसी प्रसंग में यथावत् उठा कर रख दिये हैं—उदाहरण के लिए शाकुन्तलम् का यह उद्धरण 'कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु'—अर्थात् किसी प्रकार शकुन्तला के मुख को ऊपर उठा तो लिया किन्तु चूम नहीं सका—दोनों में क्रमशः 'तु' की निपात-ध्वनि और निपात-वक्रता को उदाहृत करने के लिए दिया गया है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी संकलित किये जा सकते हैं। पदार्थ-वक्रता और पदार्थ-ध्वनि के मूल रूप भी तत्वतः भिन्न नहीं हैं—और यही बात अंशतः प्रबन्ध-वक्रता और प्रबन्ध-ध्वनि के विषय में भी कही जा सकती है। उदाहरण के लिए प्रबन्ध-वक्रता के अंतिम रूप को स्पष्ट करते हुए कुन्तक ने लिखा है "नये-नये उपायों से सिद्ध होने वाले, नीति-मार्ग का उपदेश करने वाले महाकवियों के सभी (प्रबन्ध-काव्य तथा नाटक आदि) ग्रन्थों में (अपना-अपना कुछ अपूर्व) सौन्दर्य (वक्र-भाव)

रहता ही है।" हिन्दी वक्रोक्तिजीवित ४।२६।। इसको आधुनिक आलोचना-शास्त्र में मूलार्थ कहते हैं—भोज ने इसे महावाक्यार्थ कहा है, और यही ध्वनिकार की प्रबन्ध-ध्वनि है। इस प्रकार यह सिद्ध है कि कुन्तक ने आनंन्दवर्धन की ध्वनि-कल्पना से निश्चय ही वक्रोक्ति के संकेत ग्रहण किये हैं।

अभिनवगुप्त ने वक्रोक्ति का सामान्य रूप ग्रहण किया है। भामह के वक्रोक्ति-लक्षण—

वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा वाचां त्वलङ्कृतिः। काव्यालंकार १।३२६

की व्याख्या करते हुए अभिनव ने लिखा है : शब्दस्य हि वक्रता, अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तरेण रूपेण अवस्थानम्। + + लोकोत्तरेण चैवातिशयः। तेन अतिशयोक्तिः सर्वालंकारसामान्यम् ।।लोचन पृ० २०८।। अर्थात् शब्द और अर्थ की वक्रता का आशय है उनका लोकोत्तर रूप से अवस्थान। लोकोत्तर का अर्थ है अतिशय। इस प्रकार अतिशयोक्ति सामान्य अलंकार है। ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में ध्वनि की भूमिका बांधते हुए आनन्दवर्धन ने निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है :

यस्मिन्नस्ति न वस्तु किंचन मनःप्रह्लादि सालंकृति,
व्युत्पन्नै रचितं न चैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत्।

+ + + +

अभिनवगुप्त ने इस श्लोक को मनोरथ कवि का मानते हुए, 'वक्रोक्तिशून्यं च यत्' पर टिप्पणी की है "वक्रोक्तिशून्येन शब्देन सर्वालंकाराभावश्च उक्तः।" अतएव यहाँ भी वे वक्रोक्ति की अलंकार-सामान्यता की पुष्टि करते हैं।

अभिनव, भोज और कुन्तक प्रायः समकालीन ही थे। भोज के विद्वान डा० राघवन का मत है कि भोज और कुन्तक दोनों प्रायः एक ही समय में अवन्तिका और कश्मीर में बैठ कर परस्पर अपरिचित रहते हुए भामह के वक्रोक्ति (अलंकार)-वाद को पुनर्प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न कर रहे थे। वास्तव में इन दोनों के विवेचन में इतना अधिक अर्थ-साम्य है कि डा० राघवन की स्थापना में शंका होने लगती है। ऐसा प्रतीत होता है कि या तो इन दोनों ने भामह के किसी अद्यावधि-अज्ञात व्याख्याकार का आश्रय लिया था अथवा इनमें किसी एक ने, सम्भवतः भोज ने, दूसरे के ग्रन्थ का अध्ययन किया था। परन्तु यह हमारे विवेचन-क्षेत्र से बाहर का विषय है—सामान्यतः हम डा० राघवन के प्रामाणिक अनुसन्धान को अमान्यता देने के अधिकारी नहीं हैं।

भोज ने वक्रोक्ति का यथेष्ट मनोनिवेशपूर्वक विवेचन किया है—उनके शृंगारप्रकाश और सरस्वतीकण्ठाभरण दोनों में वक्रोक्ति-विषयक अनेक उक्तियाँ बिखरी हुई हैं जिनके आधार पर डा० राघवन ने अपने 'भोज का शृंगारप्रकाश' नामक ग्रन्थ में भोज-कृत वक्रोक्ति-विवेचना की बड़ी प्रामाणिक समीक्षा की है। भोज ने अपने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों की वक्रोक्ति-विषयक धारणाओं का समन्वय प्रस्तुत कर दिया है। उनसे पूर्व वक्रोक्ति के विषय में चार धारणाएँ थी—

१. भामह की धारणा—जिसके अनुसार वक्रोक्ति काव्य-सौंदर्य का पर्याय है और उसके अन्तर्गत रस, अलंकार तथा स्वभाव-कथन आदि सभी आ जाते हैं।

२. दण्डी की धारणा—जो भामह की धारणा से केवल इस बात में भिन्न है कि उसमें स्वभाव-कथन का अन्तर्भाव नहीं है। इस प्रकार दण्डी की वक्रोक्ति भामह की वक्रोक्ति से थोड़ी-सी संकीर्ण है।

३. वामन की धारणा—जिसके अनुसार वक्रोक्ति सादृश्य-गर्भा लक्षणा पर आश्रित अर्थालंकार है।

४. रुद्रट की धारणा—जिसके अनुसार वक्रोक्ति वाक्छल-रूप शब्दालंकार है।

भोज ने सरस्वतीकण्ठाभरण तथा शृंगारप्रकाश में उपर्युक्त चारों धारणाओं को ग्रहण किया है।

सबसे पूर्व भामह की व्यापक धारणा को लीजिए। भोज ने शृंगारप्रकाश में लिखा है :

क. पुनरनयोः काव्यवचसोः ध्वनितात्पर्ययोः विशेषः ?

उच्यते— यदवक्रं वचः शास्त्रे लोके च वच एव तत्।
वक्रं यदर्थवादौ तस्य काव्यमिति स्मृतिः॥

शृंगारप्रकाश ६,६, पृ० ४२७

अर्थात् शास्त्र और लोक में जो अवक्र वचन है उसका नाम वचन है, और अर्थवाद आदि में (निन्दास्तुति-विषयक अतिशयोक्ति में) जो वक्रता है उसका नाम काव्य है।

शृंगारप्रकाश के द्वितीय खण्ड में इसको और भी स्पष्ट किया गया है : इत्येतदपि सर्वालंकारसाधारणं लक्षणं अनुसर्तव्यम्। अस्मिन् सति सर्वालंकारजातयो वक्रोक्त्य-भिधानवाच्या भवन्ति। तदुक्तम्—

वक्रत्वमेव काव्याना पराभूयेति भामहः ।

इस सबका तात्पर्य यह है—'अलंकारों के इस सामान्य लक्षण का अनुसरण करना चाहिए ।' इस प्रकार सभी अलंकार वक्रोक्ति के अन्तर्गत आ जाते हैं ।

दण्डी ने वक्रोक्ति को परिधि से स्वभावोक्ति का बहिष्कार कर उसको थोड़ा-सा संकुचित कर दिया है । उनके मतानुसार वक्रोक्ति समस्त काव्य की पर्याय तो नहीं है, किन्तु स्वभावोक्ति के अतिरिक्त उपमा, रसवदादि अन्य सभी अलंकारों की पर्याय है । भोज ने दण्डी का यह ईषत्-संकुचित अर्थ भी ग्रहण किया है, तथा उसका थोड़ा और भी संकोचन कर दिया है । भामह ने वक्रोक्ति के अन्तर्गत काव्य का समग्र रूप ग्रहण किया था, दण्डी ने स्वभावोक्ति को पृथक् कर दिया, और भोज ने रस-सिद्धान्त की मान्यता स्वीकार करते हुए रस को भी स्वतन्त्र कर दिया :

वक्रोतिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्नेति वाङ्मयम् ।

[सरस्वतीकण्ठाभरण ५।८]

अर्थात् वाङ्मय के तीन रूप हैं : वक्रोक्ति, रसोक्ति और स्वभावोक्ति । 'त्रिविधः खलु अलंकारवर्गः वक्रोक्तिः स्वभावोक्तिः रसोक्तिरिति । तत्रोपमाद्यलंकारप्राधान्ये वक्रोक्तिः सोऽपि गुणप्राधान्ये स्वभावोक्तिः विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात्तु रसनिष्पत्तौ रसोक्तिरिति ।' शृंगारप्रकाश २।११ । अर्थात् अलंकार (काव्य-सौंदर्य) के तीन रूप होते हैं : उपमादि अलंकारों का प्राधान्य होने पर वक्रोक्ति होती है, गुण का प्राधान्य स्वभावोक्ति का द्योतक है और विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी के संयोग से रस-निष्पत्ति होने पर रसोक्ति होती है । इस प्रकार वक्रोक्ति की सामान्य धारणा क्रमशः संकुचित होती गयी ।

भामह की वक्रोक्ति का अर्थ था सम्पूर्ण काव्य-सौंदर्य जिसमें स्वभावोक्ति, उपमादि अलंकार अथवा रस-प्रपंच सभी कुछ अंतर्भूत था, तथा दण्डी के लिए उसका अर्थ था उपमादि अलंकार-प्रपंच एवं रस-प्रपंच, और भोज ने वक्रोक्ति का अर्थ किया केवल उपमादि अलंकार-प्रपंच ।

वामन की सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति बहुत कुछ मनमानी कल्पना थी—परवर्ती आचार्यों में वह मान्य नहीं हुई । किन्तु भोज की सारग्राहिणी दृष्टि ने उसको भी नहीं छोड़ा । शृंगारप्रकाश के शब्द-शक्ति प्रसंग में लक्षणा को परिभाषा करते हुए वे लिखते हैं :

अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।
सैषा विदग्धवक्रोक्तिजीवितं[1] वृत्तिरिष्यते ॥

अर्थात् लक्षणा वक्रोक्ति का प्राण है। किन्तु वामन और भोज के विवेचन में एक अन्तर है—और वह यह कि वामन ने केवल सादृश्य-गर्भा लक्षणा में ही वक्रोक्ति की स्थिति मानी है जब कि भोज ने सभी प्रकार की लक्षणा को उसका मूलाधार माना है। जैसा कि हमने वामन के प्रसंग में निर्देश किया है, वामन की अपेक्षा भोज का मत अधिक ग्राह्य है क्योंकि लक्षणा के केवल सादृश्य-मूलक रूप में ही वक्रता की इयत्ता मान लेना निराधार कल्पना है।

चौथी धारणा है रुद्रट की जो वक्रोक्ति को वाक्छल पर आश्रित शब्दालंकार मात्र मानते हैं। भोज ने यह विशिष्ट तथा क्षुद्र रूप भी पूर्ण आग्रह के साथ स्वीकार किया है। उन्होंने वक्रोक्ति को शब्दालंकार ही माना है—किन्तु रुद्रट की परिभाषा में थोड़ा परिवर्तन-संशोधन करते हुए। वक्रोक्ति का वाक्छल-रूप चमत्कार सर्वत्र कथोपकथन में ही प्रकट होता है अतएव उन्होंने वाकोवाक्य (कथोपकथन) नाम से एक नवीन शब्दालंकार की कल्पना की है। वाकोवाक्य के छः भेद हैं—जिनमें से एक है वक्रोक्ति। वक्रोक्ति में भोज ने केवल श्लेष वक्रोक्ति को ही स्वीकार किया है—काकु वक्रोक्ति को उन्होंने 'पठिति' नामक एक पृथक् शब्दालंकार माना है। उपर्युक्त श्लेष वक्रोक्ति के दो भेद हैं : निर्व्यूढ़ और अनिर्व्यूढ़—निर्व्यूढ़ वक्रोक्ति समस्त छन्द में व्याप्त रहती है, अनिर्व्यूढ़ एकदेशीय होती है।

परवर्ती आचार्य : वक्रोक्ति की विशिष्ट अलंकार रूप में स्वीकृति

भोज के उपरांत मम्मट आदि ने वक्रोक्ति का विशेष रूप ही स्वीकार किया। मम्मट ने उसे रुद्रट के अनुसरण पर शब्दालंकार ही माना—और काकु तथा भंग-श्लेष, इन दो रूपों के अतिरिक्त अभंग-श्लेष वक्रोक्ति नामक एक तीसरा रूप भी परिकल्पित किया। रुय्यक ने एक बार फिर उसके सामान्य रूप की चर्चा की किन्तु उसे माना विशेष अलंकार ही :—

१. यह शब्द हमारे इस अनुमान को पुष्ट करता है कि भोज ने कुन्तक का वक्रोक्ति-जीवितम् देखा था।

वक्रोक्तिशब्दश्च अलंकारसामान्यवचनोऽपि इह अलंकार विशेषे संज्ञितः
अलंकारसर्वस्व, पृ० १७७

पर रुय्यक की स्थिति मम्मट से भिन्न है—रुय्यक ने वक्रोक्ति को अर्थालंकार माना है—शब्दालंकार नहीं। विद्यानाथ और अप्पय दीक्षित का भी यही मत था। अन्ततः मम्मट का मत ही ग्राह्य हुआ—और विश्वनाथ आदि ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार मात्र माना। विश्वनाथ ने वक्रोक्ति के सामान्य रूप को सर्वथा उपेक्षा करते हुए कुन्तक के सिद्धान्त को एक वाक्य में उड़ा दिया : 'वक्रोक्तेरलंकारविशेषरूपत्वात्।'

इस प्रकार वक्रोक्ति के स्वरूप का विकास अत्यन्त मनोरंजक है—भामह से लेकर विश्वनाथ तक उसके गौरव में आकाश पाताल का अन्तर पड़ गया। काव्य-सौंदर्य के मूल आधार से स्खलित होकर वह वाक्छल मात्र रह गयी।

कुन्तक द्वारा वक्रोक्ति की स्थापना

कुन्तक ने वक्रोक्ति का मौलिक व्याख्यान करते हुए उसे काव्य के आधारभूत एवं सर्वग्राही रूप में प्रतिष्ठित किया। उन्होंने भामह से प्रेरणा ग्रहण कर वक्रता को काव्य का मूल तत्व मानते हुये उसी के आधार पर काव्य के सर्वांग की व्याख्या प्रस्तुत की। काव्य का काव्यत्व उसके आश्रित है, काव्य के सभी रूपों में उसकी अनिवार्य स्थिति है—काव्य के सभी अंग उसमें अंतर्भूत हैं। इस प्रकार कुन्तक के विवेचन में वक्रोक्ति मौलिक तत्व से सर्वव्यापक तत्व बनी, और अन्त में एक व्यवस्थित सिद्धान्त तथा काव्य-सम्प्रदाय बन गई।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त के अनुसार वक्रोक्ति काव्य की आत्मा है। अतएव वक्रोक्ति के स्वरूप को हृदयंगम करने के लिए पहले इस सिद्धान्त के अन्तर्गत काव्य का स्वरूप स्पष्ट कर लेना चाहिए।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त के अंतर्गत काव्य का स्वरूप

कुन्तक ने वक्रता की व्याख्या करने से पूर्व काव्य के स्वरूप को ही स्पष्ट किया है। वक्रोक्तिजीवितम् के प्रथम उन्मेष में काव्य के स्वरूप का विस्तृत व्याख्यान है।

आरम्भ में काव्य का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ करते हैं :—

कवेः कर्म काव्यम्। १,२ (वृत्ति): अर्थात् कवि का कर्म काव्य है।
इसको स्पष्ट करते हुए आगे चलकर कहते हैं :

× × × तत्वं सालंकारस्य काव्यता। १,६।

अयमत्र परमार्थः। सालंकारस्यालंकरणसहितस्य सकलस्य निरस्तावयवस्य सतः काव्यता कविकर्मत्वम्। तेन अलंकृतस्य काव्यत्वमिति स्थितिः न पुनः काव्यस्यालंकारयोग इति।

अर्थात् सालंकार (शब्दार्थ) की काव्यता है, यह यथार्थ (तत्व) है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि अलंकार सहित अर्थात् अलंकरण सहित सम्पूर्ण अर्थात् अवयव-रहित समस्त समुदाय की काव्यता अर्थात् कविकर्मत्व है। इसलिये अलंकृत का ही काव्यत्व है (अर्थात् अलंकार काव्य का स्वरूपाधायक धर्म है) न कि काव्य में अलंकार का योग होता है। (हिन्दी वक्रोक्तिजीवित पृ० १७)

इसके तीन निष्कर्ष निकलते हैं :

(१) सालंकार शब्द-अर्थ ही काव्य है।

(२) अलंकार काव्य का मूल तत्व है, बाह्य भूषण मात्र नहीं है।

(३) काव्यत्व की स्थिति अलंकार और अलंकार्य शब्द-अर्थ के अवयव-रहित समस्त समुदाय में ही रहती है।

'उपर्युक्त कारिका में काव्य का अस्पष्ट-सा स्वरूप-निरूपण किया है', इसलिये काव्य का व्यवस्थित लक्षण करते हैं :

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥ १।७।

—काव्य-मर्मज्ञों को आनन्द देने वाली सुन्दर (वक्र) कवि-व्यापार-युक्त रचना (बन्ध) में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर (सहित रूप में) काव्य कहलाते हैं।

इस कारिका पर स्वयं कुन्तक की वृत्ति है :

शब्दार्थौ काव्यं अर्थात् वाचक (शब्द) और वाच्य (अर्थ) दोनों मिलकर काव्य हैं, (अलग अलग नहीं)। दो (शब्द और अर्थ मिलकर) एक (काव्य कहलाते) हैं, यह विचित्र ही उक्ति है। (हम वक्रोक्ति को काव्य का जीवित निर्धारित करने जा रहे हैं, यह बात काव्य के लक्षण से स्पष्ट होती है। शब्द और अर्थ ये दोनों मिलकर एक काव्य नाम को प्राप्त करते हैं, यह कथन स्वयं एक प्रकार की वक्रोक्ति से पूर्ण होने से वक्रोक्ति है)। इसलिए यह जो किन्हीं का मत है कि कवि-कौशल से कल्पित किया गया है सौंदर्यातिशय जिसका ऐसा केवल शब्द ही काव्य है, और किन्हीं की रचना के वैचित्र्य से चमत्कारकारी अर्थ ही काव्य है (यह जो मत है), ये दोनों मत खण्डित हो जाते हैं (न केवल शब्द को और न केवल अर्थ को काव्य कहा जा सकता है, अपितु शब्द और अर्थ दोनों मिलकर काव्य कहलाते हैं) इसलिए जैसे प्रत्येक तिल में तैल रहता है, इसी प्रकार इन दोनों (शब्द तथा अर्थ) में तद्विदाह्लादकारित्व होता है। किसी एक में नहीं।

यह बात निश्चित हुई कि न केवल रमणीयता-विशिष्ट शब्द काव्य है और न (केवल) अर्थ ॥ हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, पृ० १८-१९ ॥

इस विवेचन का सारांश यह है कि शब्द और अर्थ का साहित्य ही काव्य है—केवल शब्द-सौंदर्य अथवा केवल अर्थ-चमत्कार काव्य नहीं हो सकता।

किन्तु 'साहित्य' शब्द की क्या सार्थकता है ? यह प्रश्न उठ सकता है। कुन्तक ने स्वयं यह प्रश्न उठा कर इसका समाधान किया है :

(प्रश्न) वाच्य और वाचक के सम्बन्ध के (नित्य) विद्यमान होने से इन दोनों (शब्द और अर्थ) के साहित्य (सहभाव) का अभाव कभी नहीं होता है। (तब शब्दार्थौ सहितौ काव्यं यह कहने का क्या प्रयोजन है ?)

(उत्तर) सत्य है। किन्तु यहाँ विशिष्ट 'साहित्य' अभिप्रेत है। कैसा ? वक्रता से विचित्र गुण तथा अलंकार-सम्पत्ति की परस्पर-स्पर्धा-रूप। इसलिए मेरे मत में सर्वगुणयुक्त और मित्रों के समान परस्पर संगत शब्द और अर्थ दोनों एक दूसरे के लिए शोभाजनक होते हैं (वे ही काव्य पद वाच्य होते हैं।। हिन्दी व० जी० पृ० २५-२६वीं कारिका की वृत्ति)।।

इसी तथ्य को और स्पष्ट करते हुए कुन्तक ने अन्यत्र लिखा है : 'साहित्यं तुल्यकक्षत्वेनान्यूनानतिरिक्तत्वम्।' अर्थात् साहित्य का अर्थ यह है कि शब्द अर्थ का समान महत्व हो—किसी एक का भी महत्व न न्यून हो और न अतिरिक्त।

क्योंकि समर्थ शब्द के अभाव में अर्थ स्वरूपतः स्फुरित होने पर भी निर्जीव-सा ही रहता है। शब्द भी काव्योपयोगी (चमत्कारी) अर्थ के अभाव में (किसी साधारण), अन्य अर्थ का वाचक होकर वाक्य का भारभूत-सा प्रतीत होने लगता है। प्रथम उन्मेष, ६वीं का० वृत्ति।।

अतएव कुन्तक के मतानुसार साहित्य शब्द का अर्थ हुआ शब्द-अर्थ का पूर्ण सामंजस्य। यह सामंजस्य वाचक-वाच्य का सामान्य सहभाव न होकर विशिष्ट सहभाव है जो वक्रता-वैचित्र्य तथा गुणालंकार-सम्पदा से युक्त होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि इसमें शब्द के सम्पूर्ण सौंदर्य और अर्थ के सम्पूर्ण चमत्कार दोनों का सम्यक् सामंजस्य रहता है। यह विशिष्ट सहभाव है। विशिष्ट सहभाव का अर्थ यह है कि इसके शब्द और अर्थ दोनों साधारण, चमत्कार-शून्य न होकर विशिष्ट होते हैं :—

(पर्यायवाची) अन्य (शब्दों) के रहते हुए भी विवक्षित अर्थ का बोधक केवल एक (शब्द ही वस्तुतः) शब्द (कहलाता) है। इसी प्रकार सहृदयों के हृदय को आनन्दित करने वाला अपने स्वभाव से सुन्दर (पदार्थ ही काव्यमार्ग में वस्तुतः) अर्थ है।। प्रथम उन्मेष ६वीं कारिका की वृत्ति।।

इसलिए (शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्—इस काव्यलक्षण में) इस प्रकार के विशिष्ट शब्द और अर्थ का ही लक्षण लेना चाहिए। (१।१३वीं कारिका की वृत्ति)

अब केवल एक शब्द रह जाता है जिसकी व्याख्या अपेक्षित है, और वह है तद्विदाह्लादकारी। कुन्तक ने स्वयं अपना आशय स्पष्ट किया है। तत् का अर्थ है काव्य और विद् का अर्थ है मर्मज्ञ। अतएव तद्विदाह्लाद से अभिप्राय काव्य-मर्मज्ञ या सहृदय के आह्लाद से ही है। "इसका अभिप्राय यह हुआ कि यद्यपि पदार्थ नानाविध धर्म से युक्त हो सकता है फिर भी उस प्रकार के धर्म से इसका सम्बन्ध-वर्णन किया

जाता है जो धर्मविशेष सहृदयों के आनन्द उत्पन्न करने में समर्थ हो सकता है और उस (धर्म में) ऐसी सामर्थ्य सम्भव होती है जिससे कोई अपूर्व स्वभाव की महत्ता अथवा रस को परिपुष्ट करने की अंगता अभिव्यक्ति को प्राप्त करती है।" १।६वीं कारिका की वृत्ति ॥ इस प्रकार कुन्तक के अनुसार सहृदय-आह्लादकारित्व के दो आधार हैं—

(१) अपूर्वता अर्थात् वैचित्र्य अथवा असाधारणता और (२) रस-पोषण की शक्ति।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर, काव्य के लक्षण तथा स्वरूप के विषय में कुन्तक की मान्यताओं का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है :—

(१) काव्य का आधार शब्द-अर्थ है—यह शब्द-अर्थ साधारण न होकर विशिष्ट होता है। विशिष्ट शब्द से तात्पर्य यह है कि अनेक पर्याय रूपों के रहते हुए भी केवल एक शब्द ही विवक्षित अर्थ का अनिवार्यतः वाचक होता है। वाचक का प्रयोग यहाँ रूढ़ अर्थ में नहीं है—उसमें द्योतक तथा व्यंजक का भी अन्तर्भाव है। विशिष्ट अर्थ से अभिप्राय यह है कि पदार्थ के अनेक धर्मों में से केवल उसी धर्म का ग्रहण किया जाता है जिसमें अपूर्वता तथा रस-पोषण की शक्ति हो।

(२) काव्य के लिए इस विशिष्ट शब्द-अर्थ का पूर्ण साहित्य अनिवार्य है। साहित्य का अर्थ है पूर्ण सामंजस्य : शब्द और अर्थ दोनों का महत्व सर्वथा समान होना चाहिए। किन्तु यह तो अभावात्मक स्थिति हुई। शब्द-अर्थ का यह साहित्य भावात्मक रूप से गुणालंकार-सम्पदा से युक्त होना चाहिए। इसमें शब्द-सौंदर्य और अर्थ-सौंदर्य अहमहमिका से एक दूसरे के साथ स्पर्धा करते हैं। अर्थात् काव्य में शब्द अपने समस्त सौंदर्य के साथ और अर्थ अपनी समस्त रमणीयता के साथ परस्पर पूर्णतया समंजित रहते हैं।

(३) यह सामंजस्य शब्द-अर्थ के बन्ध अर्थात् रचना या क्रमबन्धन में व्यक्त होता है। यह रचना सामान्य व्यवहार की वचन-रचना से भिन्न वक्रतापूर्ण एवं कविकौशल-युक्त होती है। कुन्तक की शब्दावली में वक्रता अलंकार अथवा कविकौशल का ही पर्याय है—अतएव वक्रकविव्यापारशाली बन्ध का स्पष्ट अर्थ है कविकौशलपूर्ण रचना। सालंकारस्य काव्यता में भी उन्होंने यही बात कही है।

(४) यह सम्पूर्ण व्यवस्था— शब्द, अर्थ, उनका साहित्य, कवि-कौशल, तथा रचना—सहृदय-आह्लादकारी होती है।

निष्कर्ष यह निकला है कि कुन्तक के अनुसार काव्य उस कविकौशलपूर्ण रचना को कहते हैं जो अपने शब्द-सौंदर्य और अर्थ-सौंदर्य के अनिवार्य सामंजस्य द्वारा काव्य-मर्मज्ञ को आह्लाद देती है।

आधुनिक काव्य-शास्त्र की शब्दावली में कुन्तक की स्थापनाएँ इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती हैं :—

(१) काव्य में वस्तु-तत्व और माध्यम का—अनुभूति और अभिव्यक्ति का पूर्ण तादात्म्य रहता है।

(२) काव्य का वस्तु-तत्व साधारण न होकर विशिष्ट होता है—अर्थात् उसमें ऐसे तथ्यों का वर्णन नहीं होता जो अपनी सामान्यता में प्रभावहीन हो गये हैं—वरन् उन अनुभवों की अभिव्यक्ति होती है जो रमणीय—अर्थात् विशेष प्रभावोत्पादक होते हैं।

(३) काव्य में अभिव्यंजना की अद्वितीयता रहती है—अर्थात् किसी विशेष अनुभव की अभिव्यक्ति के लिए केवल एक ही शब्द अथवा शब्दावली का प्रयोग सम्भव होता है।

(४) अलंकार काव्य का मूल तत्व है, बाह्य भूषण मात्र नहीं है। अतएव अलंकार और अलंकार्य में मौलिक भेद नहीं है—केवल व्यवहार के लिए भेद मान लिया जाता है।

(५) काव्य का काव्यत्व कविकौशल पर आश्रित है—दूसरे शब्दों में काव्य एक कला है।

(६) काव्य-मर्मज्ञों का मनःप्रसादन काव्य की कसौटी है।

भारतीय काव्य-शास्त्र में कुन्तक मूलतः देहवादी आचार्य हैं—अतएव उनका संसर्ग भामह, दण्डी तथा वामन आदि अलंकार-रीतिवादियों के साथ स्वभाव से ही अधिक घनिष्ठ है। उनका काव्य-लक्षण भी इन पूर्ववर्ती आचार्यों के काव्य-लक्षणों की परम्परा का ही विकास है। भामह का काव्य-लक्षण है : 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं।' दण्डी ने इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली को काव्य संज्ञा दी है। और उधर वामन ने गुण से अनिवार्यतः तथा अलंकार से सामान्यतः विभूषित दोषरहित शब्दार्थ को काव्य माना है। कुन्तक की परिभाषा पर इनका स्पष्ट प्रभाव है—वास्तव में यह कहना चाहिए कि कुन्तक की परिभाषा में इन तीनों की तात्विक व्याख्या मिलती है।

होती है। आधुनिक शब्दावली में कविव्यापारशाली का अर्थ है कविकौशलयुक्त अथवा कलात्मक। वक्रतापूर्ण का पृथक् प्रयोग कुन्तक ने अपने 'वक्रोक्ति-सिद्धान्त का वैशिष्ट्य स्थापित करने के निमित्त किया है : वैसे संश्लिष्ट रूप में वक्रकविव्यापारशाली इस समस्त पद का अर्थ 'कलात्मक' ही पर्याप्त है। तद्विदाह्लादकारी का अर्थ है काव्य-मर्मज्ञों को आनन्ददायक। इस विशेषण के द्वारा कुन्तक साहित्य (शब्द-अर्थ के सहभाव) के मूल गुण या धर्म का निर्णय करते हैं : यह साहित्य आनन्ददायक होना चाहिए। आनन्द में भी अतिव्याप्ति हो सकती है—इसलिए उसका भी निराकरण करने के लिए कहते हैं तद्विदां—अर्थात् केवल काव्य-मर्मज्ञों का क्योंकि सामान्य जन का आनन्द स्थूल तथा अपरिष्कृत हो सकता है। अतः तद्विदाह्लाद का अर्थ हुआ ऐन्द्रिय आनन्द अथवा क्षुद्र मनोरंजन से भिन्न सूक्ष्म-संस्कृत आनन्द जिसका सम्बन्ध ऐन्द्रिय तुष्टि या क्षुद्र कुतूहल से न होकर चेतना के संस्कार से है। इस प्रकार कुन्तक के अनुसार, आधुनिक आलोचना-शास्त्र की शब्दावली में, काव्य का लक्षण हुआ : कलात्मक तथा परिष्कृत आनन्ददायक रचना में पूर्ण तादात्म्य के साथ व्यवस्थित शब्द-अर्थ का नाम काव्य है। इसमें सन्देह नहीं कि कुन्तक ने अपने लक्षण में अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति दोनों को बचाने का प्रयत्न किया है और उपर्युक्त व्याख्या के उपरांत निर्धारित यह लक्षण आधुनिक आलोचना-शास्त्र की दृष्टि से भी बुरा नहीं है। परन्तु कुन्तक की अपनी शब्दावली सर्वथा निर्दोष नहीं कही जा सकती। एक तो 'बन्धे व्यवस्थितौ' का पृथक् उल्लेख अपने आप में सर्वथा आवश्यक नहीं है क्योंकि 'सहित' शब्द के पश्चात् इसके लिये कोई विशेष अवकाश नहीं रह जाता : 'सहित' बन्ध में व्यवस्थित ही होगा। शब्द-अर्थ का अव्यवस्थित जंजाल 'सहित' में सम्भव नहीं है। किन्तु जैसा कि मैंने अन्यत्र निर्देश किया है कुन्तक ने कदाचित् वामन के सिद्धान्त का भी अन्तर्भाव करने के लिए ऐसा किया है। दूसरे, वक्रकविव्यापारशाली विशेषण व्याख्या-सापेक्ष्य है। कुन्तक की वक्रता स्वयं एक विशिष्ट प्रयोग है—फिर कवि-व्यापार की व्यवस्था भी उपेक्षित है। पहले कवि का लक्षण और फिर व्यापार का लक्षण करना पड़ेगा, तब कविव्यापारशाली का आशय व्यक्त हो सकेगा। इसके अनन्तर तद्विद् का आशय भी स्पष्टीकरण की अपेक्षा करता है। काव्य काव्य-मर्मज्ञ को आह्लाद देता है, यह तो कोई बात नहीं हुई। अतएव लक्षण की दृष्टि से कुन्तक की शब्दावली दोषमुक्त नहीं है : लक्षण की शब्दावली तो स्वतःस्पष्ट एवं अन्यून-अनतिरिक्त होनी चाहिए। उपर्युक्त लक्षण की शब्दावली व्याख्यापेक्षी है, साथ ही उसमें अतिरिक्त शब्दों का प्रयोग भी है। इस दृष्टि से भामह का लक्षण ही सबसे अधिक संतोषप्रद

परिभाषा का मूल अंश 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं' यथावत् भामह का ही उद्धरण है। 'वक्रकविव्यापारशालिनि बन्धे व्यवस्थितौ'—अर्थात् वक्रतापूर्ण कविकौशलयुक्त रचना में व्यवस्थित वामन के 'गुणालंकारसंस्कृतयोः—अर्थात् गुण तथा अलंकार से विभूषित' का ही रूपान्तर है। बन्ध शब्द वामन की रीति या पद-रचना का स्मरण दिलाता है, वक्रतापूर्ण कवि-कौशल गुण तथा अलंकार का ही समष्टि रूप है—कुन्तक कवि-कौशल की सिद्धि वक्रोक्ति में मानते हैं, वामन गुण तथा अलंकार-योजना में, दोनों का अभिप्राय एक ही है। आरम्भ में ही स्वयं कुन्तक ने 'सालंकारस्य काव्यता' कह कर केवल अलंकार को ही उक्त अर्थ में प्रयुक्त किया है। अलंकारवादी अथवा देहवादी समस्त आचार्य अलंकार में ही सम्पूर्ण काव्य-कौशल को निहित मानते थे—भामह और दण्डी ने इस व्यापक अर्थ में अलंकार शब्द का ही प्रयोग किया है, वामन ने भी अलंकार को काव्य-सौंदर्य का पर्याय मान कर उक्त अर्थ को यथावत् ग्रहण किया है, और गुण तथा उपमादि विशेष अलंकारों को इस व्यापक अलंकार के ही अंग माना है।[1] कुन्तक ने भी अलंकार का पहले यही व्यापक अर्थ करते हुए फिर उसे वक्रोक्ति संज्ञा दे दी है। कहने का तात्पर्य यह है कि कुन्तक का 'वक्रकविव्यापारशालिनि बन्धे व्यवस्थितौ' यह विशेषण निश्चय ही वामन के 'गुणालंकारसंस्कृतयोः' से प्रेरित है—अथवा यह कुन्तक के अपने सिद्धान्त के अनुसार उसकी व्याख्या है। 'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना' के इष्ट शब्द को ग्रहण करते हुए कदाचित् कुन्तक ने अपने 'तद्विदाह्लादकारी' विशेषण का प्रयोग किया है। इष्ट शब्द में आह्लाद की ध्वनि स्पष्ट सुनी जा सकती है। अतएव कुन्तक ने अपने काव्य-लक्षण में पूर्ववर्ती अलंकारवादियों के लक्षणों का समन्वय कर वृत्ति द्वारा उनकी सूक्ष्म-गहन व्याख्या की है।

लक्षण की दृष्टि से कुन्तक की काव्य-परिभाषा अधिक सफल नहीं कही जा सकती। उन्होंने भामह के लक्षण को ही, कुछ विशेषण लगा कर, प्रस्तुत किया है। भामह ने सहित रूप में प्रयुक्त शब्द-अर्थ को काव्य कहा था—कुन्तक ने इस लक्षण को अनिश्चित तथा अतिव्याप्त माना। अनिश्चित इसलिए कि साहित्य शब्द का अर्थ अथवा यों कहिये कि साहित्य (सहभाव) का स्वरूप स्पष्ट नहीं है, और अतिव्याप्त इसलिए कि शब्द-अर्थ का सहभाव तो प्रत्येक वाक्य में रहता है। अतएव उन्होंने कुछ निश्चयात्मक विशेषण जोड़ दिये। एक तो वाक्य के शब्द और अर्थ बन्ध अर्थात् रचना में व्यवस्थित होते हैं—अव्यवस्थित अथवा अनर्गल रूप में प्रयुक्त नहीं होते। दूसरे यह रचना वक्रतापूर्ण कविव्यापारशाली और सहृदय-आह्लादकारी

१ सौन्दर्यमलंकारः स दोषगुणालंकारहीनादानाभ्याम्।

होती है। आधुनिक शब्दावली में कविव्यापारशाली का अर्थ है कविकौशलयुक्त अथवा कलात्मक। वक्रतापूर्ण का पृथक् प्रयोग कुन्तक ने अपने वक्रोक्ति-सिद्धान्त का वैशिष्ट्य स्थापित करने के निमित्त किया है: वैसे संश्लिष्ट रूप में वक्रकविव्यापारशाली इस समस्त पद का अर्थ 'कलात्मक' ही पर्याप्त है। तद्विदाह्लादकारी का अर्थ है काव्य-मर्मज्ञों को आनन्ददायक। इस विशेषण के द्वारा कुन्तक साहित्य (शब्द-अर्थ के सहभाव) के मूल गुण या धर्म का निर्णय करते हैं: यह साहित्य आनन्ददायक होना चाहिए। आनन्द में भी अतिव्याप्ति हो सकती है—इसलिए उसका भी निराकरण करने के लिए कहते हैं तद्विदां—अर्थात् केवल काव्य-मर्मज्ञों का क्योंकि सामान्य जन का आनन्द स्थूल तथा अपरिष्कृत हो सकता है। अतः तद्विदाह्लाद का अर्थ हुआ ऐन्द्रिय आनन्द अथवा क्षुद्र मनोरंजन से भिन्न सूक्ष्म-संस्कृत आनन्द जिसका सम्बन्ध ऐन्द्रिय तुष्टि या क्षुद्र कुतूहल से न होकर चेतना के संस्कार से है। इस प्रकार कुन्तक के अनुसार, आधुनिक आलोचना-शास्त्र की शब्दावली में, *काव्य का लक्षण हुआ: कलात्मक तथा* परिष्कृत आनन्ददायक रचना में पूर्ण तादात्म्य के साथ व्यवस्थित शब्द-अर्थ का नाम काव्य है। इसमें सन्देह नहीं कि कुन्तक ने अपने लक्षण में अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति दोनों को बचाने का प्रयत्न किया है और उपर्युक्त व्याख्या के उपरांत निर्धारित यह लक्षण आधुनिक आलोचना-शास्त्र की दृष्टि से भी बुरा नहीं है। परन्तु कुन्तक की अपनी शब्दावली सर्वथा निर्दोष नहीं कही जा सकती। एक तो 'बन्धे व्यवस्थितौ' का पृथक् उल्लेख अपने आप में सर्वथा आवश्यक नहीं है क्योंकि 'सहित' शब्द के पश्चात् इसके लिये कोई विशेष अवकाश नहीं रह जाता: 'सहित' बन्ध में व्यवस्थित ही होगा। शब्द-अर्थ का अव्यवस्थित जंजाल 'सहित' में सम्भव नहीं है। किन्तु जैसा कि मैंने अन्यत्र निर्देश किया है कुन्तक ने कदाचित् वामन के सिद्धान्त का भी अन्तर्भाव करने के लिए ऐसा किया है। दूसरे, वक्रकविव्यापारशाली विशेषण व्याख्या-सापेक्ष्य है। कुन्तक की वक्रता स्वयं एक विशिष्ट प्रयोग है—फिर कवि-व्यापार की व्यवस्था भी उपेक्षित है। पहले कवि का लक्षण और फिर व्यापार का लक्षण करना पड़ेगा, तब कविव्यापारशाली का आशय व्यक्त हो सकेगा। इसके अनन्तर तद्विद् का आशय भी स्पष्टीकरण की अपेक्षा करता है। काव्य काव्य-मर्मज्ञ को आह्लाद देता है, यह तो कोई बात नहीं हुई। अतएव लक्षण की दृष्टि से कुन्तक की शब्दावली दोषमुक्त नहीं है: लक्षण की शब्दावली तो स्वतःस्पष्ट एवं अन्यून-अनतिरिक्त होनी चाहिए। उपर्युक्त लक्षण की शब्दावली व्याख्यापेक्षी है, साथ ही उसमें अतिरिक्त शब्दों का प्रयोग भी है। इस दृष्टि से भामह का लक्षण ही सबसे अधिक संतोषप्रद

है। कुन्तक से पूर्व भी अनेक आचार्यों ने उसमें संशोधन करने का प्रयत्न किया है—किन्तु वे सभी असफल रहे हैं।

परन्तु कुन्तक का गौरव काव्य का स्वतन्त्र लक्षण प्रस्तुत करने में नहीं है। उनका महत्व भामह के लक्षण-सूत्र की व्याख्या करने में है। वास्तव में उन्होंने शब्द, अर्थ तथा साहित्य, भामह के इन तीनों शब्दों की मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत की है। इनमें से अर्थ की व्याख्या के लिए तो रसध्वनिवादियों को भी—आनन्दवर्धन को विशेष रूप से—महत्व दिया जा सकता है। किन्तु शब्द और शब्द से भी अधिक साहित्य की व्याख्या कुन्तक की अपूर्व है। कुन्तक के पूर्ववर्ती किसी आचार्य को यह गौरव नहीं दिया जा सकता : उनके परवर्ती आचार्यों में भी भोज तथा राजशेखर आदि कुछ गिने-चुने आचार्यों ने ही इस महत्वपूर्ण शब्द की व्याख्या की है। कुन्तक इस तथ्य से परिचित थे—उन्होंने स्वयं लिखा है :

"यह साहित्य इतने असीम समय की परम्परा में केवल साहित्य शब्द से प्रसिद्ध ही रहा है। कविकर्म-कौशल के कारण रमणीय इस (साहित्य शब्द) का यह वास्तविक अर्थ है, इस बात का आज तक किसी विद्वान् ने तनिक भी विचार नहीं किया। इसलिए सरस्वती के हृदयारविन्द के मकरन्द-बिन्दु-समूह से सुन्दर कवि-वचनों के आन्तरिक आमोद से मनोहर रूप में प्रस्फुटित होने वाले इस (साहित्य) को सहृदय-मधुपों के सामने प्रकट करते हैं। (अर्थात् साहित्य शब्द का प्रयोग अब तक काव्य आदि के लिए होता रहा है—परन्तु इसके वास्तविक अर्थ का प्रकाशन अब तक किसी भी विद्वान् ने नहीं किया। अब तक इसका रसास्वादन ही हुआ है, विश्लेषण-विवेचन नहीं।) हिन्दी व० जी० १६वीं कारिका की वृत्ति पृ० ६०।

अभिव्यंजना के प्रसंग में जिन गहन तथ्यों के द्वारा क्रोचे ने आधुनिक काव्य-शास्त्र में क्रान्ति उपस्थित कर दी है, उनका उद्घाटन कुन्तक दसवीं-ग्यारहवीं शती में कर चुके थे। यह उनके दृष्टिकोण की तत्व-ग्राहकता और साथ ही आधुनिकता का भी ज्वलंत प्रमाण है। कहने का तात्पर्य यह है कि कुन्तक की मौलिकता लक्षण में न होकर लक्षण के व्याख्यान में है। 'शब्द' की अद्वितीयता 'अर्थ' की रसात्मकता तथा 'साहित्य' की पूर्ण तादात्म्य-क्षमता का प्रबल शब्दों में प्रतिपादन कर उन्होंने काव्य के स्वरूप-विवेचन में अपूर्व योग दिया है। संस्कृत काव्य-शास्त्र के आचार्यों में कुन्तक का विवेचन सबसे अधिक आधुनिक है।

काव्य का प्रयोजन

कुन्तक ने भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा के अनुसार अपने ग्रन्थ के आरम्भ में ही ३, ४ और ५ वीं कारिकाओं और उन पर स्वरचित वृत्तियों में काव्य-प्रयोजन का अत्यन्त विशद निरूपण किया है :

धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः ।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः ॥ १ ३ ॥

काव्य-बन्ध (काव्य) उच्च कुल में समुत्पन्न (परिश्रमहीन और सुकुमार-स्वभाव राजकुमार आदि) के लिए, हृदय को आह्लादित करने वाला और कोमल मृदु शैली में कहा हुआ धर्मादि की सिद्धि का मार्ग है :

व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यं व्यवहारिभिः ।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते ॥ १,४ ॥

व्यवहार करने वाले (लौकिक) पुरुषों को, अनुदिन के नूतन औचित्य से युक्त, व्यवहार-चेष्टा आदि का सौंदर्य सत्काव्य के परिज्ञान से ही प्राप्त हो सकता है ।

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम् ।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥ १,५ ।

काव्यामृत का रस उस (काव्य) को समझनेवालों (सहृदयों) के अन्तःकरण में चतुर्वर्ग-रूप फल के आस्वाद से भी बढ़ कर चमत्कार उत्पन्न करता है ।

इस प्रकार कुन्तक के अनुसार काव्य के तीन प्रयोजन हैं :

१. चतुर्वर्ग-फल-प्राप्ति २. व्यवहार-औचित्य का परिज्ञान ३. चतुर्वर्ग-फलास्वाद से भी बढ़ कर अन्तश्चमत्कार की प्राप्ति ।

। : चतुर्वर्ग-फल-प्राप्ति अर्थात् धर्म, अर्थ, काम,
प्राप्ति काव्य का महत्वपूर्ण प्रयोजन है। काव्य
लिए सुकुमार शैली में चतुर्वर्ग की प्राप्ति का सहज-
व्याख्या में—तीसरी कारिका की वृत्ति में, कुन्तक
क्या है : एक तो यह कि अभिजात राजकुमार आदि
अभिप्राय है ? उनका कहना है कि राजकुमार

आदि का धर्म आदि परम-पुरुषार्थों से सम्पन्न होना नितान्त आवश्यक है अन्यथा उचित शिक्षा-संस्कार के अभाव में शक्ति और प्रभुत्व प्राप्त कर ये राज्य में अव्यवस्था उत्पन्न कर सकते हैं : 'राजपुत्र आदि वैभव को प्राप्त करके समस्त पृथ्वी (राज्य) के व्यवस्थापक बनकर, उत्तम उपदेश से शून्य होने के कारण समस्त उचित लोक-व्यवहार का नाश करने में समर्थ हो सकते हैं।' हि० व० जी० पृ० १०॥ कुन्तक यह कहना चाहते हैं कि राजकुमार आदि एक-एक बृहत् भूभाग के भाग्य-विधायक होते हैं—अतएव वे व्यक्ति न होकर समष्टि के ही प्रतीक हैं। उनका प्रभाव उनकी सत्ता के अनुकूल अत्यन्त व्यापक होता है : अतएव धर्म आदि की सिद्धि उनके अपने व्यक्तित्व तक सीमित न रह कर समाज तक व्याप्त हो जाती है।

भारतीय काव्य में राजा, राजवंश, राजकुमार आदि का प्रयोग इसी प्रतीकार्थ में किया गया है। अभिजात शब्द से एक ध्वनि और निकलती है, और यह है संस्कारशीलता की। आभिजात्य में धन-वैभव की व्यंजना इतनी नहीं है जितनी संस्कारिता की।—उत्तम वंश में उत्पन्न, भद्र वातावरण में पोषित राजकुमार आदि स्वभावतः ही संस्कारवान होते हैं, अतएव आभिजात्य संस्कारिता का प्रतीक है, और अभिजात राजकुमार आदि संस्कारी सहृदय-समाज के। अतएव उन्हें उपलक्षण मात्र मानना चाहिए। कुन्तक ने यह बात स्पष्ट रूप से नहीं कही—परन्तु उनकी वृत्ति से यह ध्वनित अवश्य होती है।

दूसरा तथ्य यह है कि काव्य द्वारा उक्त प्रयोजन की सिद्धि अत्यन्त सहज रूप में—बिना श्रम के—सुख-सरल विधि से हो जाती है। राजकुमार आदि का स्वभाव सुकुमार होता है—वे परिश्रम नहीं कर सकते, अतएव शास्त्र की श्रमसाध्य विधि उनके लिए अनुकूल नहीं पड़ती। यहाँ भी राजकुमार आदि को प्रतीक अथवा उपलक्षण मान कर सहृदय-समाज का ही ग्रहण करना चाहिए। शास्त्र की साधना अत्यन्त कठिन है। शास्त्र-संदर्भ "सुनने में कटु, बोलने में कठिन, और समझने में दुरूह आदि अनेक दोषों से दुष्ट और पढ़ने के समय में ही अत्यन्त दुःखदायी होता है।" व० जी० पृ० १३॥ इसके विपरीत काव्य की विधि उतनी ही सुकुमार है। मम्मट ने कुन्तक के इस मंतव्य को 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' द्वारा व्यक्त किया है। काव्य द्वारा चतुर्वर्ग की साधना का उपदेश कान्ता-सम्मित होता है। कुन्तक का सुकुमारक्रमोदित ही मम्मट का कान्तासम्मित बन जाता है।

चतुर्व [illegible] भारतीय काव्य-शास्त्र [illegible] काव्य मनोरंजन का [illegible] गया है। उनसे पूर्व भामह, रुद्रट आदि मान्य आचार्यों—और उनके उपरांत विश्वनाथ आदि ने भी चतुर्वर्ग-फल-प्राप्ति को निर्भ्रान्त रूप से काव्य का मुख्य प्रयोजन स्वीकृत किया है।

> *भामह*:—धर्मार्थकाममोक्षेषु, वैचक्षण्यं कलासु च।
> करोति कीर्ति प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥

उत्तम काव्य के सेवन से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप चतुर्वर्ग-फल-प्राप्ति, कलाओं में नैपुण्य, कीर्ति तथा प्रीति (आनन्द) की उपलब्धि होती है।

> *रुद्रट* :—ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे।
> लघु मृदु च नीरसेऽभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः ॥

अर्थात् रसिक जन नीरस शास्त्रों से भय खाते हैं, अतएव उनको शीघ्र सहज उपाय के द्वारा काव्य से चतुर्वर्ग की प्राप्ति हो जाती है।

(रुद्रट—काव्यालंकार १२।१)

विश्वनाथ :—चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।

काव्य के द्वारा मन्दबुद्धि भी सरल और रुचिकर विधि से चतुर्वर्ग—अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चार परम-पुरुषार्थों को प्राप्त कर लेते हैं। उपर्युक्त उक्ति तो कुन्तक की शब्दावली की व्याख्या-सी प्रतीत होती है—यद्यपि ऐसा है नहीं क्योंकि विश्वनाथ पर कुन्तक का कोई विशेष प्रभाव लक्षित नहीं होता।—कदाचित् विश्वनाथ के समय में कुन्तक का ग्रन्थ लुप्त हो गया था।

(२) *व्यवहार-औचित्य का परिज्ञान* : इसकी व्याख्या में कुन्तक ने लिखा है : व्यवहार अर्थात् लोकाचार के सौंदर्य का ज्ञान व्यवहार करने वाले जनों को उत्तम काव्यों के परिज्ञान से ही होता है। × × × वह सौंदर्य कैसा है : नूतन औचित्य-युक्त। इसका यह अभिप्राय हुआ कि (उत्तम काव्यों में) राजा आदि के व्यवहार का वर्णन होने पर उनके अंगभूत प्रधान मन्त्री आदि सब ही अपने-अपने उचित कर्त्तव्य और व्यवहार में निपुण रूप में ही वर्णित होने से व्यवहार करने वाले समस्त जनों को (उनके उचित) व्यवहार की शिक्षा देने वाले होते हैं। इसलिए

सुन्दर काव्यों में परिश्रम करने वाला प्रत्येक व्यक्ति लोक-व्यवहार की क्रियाओं में सौंदर्य को प्राप्त कर श्लाघनीय फल का पात्र होता है। (हिं० व० जी० १।४ कारिका की वृत्ति पृष्ठ ११)

इस व्याख्या से दो बातों पर प्रकाश पड़ता है : एक तो यह कि व्यवहार-सौंदर्य से अभिप्राय ऐसे लोकाचार का है जो सर्वथा उचित अर्थात् पात्र, परिस्थिति तथा अपनी मर्यादा के अनुकूल होने के कारण रमणीय एवं आकर्षक हो। दूसरी यह कि काव्य का फल राजकुमार आदि तक ही सीमित नहीं है, वरन् प्रत्येक सहृदय के लिए सुलभ है। यह ठीक है कि उत्तम काव्यों में नायक-प्रतिनायक आदि प्रमुख पात्र राजवश के होते हैं, अतएव सम्भवतः उनके व्यवहार-सौंदर्य का अनुकरण सामान्य-जन-सुलभ न हो, परन्तु नायक-प्रतिनायक आदि के अतिरिक्त और भी तो पात्र हैं जो उसी शोभन मर्यादा और औचित्य का पालन करते हैं। ये पात्र सामान्य जन के निकट होते हैं, अतएव उनके लिए इनके सुन्दर व्यवहार का अनुकरण करना सहज-सरल होता है।

यहाँ कुन्तक एक शंका उठा कर उसका समाधान करते हैं। वह शंका यह है कि उत्तम काव्यों—महाकाव्य, नाटक आदि—के नायक-प्रतिनायक राजा या राजकुमार ही होते हैं। उनके संस्कार नहीं तो कम से कम परिस्थितियाँ सामान्य जन की परिस्थितियों से भिन्न होती हैं। अतएव उनके व्यवहार का ज्ञान किस प्रकार लाभकारी हो सकता है, इसका रसवादियों ने साधारणीकरण के आधार पर मनो-वैज्ञानिक उत्तर दिया है। कुन्तक जैसा मेधावी आचार्य इस मौलिक सत्य से अनवगत था यह तो कहना अनुचित होगा, परन्तु उन्होंने उपर्युक्त शंका का समाधान सामान्य विवेक के आधार पर ही किया है। उनका तर्क है कि उत्तम काव्यों की विस्तृत परिधि के अन्तर्गत पात्र तथा परिस्थिति की अनेकरूपता का चित्रण रहता है—अतएव प्रत्येक सहृदय अपनी मर्यादा तथा परिस्थिति के अनुरूप शिक्षा ग्रहण कर सकता है।

इस प्रकार सत्काव्य के सेवन से उचित एवं शोभन व्यवहार-ज्ञान प्राप्त होता है।

लोकाचार की शिक्षा काव्य का व्यावहारिक प्रयोजन है। जीवन के प्रत्येक कार्य की भाँति काव्य का भी जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। उसका उद्देश्य भी, अन्त में, जीवन को अधिक सुन्दर और स्पृहणीय बनाना ही है। अतएव पौरस्त्य तथा

पाश्चात्य काव्य-शास्त्रों में लोक-शिक्षण या उपदेश भी काव्य का काम्य प्रयोजन माना गया है। भारतीय काव्य-शास्त्र में भरत, मम्मट आदि अनेक आचार्यों ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है :

भरत का कथन है—'लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति।' अर्थात् नाट्य (या काव्य) लोकोपदेशकारी होता है। मम्मट ने "व्यवहारविदे" में व्यवहार-ज्ञान को स्पष्ट शब्दों में काव्य-प्रयोजन स्वीकार किया है।

(२) *अन्तश्चमत्कार :* काव्यामृत रस का पान कर सहृदय के हृदय में एक अपूर्व चमत्कार का उदय होता है जो चतुर्वर्ग-फल-प्राप्ति से भी अधिक काम्य है। कुन्तक के शब्दों में इसका यह अभिप्राय हुआ कि "जो चतुर्वर्ग-फल का आस्वाद प्रकृष्ट पुरुषार्थ होने से सब शास्त्रों के प्रयोजन रूप में प्रसिद्ध है वह भी इस काव्यामृत रस की चर्वणा के चमत्कार की कला मात्र के साथ भी किसी प्रकार बराबरी नहीं कर सकता"। एक श्लोक है :—

"शास्त्र कड़वी औषधि के समान अविद्या-रूप व्याधि का नाश करता है। और काव्य आनन्ददायक अमृत के समान अज्ञान-रूप रोग का नाश करता है।"

इस प्रकार कुन्तक का मत है कि काव्य अपने अध्ययन-काल में और उसके उपरान्त भी आह्लादकारी होता है—उसकी साधना और परिणाम दोनों ही रुचिकर होते हैं। (देखिए व० जी० १।५ वीं कारिका की वृत्ति पृ० १३)

स्पष्ट है कि कुन्तक आनन्द को काव्य की परम सिद्धि मानते हैं—उसका महत्व चतुर्वर्ग से भी अधिक है। काव्य के क्षेत्र में यह कोई नवीन उद्भावना नहीं है। कुन्तक के पूर्ववर्ती तथा परवर्ती सभी आचार्यों ने आनन्द की महत्व-प्रतिष्ठा की है। इस विषय में अलंकार, रीति, ध्वनि तथा रस सभी सम्प्रदाय एकमत हैं। अलंकारवादी भामह और रीतिवादी वामन दोनों ने प्रीति—अर्थात् आनन्द को काव्य का मुख्य प्रयोजन माना है :

प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिषेवणम्। (भामह)

काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्। (वामन)

रस-ध्वनिवादियों के विषय में तो प्रश्न ही नहीं उठता : उनका तो मूल आधार ही यह है : "सकलप्रयोजनमौलिभूतं रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्।" —अर्थात् रसास्वादन से उद्भूत अन्य ज्ञान-रहित आनन्द सकल प्रयोजन-मौलिभूत है।

वास्तव में काव्य में आनन्द की महत्ता स्वतः स्पष्ट है—किन्तु रसवादियों की आनन्द-कल्पना और अलंकारवादियों की आनन्द-कल्पना क्या एक ही है ? यह प्रश्न विचारणीय है। सामान्यतः इनमें आचार्यों ने कोई स्पष्ट भेद नहीं किया। आनन्द आनन्द ही है। किन्तु उनके सिद्धान्तों का विश्लेषण करने पर दोनों की कल्पनाओं में सूक्ष्म भेद निस्सन्देह मिलता है। अलंकारवादियों का आनन्द अथवा चमत्कार बहुत कुछ बौद्धिक है, रसवादियों के आनन्द में मानसिक-शारीरिक संवेदनों का अपेक्षाकृत प्राधान्य है। अलंकारवादियों के आनन्द में कुतूहल का भी पर्याप्त अंश वर्तमान है, किन्तु रसवादियों का आनन्द शुद्ध अनुभूति-मूलक आनन्द है—वेद्यान्तरशून्य तन्मयता उसका आवश्यक उपबन्ध है। कुन्तक का आनन्द किस कोटि का है ? कुन्तक ने अपनी कारिका में आनन्द के लिए अन्तश्चमत्कार शब्द का प्रयोग किया है—और वृत्ति में चमत्कार, चमत्कृति तथा आह्लाद का : आह्लाद का प्रयोग काव्यानन्द के लिए कुन्तक ने अन्यत्र भी अनेक बार किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने कुतूहल आदि अवर वृत्तियों का वक्रोक्ति के प्रसंग में तिरस्कार भी किया है। उपर्युक्त पाँचवीं कारिका में भी अनेक शब्द ऐसे हैं जो कुन्तकीय आनन्द के स्वरूप को स्पष्ट करने में सहायक हो सकते हैं : जैसे आस्वाद, काव्यामृत रस आदि—जिनसे इस बात का संकेत मिलता है कि कुन्तक यद्यपि अलंकारवादी हैं फिर भी कुन्तक की आह्लाद-कल्पना अलंकारवादियों की अपेक्षा रसवादियों के अधिक निकट है। चतुर्वर्गफलास्वाद से भी अधिक मधुर यह अलौकिक आह्लाद निश्चय ही मनोरंजन, कुतूहल आदि से एकांत भिन्न अत्यन्त गम्भीर प्रकृति का आनन्द ही हो सकता है जिसमें चेतना को पूर्णतः निमग्न करने की क्षमता हो।

कुन्तक के उपर्युक्त विवेचन में एक तथ्य अनायास ही हमारा ध्यान आकृष्ट कर लेता है—और वह यह है कि कुन्तक ने सहृदय की दृष्टि से ही काव्य के प्रयोजनों का निर्देश किया है, कवि की दृष्टि से नहीं। चतुर्वर्गफलास्वाद, व्यवहार-ज्ञान तथा अन्तश्चमत्कार ये सब सहृदय के ही प्राप्य हैं। संस्कृत काव्य-शास्त्र में प्रारम्भ से ही काव्य-प्रयोजन का विवेचन कवि और सहृदय दोनों की दृष्टि से हुआ है : भरत भामह, वामन, रुद्रट, मम्मट आदि सभी ने दोनों को ही दृष्टि में रखा है। रुद्रट के टीकाकार नमिसाधु ने इस पार्थक्य को सर्वथा स्पष्ट करते हुए लिखा है : 'ननु काव्यकरणे कवेः पूर्वमेवफलमुक्तम्, श्रोतृणां तु किं फलमित्याह'—अर्थात् काव्य का कवि के लिए क्या फल है यह पहले कह चुके हैं, श्रोताओं के लिए उसका क्या फल है, अब इसका वर्णन करते हैं। (रुद्रट काव्यालंकार पृ० १४६)

कवि के लिए रुद्रट ने यश को काव्य का मुख्य फल माना है, और श्रोता के लिए चतुर्वर्गफलास्वाद को। रुद्रट का कथन है कि कवि जब दूसरों की अर्थात् अपने काव्य-नायकों की कीर्ति को अमर कर देता है तो फिर उसकी अपनी कीर्ति की तो बात ही क्या है, उसे कीर्ति के साथ धन की प्राप्ति भी होती है। अब यह विचारणीय है कि कुन्तक ने कवि के प्राप्य का उल्लेख क्यों नहीं किया। इस प्रश्न के दो उत्तर हो सकते हैं: एक तो यह कि कुन्तक कवि के लिए उपर्युक्त तीनों फलों की प्राप्ति स्वतःसिद्ध मानकर चले हैं। जो कवि अपनी प्रतिभा और साधना द्वारा श्रोता के लिए उन्हें सुलभ करता है, उसके अपने लिए तो वे हस्तामलकवत् हैं ही। जो काव्य अपने उपभोक्ता के लिए चतुर्वर्गफलास्वाद अथवा उससे भी श्रेष्ठतर अन्तश्चमत्कार सुलभ कर देता है वह अपने स्रष्टा के लिए क्यों न करेगा ? जिस कवि की प्रतिभा पाठक के लिए लोक-व्यवहार के सौंदर्य का उद्घाटन करती है, वह कवि स्वयं लोकविद् क्यों न होगा ? अतएव कुन्तक ने कवि के लिए इन फलों की प्राप्ति स्वतःसिद्ध मानी है, और इसीलिए उसका पृथक् निर्देश अनावश्यक समझा है। दूसरा उत्तर यह भी हो सकता है कि कुन्तक की दृष्टि में उपर्युक्त तीन महत् प्रयोजन ही वास्तव में काम्य हैं जो निश्चय ही उभय-निष्ठ हैं: यश तथा अर्थ, जो केवल कवि के प्राप्य हैं, कुन्तक जैसे गम्भीरचेता आचार्य की दृष्टि में सर्वथा नगण्य हैं, उनके उल्लेख का प्रश्न ही नहीं उठता।

वास्तव में कुन्तक ने प्रस्तुत प्रसंग में कोई मौलिक उद्भावना नहीं की। उनके तीनों प्रयोजनों का भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा में यथावत् उल्लेख मिलता है: भामह और रुद्रट आदि ने चतुर्वर्ग का स्पष्ट उल्लेख किया है, भरत ने लोक-व्यवहार ज्ञान का, और भामह, वामन आदि ने प्रीति अथवा आनन्द का। परन्तु कुन्तक के विवेचन का मूल्यांकन मौलिक उद्भावना की दृष्टि से करना समीचीन नहीं होगा क्योंकि इस विषय में मौलिकता के लिए अवकाश भी कहाँ था ? कुन्तक की गरिमा का प्रमाण यह है कि एक तो उन्होंने केवल गम्भीर प्रयोजनों को ही ग्रहण किया है, और दूसरे उनमें भी आह्लाद को मूर्धन्य पर प्रतिष्ठित कर शुद्ध काव्य-दृष्टि का परिचय दिया है। उन्होंने काव्य के वे ही तीन प्रयोजन स्वीकार किये जो अन्तरंग एवं मूलभूत हैं—व्यापक प्रभावशाली, और उदात्त हैं; अर्थ, यश, शिवेतरक्षति, कला-नैपुण्य आदि प्रयोजनों को उन्होंने त्याग दिया है क्योंकि वे जीवन की हीनतर सफलताएँ हैं, अथवा अव्यापक हैं। समीक्षा के क्षेत्र में—अथवा जीवन के सभी क्षेत्रों में—व्यवस्था तथा स्थिरीकरण का महत्व उद्भावना के समकक्ष ही है और विशेष परिस्थितियों में कुछ अधिक भी माना जा सकता है। कुन्तक का यह गौरव है कि

उन्होंने केवल मूलभूत प्रयोजनों को ही मान्यता देकर काव्य के स्तर को उदात्त किया और फिर शेष दो प्रयोजनों में से भी आह्लाद की श्रेष्ठता का प्रतिपादन कर काव्य के मौलिक रूप को अक्षुण्ण रखा। इस प्रकार गम्भीर-परिष्कृत आनन्द को काव्य का मूल प्रयोजन घोषित कर कुन्तक ने आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त आदि के समान ही काव्य के शुद्ध और साथ ही गम्भीर मूल्यों की प्रतिष्ठा की है।

काव्य-हेतु

कुन्तक ने काव्य-हेतु का पृथक् विवेचन नहीं किया। किन्तु काव्य-मार्ग के प्रसंग में कवि-स्वभाव की व्य

इन तीन काव्य-हेतुओं का

सहजा शक्तिः समुद्भवति, शक्ति शक्तिमतोरभेदात्। तया च तथाविधसौकुमार्यरमणीयां व्युत्पत्तिमाबध्नाति। ताभ्यां च सुकुमारवर्त्मनाभ्यासतत्परः क्रियते।"—अर्थात् सुकुमार स्वभाव वाले कवि की उसी प्रकार की (सुकुमार) सहज शक्ति उत्पन्न होती है—शक्ति तथा शक्तिमान के अभिन्न होने से। और उस (सुकुमार शक्ति) से उसी प्रकार की सौकुमार्य-रमणीय (सुकुमार) व्युत्पत्ति की प्राप्ति होती है। उन दोनों से सुकुमार मार्ग से अभ्यास किया जाता है। (हिन्दी वक्रोक्तिजीवित १।२४ वीं कारिका की वृत्ति)। इस प्रकार कुन्तक परम्परा द्वारा स्वीकृत शक्ति, निपुणता और अभ्यास को ही काव्य के हेतु मानते हैं। किन्तु उन्होंने इस प्रसंग में भी एक मौलिक तथ्य का उद्घाटन किया है: वे इन तीनों काव्य-हेतुओं को कवि-स्वभाव के आश्रित मानते हैं—अतएव काव्य का मूल हेतु कवि-स्वभाव ही है। तीनों का एक ही उद्गम होने के कारण इन में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। कवि की प्रतिभा के अनुसार ही उसकी व्युत्पत्ति होगी, और प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति के अनुसार ही उसका काव्याभ्यास होगा। इसी प्रकार व्युत्पत्ति तथा अभ्यास भी प्रतिभा का परिपोष करते हैं:

"काव्य-रचना की बात छोड़ दें तो भी अन्य विषयों में भी अनादि वासना के अभ्यास से संस्कृत चित्त वाले किसी व्यक्ति को अपने स्वभाव के अनुसार ही व्युत्पत्ति तथा अभ्यास होता है। और वे व्युत्पत्ति तथा अभ्यास स्वभाव की अभिव्यक्ति द्वारा ही सफलता प्राप्त करते हैं। स्वभाव तथा उन दोनों के उपकार्य और उपकारक भाव से स्थित होने से, स्वभाव उन दोनों को (व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को) उत्पन्न करता है और वे दोनों उसे परिपुष्ट करते हैं।" (व० जी० १।२४ वीं कारिका की वृत्ति)

कुन्तक का तर्क यह है कि जीवन के समस्त व्यापारों की भांति काव्य में भी (कवि का) स्वभाव ही मूर्धन्य पर स्थित है। स्वभाव के अनुसार ही कवि की शक्ति या प्रतिभा होती है—उसी के अनुसार वह लोक तथा शास्त्र-ज्ञान का अर्जन करता है और उसी के अनुकूल उसकी अभ्यास-प्रक्रिया होती है। मनुष्य की शिक्षा और व्यवहार आदि मूलतः उसकी प्रवृत्ति के ही अनुकूल होते हैं और होने चाहिएँ, तभी वे उसका उचित परिपोष कर सकते हैं—यह एक स्वीकृत मनोवैज्ञानिक तथ्य है। आधुनिक शिक्षा-शास्त्र का विकास इसी के आधार पर किया जा रहा है। कुन्तक ने इसका निर्भ्रान्त शब्दों में उद्घाटन कर अपनी आधुनिक दृष्टि का परिचय दिया है, और प्रस्तुत प्रसंग में भी आत्म-परक तथा वस्तु-परक दृष्टियों का समन्वय करने का प्रयत्न किया है।

काव्य की आत्मा वक्रोक्ति और उसकी परिभाषा

कुन्तक के सिद्धान्त के अनुसार काव्य की आत्मा वक्रोक्ति है। वक्रोक्ति की परिभाषा उनके शब्दों में इस प्रकार है :—"वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। कीदृशी वैदग्ध्यभंगीभणितिः। वैदग्ध्यं विदग्धभावः, कविकर्मकौशलं, तस्य भंगी विच्छित्तिः, तया भणितिः। विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते।" अर्थात्—प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र अभिधा अर्थात् वर्णन-शैली ही वक्रोक्ति है। यह कैसी है? वैदग्ध्यपूर्ण शैली द्वारा उक्ति (ही वक्रोक्ति है)। वैदग्ध्य का अर्थ है विदग्धता—कवि-कर्म-कौशल उसकी भंगिमा या शोभा (चारुता), उसके द्वारा (उस पर आश्रित) उक्ति। (संक्षेप में) विचित्र अभिधा (वर्णन-शैली) का नाम ही वक्रोक्ति है।

(हिन्दी व० जी० १।१० की वृत्ति पृ० ५१)

उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार

(१) वक्रोक्ति का अर्थ है विचित्र अभिधा अर्थात् उक्ति (कथन-प्रकार)।

(२) विचित्र का अभावात्मक अर्थ है :—प्रसिद्ध कथन-शैली से भिन्न। प्रसिद्ध शब्द का स्वयं कुन्तक ने दो स्थलों पर स्पष्टीकरण किया है :

(अ) शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकि। शास्त्र आदि में उपनिबद्ध शब्द-अर्थ के सामान्य प्रयोग से भिन्न—अर्थात् प्रसिद्ध का अर्थ है शास्त्र आदि में प्रयुक्त।

(आ) अतिक्रान्तप्रसिद्धव्यवहारसरणि—प्रचलित (सामान्य) व्यवहार-सरणि का अतिक्रमण करने वाली (वक्रोक्ति)। अर्थात् प्रसिद्ध से अभिप्राय है सामान्य व्यवहार में प्रयुक्त।

इन दोनों व्याख्याओं के आधार पर 'प्रसिद्ध' का अर्थ हुआ—'शास्त्र और व्यवहार में प्रयुक्त'।

(३) विचित्र का भावात्मक अर्थ है :—वैदग्ध्य-जन्य चारुता से युक्त। कुन्तक ने स्थान-स्थान पर वक्र, विचित्र, चारु आदि शब्दों का पर्याय रूप में प्रयोग किया है।

(४) वैदग्ध्य से अभिप्राय है कवि-कर्म-कौशल का। अतएव वैदग्ध्य-जन्य चारुता का अर्थ हुआ कवि-कौशल-जन्य चमत्कार।

(५) कवि-कौशल के लिए कुन्तक ने कवि-व्यापार शब्द का प्रयोग अधिक किया है :

'शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि'

कवि-व्यापार का अर्थ है कवि-प्रतिभा पर आश्रित कर्म : 'व्यापारस्य कविप्रतिभोल्लिखितस्य कर्मणः' (जयरथ[1])। प्रतिभा की परिभाषा कुन्तक ने इस प्रकार की है : 'प्राक्तनाद्यतन-संस्कार-परिपाकप्रौढ़ा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः।' अर्थात् पूर्वजन्म तथा इस जन्म के संस्कारों के परिपाक से प्रौढ़ कवि-शक्ति का नाम प्रतिभा है। इस प्रकार कवि-कौशल से अभिप्राय उस व्यापार का है जो पूर्व-जन्म तथा इस जन्म के संस्कारों के परिपाक से प्रौढ़ कवि-शक्ति द्वारा अनुप्रेरित होता है।

(६) वक्रोक्ति के इस वैचित्र्य या वक्रत्व के लिए कुन्तक ने एक अनिवार्य उपबन्ध रखा है—तद्विदाह्लादकारित्व। अर्थात् उक्ति का विचित्र अथवा लोक-शास्त्र में प्रयुक्त शब्द-अर्थ के उपनिबन्ध से भिन्न होना ही पर्याप्त नहीं है, और कवि-कौशल पर आश्रित होना भी अन्तिम प्रमाण नहीं है—उसमें तो सहृदय का मनःप्रसादन करने की क्षमता अनिवार्यतः होनी चाहिए। इससे दो निष्कर्ष निकलते हैं : एक तो यह कि वक्रोक्ति केवल शब्द-क्रीड़ा अथवा अर्थ-क्रीड़ा नहीं है—और दूसरा यह कि

---

१. रुय्यक के काव्यालंकारसर्वस्व की टीका—डा० डे की भूमिका में उद्धृत।

वक्रोक्ति का स्वभावोक्ति से कोई विरोध नहीं है क्योंकि स्वभावोक्ति में स्वभाव-वर्णन की सहज चारुता और उसके कारण मनःप्रसादन की क्षमता निश्चय ही वर्तमान रहती है : अर्थात् वक्रोक्ति का विरोध, इतिवृत्त-वर्णन, या भामह आदि के शब्दों में, वार्ता से ही है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर :—वक्रोक्ति का अर्थ है वक्र या विचित्र उक्ति। इस वक्रता या वैचित्र्य में तीन गुण सन्निहित रहते हैं :

(क) लोक-व्यवहार तथा शास्त्र में रूढ़ शब्द-अर्थ-प्रयोग से भिन्नता।

(ख) कवि-प्रतिभा-जन्य चमत्कार।

(ग) सहृदय के मनःप्रसादन की क्षमता।

अतएव कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति उस युक्ति अथवा कथन-शैली का नाम है जो लोक-व्यवहार तथा शास्त्र में प्रयुक्त शब्द-अर्थ के उपनिबन्ध से भिन्न, कवि-प्रतिभा-जन्य चमत्कार के कारण सहृदय-आह्लादकारी होती है।

इस विवेचन से कुन्तक के तीन मूल सिद्धान्त सामने आते हैं :

(१) काव्य की शैली शास्त्र और लोक-व्यवहार की शैली से अनिवार्यतः भिन्न होती है।

(२) काव्य का मूल हेतु है कवि की प्रतिभा और स्वभाव। कवि काव्य का माध्यम मात्र नहीं है, कर्ता है। अर्थात् काव्य कवि का कर्म है—अव्यक्तिगत सृष्टि नहीं है। इस प्रकार कुन्तक ने अत्यन्त प्रबल शब्दों में काव्य में कवि के कर्तृत्व की घोषणा की है।

(३) प्रतिभा इस जन्म और पूर्व-जन्मों के संस्कारों का परिपाक है।

अब हम आधुनिक आलोचना-शास्त्र के अनुसार उपर्युक्त मंतव्यों का क्रमशः विवेचन करते हैं।

काव्य की शैली और शास्त्र तथा व्यवहार की शैली

काव्य की शैली और शास्त्र तथा व्यवहार की शैली का भेद कुन्तक की नवीन उद्भावना नहीं है। उनसे पूर्व भामह, दण्डी, आदि इस तथ्य की ओर निर्देश कर चुके थे। भामह ने वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को पर्याय-रूप में ग्रहण करते हुए लोकातिक्रान्तगोचरता को उसका मूल तत्व माना है :—

निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि भामह के अनुसार वक्रोक्ति अथवा अतिशयोक्ति का मूल तत्व है शब्द-अर्थ का लोकोत्तर उपनिबन्ध—और उधर वक्रोक्ति को भामह काव्य-शैली का सर्व-सामान्य प्राण-तत्व भी मानते हैं। अतएव भामह के मत से काव्य-शैली में शब्द-अर्थ का उपनिबन्ध लोकोत्तर अर्थात् लोकव्यवहार से भिन्न होता है। लोक-सामान्य शब्दार्थ-प्रयोग को भामह ने वार्ता माना है जो काव्य की कोटि के अन्तर्गत नहीं आती। दण्डी ने भी शास्त्र की शैली और काव्य की शैली को मूलतः भिन्न माना है। उन्होंने वाङ्मय के दो भेद किये हैं :—स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति। इनमें से स्वभावोक्ति[1] का साम्राज्य शास्त्र में है और वक्रोक्ति का काव्य में।

आगे चलकर ध्वनिवादी अभिनवगुप्त ने फिर वक्रता का अर्थ 'लोकोत्तर-रूप में अवस्थित' करते हुए काव्य की वक्र शैली और लोक-सामान्य की ऋजु-रूढ़ शैली में मौलिक भेद स्वीकार किया है। और अन्त में, कुन्तक के समसामयिक भोज ने इस पार्थक्य को और भी स्पष्ट कर दिया है :—

यदवक्रं वचः शास्त्रे लोके च वच एव तत्।
वक्रं यदर्थवादादौ तस्य काव्यमिति स्मृतिः॥

(शृंगारप्रकाश)

—शास्त्र और लोक-व्यवहार में प्रयुक्त अवक्र अर्थात् वैचित्र्य-रहित वचन वचन मात्र है। अर्थवाद आदि में प्रयुक्त जो वक्र वचन है उसकी संज्ञा काव्य है। इस प्रकार भोज ने काव्य की शैली और काव्येतर शास्त्र तथा लोक-व्यवहार की शैली में वक्रता के आधार पर स्पष्ट भेद कर दिया है।

---

१. शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं + + +

अतएव काव्य की शैली और शास्त्र तथा व्यवहार की शैली का भेद संस्कृत काव्य-शास्त्र में आरम्भ से ही स्पष्ट था। कुन्तक ने अपने वक्रोक्ति-सिद्धान्त के प्रतिपादन में उसे अत्यन्त निर्भ्रान्त और प्रामाणिक शब्दों में व्यक्त कर काव्य और अकाव्य की सीमाओं को भी सर्वथा पृथक् कर दिया है।

इस प्रकार का भेद पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में भी आरम्भ से मान्य रहा है। अरस्तू ने काव्य-शैली की गरिमा का व्याख्यान करते हुए लिखा है : 'सामान्य प्रयोगों से भिन्नता भाषा को गरिमा प्रदान करती है क्यों कि शैली से भी मनुष्य उसी प्रकार प्रभावित होते हैं जिस प्रकार विदेशियों से अथवा नागरिकों से। इसलिए आप अपनी पद-रचना को विदेशी रंग दीजिये क्यों कि मनुष्य असाधारण की प्रशंसा करता है और जो प्रशंसा का विषय है वह प्रसन्नता का भी विषय होता है।'[1]

अरस्तू के उपरांत डिमेट्रियस ने भी इस पार्थक्य का प्रबल शब्दों में समर्थन किया है : 'प्रत्येक सामान्य वस्तु प्रभावहीन होती है।' उन्होंने भी असामान्यता को काव्य की उदात्त शैली का प्राण-तत्व माना है।

अठारहवीं शताब्दी में अँगरेजी के प्रसिद्ध समालोचक एडिसन ने लोक-व्यवहार की प्रचलित और परिचित शब्दावली को काव्य के सर्वथा अनुपयुक्त घोषित किया। उन्होंने 'प्रसाद' को तो काव्य-शैली का आवश्यक उपादान माना है, परन्तु सर्व-साधारण के प्रयोगों को अकाव्योचित ठहराया है। "अनेक शब्द सर्व-साधारण के प्रयोग के कारण क्षुद्र बन जाते हैं। अतएव प्रसाद को अति-प्रचलित शब्दों तथा मुहावरों की क्षुद्रता से मुक्त रखना चाहिए।' आगे चलकर वर्ड्सवर्थ ने ऐसे भेद को अस्वाभाविक मानते हुए इसका निषेध करने का असफल प्रयत्न किया—किन्तु अपने काव्य-व्यवहार से ही उनके सिद्धान्त का खण्डन हो गया और कॉलरिज ने वर्ड्सवर्थ को उनके ही काव्य का प्रमाण देकर निरुत्तर कर दिया। कॉलरिज का तर्क था, "पहले तो स्वयं गद्य की भाषा ही—कम-से-कम सभी तर्क-प्रधान तथा निबद्ध रचनाओं की भाषा बोलचाल की भाषा से भिन्न होती है और होनी चाहिए, जिस प्रकार पढ़ने में और बातचीत करने में भेद होता है।" कॉलरिज ने चित्र-भाषा को काव्य का सहज माध्यम स्वीकार किया है—और उसे सामान्य व्यवहार की भाषा से सर्वथा भिन्न माना है। इधर आधुनिक युग में आकर रिचर्ड्स ने काव्य के अन्य आवश्यक उपादानों की भाँति काव्य की भाषा-शैली का भी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है :—

१. लोंजाइ क्रिटिकी पृ० २६

काव्य की शैली और शास्त्र तथा व्यवहार की शैली

काव्य की शैली और शास्त्र तथा व्यवहार की शैली का भेद कुन्तक की नवीन उद्भावना नहीं है। उनसे पूर्व भामह, दण्डी, आदि इस तथ्य की ओर निर्देश कर चुके थे। भामह ने वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को पर्याय-रूप में ग्रहण करते हुए लोकातिक्रान्तगोचरता को उसका मूल तत्व माना है :—

निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि भामह के अनुसार वक्रोक्ति अथवा अतिशयोक्ति का मूल तत्व है शब्द-अर्थ का लोकोत्तर उपनिबन्ध—और उधर वक्रोक्ति को भामह काव्य-शैली का सर्व-सामान्य प्राण-तत्व भी मानते हैं। अतएव भामह के मत से काव्य-शैली में शब्द-अर्थ का उपनिबन्ध लोकोत्तर अर्थात् लोकव्यवहार से भिन्न होता है। लोक-सामान्य शब्दार्थ-प्रयोग को भामह ने वार्ता माना है जो काव्य की कोटि के अन्तर्गत नहीं आती। दण्डी ने भी शास्त्र की शैली और काव्य की शैली को मूलतः भिन्न माना है। उन्होंने वाङ्मय के दो भेद किये हैं :—स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति। इनमें से स्वभावोक्ति[1] का साम्राज्य शास्त्र में है और वक्रोक्ति का काव्य में।

आगे चलकर ध्वनिवादी अभिनवगुप्त ने फिर वक्रता का अर्थ 'लोकोत्तर-रूप में अवस्थित' करते हुए काव्य की वक्र शैली और लोक-सामान्य की ऋजु-रूढ़ शैली में मौलिक भेद स्वीकार किया है। और अन्त में, कुन्तक के समसामयिक भोज ने इस पार्थक्य को और भी स्पष्ट कर दिया है :—

यदवक्रं वचः शास्त्रे लोके च वच एव तत्।
वक्रं यदर्थवादादौ तस्य काव्यमिति स्मृतिः॥

(शृंगारप्रकाश)

—शास्त्र और लोक-व्यवहार में प्रयुक्त अवक्र अर्थात् वैचित्र्य-रहित वचन वचन मात्र है। अर्थवाद आदि में प्रयुक्त जो वक्र वचन है उसकी संज्ञा काव्य है। इस प्रकार भोज ने काव्य की शैली और काव्येतर शास्त्र तथा लोक-व्यवहार की शैली में वक्रता के आधार पर स्पष्ट भेद कर दिया है।

---

१. शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं   + + +

और 'सहृदय-आह्लादकारी' वास्तव में रागात्मक प्रभाव के ही व्यंजक हैं। अन्तर इतना ही है कि रिचर्ड्स केवल अनुभूति को ही प्रमाण मानते हैं किन्तु कुन्तक भारतीय दर्शन तथा काव्य-शास्त्र की परम्परा के अनुसार आनन्द को काव्य की सिद्धि मानते हैं। भोज के 'अर्थवाद' शब्द में रिचर्ड्स के विवेचन का और भी स्पष्ट संकेत है क्यों कि 'अर्थवाद' में 'अर्थ-संकेत' (रिफ़रेन्स) की उपेक्षा रहती है और प्रभाव का ही महत्व होता है। भोज के इस एक शब्द में रिचर्ड्स के विवेचन का मानों सार अन्तर्भूत है। तात्पर्य यह कि काव्य-शैली और शास्त्र-शैली का कुन्तक-कृत उपर्युक्त भेद तथा उसका विवेचन सर्वथा मनोवैज्ञानिक है। मनोविज्ञान-शास्त्र के अभाव में वे उपयुक्त पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग नहीं कर सके। अन्यथा वे इस मौलिक भेद और उसके मनोवैज्ञानिक आधार से पूर्णतया परिचित थे।

काव्य में कवि का कर्त्तृत्व

काव्य में कवि के कर्त्तृत्व का प्राधान्य स्थापित कर कुन्तक ने अपने स्वतंत्र एवं मौलिक चिन्तन का दूसरा प्रमाण दिया है। वैसे संस्कृत काव्य-शास्त्र में कवि-कर्त्तृत्व की स्वीकृति आरम्भ से ही रही है—अलंकारवादी तथा रस-ध्वनिवादी, दूसरे शब्दों में देहवादी तथा आत्मवादी—दोनों ने कवि-प्रतिभा को काव्य का मूल हेतु मान कर वास्तव में कवि-कर्त्तृत्व का ही प्राधान्य स्वीकार किया है। वामन जैसे आचार्य को भी, जिनकी दृष्टि अन्य आचार्यों की अपेक्षा अधिक वस्तु-परक थी, अन्त में प्रतिभा को कवित्व का बीज मानना पड़ा है। संस्कृत सुभाषित की अनेक सूक्तियों में भी, जहाँ कवि को अपनी रचना-प्रक्रिया में प्रजापति के समकक्ष माना गया है, इसी तथ्य की प्रबल घोषणा है। परन्तु व्यवहार-रूप में हमारे काव्य-शास्त्र में काव्य के वस्तु-रूप का इतना अधिक विवेचन हुआ है कि कर्त्तृ-पक्ष उसमें दब गया है। यहाँ काव्य की विषय-वस्तु, काव्य की शैली के तत्व—शब्द-शक्ति, रीति, अलंकार, दोष आदि, तथा काव्य-निबद्ध पात्र नायक-नायिका भेद आदि का वर्णन प्रायः वस्तु-परक ही हुआ है। रस का सूक्ष्म विश्लेषण हमारे काव्य-शास्त्र की प्रमुख विशेषता है, किन्तु उसमें भी भोक्तृ-पक्ष ही प्रबल है कर्तृपक्ष नहीं अर्थात् रस के भोक्ता सहृदय-मानस का तो अत्यन्त पूर्ण एवं सूक्ष्म-गहन विश्लेषण किया गया है, परन्तु रस के स्रष्टा कवि-मानस की प्रायः उपेक्षा कर दी गयी है। कुन्तक का विषय रस नहीं था, अतएव इस प्रसंग में तो उन्होंने कोई विशेष योगदान नहीं किया, फिर भी कवि के स्वभाव को मूर्धन्य पर स्थान देकर उन्होंने इस ओर सफल निर्देश

"किसी उक्ति का प्रयोग उसके शुद्ध अथवा अशुद्ध अर्थ-संकेत के लिए भी हो सकता है। यह भाषा का वैज्ञानिक प्रयोग है। किन्तु उसका प्रयोग कुछ ऐसे प्रभावों के लिए भी हो सकता है जो उनके अर्थ-संकेत द्वारा हमारे भाव और प्रवृत्ति पर पड़ते हैं। यह भाषा का रागात्मक प्रयोग है। × × × । हम शब्दों का प्रयोग या तो उनके अर्थ-संकेतों के लिए कर सकते हैं या फिर उनके परिणाम-रूप भावों और प्रवृत्तियों के लिए। × × ×"

उपर्युक्त दोनों प्रयोगों में सन्निहित मानसिक प्रक्रियाओं में बड़ा अन्तर है—यद्यपि लोग सरलता से उसकी उपेक्षा कर जाते हैं। अब इस बात पर विचार कीजिए कि दोनों प्रयोगों में विफलता का क्या परिणाम होता है। वैज्ञानिक भाषा के लिए तो अर्थ-संकेतों में अन्तर होना ही विफलता है क्यों कि ऐसी स्थिति में उद्देश्य की प्राप्ति ही नहीं हो पाती। किन्तु रागात्मक भाषा के लिए अर्थ-संकेत-विषयक बड़े से बड़ा अन्तर भी तब तक कोई महत्व नहीं रखता जब तक कि उससे अभीष्ट रागात्मक प्रभाव में कोई बाधा नहीं आती।

इसके अतिरिक्त, वैज्ञानिक भाषा में केवल अर्थ-संकेत ही शुद्ध नहीं होने चाहिएँ, किन्तु उनके पारस्परिक सम्बन्ध भी तर्क-संगत होने चाहिएँ। उनको एक दूसरे का गतिरोध नहीं करना चाहिए—उनका समन्वय इस प्रकार होना चाहिए कि उनसे आगे के अर्थ-संकेतों में बाधा न पड़े। किन्तु रागात्मक प्रयोग के लिए किसी ऐसे तर्क-संगत विधान की आवश्यकता नहीं रहती। इस प्रकार का विधान तो बाधक हो सकता है और होता भी है। क्यों कि यहाँ तो महत्व इस बात का है कि अर्थ-संकेतों पर आश्रित प्रवृत्तियाँ अपने सहज रूप में समन्वित हों—उनका अपना रागात्मक अन्तःसम्बन्ध यथावत् रहे और यह सब इन प्रवृत्तियों के आधारभूत अर्थ-संकेतों के तर्क-संगत विधान पर किसी प्रकार निर्भर नहीं रहता।

(प्रिंसिपिल्स आफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज्म, पृ० २६८)।

कहने की आवश्यकता नहीं कि रिचर्ड्स की 'वैज्ञानिक भाषा' ही भारतीय काव्य-शास्त्र की 'शास्त्र तथा लोक-व्यवहार की भाषा' है। और 'रागात्मक' भाषा ही हमारे प्राचीन आचार्यों की 'काव्य-भाषा' है। दोनों के अन्तर को मनोविज्ञान की सहायता से अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर रिचर्ड्स ने भारतीय काव्य-शास्त्र के उपर्युक्त विवेचन को वैज्ञानिक अनुमोदन प्रदान किया है। कुन्तक और भोज—या उनसे पूर्व दण्डी और भामह भी—अर्थ-संकेत और रागात्मक प्रभाव के भेद से पूर्णतया अवगत थे। कुन्तक के दोनों विशेषण 'कवि-प्रतिभा-जन्य चमत्कार से युक्त'

ग्रोर 'सहृदय-आह्लादकारी' वास्तव में रागात्मक प्रभाव के ही व्यंजक हैं। अन्तर इतना ही है कि रिचर्ड्स केवल अनुभूति को ही प्रमाण मानते हैं किन्तु कुन्तक भारतीय दर्शन तथा काव्य-शास्त्र की परम्परा के अनुसार आनन्द को काव्य की सिद्धि मानते हैं। भोज के 'अर्थवाद' शब्द में रिचर्ड्स के विवेचन का ग्रोर भी स्पष्ट संकेत है क्यों कि 'अर्थवाद' में 'अर्थ-संकेत' (रिफ़रेन्स) की उपेक्षा रहती है ग्रोर प्रभाव का ही महत्व होता है। भोज के इस एक शब्द में रिचर्ड्स के विवेचन का मानों सार अन्तर्भूत है। तात्पर्य यह कि काव्य-शैली ग्रोर शास्त्र-शैली का कुन्तक-कृत उपर्युक्त भेद तथा उसका विवेचन सर्वथा मनोवैज्ञानिक है। मनोविज्ञान-शास्त्र के अभाव में वे उपयुक्त पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग नहीं कर सके। अन्यथा वे इस मौलिक भेद और उसके मनोवैज्ञानिक आधार से पूर्णतया परिचित थे।

काव्य में कवि का कर्त्तृत्व

काव्य में कवि के कर्त्तृत्व का प्राधान्य स्थापित कर कुन्तक ने अपने स्वतंत्र एवं मौलिक चिन्तन का दूसरा प्रमाण दिया है। वैसे संस्कृत काव्य-शास्त्र में कवि-कर्त्तृत्व की स्वीकृति प्रारम्भ से ही रही है—अलंकारवादी तथा रस-ध्वनिवादी, दूसरे शब्दों में देहवादी तथा आत्मवादी—दोनों ने कवि-प्रतिभा को काव्य का मूल हेतु मान कर वास्तव में कवि-कर्त्तृत्व का ही प्राधान्य स्वीकार किया है। वामन जैसे आचार्य को भी, जिनकी दृष्टि अन्य आचार्यों की अपेक्षा अधिक वस्तु-परक थी, अन्त में प्रतिभा को कवित्व का बीज मानना पड़ा है। संस्कृत सुभाषित की अनेक सूक्तियों में भी, जहाँ कवि को अपनी रचना-प्रक्रिया में प्रजापति के समकक्ष माना गया है, इसी तथ्य की प्रबल घोषणा है। परन्तु व्यवहार-रूप में हमारे काव्य-शास्त्र में काव्य के वस्तु-रूप का इतना अधिक विवेचन हुआ है कि कर्त्तृ-पक्ष उसमें दब गया है। यहाँ काव्य की विषय-वस्तु, काव्य की शैली के तत्व—शब्द-शक्ति, रीति, अलंकार, दोष आदि, तथा काव्य-निबद्ध पात्र नायक-नायिका भेद आदि का वर्णन प्रायः वस्तु-परक ही हुआ है। रस का सूक्ष्म विश्लेषण हमारे काव्य-शास्त्र की प्रमुख विशेषता है, किन्तु उसमें भी भोक्तृ-पक्ष ही प्रबल है कर्तृपक्ष नहीं अर्थात् रस के भोक्ता सहृदय-मानस का तो अत्यन्त पूर्ण एवं सूक्ष्म-गहन विश्लेषण किया गया है, परन्तु रस के स्रष्टा कवि-मानस की प्रायः उपेक्षा कर दी गयी है। कुन्तक का विषय रस नहीं था, अतएव इस प्रसंग में तो उन्होंने कोई विशेष योगदान नहीं किया, फिर भी कवि के स्वभाव को मूर्धन्य पर स्थान देकर उन्होंने इस ग्रोर सफल निर्देश

अवश्य ही किया है। हाँ, कवि के कर्तृ पक्ष को प्रतिष्ठा उन्होंने अत्यन्त सबल शब्दों में की है। काव्य की आत्मा के प्रसंग में किसी आचार्य ने कवि के कर्तृत्व को सामने नहीं रखा, किन्तु कुन्तक ने काव्य के मूल तत्व वक्रोक्ति को सर्वथा कविव्यापार-जन्य घोषित कर कवि के व्यक्तित्व को काव्य में सबसे आगे लाकर खड़ा कर दिया है। कुन्तक ने काव्य का अर्थ मूलतः कवि-कर्म ही माना है। उन्होंने कवि की परिभाषा ही यह की है : 'कवेः कर्म काव्यं'—कवि का कर्म काव्य है। अपने आप में यह एक सामान्य उक्ति प्रतीत होती है, किन्तु इसमें काव्य के दो मौलिक सिद्धान्तों का—वस्तु-परक काव्य-दृष्टि और व्यक्ति-परक काव्य-दृष्टि का—चिरन्तन संघर्ष सन्निहित है जो भारतीय साहित्य-शास्त्र में प्रच्छन्न रूप से और यूरोपीय काव्य-शास्त्र में व्यक्त रूप से आरम्भ से ही चला आ रहा है। काव्यत्व काव्य की विषय-वस्तु, अभिव्यंजना के उपकरण अर्थात् रीति, अलंकार आदि में निहित है अथवा कवि द्वारा उनके प्रयोग में ? वस्तु-परक दृष्टिकोण पहले पक्ष पर बल देता है, व्यक्ति-परक दृष्टिकोण दूसरे पर। भारतीय काव्य-शास्त्र में कवि-प्रतिभा आदि का कीर्तन होते हुए भी काव्य-वस्तु का व्यवहार में अत्यधिक महत्व रहा है। उदाहरण के लिए महाकाव्य, नाटक आदि गंभीर काव्य-रूपों में विषय-वस्तु तथा नेता-विषयक नियम निश्चय ही वस्तु परक दृष्टि के प्रमाण हैं। महाकाव्य तथा नाटक की वस्तु प्रामाणिक और धर्म-परक होनी चाहिए, नेता धीरोदात्त होना चाहिए। यह वस्तु के महत्व की स्पष्ट स्वीकृति है। इसी प्रकार काव्य-साधनों में वैदर्भी पांचाली तथा गौड़ी से श्रेष्ठ रीति है, गौड़ी युद्ध आदि प्रसंग के और पांचाली शृंगार आदि के अधिक उपयुक्त है, अलंकरण सामग्री का उपयोग अर्थात् अप्रस्तुत और प्रस्तुत का पारस्परिक सम्बन्ध किस प्रकार होना चाहिए, अभिधा की अपेक्षा व्यंजना और लक्षणा अधिक काव्योपयोगी हैं—आदि मान्यताएँ भी निश्चय ही वस्तु की महत्व-प्रतिष्ठा करती हैं। यहाँ तक कि रस के प्रसंग में भी, जो मूलतः आत्म-परक है, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी का संयोजन बहुत-कुछ वस्तुगत ही बन गया है क्योंकि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी सभी की तो सीमी-रेखाएँ निश्चित कर दी गयी हैं। आधुनिक युग में स्वयं शुक्लजी ने काव्य-विषय की गरिमा को महत्व दिया है। पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में भी यह सिद्धान्त मान्य रहा है। वहाँ भी अरस्तू से लेकर मैथ्यू आरनल्ड तक 'महान विषय-वस्तु (ग्रेट थीम्स)' का बड़ा महत्व रहा है। बीच-बीच में व्यक्ति-परक दृष्टिकोण भी उतने ही उद्घोष के साथ उत्तीर्ण हुआ है—प्राचीनों में लांजाइनस और परवर्ती विचारकों में रूसो, स्विनबर्न, और इधर अर्वाचीनों में क्रोचे आदि ने वस्तु का विरोध किया है—क्रोचे ने तो इसका एकांत निषेध ही कर दिया है। परन्तु वस्तु-समर्थकों का

स्वर भी खोए नहीं रहा और बहुमत शताब्दियों तक उनका ही रहा है। बीसवीं शताब्दी में इलियट ने अति-व्यक्तिवाद से खीज कर काव्य में कवि के कर्त्तृत्व को मानने से ही इन्कार कर दिया। वे कवि को केवल माध्यम मानते हैं कर्त्ता नहीं। "सफल कवि होने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसकी मानसिक शक्ति भी समृद्ध हो—आवश्यकता इस बात की है कि उसका मन अधिक से अधिक भावों और संवेदनाओं का अधिक से अधिक सफल माध्यम बन सके। × × कला-सृजन की इस प्रेरणा के समय जो समन्वय होता है, उससे कवि के व्यक्तित्व का कोई सम्बन्ध नहीं है—इस समस्त प्रक्रिया में उसका व्यक्तित्व सर्वथा पृथक् एवं निर्विकार रहता है जैसा किसी-किसी रासायनिक क्रिया में होता है। उदाहरण के लिए ऑक्सीजन और सल्फ़र डाइ-ऑक्साइड से भरे किसी कमरे में अगर आप प्लेटीनम का एक तन्तु डाल दें तो वे दोनों तो सल्फ़र एसिड में परिवर्तित हो जाएँगे, परन्तु प्लेटीनम के तन्तु में किसी प्रकार का विकार नहीं आएगा। कवि का मन इसी प्लेटीनम तन्तु के समान है जो उसकी अनुभूतियों को प्रभावित और समन्वित करता हुआ स्वयं निर्विकार रहता है।" (परम्परा और वैयक्तिक प्रतिभा, पृ० १८)।

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि इलियट काव्य में कवि के व्यक्तित्व का किसी प्रकार का योगदान नहीं मानते। वे उसे सर्वथा तटस्थ मानते हैं। वे कर्त्तृत्व का एकान्त निषेध तो नहीं करते, किन्तु कवि का सक्रिय कर्त्तृत्व उन्हें स्वीकार्य नहीं है। उनकी मान्यता है कि सृजन-प्रेरणा के प्रभाव में भावों और संवेदनों के समन्वय का नाम ही काव्य-रचना है। किन्तु यह समन्वय कवि की सचेष्ट क्रिया[1] नहीं है, यह तो सृजन-प्रेरणा के प्रभाव से आप घटित हो जाता है।

इस पक्ष में इलियट अकेले नहीं हैं—मनोविश्लेषण-शास्त्र के युंग जैसे मेधावी युग-प्रवर्तक आचार्य उनके साथ हैं। युंग भी एक दूसरे मार्ग से इसी गन्तव्य पर पहुँचे हैं :

एक बार फिर, आत्मा की आदिम अवस्था में प्रवेश करने पर ही कला के सृजन और उसके प्रभाव का रहस्य प्राप्त होता है, क्यों कि इस अवस्था में अनुभव-कर्त्ता व्यष्टि न हो कर समष्टि ही होती है × × । इसी कारण महान कला वस्तु-परक और अव्यक्तिगत होती है, यद्यपि वह हमारे अन्तरतम के तारों को झंकृत कर देती है। और इसी कारण कवि का व्यक्तित्व उसकी कला के लिए अनिवार्य नहीं है—वह केवल एक (उपयोगी) साधन या बाधा मात्र हो सकता है। अपने

---

१. कॉन्शस ऐक्टिविटी।

जीवन में कवि एक संस्कारहीन स्वार्थरत व्यक्ति हो सकता है, अथवा भद्र नागरिक, रुग्णमना हो सकता है या मूढ़ या अपराधी—ये सभी रूप उसके अपने व्यक्तित्व के लिए आवश्यक हैं किन्तु उसके कवित्व के लिए ये सभी अनावश्यक हैं।

× × × ×

कलाकार तो मूलतः साधन है और अपनी कला से हीनतर है।

प्रत्येक स्रष्टा कलाकार का व्यक्तित्व दुहरा होता है—अथवा यों कहिए कि उसमें परस्पर-विरोधी गुणों का समन्वय रहता है। एक ओर वह मानव-व्यक्ति है, दूसरी ओर एक अव्यक्तिगत सृजन-प्रक्रिया। मानव-व्यक्ति रूप में वह स्वस्थ हो सकता है अथवा रुग्ण, अतएव उसके व्यक्तिगत मनोजीवन का तो वैयक्तिक रूप में विश्लेषण हो सकता है और होना चाहिए। किन्तु कलाकार के रूप में उसका अध्ययन उसकी सृजन-क्रिया द्वारा ही हो सकता है।

(युंग : मनोविज्ञान-सम्बन्धी विचार-संग्रह पृ० १८१, १८३)

इस प्रकार शास्त्रवादी इलियट और मनोविश्लेषण-विज्ञान के आचार्य युंग दोनों के निष्कर्ष प्रायः समान ही हैं—वैसे दोनों की चिन्ताधारा भी मूलतः असमान नहीं है, दोनों ही दो भिन्न मार्गों से पुरातनवादी आस्तिकता पर पहुँच जाते हैं। अन्तर केवल इतना है कि शास्त्रवादी होने के कारण इलियट बीच में ही रुक जाते हैं और सृजन-प्रेरणा को एक अप्रत्याशित अनिर्वचनीय घटना मान कर छोड़ देते हैं। युंग का सिद्धान्त उन्हें और भी आगे ले जाता है। युंग का सिद्धान्त यह है कि युग-विशेष की सामूहिक आवश्यकताओं के दबाव से विशिष्ट प्रतिभा-सम्पन्न कवि के अन्तश्चेतन में स्थित आदिम मानव-वृत्तियाँ प्रबल वेग से सक्रिय हो उठती हैं। चेतन के साथ इनका सम्पर्क ही कला-सृजन है। अतः युंग के अनुसार कवि की अन्तश्चेतना में विद्यमान आदिम मानव-वृत्तियों की सक्रियता ही सृजन-प्रक्रिया का उद्गम है। भारतीय काव्य-शास्त्र में प्रतिपादित कवि की सवासनता युंग की इस स्थापना के निकट पहुँच जाती है। आदिम मानव वृत्तियों को ही भारतीय दर्शन में वासना का नाम दिया गया है। इस प्रसंग में युंग ने अपने विवेचन के अन्तर्गत जिस सामूहिक अनुभव (कलेक्टिव एक्सपीरियंस) का बार-बार उल्लेख किया है, हमारा साधारणीकरण भी वैसी ही कोई वस्तु है। अतएव अन्य प्रसंगों की भाँति यहाँ भी मेरी यह धारणा पुष्ट होती है कि भारतीय साहित्यवेत्ता शताब्दियों पूर्व साहित्य के मर्म मर्मों तक पहुँच गया था—उसकी शब्दावली मात्र भिन्न थी।

यहाँ व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व का अन्तर स्पष्ट कर लेना समीचीन होगा। व्यक्तित्व मनुष्य के समग्र रूप को अपनी परिधि में बाँधे हुए है। व्यक्तित्व में उसका अचेतन, और चेतन, भोक्ता तथा कर्ता-रूप सभी कुछ आ जाता है। कर्त्तृत्व में मुख्यतः उसका कर्ता-रूप ही आता है। सामान्य रूप से कर्त्तृत्व अपने आप में स्वतन्त्र, कोई यान्त्रिक क्रिया नहीं है—उसके पीछे भी कवि के चेतन-अचेतन तथा भोक्ता रूपों की प्रेरणा निश्चय ही वर्तमान रहती है, फिर भी उसमें चेतन तथा सचेष्ट क्रिया का ही प्राधान्य है। कवि के व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व मात्र में यही अन्तर है। काव्य को कवि के व्यक्तित्व का प्रतिफलन मानने का अर्थ यह हुआ कि कवि अपने जीवन के अनुभवों को—अनुभूत घटनाओं और तथ्यों को—चेतन और अचेतन के राग-विरागों को काव्य में अभिव्यक्त करता है: उसकी कृति आत्माभिव्यक्ति है। काव्य-निबद्ध भाव अथवा अनुभूतियाँ,उसकी स्वानुभूति से सम्बद्ध हैं। अर्थात् कवि के भोक्ता और स्रष्टा रूपों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। 'प्रत्येक काव्य-कृति एक आत्मकथा है'। अथवा 'कृति के पीछे कर्ता का व्यक्तित्व निहित रहता है'—इस प्रकार के वाक्यों का यही अर्थ है। कर्त्तृत्व के लिए यह सब आवश्यक नहीं है। किसी काव्य का कर्ता उसमें निबद्ध सामग्री का—अर्थात् अनुभूतियों और तथ्यों का भोक्ता भी हो यह आवश्यक नहीं है, ऐसा प्रायः होता भी नहीं है। यह दूसरा पक्ष है। जो काव्य में कवि का कृतित्व मात्र मानते हैं उनका यही मत है। भारतीय काव्य-शास्त्र सामान्य रूप में कवि के कर्त्तृत्व को इसी रूप में ग्रहण करता है, यह कवि को सवासन तो अवश्य मानता है पर कवि के भोक्ता और स्रष्टा रूपों में तादात्म्य नहीं मानता। किन्तु साथ ही वह कवि को माध्यम मात्र भी नहीं मानता; कवि अपनी प्रतिभा, निपुणता तथा अभ्यास के बल पर काव्य की रचना करता है। काव्य कवि की सचेष्ट क्रिया है जिसको वह उपर्युक्त तीन गुणों के द्वारा सफलतापूर्वक सम्पादित करता है। इलियट एक पग और आगे बढ़ जाते हैं, वे कवि को माध्यम मात्र मान कर उसे सचेष्ट कर्त्तृत्व से भी वंचित कर देते हैं। उनकी मान्यता है कि सृजन-प्रेरणा के प्रभाव में भावों और संवेदनों के समंजन-रूप में काव्य-रचना आपसे आप घटित हो जाती है; कवि का व्यक्तित्व इस समंजन का माध्यम मात्र है, कर्ता नहीं है। युंग भी मनोविज्ञान के आधार पर प्रायः इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हैं।

इस विषय में कुन्तक की स्थिति क्या है? स्पष्ट है कि कुन्तक कवि को केवल माध्यम मात्र मानने के लिए तैयार नहीं हैं। उन्होंने कवि के कर्त्तृत्व की निर्भ्रान्त शब्दों में घोषणा की है। परन्तु, कर्त्तृत्व से उनका अभिप्राय केवल कवि की सक्रियता मात्र से है अथवा वे काव्य को कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति भी

मानते हैं ?—यह प्रश्न और उठता है। कुन्तक यहाँ अपने समय की परिसीमाओं का अतिक्रमण कर आगे बढ़ जाते हैं। वे काव्य को कवि-व्यापार तो मानते ही हैं इसमें कोई संदेह नहीं। उनकी यह धारणा तो अत्यन्त दृढ़ है ही कि काव्य की मूल प्रेरक-शक्ति कवि है—उसकी प्रतिभा ही काव्य का एकमात्र आधार है : काव्य की शोभा काव्य-वस्तु अथवा काव्य-सामग्री में निहित नहीं रहती, वह कवि की उत्पाद्य है। यहाँ एक शंका और उठती है। यह उत्पादन क्या कोई स्वतन्त्र क्रिया है अथवा कवि के अनुभूतिमय व्यक्तित्व अर्थात् उसके भोक्ता-रूप से उसका कोई सम्बन्ध है ? जैसा मैंने अभी संकेत किया है, हमारा काव्य-शास्त्र कवि को सवासन तो निश्चय ही मानता है, किन्तु वह कवि के भोक्ता और स्रष्टा रूप को एक मानने को तैयार नहीं है। आधुनिक शब्दावली में इसका अर्थ यह हुआ कि भारतीय काव्य-शास्त्र यह तो मानता है कि कवि में अपने निबद्ध भावों की अनुभूति-क्षमता वासना-रूप में निहित रहती है, किन्तु वह अपने जीवन में उन सभी की अनुभूति भी करता है, यह साधारणतः मान्य नहीं है। विदेश के काव्य-शास्त्र में भी साधारणतः यह मान्य नहीं रहा; पर पिछले कुछ दशकों में मनोविज्ञान के वर्धमान प्रभाव ने कवि के व्यक्तित्व और कृतित्व में—कर्ता और भोक्ता-रूप में सीधा सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। कुन्तक भारतीय काव्य-शास्त्र के अनुसार कवि की सवासनता को निश्चय ही स्वीकार करते हैं, प्रतिभा को उन्होंने पूर्व-जन्म और इस जन्म के संस्कारों का परिपाक माना है और संस्कार तथा वासना प्रायः पर्याय ही हैं। वे एक पग और भी आगे बढ़ते हैं—कवि के स्वभाव को काव्य का मूल प्रेरक तत्व मानकर (स्वभावो मूर्घ्नि वर्तते) वे कवि के व्यक्तित्व को भी काव्य में स्वीकार कर लेते हैं। कवि के कर्तृत्व और व्यक्तित्व को इस प्रकार कुन्तक सम्बद्ध मान लेते हैं। फिर भी वे व्यक्तित्व को कदाचित् उस अर्थ में भोक्ता का पर्याय मानने को प्रस्तुत नहीं हैं जिस अर्थ में कि आधुनिक मनोविज्ञान मानता है अर्थात् वे काव्य को कवि की प्रत्यक्ष आत्माभिव्यक्ति मानने के लिए उद्यत नहीं हैं। उनका 'स्वभावो मूर्घ्नि वर्तते' सिद्धान्त भारतीय काव्य-शास्त्र में प्रतिपादित कवि की 'सवासनता' और पाश्चात्य मनोविज्ञान द्वारा स्थापित 'आत्माभिव्यक्ति' का मध्यवर्ती है।

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है :

१. कुन्तक कवि को माध्यम मात्र नहीं मानते।

२. कवि काव्य का कर्ता है—काव्य की शोभा कवि की उत्पाद्य है। इसका अर्थ यह नहीं कि कवि अपने सम्पूर्ण काव्य का : अपनी विषय-वस्तु और काव्य-सामग्री

का भी आविष्कार अथवा उत्पादन करता है। (इसी लिए तो मैंने काव्य-वस्तु आदि को नहीं काव्य-शोभा को ही कवि का उत्पाद्य कहा है।) दूसरे शब्दों में इसका अभिप्राय यह हुआ कि कुन्तक के मत से काव्य-सौंदर्य विषय-वस्तु तथा काव्य-सामग्री आदि में निहित न होकर कवि द्वारा उनके प्रयोग में ही निहित रहता है।

३. कुन्तक कवि को प्रकारान्तर से सवासन भी मानते हैं; प्रकारान्तर से इसलिए कि वे रस को भी प्रकारान्तर से ही स्वीकार करते हैं।

४. इसके आगे कुन्तक कवि के व्यक्तित्व को भी काव्य का मूल प्रेरक तत्व मान लेते हैं। परन्तु उसे वे समजित एवं सामान्य व्यक्तित्व के अर्थ में ही ग्रहण करते हैं, भोक्ता के अर्थ में नहीं। प्रत्यक्ष आत्माभिव्यक्ति का सिद्धान्त उन्हें मान्य नहीं है, आधुनिक मनोविज्ञानी की भांति वे कवि के स्रष्टा और भोक्ता-रूप को एक मानने को तैयार नहीं हैं।

प्रतिभा

भारतीय काव्य-शास्त्र में प्रतिभा का बड़ा महत्व है—और यूरोप में भी आरम्भ से ही उसका स्तवन मिलता है। प्रतिभा में मूल शब्द है 'भा' जिसका अर्थ है चमक या झलक। विभिन्न उपसर्गों की सहायता से इसके आभा, प्रभा, प्रतिभा आदि अनेक रूप बन जाते हैं। 'प्रति' उपसर्ग के संयोग से प्रतिभा से अभिप्राय ऐसी ज्योति अथवा प्रकाश विशेष का हो जाता है जिसके द्वारा किसी वस्तु का रूप प्रतिभासित हो उठे। संस्कृत-शास्त्र में प्रतिभा की विभिन्न परिभाषाओं में यह अर्थ किसी न किसी रूप में निहित मिलता है। संस्कृत के दर्शन-ग्रन्थों तथा काव्य-शास्त्र के अनेक प्रसिद्ध ग्रन्थों में प्रतिभा अथवा प्रतिभान का विवेचन है। काव्य के आचार्यों में दण्डी, वामन, रुद्रट, भट्टतौत, अभिनवगुप्त, कुन्तक, महिम भट्ट, राजशेखर तथा मम्मट आदि ने तो प्रतिभा का प्रत्यक्ष विवेचन ही किया है, अन्य आचार्यों की व्याख्याओं में भी स्थान-स्थान पर उसका उल्लेख मिलता है। दण्डी के अनुसार प्रतिभा या प्रतिभान पूर्व-वासना के गुणों से सम्बद्ध है:

पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम् ॥ काव्यादर्श १।१०४। वामन ने प्रतिभा को कवित्व का बीज स्वीकार करते हुए उसको जन्मान्तरागत संस्कारविशेष माना है: 'कवित्वबीजं प्रतिभानम् ॥ १,३,१६ ॥ + + + जन्मान्तरागत संस्कारविशेषः कश्चित्।' अभिनवगुप्त ने भी उसे प्राक्तन संस्कार माना है:

अनादिप्राक्तनसंस्कारप्रतिभानमयः

(अभिनवभारती खण्ड १)

सामान्यतः संस्कृत काव्य-शास्त्र में प्रतिभा को जन्मजात ही माना गया है, परन्तु हेमचन्द्र आदि कुछ आचार्यों ने उसके दो भेद भी माने हैं : जन्मजात और कारण-जन्य—इनको ही सहजा और औपाधिकी भी कहा गया है। पण्डितराज जगन्नाथ का भी प्रायः यही मत है। ये आचार्य सहजा प्रतिभा को जन्मान्तरागत संस्कार और औपाधिकी को व्युत्पत्ति तथा अभ्यास का परिपाक मानते हैं।

यूरोप में भी प्रतिभा के इस रूप का विवेचन मिलता है। वहां पूर्व-जन्म की स्वीकृति तो नहीं है क्यों कि मसीही दर्शन में उसके लिए अवकाश नहीं है, परन्तु उसके समकक्ष वंश-प्रभाव या पितर-प्रभाव को स्पष्टतः प्रतिभा के निर्माता कारणों में माना गया है। यूरोप के मनोवैज्ञानिकों ने सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार के अनुसन्धानों द्वारा प्रतिभा को मूलतः वंशानुगत उपलब्धि ही सिद्ध किया है। इस विषय में गाल्टन नामक विद्वान् ने विशेष परिश्रम किया है। उनके कुछ उद्धरण इस प्रकार हैं : मेरा विचार प्रतिभा शब्द का प्रयोग किसी पारिभाषिक अर्थ में करने का नहीं था। मैं तो उसके द्वारा एक ऐसी शक्ति का द्योतन करना चाहता था जो असाधारण हो और साथ ही सहजात भी हो (वंशक्रमागत प्रतिभा, भूमिका पृ० ८)।

मैं अपनी इस प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए कि प्रतिभा वंशक्रमागत होती है, यह दिखाना चाहता हूँ कि प्रसिद्ध व्यक्तियों के वंश-जन प्रायः प्रसिद्ध ही होते हैं। (वही पृ० ५)।

सहज समानता (अर्थात् सब में समान जन्मजात शक्ति होती है) के झूठे दावों पर तो मुझे निरपवाद रूप से आपत्ति है। (वही पृ० १२)।

वास्तव में पूर्व-जन्म और वंश-प्रभाव एक बात नहीं है—और इसका एक प्रमाण तो यही है कि भारतीय दर्शन दोनों की युगपत् मान्यता स्वीकार करता है। परन्तु आत्मा की परिकल्पना के अभाव में प्राक्तन संस्कार के विषय में वैज्ञानिक कल्पना वंश-प्रभाव से आगे नहीं जाती। इस प्रकार वंश-प्रभाव और पूर्व-जन्म के संस्कार सिद्धान्त रूप में सर्वथा पृथक् हैं, परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में कम से कम दोनों का दृष्टिकोण मूलतः एक ही है।

प्रतिभा का स्वरूप :—प्रतिभा का दूसरा नाम शक्ति भी है, अर्थात् प्रतिभा एक प्रकार की मानसिक शक्ति है। भट्टतौत तथा अभिनवगुप्त ने उसे प्रज्ञा का एक विशेष प्रकार माना है।

प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।

नव-नव उन्मेष करने वाली प्रज्ञा का नाम प्रतिभा है—दूसरे शब्दों में प्रतिभा प्रज्ञा का वह प्रकार है जो नवीन रूपों का सृजन अथवा उद्‌घाटन करती है। अभिनवगुप्त ने इसी परिभाषा को और भी विशद रूप में प्रस्तुत किया है : 'प्रतिभा अपूर्ववस्तु-निर्माणक्षमा प्रज्ञा।'—अर्थात् अपूर्व रूपों की सृष्टि करने वाली प्रज्ञा का नाम प्रतिभा है। कवि-प्रतिभा इसी का एक विशेष प्रकार है जिसके द्वारा सहृदय कवि रसावेश की स्थिति में काव्य-निर्माण-क्षमता प्राप्त करता है :—'तस्याः विशेषो रसावेशवैशद्य-सौंदर्य काव्यनिर्माणक्षमत्वम्।' (ध्वन्यालोकलोचन) पृ० २६)। अभिनवगुप्त के वक्तव्य का सारांश यह है : १. प्रतिभा प्रज्ञा का ही एक रूप है। २. इसका कार्य है अपूर्व—नव-नव रूपों की सृष्टि करना। ३. प्रतिभा का एक विशिष्ट रूप है कवि-प्रतिभा जिसके द्वारा रसाविष्ट कवि काव्य-सृजन में समर्थ होता है अर्थात् सामान्य रूपों की सृष्टि करने वाली शक्ति सामान्य प्रतिभा है और रसात्मक रूपों की सृष्टि करने वाली शक्ति कवि-प्रतिभा है।

कवि-प्रतिभा रसात्मक रूपों की सृष्टि किस प्रकार करती है, इसकी मार्मिक विवेचना रुद्रट, महिम भट्ट और राजशेखर ने प्रतिभा के प्रसंग में की है। रुद्रट के अनुसार—

मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥

इसका भावार्थ यह है कि समाहित चित्त में जिसका उन्मेष होने पर प्रसन्न पदावली में अभिधेय अर्थ का अनेक प्रकार से प्रस्फुरण होता है वही शक्ति अथवा प्रतिभा है। अर्थात् जिस समय कवि का मन समाहित हो जाता है, उस समय प्रतिभा के उन्मेष से ही अभिधेय अर्थ अनेक प्रकार से रमणीय शब्दावली में अभिव्यक्त होता है। यही मन्तव्य महिम भट्ट का भी है :

रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतसः।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः॥

रसानुकूल शब्द-अर्थ के चिन्तन में तल्लीन समाहित-चित्त कवि की प्रज्ञा ही, जब कि वह शब्द-अर्थ के वास्तविक स्वरूप का स्पर्श करती हुई सहसा उद्दीप्त हो उठती है, प्रतिभा संज्ञा को धारण करती है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस समय शब्द-अर्थ के भावन में तल्लीन कवि का मन पूर्णतः समाहित हो जाता है, उस समय एक क्षण ऐसा आता है कि कवि की प्रज्ञा शब्द-अर्थ के वास्तविक स्वरूप का सहज साक्षात्कार कर लेती है। यही काव्य-सृजन का क्षण होता है, और इस क्षण में प्रज्ञा प्रतिभा का रूप धारण कर लेती है। अर्थात् महिम भट्ट के अनुसार भी प्रतिभा प्रज्ञा का ही एक विशेष रूप है—जिसके द्वारा शब्द-अर्थ के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार होता है। उनके अनुसार प्रतिभा प्रज्ञा का वह विशेष रूप है जिसके द्वारा कवि शब्द-अर्थ के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करता है। 'शब्द अर्थ के इस वास्तविक रूप' को राजशेखर ने 'पदार्थसार्थ' कहा है और मूर्त रूप में विवरण के साथ प्रस्तुत किया है :—'या शब्दग्रामम्, अर्थसार्यम्, अलंकारतन्त्रम्, उक्तिमार्गम्, अन्यदपि तथाविधमधिहृदयम् प्रतिभासयति सा प्रतिभा।' अर्थात् पदार्थ-समूह से अभिप्राय शब्द, अर्थ, अलंकार, उक्ति तथा इस प्रकार के अन्य काव्य-प्रसाधनों से है। वस्तु-परक दृष्टि से ये सभी शब्द-अर्थ के चमत्कार हैं, और प्रतिभा इन सबको कवि के हृदय में प्रतिभासित कर देती है। यह तो हुई वस्तु-परक दृष्टि। भाव-परक दृष्टि से शब्द-अर्थ के वास्तविक रूप का यह उन्मेष ही रसात्मक रूप की सृष्टि है क्योंकि वक्ता अथवा श्रोता के मन का उक्त अथवा श्रुत शब्द-अर्थ के साथ पूर्ण सामंजस्य हो शब्द-अर्थ के सच्चे स्वरूप का साक्षात्कार है—वही रस है।

अन्त में, प्रतिभा के विषय में, संस्कृत साहित्य-शास्त्र के विवेचन का निष्कर्ष इस प्रकार है :

मनुष्य की मौलिक बौद्धिक शक्ति का नाम है प्रज्ञा जो जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों का परिपाक है। प्रज्ञा के अनेक रूप हैं और अनेक कार्य—इनमें से एक रूप है प्रतिभा जिसका कार्य है नव-नव रूपों का उन्मेष अथवा सृजन। प्रतिभा का भी एक विशिष्ट रूप है कवि-प्रतिभा, जो रसात्मक रूपों का उन्मेष अथवा सृजन करती है। साहित्य-शास्त्र में प्रतिभा के इसी रूप का वर्णन है।

पश्चिम में प्रतिभा के स्वरूप का विशद विवेचन मनोविज्ञान-शास्त्र के अन्तर्गत किया गया है। मनोविज्ञान के अनुसार प्रतिभा का अर्थ है असाधारण कोटि की मेधा—अथवा असामान्य सहज (मानसिक) शक्ति[1]। अत्यन्त उच्च कोटि

१. दी न्यू डिक्शनरी ऑफ़ साइकोलोजी

की मानसिक शक्ति—विशेष रूप से किसी भी प्रकार की आविष्करण अथवा सृजन-शक्ति। × × × इसका कोई विशेष पारिभाषिक अर्थ नहीं है, कहीं-कहीं इसे १४० साधारण प्रज्ञा के बराबर माना गया है[१]।'

मनोवैज्ञानिकों ने प्रतिभा के मूल गुणों का भी विश्लेषण किया है। सामान्यतः प्रतिभा की मूल विशेषताएँ इस प्रकार हैं :

प्रतिभा का विकास व्यक्तित्व के अन्य अंगों के अनुपात से नहीं होता; उसके परिपाक के फलस्वरूप व्यक्तित्व के अन्य अंग—प्रायः उसके मानवीय गुण, अपुष्ट रह जाते हैं।

प्रतिभा अपने आपको वातावरण के अनुकूल ढालने में प्रायः असमर्थ रहती है।

प्रतिभा की गति निर्बाध होती है—वह किसी प्रकार का व्याघात या प्रतिबन्ध सहन नहीं कर सकती।

प्रतिभा और सहज-गुण में यह अन्तर है कि सहज-गुण का नियन्त्रण किया जा सकता है, परन्तु प्रतिभा उन्मुक्त एवं स्वच्छन्द है। वह एक दैवी विस्फोट है, नियन्त्रित घटना नहीं।

प्रतिभा परिस्थिति और रीति का बन्धन स्वीकार नहीं करती, अपने सम-सामयिक समाज की रूढ़ियों और मर्यादाओं का उल्लंघन करती हुई वह पर्वत की तरह सहसा उद्भूत हो उठती है।

प्रतिभा को 'साधारणता' का नीरस वातावरण असह्य है—वह असाधारणता में ही खुल खेलती है।[२]

इस प्रकार मनोविज्ञान के अनुसार प्रतिभा सामान्य नियमों और रूढ़ि-रीतियों के बन्धन से मुक्त एक असाधारण दैवी शक्ति है जिसका कार्य है सृजन अथवा आविष्करण। मनोविज्ञान का यह विवेचन भारतीय काव्य-शास्त्र के विवेचन से

---

१. डिक्शनरी आफ़ साइकोलोजी

२. युंग के मनोवैज्ञानिक विचार-संग्रह 'साइकोलोजीकल रिफ्लेकशन्स' नामक ग्रन्थ के आधार पर पृ० १८४-१८६

मूलतः भिन्न नहीं है। भारतीय काव्य-शास्त्र के प्रतिनिधि आचार्यों के पूर्वोद्धृत मन्तव्यों का सारांश भी प्रायः यही है कि प्रतिभा एक असाधारण जन्मान्तरागत दैवी शक्ति है जो नियतिकृतनियमरहिता है[1] और जिसमें अपूर्व-वस्तु-निर्माण की क्षमता है।

फ्रायड तथा उनके अनुयायी मनोविश्लेषकों ने भी प्रतिभा की अपने सिद्धान्त के अनुकूल व्याख्या की है। वे प्रतिभा के मूल उद्‌गम अवचेतन तथा चेतन मन दूसरे शब्दों में इद[2] और नैतिक चेतना के संघर्ष में मानते हैं। हमारी अनेक इच्छाएँ दमित होकर अवचेतन मन में संचित हो जाती हैं जहाँ से वे अत्यन्त प्रबल रूप धारण कर अभिव्यक्ति के लिए प्रयत्न करती रहती हैं। परन्तु उनकी अभिव्यक्ति में सबसे बड़ी बाधा है हमारी नैतिक चेतना (प्रति-अहं—सुपर-ऐगो) जो उनका अवरोध करती है। इसके परिणाम-स्वरूप हमारे अवचेतन और चेतन मन में—अथवा इद और नैतिक अहं के बीच तीव्र संघर्ष हो जाता है : यही संघर्ष प्रतिभा का मूल उद्‌गम है : जिसके व्यक्तित्व में यह संघर्ष जितना अधिक तीव्र एवं प्रबल होगा, उसकी प्रतिभा भी उतनी ही प्रबल और प्रखर होगी। इस प्रकार मनोविश्लेषण-शास्त्र के आचार्य प्रतिभा को असाधारण तथा अतिमानवीय विशेषताओं का कारण अवचेतन के इस प्रच्छन्न संघर्ष में खोज निकालते हैं। भारतीय शास्त्र ने जिस तत्व को दैवी वरदान या प्राक्तन संस्कार का परिपाक कह कर संतोष कर लिया था, पश्चिम के आस्तिक दर्शन ने जिसे दैवी स्फुलिंग मान कर अपनी जिज्ञासा का समाधान कर लिया था, आधुनिक युग के भौतिक-वैज्ञानिक शास्त्रों ने वंश-प्रभाव और अवचेतन मन के अन्तर्द्वन्द्वों में उसका उद्‌गम खोजने का प्रयत्न किया है। वास्तव में प्रतिभा आरम्भ से ही मानव-व्यक्तित्व का एक रहस्यमय अंग रही है और प्रत्येक देश तथा प्रत्येक युग अपने विश्वासों तथा दार्शनिक परम्पराओं के अनुसार उसके स्वरूप की व्याख्या करता रहा है। प्रतिभा के विषय में एक तथ्य तो स्वतः स्पष्ट ही है, और वह यह कि प्रतिभा अन्तःकरण की एक असाधारण शक्ति है, अथवा यों कहिए कि एक प्रकार की असाधारण मानसिक शक्ति है और इस प्रकार वह अन्तःसंस्कारों का परिपाक है। कुछ व्यक्तियों के अन्तःसंस्कार असाधारण रूप से प्रबल होते हैं और उनमें इन संस्कारों के समीकरण की अपूर्व शक्ति भी होती है। इस असाधारणता की व्याख्या भारतीय शास्त्रों ने आत्मा की अमरता तथा पूर्व-जन्म के आधार पर की है—उनका

---

१. मम्मट ने कवि-प्रतिभा की सृष्टि को नियतिकृतनियमरहिता कहा है—काव्यप्रकाश १।१

२. Id

स्पष्ट तर्क है कि यह असाधारणता पूर्व-जन्मों के संचित संस्कारों का परिपाक है : प्रतिभा एक जन्म की सिद्धि न होकर जन्मजन्मांतर की सिद्धि है। पाश्चात्य दर्शन में पूर्व-जन्म का सिद्धान्त मान्य नहीं रहा, अतएव उन्हें प्रतिभा की असाधारणता को दैवी वरदान मानना पड़ा : प्रतिभावान व्यक्ति जन-सामान्य की अपेक्षा अधिक समर्थ इसलिए होता है क्योंकि उसमें दैवी अंश अधिक रहता है अथवा दैवी शक्तियों के साथ उसका सम्पर्क रहता है। स्वभावतः आज का बौद्धिक युग इन व्याख्याओं को स्वीकार करने में असमर्थ रहा और उसने बुद्धि-सम्मत अनुसन्धानों के द्वारा प्रतिभा की असाधारणता का समाधान करने का प्रयत्न किया। अन्तःसंस्कारों की प्रबलता के उसने दो कारण प्रस्तुत किए : १. (पूर्व-जन्म के बजाय पर) वंश-प्रभाव २. अव-चेतन का अन्तर्द्वन्द्व। आस्तिक दर्शनों ने जिन प्रच्छन्न प्रभावों का सम्बन्ध पूर्व-जन्म के संस्कारों के साथ अथवा दैवी सम्पर्क के साथ स्थापित किया था उनको भौतिक विज्ञानों ने अवचेतन तथा पितर-प्रभाव में खोजने का प्रयत्न किया।

संस्कृत काव्य-शास्त्र में जिसे अभिनवगुप्त आदि ने कवि-प्रतिभा कहा है उसका विवेचन पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र तथा मनोविज्ञान में कल्पना के प्रसंग में किया गया है। पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र में कॉलरिज और इधर रिचर्ड्स ने कल्पना का विशद विवेचन किया है। उनके अनुसार अस्त-व्यस्त ऐन्द्रिय संवेदनों अथवा प्रत्यक्ष प्रभाव-प्रतिबिम्बों को समन्वित कर पूर्ण बिम्ब-रूपों में ढालना कल्पना का मुख्य कर्तव्य-कर्म है। "इस प्रकार विशृंखलित तथा असम्बद्ध अन्तर्वृत्तियों को एक समंजस प्रतिक्रिया में ढालती हुई कल्पना सभी कलाओं में अपना अस्तित्व व्यक्त करती है।" (रिचर्ड्स-प्रिंसिपल्स ऑफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज्म पृ० २४५)। यही सामंजस्य-विधान अथवा अनेकता में एकता की स्थापना—दूसरे शब्दों में व्यस्त प्रतिक्रियाओं को पूर्ण अनुभूतियों में मूर्तित करना कवि-कल्पना अथवा सृजनशील कल्पना का मूल धर्म है। कॉलरिज के शब्दों में 'इस समन्वय और जादू की शक्ति के लिए ही मैंने कल्पना शब्द का प्रयोग किया है। इसका धर्म है विरोधी या असम्बद्ध गुणों का एक-दूसरे के साथ सन्तुलन अथवा समन्वय करना अर्थात् एकरूपता का अनेकरूपता के साथ, साधारण का विशेष के साथ, भाव का चित्र के साथ, व्यष्टि का समष्टि के साथ, नवीन का प्राचीन के साथ, असाधारण भावावेश का असीम संयम अथवा अनुक्रम के साथ अथवा चिर-जागृत विवेक एवं स्वस्थ आत्म-संयम का दुर्दम तथा गम्भीर भावुकता के साथ।...इसी के बल पर कवि अनेकता में एकता ढूंढ निकालता है और विभिन्न विचारों एवं भावों को एक विशेष विचार अथवा भाव से अन्वित कर देता है।" शेक्सपियर ने इसे ही स्वस्थ कल्पना कहा है।

दार्शनिकों में कांट और इधर क्रोचे आदि ने भी इसी मत की पुष्टि की है: कान्ट ने इसे उत्पादनशील[1] कल्पना और क्रोचे ने सहजानुभूति[2] कहा है। इन दोनों शक्तियों का मूल धर्म एक ही है—जीवन के सम्पर्क से मानव-चेतना में उत्पन्न अरूप भंकृतियों को रूप देना। भारतीय आचार्यों की पूर्वोद्धृत शब्दावली में भी प्रकारान्तर से इन्हीं तथ्यों की अभिव्यक्ति है: समाहित चित्त में शब्द-अर्थ के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार, अथवा उसके वास्तविक सौंदर्य का प्रतिभासन सहजानुभूति ही है जो मूलतः अभिव्यंजना से अभिन्न है—और यही अस्त-व्यस्त संवेदनों का समंजन अथवा अरूप भंकृतियों को रूप देना है। समाहित चित्त में विशृंखलता व्यवस्थित हो जाती है—अनेकता एकाग्र हो जाती है, तभी विशृंखल संवेदन समंजित होकर मूर्तित हो उठते हैं और तभी शब्द-अर्थ का सच्चा स्वरूप प्रतिभासित हो जाता है। जिस शक्ति के द्वारा यह सब संघटित होता है वही कांट की सृजनशील कल्पना है, वही क्रोचे की सहजानुभूति है और वही अभिनवगुप्त की काव्य-निर्माण-क्षमा प्रतिभा है।

कुन्तक का प्रतिभा-विवेचन

कुन्तक ने पूर्ण आग्रह के साथ प्रतिभा का महत्व स्वीकार किया है। अपने ग्रन्थ में किसी एक स्थल पर क्रमबद्ध विवेचन तो उन्होंने नहीं किया, फिर भी यत्र-तत्र विकीर्ण उद्धरणों को संकलित कर प्रतिभा के विषय में उनका व्यवस्थित अभिमत उपलब्ध किया जा सकता है। वास्तव में कवि-प्रतिभा का कुन्तक के मन पर इतना गहरा प्रभाव रहा है कि जहां कहीं अवसर आया है, वहीं उन्होंने अत्यन्त उच्छ्वसित शब्दों में उसका कीर्ति-गान किया है।

प्रतिभा का महत्व :—कुन्तक के अनुसार सम्पूर्ण काव्य-विधान का केन्द्र-बिन्दु ही प्रतिभा है :

१. यद्यपि द्वयोरप्येतयोस्तत्प्राधान्येनैव वाक्योपनिबन्धः तथापि कविप्रतिभा-प्रौढिरेव प्राधान्येनावतिष्ठते। (हि० व० जी० पृ० ३२)

अर्थात् यद्यपि (उपर्युक्त) दोनों (उदाहरणों) में उस (शब्दार्थ के साहित्य) के प्राधान्य से ही काव्य-रचना की गयी है फिर भी कवि-प्रतिभा की प्रौढ़ता ही प्रधान रूप से अवस्थित रहती है।

१. प्रोडक्टिव इमेजिनेशन २. इन्टय्रूशन

२. यत्किंचनापि वैचित्र्यं तत्सर्वं प्रतिभोद्भवम् ।
सौकुमार्यपरिस्पन्दस्यन्दि यत्र विराजते ॥
(हि० व० जी० १.२८)

वैसे तो यह सुकुमार मार्ग का ही वर्णन है, परन्तु इसमें प्रसंगवश प्रतिभा के महत्व का निर्देशन भी कर दिया गया है। इस श्लोक का अर्थ है : सुकुमार मार्ग वह है जहाँ प्रतिभा से उद्भूत जितना भी वैचित्र्य है वह सब सुकुमार स्वभाव से प्रवाहित होता हुआ शोभित रहता है। एक विद्वान् ने इस श्लोक के प्रथम चरण को पृथक् कर उसकी किंचित् भिन्न व्याख्या की है : 'जो कुछ भी वैचित्र्य है, वह सभी प्रतिभा से उद्भूत है।' यह व्याख्या यद्यपि हमारे अभिप्राय की पुष्टि के लिए अधिक अनुकूल पड़ती है, तथापि प्रसंगानुमोदित न होने से यथावत् मान्य नहीं है। किन्तु प्रतिभा की महत्व-प्रतिष्ठा इस श्लोक में भी है, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। प्रतिभा से उद्भूत सौंदर्य को कुन्तक ने सर्वत्र आहार्य अर्थात् व्युत्पत्ति-साध्य सौंदर्य की अपेक्षा कहीं अधिक महत्व दिया है : कालिदास की प्रशस्ति करते हुए एक स्थान पर उन्होंने स्पष्ट लिखा है :

एतच्चैतस्यैव कवेः सहजसौकुमार्यमुद्रितसूक्तिपरिस्पन्दसौदर्यस्य पर्यालोच्यते, न पुनरन्येषामाहार्यमात्रकाव्यकरणकौशलश्लाघिनाम् ।

"अर्थात् यह भी इसी कवि के विषय में (इतनी सूक्ष्म) आलोचना की जा सकती है जिसकी सूक्तियों का सौंदर्य सहज सौकुमार्य की मुद्रा से अंकित हो रहा है। केवल आहार्य (व्युत्पत्ति-बल से बनावटी) काव्य-रचना के कौशल के लिए प्रसिद्ध अन्य के विषय में नहीं।" (हिन्दी व० जी० ५८वीं कारिका की वृत्ति)। इन शब्दों से व्यक्त है कि कुन्तक की दृष्टि में प्रतिभाजन्य सौंदर्य और आहार्य सौंदर्य का सापेक्षिक मूल्य क्या है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि 'काव्य-हेतु' के प्रसंग में स्पष्ट किया जा चुका है, कुन्तक अन्य काव्य-हेतुओं को अर्थात् व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को भी प्रतिभा-जन्य ही मानते हैं :—"स्वभाव तथा उन दोनों के (व्युत्पत्ति तथा अभ्यास के उपकार्य और उपकारक भाव से स्थित होने से स्वभाव उन दोनों को उत्पन्न करता है, और वे दोनों उसे परिपुष्ट करते हैं।" (हिन्दी व० जी० १.२४ वीं कारिका की वृत्ति)। —इस प्रकार कुन्तक ने प्रतिभा का कीर्ति-गान अनेक प्रकार से अनेक प्रसंगों में किया है।

प्रतिभा का कृतित्व :—कुन्तक के अनुसार कवि-प्रतिभा अनन्त है : 'यस्मात् कविप्रतिभानन्त्यान्नियतत्वं न सम्भवति' (हिन्दी व० जी० पृ० ६४), अतएव उसके

वक्रोक्ति के भेद

व्यापक स्वरूप :—कुन्तक की वक्रोक्ति अथवा वक्रता वास्तव में कवि-कौशल अथवा काव्य-सौंदर्य का पर्याय है। कुन्तक ने स्पष्ट शब्दों में वक्रोक्ति को काव्य के अलंकार का पर्याय माना है :

उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव..................... ।

शब्द और अर्थ अलंकार्य हैं, और वक्रोक्ति उनका अलंकार है। अर्थात् शब्द-अर्थ के सौंदर्य अथवा अलंकार की समष्टि का ही दूसरा नाम वक्रोक्ति है। काव्य में जो कुछ सुन्दर चमत्कारपूर्ण अथवा अलंकृत है : वह सब वक्रता का ही चमत्कार है। अतएव उसके अन्तर्गत कुन्तक ने कवि-कौशल अथवा काव्य-सौंदर्य के सभी प्रकार-भेदों को अन्तर्भूत करने का प्रयत्न किया है। कवि प्रतिभा के बल पर अपनी कृति में चमत्कार उत्पन्न करने के लिये सहज अथवा सचेष्ट रूप में जिन साधनों-प्रसाधनों का उपयोग करता है वे सभी वक्रोक्ति के भेद हैं। अतएव कुन्तक की वक्रोक्ति का साम्राज्य वर्ण-विन्यास से लेकर प्रबन्ध-कल्पना तक और उधर उपसर्ग, प्रत्यय आदि पदावयवों से लेकर महाकाव्य तक विस्तृत है। ध्वनिकार ने व्यक्ति-परक दृष्टि से जिस प्रकार ध्वनि की सार्वभौम सत्ता की स्थापना की थी, उसी प्रकार उनके उत्तर में, वस्तु-परक दृष्टि से अलंकारवादियों की ओर से कुन्तक ने अलंकार की समष्टिरूपिणी वक्रोक्ति की सार्वभौम प्रभुता स्थापित करने का प्रयत्न किया।

वक्रोक्ति के भेद-प्रभेद :—कुन्तक ने मूलतः वक्रोक्ति के ६ भेद किये हैं। ये भेद विस्तार-क्रम से वैज्ञानिक पद्धति पर किये गये हैं। काव्य के लघुतम अवयव वर्ण से प्रारम्भ होकर ये उसके महत्तम रूप महाकाव्य तक क्रमशः विकसित होते जाते हैं। कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति के ६ मौलिक भेद इस प्रकार हैं :

१. वर्णविन्यास-वक्रता, २. पदपूर्वार्ध-वक्रता, ३. पदपरार्ध-वक्रता, ४. वाक्य-वक्रता, ५. प्रकरण-वक्रता, ६. प्रबन्ध-वक्रता। इनके फिर अनेक प्रभेद हैं :

वर्णविन्यास-वक्रता

एको द्वौ बहवो वर्णाः बध्यमानाः पुनः पुनः।
स्वल्पान्तरास्त्रिधा सोक्ता वर्णविन्यासवक्रता ॥ व०जी० २,१

अर्थात् जिसमें एक दो या बहुत से वर्ण थोड़े-थोड़े अन्तर से बार-बार (उसी रूप में) ग्रथित होते हैं, वर्ण-विन्यास-वक्रता अर्थात् वर्ण-रचना की वक्रता कहलाती है।

यह वर्ण शब्द व्यंजन का पर्याय है। इस प्रकार (वर्ण शब्द के व्यंजन अर्थ में) प्रसिद्ध होने से। (हिन्दी व० जी० २।२ की वृत्ति)

यह वर्ण-विन्यास-वक्रता अन्य आचार्यों का अनुप्रास ही है : अनुप्रास में भी व्यंजन का साम्य ही अपेक्षित है, स्वर का नहीं। कुन्तक ने इस तथ्य को स्वयं स्पष्ट कर दिया है। 'एतदेव वर्णविन्यासवक्रत्वं चिरन्तनेष्वनुप्रास इति प्रसिद्धम्।' अर्थात् यही वर्णविन्यास-वक्रता प्राचीन आचार्यों में अनुप्रास नाम से प्रसिद्ध है। (हिन्दी व० जी० पृ० ६६)। वर्णविन्यास-वक्रता कुन्तक के अनुसार तीन प्रकार की है : इन तीनों प्रकारों का आधार है क्रमशः एक वर्ण की आवृत्ति, दो वर्णों की आवृत्ति और अनेक वर्णों की आवृत्ति। आगे चलकर कुन्तक ने फिर एक अन्य रीति से वर्ण-विन्यास-वक्रता के भेद किये हैं : "इस (दूसरे प्रकार की वर्णविन्यास-वक्रता) के वे कौन-से तीन प्रकार हैं, यह कहते हैं। १. वर्गान्त से युक्त स्पर्श। ककार से लेकर मकार पर्यन्त वर्ग के वर्ण स्पर्श कहलाते हैं। इनके अन्त के ङकार आदि के साथ संयोग जिनका हो वे वर्गान्तयोगी हैं। इनकी पुनः-पुनः आवृत्ति वर्णविन्यास-वक्रता का प्रथम प्रकार है। तलनादयः अर्थात् तकार लकार और नकार आदि द्विरुक्त अर्थात् द्वित्व रूप में दो बार उच्चारित होकर जहाँ बार-बार निबद्ध हों यह दूसरा प्रकार है। इन दोनों से भिन्न शेष व्यंजन-संज्ञक वर्ण रेफ आदि से संयुक्त रूप में जहाँ निबद्ध हों यह तीसरा प्रकार है। इन सभी भेदों में पुनः-पुनः निबद्ध व्यंजन थोड़े अन्तर वाले अर्थात् परिमित व्यवधान वाले होने चाहिएँ, यह सबके साथ सम्बद्ध है।" (हिन्दी व० जी० २।२ कारिका की वृत्ति)

इस प्रकार वर्णविन्यास-वक्रता के ये तीन भेद संक्षेप में इस प्रकार हैं: (१) जहां वर्गान्तयोगी स्पर्शों की आवृत्ति हो, (२) जहां त, ल, न, आदि वर्णों की द्वित्व रूप में आवृत्ति हो, और (३) जहां इन दोनों वर्गों के अतिरिक्त वर्णों की रेफ आदि से संयुक्त रूप में आवृत्ति हो।

ये वास्तव में वर्ण-संयोजनाओं के विभिन्न रूप-प्रकार हैं। प्राचीन आचार्यों ने वृत्तियों तथा अनुप्रास-चक्र में इनका अन्तर्भाव किया है। उनके अनुसार भी अनुप्रास में व्यंजनों का ही चमत्कार है और व्यंजनों की संयोजनाओं के प्रकार भी बहुत-कुछ ये ही हैं। साहित्यदर्पणकार ने अनुप्रास की परिभाषा और रूप-भेदों का विवेचन इस प्रकार किया है: स्वर की विषमता रहने पर भी शब्द अर्थात् पद, पदांश के साम्य (सादृश्य) को 'अनुप्रास' कहते हैं। व्यंजनों के समुदाय की एक ही बार अनेक प्रकार की समानता होने से उसे 'छेक' अर्थात् छेकानुप्रास कहते हैं। अनेक व्यंजनों की एक ही प्रकार से (केवल स्वरूप से ही, क्रम से नहीं) समानता होने पर, अथवा अनेक व्यंजनों की अनेक बार आवृत्ति होने पर, यद्वा अनेक प्रकार से (स्वरूप और क्रम दोनों से) अनेक बार अनेक वर्णों की आवृत्ति होने पर, किंवा एक ही वर्ण की एक ही बार समानता (आवृत्ति द्वारा) होने पर, या एक ही वर्ण की अनेक बार आवृत्ति होने पर 'वृत्त्यनुप्रास' नामक शब्दालंकार होता है। तालु, कण्ठ, मूर्धा, दन्त आदि किसी एक स्थान में उच्चरित होने वाले व्यंजनों की (स्वरों की नहीं) समता को श्रुत्यनुप्रास कहते हैं। पहले स्वर के साथ ही यदि यथावस्थ व्यंजन की आवृत्ति हो तो वह अंत्यानुप्रास कहाता है। केवल तात्पर्य भिन्न होने पर शब्द और अर्थ दोनों की आवृत्ति होने से लाटानुप्रास होता है।

इनके अतिरिक्त प्राचीनों की वृत्तियों—उपनागरिका, परुषा और कोमला का भी कुन्तक ने वर्णविन्यास-वक्रता में ही अन्तर्भाव कर लिया है।

आगे चलकर कुन्तक ने यमक को भी इसी परिधि में ले लिया है। यमक, यमकाभास अथवा यमक से साम्य रखने वाले अन्य वर्ण-चमत्कार वर्णविन्यास-वक्रता के अन्तर्गत आ जाते हैं:—समान वर्ण वाले किन्तु भिन्नार्थक, प्रसादगुण-युक्त, श्रुति-मधुर, औचित्य से युक्त आदि, (मध्य तथा अन्त) आदि स्थानों पर शोभित होने वाला जो यमक नामक प्रकार है वह भी इसी का भेद है। (२।६-७)। इसी प्रकार यमकाभास भी वर्ण-विन्यास का ही चमत्कार है जो सहृदयों का सुखमहारी होता है। यमकाभास से अभिप्राय ऐसे वर्ण-चमत्कार से है जिसमें भिन्नार्थक वर्ण-योजना सर्वथा समान न होकर ईषत् भिन्न होती है। उदाहरण के लिए 'स्वस्थाः सन्तु वसन्त'

में सन्तु और सन्त की आवृत्ति अथवा 'राजीवजीवितेश्वरे' में जीव और जीवि की आवृत्ति यमकाभास है। इन्हीं से मिलता-जुलता एक और भी वर्ण-चमत्कार होता है 'जहां कहीं व्यवधान के न होने पर भी केवल (बीच में आने वाले) स्वरों के भेद से हृदयाकर्षक रचना सौंदर्य को अत्यन्त परिपुष्ट करती है।' (२।३)। यह वर्ण-योजना यमक के गोत्र की होती हुई भी यमक से भिन्न है। यमक में नियत स्थान पर वर्णों की आवृत्ति करने का नियम है पर यहां स्थान का कोई नियम नहीं है। यहां आवृत्ति वाले वर्ण वे ही होते हैं, परन्तु बीच में अवस्थित स्वरों का वैषम्य चमत्कार उत्पन्न कर देता है। उदाहरणार्थ 'केलीकलित', 'कदलदलं' आदि में उपर्युक्त प्रकार का चमत्कार लक्षित होता है।

इस प्रकार वर्ण-विन्यास के प्रायः सभी प्रसिद्ध प्रयोगों को कुन्तक ने अपनी वर्णविन्यास-वक्रता के अन्तर्गत माना है। अनुप्रास के समस्त भेद, वृत्तियां, यमक तथा यमकाभास आदि सभी का अन्तर्भाव इसमें ही जाता है। फिर भी वर्ण-सौंदर्य परिमित-भेद नहीं है और न वह स्वतन्त्र ही है। वर्णों की कवि-प्रतिभा के अनुसार असंख्य संयोजनाएं हो सकती हैं—जिनसे अनेक प्रकार के चमत्कार की सृष्टि हो सकती है। इन सबकी गणना कर वर्णविन्यास-वक्रता के भेदों को परिमित कर देना सम्भव नहीं है। इसके साथ ही, वर्णविन्यास-कौशल अपने आप में स्वतन्त्र भी नहीं है। इसीलिए कुन्तक ने उसके लिए कतिपय प्रतिबन्ध आवश्यक माने हैं :

(१) पहला प्रतिबन्ध यह है कि वर्ण-योजना सदा प्रस्तुत विषय के अनुकूल होनी चाहिए। 'और वे (वर्ण) कैसे होने चाहिएँ? प्रस्तुत अर्थात् वर्ण्यमान वस्तु के औचित्य से शोभित। न कि वर्ण-साम्य के व्यसन मात्र के कारण उपनिबद्ध होने से प्रस्तुत वस्तु के औचित्य को मलिन करने वाले।' (हिं० व० जी० २।२ कारिका की वृत्ति)।

(२) दूसरा प्रतिबन्ध यह है कि वर्णविन्यास-वक्रता अत्यन्त आग्रहपूर्वक विरचित न हो और न असुन्दर वर्णों से भूषित हो*। (२।४)।

(३) उसमें वैचित्र्य होना चाहिए : उसे पूर्व आवृत्त वर्णों को छोड़ नवीन के पुनरावर्तन से मनोहर बनाना चाहिए।* (२।४)।

(४) इसके अतिरिक्त यमकादि की वर्ण-योजना के लिए विशेष रूप से, और साधारण वर्ण-योजना के लिए सामान्य रूप से प्रसाद गुण भी सर्वथा आवश्यक है।*

(५) वर्ण-योजना का छठा प्रतिबन्ध है श्रुति-पेशलता। अर्थात् प्रस्तुत रसादि के अनुकूल वर्ण-विन्यास में अन्य चाहे कोई भी चमत्कार वर्तमान हो, किन्तु वह श्रुति-सुखद तो प्रत्येक स्थिति में ही होना चाहिये।* (२.४)

कुन्तक ने अपनी वर्णविन्यास-वक्रता का विवेचन सामान्यतः इसी रूप में किया है। काव्य का प्रथम आधार है वर्ण। सभी आचार्यों ने अपने-अपने सिद्धान्त के अनुसार वर्ण पर आश्रित चमत्कारों का वर्णन अनेक रूपों में किया है। कुन्तक के पूर्ववर्ती आचार्यों ने अनुप्रासादि शब्दालंकारों तथा वृत्तियों के आश्रय से वर्ण-चमत्कार का विवेचन किया है। किन्तु कुन्तक ने वर्णगत समस्त सौंदर्य को सर्वव्यापी वक्रोक्ति का प्रथम अंग मानते हुए, वर्णविन्यास-वक्रता के अन्तर्गत अपने सिद्धान्त के अनुकूल ही सर्वथा मौलिक रूप में, उसका उद्घाटन किया है। ध्वनिकार के विवेचन के समान उनके विवेचन का भी महत्व यह है कि वर्ण-सौंदर्य काव्य-शास्त्र का एक पृथक् विषय न रह कर सम्पूर्ण काव्य-चक्र का एक अविच्छिन्न अंग बन गया है।

पदपूर्वार्ध-वक्रता

वर्ण के उपरान्त काव्य का दूसरा अवयव पद है जो अनेक वर्णों का समुदाय-रूप होता है। अतएव क्रमानुसार कुन्तक उसी को ग्रहण करते हैं। परन्तु पद के भी दो अंग हैं (१) पद-पूर्वार्ध और (२) पद-परार्ध। अतएव उन दोनों का पृथक् वर्णन किया जाता है।

व्याकरण में पद-पूर्वार्ध का दूसरा नाम प्रकृति भी है। संस्कृत में पद मूलतः दो प्रकार के होते हैं: सुबन्त और तिङन्त। सुबन्त का पूर्वार्ध प्रातिपदिक और तिङन्त का धातु कहलाता है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार पद का अर्थ है विभक्ति से युक्त शब्द जो वाक्य में प्रयुक्त होता है। पद के दो अंग हैं: (१) प्रकृति और प्रत्यय। प्रकृति के भी दो रूप हैं (१) प्रातिपदिक और धातु। सुबन्त पद का पूर्वार्ध प्रातिपदिक और तिङन्त का धातु कहलाता है। प्रकृति मूल शब्द है—प्रत्यय में भी अर्थ निहित रहता है, जिसके संयोग से मूल अर्थ की वाच्यता सिद्ध हो जाती है। हिन्दी में इस प्रकार का शब्द-विभाजन है तो अवश्य किन्तु वह इतना स्पष्ट नहीं है जितना संस्कृत में।

* नातिनिर्बन्धविहिता नाप्यपेशलभूषिता। पूर्वावृत्तपरित्यागनूतनावर्तनोज्ज्वला ॥ (व० जी० २।४)

अतएव पदपूर्वार्ध-वक्रता से अभिप्राय प्रातिपदिक तथा धातु की—अथवा यों कहिए कि मूल शब्द की वक्रता से है।

पदपूर्वार्ध-वक्रता के ८ मुख्य भेद हैं : १. रूढ़िवैचित्र्य-वक्रता, २. पर्याय-वक्रता, ३. उपचार-वक्रता, ४. विशेषण-वक्रता, ५. संवृति-वक्रता, ६. वृत्ति-वक्रता, ७. लिंगवैचित्र्य-वक्रता, ८. क्रियावैचित्र्य-वक्रता।

१. रूढ़िवैचित्र्य-वक्रता

जहाँ लोकोत्तर तिरस्कार अथवा प्रशंसा का कथन करने के अभिप्राय से वाच्य अर्थ की रूढ़ि से असम्भव अर्थ का अध्यारोप अथवा उत्तम धर्म के अतिशय का आरोप गर्भित रूप में कहा जाता है, वह कोई (अपूर्व सौंदर्याधायक) रूढ़िवैचित्र्य-वक्रता कही जाती है। (हिन्दी व० जी० २।८-९)। यह वक्रता रूढ़ि के वैचित्र्य पर आश्रित है। रूढ़ि से अभिप्राय है परम्परागत अथवा कोश तथा लोक-व्यवहार में प्रसिद्ध वाच्य अर्थ का। जहाँ कवि अपनी प्रतिभा के द्वारा रूढ़ अर्थ पर किसी कमनीय असम्भाव्य अर्थ का अध्यारोप अथवा किसी उत्तम धर्म के अतिशय का गर्भित रूप में आरोप कर देता है, वहाँ (उस प्रयोग विशेष में) एक विचित्र सौंदर्य या चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। वहाँ वास्तव में कोई लोकोत्तर चमत्कार उत्पन्न करने के लिए रूढ़ अर्थ का किसी अन्य अर्थ में संक्रमण कर दिया जाता है। यह चमत्कार लक्षण के आश्रित है—और ध्वनिकार ने अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य-ध्वनि के अन्तर्गत इसका यथावत् विवेचन किया है। कुन्तक ने अपने दोनों उदाहरण भी ध्वन्यालोक से ही लिए हैं :

१. ताला जाअन्ति गुणा जाला दे सहिअएहिं घेप्पन्ति।
रइ किरणाणुग्गहिआइं होन्ति कमलाइं कमलाइं॥

(तब ही गुन सोभा लहैं, सहृदय जबहिं सराहिं।
कमल कमल हैं तबहिं जब रविकर सों विकसाहिं॥)

२. कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे।
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव॥

(मैं तो कठोर हृदय राम हूँ, सब कुछ सह लूँगा—परन्तु वैदेही की क्या दशा होगी? हा देवि, धैर्य रखना।)

हिन्दी में तुलसीदास का भी एक प्रयोग ऐसा ही है—

सीताहरन तात जनि कहहु पिता सन जाइ।
जो मैं राम तो कुलसहित कहहि दसानन आइ॥

पहले प्राकृत छन्द में कमल के रूढ़ अर्थ का विस्तार करते हुए उस पर एक कमनीय अर्थ का अध्यारोप किया गया है, और संस्कृत श्लोक तथा हिन्दी के दोहे में राम के रूढ़ अर्थ का चमत्कारपूर्ण विस्तार है। रूढ़ अर्थ का यही चमत्कारपूर्ण विस्तार रूढ़िवैचित्र्य-वक्रता है।

२. *पर्याय-वक्रता*

पर्याय पर आश्रित वक्रता का नाम पर्याय-वक्रता है। पर्याय से अभिप्राय है समानार्थक संज्ञा शब्द। उसके कुशल प्रयोग से उत्पन्न चमत्कार का नाम है पर्याय-वक्रता। प्रत्येक भाषा में एक अर्थ के वाचक अनेक शब्द होते हैं—प्रारम्भ में उनके अर्थ—विशेषतः व्युत्पत्ति-अर्थ भिन्न होते हैं, पर वे एक मूल अर्थ से सम्बद्ध हो कर अन्त में समानार्थक बन जाते हैं। प्रतिभावान कवि प्रत्येक शब्द की आत्मा का साक्षात्कार कर इन पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग द्वारा अपने काव्य में अपूर्व सौंदर्य की उद्भावना कर देता है। यह प्रयोग-कौशल ही पर्याय-वक्रता है।

कुन्तक की शब्दावली में पर्याय-वक्रता का वर्णन इस प्रकार है :

जो वाच्य का अन्तरतम, उसके अतिशय का पोषक, सुन्दर शोभान्तर के स्पर्श से उस वाच्यार्थ को सुशोभित करने में समर्थ है,

जो स्वयं (बिना विशेषण के), अथवा विशेषण के योग से भी अपने सौंदर्यातिशय के कारण मनोहर है, और जो असम्भव अर्थ के आधार रूप से भी वाच्य होता है,

जो अलंकार से संस्कृत होने अथवा अलंकार का शोभाधायक होने से मनोहर रचना से युक्त है,

ऐसे पर्याय अर्थात् संज्ञा शब्द (के प्रयोग) से परमोत्कृष्ट पर्याय-वक्रता होती है।

(हिन्दी व० जी० २।१०-११-१२)

उपर्युक्त कारिकाओं में पर्याय के अनेक विशेषणों का प्रयोग किया गया है—कहीं पर्याय शब्द वाच्य अर्थ के अन्तरतम रहस्य को प्रकट करता है, तो कहीं उसके

अतिशय की रंजना करता है। कहीं यह किसी अन्य शोभा के स्पर्श से उसमें चमत्कार उत्पन्न कर देता है, तो कहीं अपने ही सौंदर्यातिशय के कारण मनोहर होता है। एक स्थान पर यदि विशेषण के योग से उसमें अपूर्व चमत्कार आ जाता है तो अन्यत्र किसी लोकोत्तर अर्थ का अध्यारोप रहता है। इसी प्रकार यदि कहीं पर्याय स्वयं अलंकारयुक्त होता है तो कहीं अलंकार की ही शोभा उसके आश्रित रहती है। पर्याय के इन विभिन्न चमत्कारों का कुशल प्रयोग—अथवा इन चमत्कारों से युक्त पर्याय शब्दों का कुशल प्रयोग पर्याय-वक्रता है। कुन्तक ने पर्याय-वक्रता के ६ अवान्तर भेदों का वर्णन किया है।

ध्वनिवादियों ने इसे पर्याय-ध्वनि और अलंकारवादियों ने परिकरालंकार के नाम से अभिहित किया है। उदाहरण के लिए शिव के शूली, पिनाकी, कपाली आदि और इन्द्र के वज्री आदि अनेक नाम हैं। कुशल कवि प्रसंगानुकूल इनके चयन में चमत्कार उत्पन्न कर पर्याय-वक्रता का प्रयोग करता है।

१. सन्ति भूभृति हि नः शराः परे ये पराक्रमवसूनि वज्रिणः।

हमारे राजा के पास ऐसे बाण हैं जो वज्रधारी इन्द्र के भी पराक्रम की निधि हैं। यहाँ वज्रधारी इन्द्र—वज्री—शब्द का प्रयोग पर्याय-वक्रता का उदाहरण है।

२. लख कर सायर अरु तुम्हें कर सायक सर चाप।
देखत हूँ खेदत मनो मृगहिं पिनाकी आप।

(हिन्दी शकुन्तला)

यहाँ शिव का पिनाकी नाम अत्यन्त सार्थक रूप में प्रयुक्त हुआ है।

३. कृषक-बालिका के जलधर। (पंत : बादल)

यहाँ जलधर का प्रयोग कृषक-वर्ग के साहचर्य से अत्यन्त चमत्कारपूर्ण है।

२. उपचार-वक्रता

कुन्तक के शब्दों में "*उप अर्थात् सादृश्यवश गौण चरण अर्थात् व्यवहार को* उपचार कहते हैं। + + किसी अन्य वस्तु के सामान्य धर्म का, लेश-मात्र सम्बन्ध से भी, दूरान्तर वस्तु पर आरोप उपचार कहलाता है।" (२।१३)। इसका अर्थ यह है कि जहाँ प्रस्तुत दूरान्तर अर्थात् सर्वथा भिन्न-स्वभाव वस्तु पर अप्रस्तुत

वस्तु के सामान्य धर्म का लेश-मात्र सम्बन्ध से आरोप किया जाता है, वहाँ उपचार होता है। यहां प्रस्तुत और अप्रस्तुत एक दूसरे से बहुत दूर होते हैं, उनमें देश-काल की नहीं वरन् मूल स्वभाव की दूरी होती है। मूल स्वभाव की दूरी का अर्थ यह है कि एक मूर्त्त है तो दूसरा अमूर्त्त है, एक चेतन है तो दूसरा अचेतन और एक में यदि घनता है तो दूसरे में द्रवता। फिर भी, लेश-मात्र सम्बन्ध से अप्रस्तुत के सामान्य धर्म का प्रस्तुत पर इस प्रकार अभेद आरोप किया जाता है कि दोनों की भेद-प्रतीति नष्ट होकर अभेद-प्रतीति उत्पन्न हो जाती है। यही उपचार है। यह मूलतः गौणी अर्थात् लक्षणा वृत्ति का चमत्कार और रूपकादि अलंकारों का मूल आधार है। कुन्तक ने भी स्पष्ट कहा है कि इसके कारण रूपकादि अलंकारों में सरसता आ जाती है :

—यन्मूला सरसोल्लेखा रूपकादिरलंकृतिः। व० जी० २।१४

कुन्तक ने उपचार-वक्रता के चार-पाँच उदाहरण दिये हैं और अन्त में फिर यह भी कह दिया है कि इसके सहस्रावधि भेद हैं।

अमूर्त पर मूर्त का आरोप : (१) स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतः अर्थात् अपनी चिकनी और कृष्ण-वर्ण कान्ति से आकाश को लिप्त करने वाले (बादल)।

लेपन द्रव्य सदा मूर्त होता है और लेपन भी मूर्त वस्तु का ही किया जाता है, किन्तु यहां लेपन द्रव्य-रूप श्यामल कान्ति और लेप्य वस्तु आकाश दोनों ही अमूर्त हैं। मूर्त पदार्थ के धर्मों का अमूर्त पदार्थों पर आरोप होने के कारण यहाँ उपचार है, और इस उपचार में रमणीय कल्पना का विलास होने के कारण उपचार-वक्रता है।

(२) सूचिभेद्यैस्तमोभिः (मेघदूत पूर्वार्ध ३९)
मागर सूझि जिन्हें न परै जहँ सूचिका-भेद झुकी अँधियारी।
(हिन्दी मेघदूत)

'सूचिभेद्य अन्धकार' में अन्धकार अमूर्त है किन्तु सूचीभेद्यता मूर्त वस्तु का धर्म है।

अचेतन पर चेतन का आरोप :—

गमणं च मत्तमेहं धारावुलिअज्जुणाइ वणाइ
णिरहंकारमिअंका हरंति णीलाओ वि णिसाओ।

मदमाते बादलों से युक्त आकाश, धाराओं से आन्दोलित अर्जुन वृक्षों के वन, निरहंकारमयंका (गर्व-रहित चन्द्रमा वाली) काली रातें भी मन को हरती हैं।

यहाँ मतत्व (मस्ती) तथा निरहंकारत्व आदि चेतन के धर्म-सामान्य मेघ और चन्द्रमा आदि अचेतन पर उपचार से आरोपित हैं।

३. रूपकादि अलंकार की मूलाधार उपचार-वक्रता :—

अतिगुरवो राजमाषा न भक्ष्याः। २।१४।४८

राजमाष अर्थात् उरद—राजा का अन्न—नहीं खाना चाहिए क्योंकि वह बहुत भारी—महँगा पड़ता है। यहाँ अलंकार का सौंदर्य उपचार पर आश्रित है।

इसी प्रकार रूपकादि के भी कतिपय अन्य उदाहरण दिये गये हैं।

विवेचन

इसमें सन्देह नहीं कि उपचार-वक्रता काव्य-कला का अत्यन्त मूल्यवान उपकरण है। लक्षणा का वैभव मूलतः उपचार-वक्रता में ही निहित रहता है। यूरोपीय काव्य-शास्त्र के अनेक अलंकार उपचार के ही आश्रित हैं—जैसे विशेषण-विपर्यय और मानवीकरण का चमत्कार उपचार-वक्रता के अन्तर्गत ही आता है। उपर्युक्त उदाहरणों में से तीसरे उद्धरण के सभी प्रयोग मानवीकरण के अन्तर्गत आते हैं। आधुनिक हिन्दी काव्य में—विशेषकर छायावाद काव्य में, इस प्रकार की उपचार-वक्रता का प्रचुर प्रयोग है। प्रसाद या पंत की कविता का कोई भी पद ले लीजिए, उसमें आपको उपचार-वक्रता के अनेक उदाहरण अनायास ही मिल जाएँगे :

नीरव सन्ध्या में प्रशान्त
डूबा है सारा ग्राम प्रान्त।

पत्रों के आनत अधरों पर, *सो गया* निखिल वन का मर्मर,
ज्यों वीणा के तारों में स्वर।

\+ + + +

झींगुर के स्वर का प्रखर तीर, केवल प्रशान्ति को रहा चीर
सन्ध्या प्रशान्ति को कर गंभीर।

इस महाशान्ति का उर उदार, चिर आकांक्षा की तीक्ष्ण धार,
ज्यों वेध रही हो आर-पार। (पंत)

४. *विशेषण-वक्रता*

जहाँ कारक या क्रिया के माहात्म्य या प्रभाव से वाक्य का सौंदर्य प्रस्फुटित होता है वहाँ विशेषण-वक्रता होती है।

(व० जी० २।१५)

विशेषण का अर्थ है भेदक धर्म—कहीं उसका सम्बन्ध कारक से होता है और कहीं क्रिया से। उसके प्रभाव से विशेष्य अतिशययुक्त हो जाता है। यह अतिशय दो प्रकार का होता है—एक तो स्वाभाविक सौंदर्य का प्रकाशक और दूसरा अलंकार के सौंदर्यातिशय का परिपोषक। स्पष्ट शब्दों में विशेषण दो प्रकार से अपना माहात्म्य सिद्ध करता है—एक तो विशेष्य के स्वाभाविक सौंदर्य को प्रकाशित कर, और दूसरे अलंकार के सौंदर्य को परिवृद्ध कर। अन्य भेदों की भाँति इस भेद के विषय में भी कुन्तक औचित्य पर बल देते हैं : विशेषण प्रस्तुत प्रसंग के अनुकूल होना चाहिए। वह रस, वस्तु-स्वभाव तथा अलंकार का पोषक होना चाहिए। तभी उसकी सार्थकता है। रसादि का पोषक उचित विशेषण-प्रयोग उत्तम काव्य का प्राण है—अन्यथा वह भार-रूप है।*

कुन्तक ने विशेषण-वक्रता के निम्नलिखित उदाहरण दिए हैं :

दोनों हाथों के *बीच जिसके कपोल दबे हुये हैं,* आँसुओं के बहने से (कपोलों में आभूषण रूप में चित्रित) *जिसकी पत्र-लेखा बिगड़ गई है,* और जिसकी *समस्त वृत्तियाँ कानों में आकर एकत्र हो गई हैं* ऐसी (अत्यन्त ध्यानमग्ना विरहिणी) गीत की ध्वनि को यहाँ सुन रही है।[1]

इस छन्द में तन्वी के अनेक विशेषण अपनी रमणीयता के कारण रस-परिपाक में सहायक हैं—दूसरा विशेषण अपनी चित्रात्मकता के द्वारा भाव को उद्बुद्ध करता

---

* देखिए वक्रोक्तिजीवितम् कारिका १५ की व्याख्या—

स्वमहिम्ना विधीयन्ते येन लोकोत्तरश्रियः।
रसस्वभावालंकारास्तद् विधेयं विशेषणम् ॥ (२।१५।५७)

१. *करान्तरालीन कपोलभित्तिर्बाष्पोच्छलतकूणितपत्रलेखा ।*
श्रोत्रान्तरे पिंडितचित्तवृत्तिः शृणोति गीतध्वनिमत्र तन्वी ॥

हुआ, और तीसरा प्रत्यक्ष रूप से भावाभिव्यंजना करता हुआ रस-परिपाक में योग देता है।

क्रिया-विशेषण

गजपति *आँखें बन्द कर* अपने नव-जीवन के वन-महोत्सवों का स्मरण करने लगा जब वह स्वच्छन्द होकर वन-विहार किया करता था।

यहाँ 'निमीलिताक्षः'—अर्थात् 'आँखें बन्द कर' पद 'सस्मार अर्थात् स्मरण करने लगा' क्रिया का विशेषण है। यह विशेषण उस गजराज की असहायावस्था के प्रति करुणा का उद्बोधन करने के कारण निश्चय ही सरस है।[1]

अलंकार के सौंदर्यातिशय का पोषक

हे देवि देखो, *चन्द्रमा की शोभा को तिरस्कृत करने वाले* तुम्हारे मुख के द्वारा पराजित कमल कान्तिहीन हो रहे हैं।[2]

यहाँ 'चन्द्रमा की शोभा को तिरस्कृत करने वाले' इस विशेषण के द्वारा प्रतीयमान उत्प्रेक्षा अलंकार की सौंदर्य-वृद्धि हो रही है।

विवेचन

काव्य में विशेषण-वक्रता का माहात्म्य असंदिग्ध है। विशेषण निश्चय ही काव्य का एक उपयोगी उपकरण है। सचित्र अथवा चित्रात्मक विशेषण वर्ण्य वस्तु के स्वभाव का चित्र प्रस्तुत करने में सहायक होता है, भावमय विशेषण भाव को उद्बुद्ध करने में योग देता है, और विचार-प्रधान तर्कमय विशेषण विचार तथा चिंतन को जगाता है। इसके अतिरिक्त विशेषण का एक प्रमुख गुण है उसकी संक्षिप्तता, उसके द्वारा काव्य में समास-गुण का समावेश होता है जो अपने आप में एक बड़ी सिद्धि है। जो बात अन्यथा एक वाक्य में कही जाएगी उसे समर्थ कवि एक विशेषण के द्वारा अभिव्यक्त कर देता है। यों तो, यह प्रयोग ही अपने आप में वक्रतायुक्त है,

---

१. सस्मार वारणपतिर्विनिमीलिताक्षः।
स्वेच्छाविहारवनवासमहोत्सवानाम्।

२. देवि त्वन्मुखपंकजेन शशिनः *शोभातिरस्कारिणा*।
पश्याब्जानि विनिर्जितानि सहसा गच्छन्ति विच्छायताम्॥

और फिर यदि विशेषण भी सरस अथवा सचित्र हो तो उक्ति का सौंदर्य द्विगुणित हो जाता है। संस्कृत के कवियों की समस्त शैली में इस प्रकार के विशेषण मणियों की तरह जड़े हुए मिलते हैं। हिन्दी की विश्लेषात्मक प्रकृति समास के अनुकूल नहीं पड़ती, अतएव व्रज तथा अवधी के काव्य में और बाद में खड़ी बोली की कविता में भी विशेषण-वक्रता का उतना प्रचुर प्रयोग नहीं मिलता जितना संस्कृत काव्य में। तुलसी और बिहारी आदि को विशेषण-वक्रता के लिए संस्कृत की समस्त पदावली की ही शरण लेनी पड़ी है। नवीन काव्य में अभिव्यंजना के वर्धमान महत्व के कारण विशेषण-वक्रता का पुनरुत्थान हुआ और छायावादी शैली कालिदास आदि संस्कृत कवियों तथा यूरोप के रोमानी कवियों की लक्षणा-जन्य समृद्धि से प्रेरणा लेकर चित्रमय, सरस तथा विचार-गर्भित विशेषणों से जगमगाने लगी। प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी, दिनकर आदि का काव्य इस प्रकार के विशेषणों के वैभव से देदीप्यमान है।

चित्रमय विशेषण :—

सशंकित ज्योत्स्ना-सी चुपचाप
जड़ित-पद, नमित-पलक-दृग-पात,
पास जब आ न सकोगी प्राण,
मधुरता-में-सी भरी अजान। (पंत)

तारक-चिह्न-दुकूलिनी पी पी कर मधु मात्र।
उलट गई श्यामा यहाँ रिक्त सुधाधर पात्र॥ (मै० श० गुप्त)

भावमय विशेषण :—खिच गये सामने सीता के *राममय* नयन। (निराला)

भेंट है तुमको सखे ये *अश्रु-गीले* गीत।

यह *स्वप्न-मुग्ध* कौमार्य तुम्हारा चिर-सलज्ज।

विचार-गर्भित विशेषण :—*तुम पूर्ण इकाई जीवन की*
जिसमें असार भव-सिन्धु लीन। (बापू के प्रति : पंत)

निर्वाणोन्मुख आदर्शों के अंतिम दीप-शिखोदय।
(महात्मा जी के प्रति : पंत)

(गांधी जी के लिए प्रयुक्त ये विशेषण अपने गर्भ में एक मार्मिक विचार अथवा विचारधारा धारण किये हुए हैं।)

उपचार-वक्रता के संयोग से इस प्रकार के विशेषणों का महत्व और भी बढ़ जाता है : वास्तव में छायावादी कविता में इस दुहरी वक्रता का अत्यंत प्राचुर्य है। आधुनिक काव्य-शास्त्र में पर्याय-वक्रता और विशेषण-वक्रता के बीच स्पष्ट विभाजक रेखा खींचना कठिन है। कुन्तक-कृत भेद भी बहुत कुछ व्याकरण पर आश्रित हैं— पर्याय संज्ञा शब्द है विशेषण भेदक धर्म। परन्तु वास्तव में यह कोई मौलिक भेद नहीं है, अनेक पर्याय शब्द ऐसे हैं जो विशेषण के ही समानधर्मी हैं— कम से कम अपने मूल रूप में वे विशेषण ही रहे होंगे, पीछे चल कर व्यक्ति अथवा वस्तु विशेष के लिए रूढ़ हो गये। पर्याय-वक्रता के प्रसंग में उद्धृत 'वज्री' और 'शूली' शब्द इसी प्रकार के हैं। अतएव कहीं-कहीं वक्रता के इन दोनों भेदों की सीमाएँ मिल सकती हैं। वैसे कुन्तक ने उनको अपनी ओर से पृथक् रखने का ही प्रयत्न किया है।

५. *संवृति-वक्रता*

जहाँ वैचित्र्य-कथन की इच्छा से किन्हीं सर्वनाम आदि के द्वारा वस्तु का संवरण (गोपन) किया जाता है वहाँ संवृति-वक्रता होती है।

(हिन्दी व० जी० २।१६)

कुन्तक ने अभिव्यंजना के इस प्रकार-विशेष का अत्यन्त मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। उनका मत है कि अनेक स्थितियों में—अथवा अनेक कारणों से स्पष्ट कथन की अपेक्षा सांकेतिक सर्वनाम आदि के द्वारा उक्ति में कहीं अधिक चारुता आ जाती है। ऐसी परिस्थितियाँ अनेक हो सकती हैं : कुन्तक ने केवल उपलक्षण रूप में छह-सात का निर्देश किया है।

१. कोई अत्यन्त सुन्दर वस्तु है, उसका वर्णन सम्भव होने पर भी मर्मज्ञ कवि साक्षात् कथन नहीं करता क्योंकि साक्षात् कथन से उसका सौंदर्य परिमित हो जाएगा। ऐसी स्थिति में सर्वनाम आदि द्वारा उसकी संवृति ही श्रेयस्कर है।

उदाहरण—पिता के (योजनगन्धा सत्यवती) के साथ विवाह करने के लिए उत्सुक होने पर उस नवयुवक ने करणीय कर्तव्य कर लिया (आजीवन ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा कर ली), और तब पुष्प-चाप की नोक पर कपोल रखे हुए (चिन्ता-मग्न) कामदेव का कुछ अपूर्व रूप से ध्यान किया।

यहाँ सदाचार-परायण होने से पितृ-भक्ति से परिपूर्ण हृदय और लोकोत्तर उदारता गुण के योग से विविध विषयों से विरक्त-चित्त भीष्म ने, असम्भव होने पर भी, अपनी इन्द्रियों का निग्रह कर लिया—यह बात कहने में शक्य होने पर भी सामान्य-

याचक 'किमपि'—(कुछ—अपूर्व—रूप से) सर्वनाम से आच्छादित होकर, उत्तरार्ध में (मन्मथ के ध्यान रूप) अन्य कार्य का कथन करने वाले वाक्य से प्रतीत कराये जाने पर, कुछ अपूर्व चमत्कारिता को प्राप्त हो रही है।

अर्थात् भीष्म के अद्‌भुत इन्द्रिय-निग्रह की प्रशंसा शब्दों द्वारा असम्भव नहीं थी फिर भी कवि ने सर्वनाम के द्वारा एक अपूर्व चमत्कार उत्पन्न कर दिया है जो साक्षात् कथन में सम्भव नहीं था।

२. कहीं-कहीं अपने स्वभाव-सौंदर्य की चरम सीमा पर आरूढ़ होने के कारण अतिशययुक्त (प्रतिपाद्य) वस्तु का वर्णन शब्दों द्वारा असम्भव है, यह दिखाने के लिए उसे सर्वनाम आदि से आच्छादित कर दिया जाता है। स्पष्ट शब्दों में इसका अभिप्राय यह है कि किसी-किसी वस्तु का सौंदर्यातिशय अनिर्वचनीय होता है, उसे शब्दों में बाँधने का प्रयत्न व्यर्थ होता है : अतएव कुशल कवि सर्वनाम आदि से उसको संवृत कर उसकी अनिर्वचनीयता की व्यंजना कर देता है।

उदाहरण :—हे कृष्ण ! रुद्ध कण्ठ और गद्‌गद वाणी से विशाखा *ऐसी* रोई कि जन्म-जन्मान्तर में भी कभी कोई किसी को प्यार न करे।

यहाँ अनिर्वचनीय आतिशय को 'ऐसी' शब्द के द्वारा संवृत कर व्यक्त किया गया है।

३. कभी-कभी अत्यन्त सुकुमार वस्तु अपने कार्य के अतिशय के कथन के बिना ही संवृति (आच्छादन) मात्र से रमणीय होकर चरम सीमा को पहुँच जाती है।

उदाहरण :—दर्पण में (अपने मुख आदि पर अंकित) सम्भोग-चिह्नों को देखती हुई पार्वती ने पीछे की ओर बैठे हुए प्रियतम (शिवजी) के प्रतिबिम्ब को दर्पण में अपने प्रतिबिम्ब के समीप देखकर लज्जा से *क्या-क्या* चेष्टाएँ नहीं कीं! (कुमारसम्भव ८।११)।

उपर्युक्त छन्द में पार्वती की चेष्टाएँ इतनी सुकुमार हैं कि वर्णन द्वारा उनका सौकुमार्य नष्ट हो जाता। इस कला-मर्म को समझ कर कालिदास ने उनका वर्णन करने का असफल प्रयत्न नहीं किया, वरन् 'क्या-क्या' सर्वनाम द्वारा संवृत कर उन्हें और भी रमणीय रूप में प्रस्तुत कर दिया है।

बिहारी की उक्ति "वह चितवन ग्रौरं कछू जेहि बस होत सुजान" भी इसी वक्रता से विभूषित है।

४. कोई वस्तु केवल अनुभव-गम्य ही होती है, वाणी से उसका कथन नहीं हो सकता : वहाँ भी संवरण की कला अपना चमत्कार दिखाती है।

'प्रियतमा के वे शब्द आज भी हृदय में कुछ अपूर्व प्रतिध्वनि कर रहे हैं।'

अथवा

हिन्दी—"मन में कछु पीर नई उमही है।"

५. कहीं-कहीं इस बात का प्रतिपादन करने के लिए कि अन्य की अनुभव-संवेद्य वस्तु का वर्णन करना सम्भव नहीं है, संवरण क्रिया का प्रयोग किया जाता है।

६. संवृति-वक्रता का एक रूप वह भी है जिसमें कोई वस्तु स्वभाव से अथवा कवि की विवक्षा (वर्णन करने की इच्छा) से किसी दोष या त्रुटि से युक्त होकर महा-पातक के समान कहने योग्य नहीं होती।

उदाहरण : यदि सेनापति ने तीक्ष्ण बाण से उसको तुरन्त न मार दिया होता तो इस वाराह ने तुम्हारा जो हाल किया होता वह कहने योग्य नहीं है।

अथवा

हिन्दी—"धिक् धिक् ऐसे प्रेम को *कहा कहहुँ* मैं नाथ।"

अर्थात् कहीं-कहीं अशुभ बात का संवरण काव्य के लिए सुन्दर हो जाता है—उससे पारुष्य (अमंगल और अप्रिय) का निवारण होता है।

७. कभी-कभी कवि की विवक्षा से भी किसी वस्तु के हीनता को प्राप्त होने की आशंका रहती है, अतएव ऐसी परिस्थिति में भी संवृति के द्वारा काव्य-सौंदर्य की रक्षा होती है :

हे प्रियतमे (वासवदत्ते!) मिथ्या एकपत्नीव्रत को धारण करने वाला मैं (उदयन, आज पद्मावती के साथ विवाह करने का निश्चय कर) न जाने *कैसा कुछ भी* करने को उद्यत हो गया हूँ।

यह वक्रता गोपन-कला के चमत्कार पर आश्रित है। इसका मूलवर्ती सिद्धान्त है : कला का उत्कर्ष कला की संवृति में है। अनेक बार कथन की अपेक्षा संकेत का

प्रभाव अधिक होता है। व्यंजना का आविष्कार ही इस सिद्धान्त के आधार पर किया गया है।

६. वृत्ति-वक्रता

वृत्ति से अभिप्राय यहाँ कोमला, परुषा आदि वर्ण-योजनाओं से न होकर, वैयाकरणों में प्रसिद्ध समास, तद्धित, सुब्धातु आदि वृत्तियों से है। इन पर आश्रित चमत्कार वृत्ति-वक्रता के अन्तर्गत आता है। इन वृत्तियों में मुख्य है अव्ययीभाव समास, जो प्रायः इस प्रकार के चमत्कार का आधार होता है। कुन्तक के शब्दों में—

जिसमें अव्ययीभाव आदि (समास, तद्धित, कृत् आदि) वृत्तियों का सौंदर्य प्रकाशित होता है उसको वृत्तिवैचित्र्य-वक्रता समझना चाहिए। (हिन्दी व० जी० २।१६)

कुन्तक ने इस प्रसंग में दो-तीन उदाहरण दिये हैं :

१. अधिमधु,   २. पांडिमा,   ३. एकातपत्रायते।

अधिमधु—में अव्ययीभाव समास है : 'मधुऋतु में' कहने के स्थान पर अधिमधु कह कर चमत्कार उत्पन्न किया गया है। अनेक अव्ययीभाव समासों के मूल में प्रायः यही सौंदर्य रहता है।

पांडिमा—पांडुत्व, पांडुता और पांडुभाव आदि शब्दों के रहते हुए भी पांडिमा का प्रयोग वृत्ति-वक्रता का चमत्कार है। पांडु शब्द में इमनिच् प्रत्यय करके बना हुआ तद्धितान्त पांडिमा शब्द उपर्युक्त पर्यायों की अपेक्षा अधिक कोमलता-विशिष्ट है : इसलिए उसके प्रयोग में अधिक चमत्कार है।

एकातपत्रायते—सुबन्त एकातपत्रं (एकछत्र) शब्द को धातु बना कर उसके द्वारा निर्मित एकातपत्रायते (एकछत्र राज्य है) शब्द में सुब्धातु (हिन्दी—नामधातु) की वृत्ति से चमत्कार उत्पन्न हो गया है।

यह शब्द-निर्माण हिन्दी की, विशेषकर खड़ी बोली की, प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं पड़ता। हिन्दी के शब्द-भाण्डार में नामधातुओं की संख्या अधिक नहीं है : झुठलाना लजाना, गर्माना आदि शब्द इसी वर्ग के हैं परन्तु इनमें 'एकातपत्रायते' का चमत्कार ढूंढना व्यर्थ है। खड़ी बोली में इस प्रकार के शब्द 'करण' लगा कर बनाये जा रहे हैं : भारतीयकरण, विकेन्द्रीकरण, मूर्तीकरण, नाटकीकरण आदि, परन्तु उनका वर्ग सर्वथा

भिन्न हो जाता है। जनपद भाषाओं की प्रवृत्ति इसके अधिक अनुकूल है: उनमें मटियाना आदि व्यंजक शब्द सरलता से बन जाते हैं।

इनके अतिरिक्त समास-जन्य और भी चमत्कार इसके अन्तर्गत आते हैं।

परन्तु समास-वक्रता का रूप वास्तव में क्या है ? इस प्रश्न के दो उत्तर हमारे मन में आते हैं। समास-वक्रता से अभिप्राय एक तो चमत्कारपूर्ण समस्त शब्दों का हो सकता है। प्रत्येक मर्मज्ञ कवि कतिपय पृथक् शब्दों के समास से ऐसे नवीन शब्दों का निर्माण कर लेता है जिनका वैचित्र्य अपूर्व होता है: उदाहरण के लिए पंत का निम्न-लिखित समस्त पद लीजिए:

तुमने यह *कुसुम-विहग !* लिबास
क्या अपने सुख से स्वयं बुना ?

इनमें कुसुम और विहग दो पृथक् शब्दों के योग से तितली के एक नवीन पर्याय का निर्माण किया गया है जिसका सौंदर्य वास्तव में अपूर्व है। परन्तु यह कदाचित् कुन्तक की पर्याय-वक्रता का ही उपचार-जन्य रूप है: जिसमें पर्याय और उपचार दोनों की वक्रता का चमत्कार है।

समास-वक्रता से दूसरा अभिप्राय उस सौंदर्य का हो सकता है जो समास की पद-रचना पर आश्रित रहता है, जिसके अनेक भेदों का विवेचन वामन ने अपने श्लेष, औदार्य्य आदि शब्द-गुणों के अंतर्गत किया है। यहाँ चमत्कार मूलतः समास-रचना पर ही आधृत है—अर्थ से उसका विशेष सम्बन्ध नहीं है। उदाहरण के लिए निराला की 'राम की शक्ति-पूजा' नामक प्रसिद्ध रचना की आरम्भिक पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं:

आज का तीक्ष्ण-शर-विधृत-क्षिप्र कर, वेग-प्रखर,
शतशेलसंवरणशील, नीलनभ-गर्जित-स्वर,
प्रतिपल-परिवर्तित-व्यूह—भेद-कौशल-समूह,
राक्षस-विरुद्ध प्रत्यूह, क्रुद्ध-कपि-विषम-हूह,
विच्छुरितवह्नि-राजीवनयन-हृत-लक्ष्य-बाण
लोहितलोचन-रावण-मद-मोचन-महीयान।

\+ \+ \+ \+

यहाँ समस्त पद-रचना के द्वारा युद्ध का वातावरण उत्पन्न करने का सफल प्रयत्न किया गया है।

हमारा अनुमान है कि अन्य प्रकार की समास-वक्रता से कुन्तक का अभिप्राय ऐसे ही रचना-चमत्कार से है।

७. *लिंगवैचित्र्य-वक्रता*

जहाँ सौंदर्य लिंग-प्रयोग पर आश्रित रहता है, वहाँ लिंगवैचित्र्य-वक्रता होती है, अथवा लिंग का चमत्कारपूर्ण प्रयोग जहाँ सौंदर्य की सृष्टि करता है, वहाँ कुन्तक के अनुसार लिंगवैचित्र्य-वक्रता रहती है। इस वक्रता के कई रूप हैं।

१. विभिन्न लिंगों का समानाधिकरण्य :—कहीं-कहीं विभिन्न लिंग के शब्दों का समानाधिकरण-रूप से प्रयोग कर प्रतिभावान कवि अपनी उक्ति में एक अपूर्व विच्छित्ति उत्पन्न कर देता है। (२।२१)।

उदाहरण—तेनैषा मम फुल्लपंकजवनं जाता दृशां विंशतिः अर्थात् इस कारण से मेरे नेत्रों की *विंशति* (मेरे बीस नेत्र) फुल्लपंकजवन (के समान) हो गयी है। यहाँ विंशति स्त्रीलिंग है और पंकजवनं संस्कृत व्याकरण के अनुसार नपुंसक लिंग है। इन दोनों का समानाधिकरण चमत्कार का विधायक है।

हृदय की सौंदर्य-*प्रतिमा !* कौन तुम छवि-*धाम ?*

यह भी लिंग-वक्रता का चमत्कार है, प्रतिमा स्त्रीलिंग है और धाम पुंलिंग।

सामान्यतः इस प्रकार का समानाधिकरण्य विशेष गुण नहीं कहा जा सकता है, उपमान और उपमेय का समान लिंग होना ही अधिक उचित है। कहीं-कहीं वैषम्य अथवा विरोधाभास के आधार पर उसमें चमत्कार उत्पन्न हो सकता है, परन्तु नियमित रूप से इस प्रकार के प्रयोगों में चमत्कार नहीं माना जा सकता।

२. स्त्रीलिंग का प्रयोग :—जहाँ अन्य लिंग सम्भव होने पर भी, स्त्री नाम ही सुन्दर है, इसलिए (ऐसा मान कर) शोभातिरेक के सम्पादन के लिए स्त्रीलिंग का प्रयोग किया जाता है, वहाँ भी लिंगवैचित्र्य-वक्रता होती है। (२।२२) :

उदाहरण के लिए तट आदि ऐसे अनेक शब्द हैं जिनके संस्कृत में पुंलिंग तटः, नपुंसक लिंग तटम् और स्त्रीलिंग तटी तीनों ही रूप मिलते हैं, परन्तु कवि पेशलता की व्यंजना करने के लिए स्त्रीलिंग तटी आदि का ही प्रयोग करता है। हिन्दी में पंत जी को इस प्रकार के प्रयोग अत्यंत प्रिय हैं—उन्होंने अनेक स्त्रीलिंग रूप स्वयं ही बना लिए हैं। छायावाद की एक मुख्य प्रवृत्ति—प्रकृति पर नारी-भाव का आरोप—मूलतः इसी धारणा पर आधृत है।

३. विशिष्ट लिंग का प्रयोग :—जहाँ अन्य लिंगों के सम्भव होने पर भी विशेष शोभा के लिए, अर्थ के औचित्य के अनुसार, किसी विशेष लिंग का प्रयोग किया जाता है वहाँ भी एक प्रकार की लिंगवैचित्र्य-वक्रता होती है। (२।२३)।

इसके उदाहरण-रूप में कुन्तक ने रघुवंश के त्रयोदश सर्ग से दो श्लोक सं० २४ और २५ उद्धृत किये हैं। इनमें लताओं तथा मृगियों द्वारा विरही राम के साथ सहानुभूति-प्रदर्शन का उल्लेख है। कुन्तक की टिप्पणी है कि कवि यहाँ वृक्षों और मृगों की भी चर्चा कर सकता था किन्तु फिर भी उसने लताओं और मृगियों का ही उल्लेख किया है क्यों कि सीता से विप्रयुक्त राम के साथ लताओं तथा मृगियों की ही नारी-सुलभ सहानुभूति अधिक स्वाभाविक थी।

हिन्दी में भी इस प्रकार के राशि-राशि उदाहरण मिलेंगे—

(१) प्रथम रश्मि का आना रंगिणि !
तूने कैसे पहचाना ?
कहाँ कहाँ हे बाल-विहंगिनि !
सीखा तूने वह गाना !

(२) सिखा दो ना हे मधुप-कुमारि !
मुझे भी अपने मीठे गान। (पंत—वीणा)

यहाँ 'बाल-विहंग' और 'मधुप-कुमार' भी उपर्युक्त कर्तव्यों का निर्वाह कर सकते थे, किन्तु भावना की पेशलता के आग्रह से स्त्रीलिंग का प्रयोग किया गया है।

विभिन्न लिंगों के पर्याय शब्दों के मूल में प्रायः इसी प्रकार की नारीत्व और पौरुष-व्यंजक कल्पना निहित रहती है—हिन्दी में वायु और पवन में इसी आधार पर अन्तर किया जाता है। वास्तव में हिन्दी भाषा में अचेतन पदार्थों की लिंग-कल्पना का आधार ही यह भावना है।

अब तक सुबन्त पदों के प्रातिपदिक-रूप पूर्वार्ध पर आश्रित वक्रता का विवेचन किया गया है। अब सुबन्त तथा तिङन्त दोनों प्रकार के पदों के धातु-रूप पूर्वार्ध की वक्रता का वर्णन करते हैं।

८. *क्रियावैचित्र्य-वक्रता*

धातु-रूप पदपूर्वार्ध पर आश्रित वैचित्र्य क्रिया-वक्रता के अन्तर्गत आता है। इसके पाँच रूप हैं :

१. क्रिया का कर्ता के अत्यन्त अंतरंगभूत होना—जहाँ क्रिया कर्ता की अत्यन्त अंतरंग हो अर्थात् उससे अत्यन्त अभिन्न हो :—

क्रीडारसेन रहसि स्मितपूर्वमिन्दो-
र्लेखां विकृष्य विनिवध्य च मूर्ध्नि गौर्या।
किं शोभिताऽहमनयेति शशाङ्कमौलेः
पृष्टस्य पातु परिचुम्बनमुत्तरं वः।

परिहास में गौरी चन्द्रलेखा को खींच अपने मस्तक पर बांध कर शिव से पूछने लगीं कि क्या मैं इसे धारण कर सुन्दर लगती हूँ ? इस प्रश्न पर शिव का चुम्बन रूप उत्तर हमारी रक्षा करे।

यहाँ चुम्बन-रूप क्रिया उत्तर-रूप कर्ता का अभिन्न अंग है। इस पर कुन्तक की टिप्पणी है कि पार्वती के उस लोकोत्तर सौंदर्य का शिवजी के द्वारा कथन चुम्बन के अतिरिक्त और किसी प्रकार सम्भव नहीं था। (हिन्दी व० जी० २।२४ वीं कारिका की वृत्ति)

अथवा

पार्वती-चुम्बित रुद्र का तृतीय नेत्र सर्वोत्कर्षयुक्त है। यहाँ 'चुम्बन' क्रिया 'नेत्र' कर्ता का अभिन्न अंग है। इसके द्वारा उसके सौंदर्य की श्रीवृद्धि होती है।

२. कर्ता की अन्य कर्ताओं से विचित्रता : जहाँ क्रिया द्वारा किसी कर्ता की विचित्रता का प्रतिपादन हो।

शिवजी की वह *शराग्नि* तुम्हारे दुःखों को दूर करे।

शराग्नि का कार्य दुःख देना है—यहाँ वह दुःखों को दूर करती है। यह क्रिया द्वारा कर्ता की वैचित्र्य-सिद्धि है।

भगवान नृसिंह के 'प्रपन्नार्तिच्छिद्' (अर्थात् दुखियों के दुःख को दूर करने वाले) नख तुम्हारी रक्षा करें।

यहाँ नखों की छेदन-रूप क्रिया उन्हें वैचित्र्य प्रदान करती है—क्यों कि वे ही अन्त में जाकर रक्षा करते हैं।

३. क्रिया के विशेषण का वैचित्र्य—कहीं-कहीं चमत्कार क्रिया के अपने विशेषण के वैचित्र्य पर आश्रित होता है। यह क्रिया-विशेषण क्रिया तथा कारक

दोनों के सौंदर्य को बढ़ाता है। (क्रिया-विशेषण होने से क्रिया का सौंदर्य तो वह स्वभावतः बढ़ाता ही है, परन्तु विचित्र क्रिया का करना ही कारक का भी वैचित्र्य है, इसलिए कारक का सौंदर्य भी उसके द्वारा परिवृद्ध होता है)।

"+ + + हड़बड़ी के कारण अपने उल्टे वेश-विन्यास से सखीजन को हँसाते हुए उन तरुणियों ने आभूषण धारण करना आरम्भ किया।" यहाँ उलटे वेश-विन्यास से सखीजन को हँसाते हुए—यह क्रिया-विशेषण चमत्कार का आधार है।

घुमा रहे हैं *घनाकार* जगती का अम्बर।

यहाँ 'घनाकार' 'घुमा रहे हैं' क्रिया का विशेषण है जो भीषण दृश्य की उद्भावना कर उसमें एक अपूर्व चमत्कार उत्पन्न कर देता है।

कालाकाँकर का राजभवन, सोया जल में *निश्चिन्त प्रमन*

पलकों में वैभव-स्वप्न सघन।

यहाँ निश्चिन्त और प्रमन तो 'सोया (है)' क्रिया के विशेषण हैं ही, अर्थ की दृष्टि से 'पलकों में वैभव-स्वप्न सघन' भी उसी का विशेषण है। हिन्दी व्याकरण में इस प्रकार के समस्त क्रिया-विशेषण पदों के लिए अवकाश अधिक नहीं है—अतएव इस प्रकार के प्रयोग कम ही मिलते हैं। वैसे अर्थ की दृष्टि से इनका भी प्रयोजन क्रिया की सौंदर्य-वृद्धि ही होता है।

४. उपचार-मनोज्ञता:—उपचार का अर्थ है सादृश्य आदि सम्बन्ध के आधार पर अन्य धर्म का आरोप करना। अनेक रूपों में उपचार के कारण भी क्रिया में मनोज्ञता उत्पन्न हो जाती है।

उदाहरण के लिए: इसके अंग मानो छलकते हुए स्वच्छ लावण्य के सागर में *तैर रहे हैं*। स्तन और नितम्ब विस्तार की प्रौढ़ता को *खोल रहे हैं* और आँखों के चंचल व्यापार स्पष्ट रूप से (बाल्योचित) सरलता का *अपवाद कर रहे हैं*। अहो, इस मृगनयनी का अब तारुण्य के साथ घनिष्ठ परिचय हो गया है।

यहाँ अंगों का तैरना, स्तनादि का उन्मुद्रण व्यापार, और नेत्रों द्वारा सरलता का अपवाद आदि क्रियाओं में उपचार का चमत्कार है।

१. उन्नत वक्षों में आलिंगन-सुख लहरों-सा *तिरता*।

२. परि है मनो रूप अबै धरि च्वै।

३. आनन ते छलकी परें आँखें।

४. रूप के सरोवर में तैर रहे ये अंग।

कर्मादि-संवृति :—यहाँ क्रिया के कर्म आदि के संवरण द्वारा चमत्कार की सृष्टि की जाती है :

आयतनयना सुन्दरी के रागालस मन में प्रेम की शोभा नेत्रों के भीतर 'कुछ' मधुरता अर्पित कर रही है, कानों के पास 'कुछ' अपूर्व कथन कर रही है, हृदय में मानों 'कुछ' लिख रही है।

इन सभी क्रियाओं के कर्मों का कथन सम्भव था परन्तु कवि ने 'कुछ' सर्वनाम द्वारा उनका आच्छादन कर एक अपूर्व चमत्कार उत्पन्न कर दिया है।

पदपूर्वार्ध-वक्रता के ये ही मुख्य आठ प्रकार हैं। इनके अतिरिक्त कुन्तक ने दो और रूपों का भी इसी वर्ग के अन्तर्गत वर्णन किया है—१. प्रत्यय-वक्रता, २. भाव-वक्रता। शतृ आदि कुछ प्रत्यय पद के पूर्वार्ध में वर्तमान रहते हैं अतएव इन प्रत्ययों पर आश्रित प्रत्यय-चमत्कार पदपूर्वार्ध-वक्रता का ही अंग है। इसी तरह साध्य-रूप क्रिया का सिद्ध-रूप में अर्थात् तिङन्त का सुबन्त रूप में प्रयोग भी अपने आप में कहीं-कहीं अत्यन्त चमत्कारपूर्ण होता है: इसे ही कुन्तक ने भाव-वक्रता का नाम दिया है। यह भी पदपूर्वार्ध का ही अंग है। वैसे, सामान्य रूप में प्रत्यय-वक्रता तथा भाव-वक्रता मुख्यतया पदपरार्ध-वक्रता के ही अन्तर्गत आती हैं। अतः इनका विवेचन आगे के प्रसंग में किया जाएगा।

अनन्त भेद :—इस प्रकार पदपूर्वार्ध-वक्रता सिद्ध हुई, यहाँ केवल उसका दिङ्मात्र प्रदर्शन किया गया है। शेष विस्तार लक्ष्य काव्यों में पाया जाता है।

पदपरार्ध-वक्रता

पदपूर्वार्ध के अन्तर्गत पदों के पूर्वार्ध अर्थात् प्रातिपदिक और धातु का विचार किया गया। पदपरार्ध के अन्तर्गत पदों के उत्तरार्ध का विचार किया जाएगा। यह सामान्यतः प्रत्यय रूप होता है, अतएव पदपरार्ध-वक्रता को प्रत्यय-वक्रता भी कहते हैं।

कुन्तक ने पदपरार्ध-वक्रता के छह मुख्य भेदों का वर्णन किया है।

१. *कालवैचित्र्य-वक्रता*

पदपूर्वार्ध-वक्रता का प्रसंग क्रिया-वक्रता के साथ समाप्त हुआ था, अतएव उसी क्रम-शृंखला में क्रिया से सम्बद्ध काल की वक्रता का वर्णन आरम्भ में करते हैं।

जहाँ औचित्य के अनुरूप काल रमणीयता को प्राप्त हो जाता है, वहाँ काल-वैचित्र्य-वक्रता होती है। (२।२६)। अर्थात् जिसमें चमत्कार काल-विशेष के प्रयोग पर आश्रित रहता है, उसे कालवैचित्र्य-वक्रता कहते हैं। परन्तु इसमें औचित्य का प्रतिबन्ध है, काल का यह वक्र प्रयोग प्रसंग एवं परिस्थिति के अनुकूल तथा सार्थक होना चाहिए। अन्यथा वह व्याकरण की त्रुटि मात्र होकर रह जाएगा।

उदाहरण :—'समविषम के भेद से रहित, मन्द मन्द संचरण-योग्य (अर्थात् जिन पर धीरे-धीरे सावधानी के साथ ही चलना सम्भव है) मार्ग शीघ्र ही मनोरथों के लिए भी दुर्लंघ्य *हो जाएँगे*'। यह किसी विरही की कातर उक्ति है : यहाँ हो जायेंगे,—यह भविष्यत्कालिक क्रियापद चमत्कार का आधार है। अभी वर्षा समय की उत्प्रेक्षा—कल्पना मात्र से ही इतना भय है, तो उसके वर्तमान होने पर अर्थात् वास्तव में उपस्थित हो जाने पर क्या होगा ? वैचित्र्य का मूल कारण यह अर्थ-व्यंजना है, जो निश्चय ही काल पर आश्रित है। अतएव यह कालवैचित्र्य-वक्रता का उदाहरण हुआ।

हिन्दी उदाहरण—बौरन चूमि कोएलिया घूमि करेजन की किरचें करि देंहैं।

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के 'ऐतिहासिक वर्तमान' आदि प्रयोगों में भी यही काल-वक्रता रहती है। 'ऐतिहासिक वर्तमान' में भूत-कालिक घटना का वर्तमान-कालिक क्रियाओं द्वारा वर्णन कर सजीवता उत्पन्न की जाती है।

बिहारी के निम्नलिखित दोहे में भी एक प्रकार की कालवैचित्र्य-वक्रता है।

नासा मोरि नचाय दृग करी कका की सौंह।
काँटे सी कसकति हियें गड़ी कँटीली भौंह॥

नायिका ने ये चेष्टाएँ भूत-काल में की थीं—भौंह न जाने कब गड़ी थी, पर वह आज भी कसक रही है। यहाँ 'कसकति' क्रिया का वर्तमान काल चमत्कार का आधार है।

२. *कारक-वक्रता*

इस वैचित्र्य का आधार है कारक-प्रयोग। सामान्य कारक का मुख्य रूप से और मुख्य का सामान्य रूप से कथन कर, तथा कारकों का विपर्यय कर अर्थात्

कर्ता को कर्म या कारण का रूप, और कर्म या करण को कर्ता का रूप देकर प्रतिभावान कवि अपनी उक्ति में एक अपूर्व चमत्कार उत्पन्न कर देता है। यही कारकवैचित्र्य-वक्रता है। (२,२७-२८)।

उदाहरण :

पाणि सम्प्रति ते हठात् किमपरं स्प्रष्टुं धनुर्धावति।

राम क्रुद्ध होकर समुद्र से कहते हैं कि तेरी धृष्टता से मेरा हाथ अब विवश होकर धनुष को पकड़ने के लिए बढ़ रहा है।

यहाँ हाथ वास्तव में करण कारक होना चाहिए, किन्तु कवि ने उसका कर्ता रूप में प्रयोग किया है।

देखिए—हर धनुर्भंग को पुनर्वार ज्यों *उठा हस्त।* (निराला)

झींगुर के स्वर का प्रखर *तीर*, केवल प्रशान्ति को रहा चीर। (पंत)

३. संख्या-वक्रता या वचन-वक्रता

काव्य में वैचित्र्य उत्पन्न करने के लिए जहाँ कविजन इच्छापूर्वक संख्या अर्थात् वचन का विपर्यास कर देते हैं, वहाँ कुन्तक के मत से संख्या-वक्रता होती है। (२।२६)।

मर्मज्ञ कवि वास्तव में अपने काव्य के छोटे से छोटे अवयव को सार्थक बना देता है। दुष्यन्त की इस प्रसिद्ध उक्ति में वचन का ही चमत्कार है :—

वयं तत्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती।

अर्थात

हम पूछत जातिहि पाँति मरे, धनि रे धनि भौर कहावत तू।

यहाँ राजा को सामान्यतः अपने लिए एक वचन अहं या मैं का प्रयोग करना चाहिए था किन्तु आत्म-निन्दा या विरक्ति की व्यंजना के लिए वह बहुवचन वयं या हम का प्रयोग करता है। कहीं-कहीं भिन्न वचनान्त शब्दों के समानाधिकरण्य में भी विचित्र चमत्कार होता है। इस प्रसंग में कुन्तक ने यह उदाहरण दिया है : 'शास्त्राणि चक्षुर्नवम्'—अर्थात् शास्त्र उसका नवीन नेत्र हैं। इसमें शास्त्र बहुवचनान्त हैं और नेत्र एकवचन है। इसी प्रकार :—हैं *ये ऊजड़ ग्राम देश का हृदय चिरंतन*— यहाँ भी वही चमत्कार है।

४. *पुरुष-वक्रता*

जहाँ सौंदर्य के लिए उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष का विपरीत रूप से प्रयोग होता है, वहाँ कुन्तक के अनुसार पुरुष-वक्रता समझनी चाहिए। २।३०। विपरीत रूप से प्रयोग का अर्थ यह है कि उत्तम और मध्यम पुरुषों के स्थान पर अन्य पुरुष का प्रयोग काव्य-शोभा के निमित्त किया जाता है। इसका तात्पर्य वास्तव में यह है कि उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष दोनों का वाचन प्रत्यक्ष रूप से होता है—इन दोनों के प्रयोग में एक प्रकार की प्रत्यक्षता और तज्जन्य निकटता रहती है। कभी कभी उदासीन भाव, सम्मान, अथवा निरहंकारिता आदि की अभिव्यक्ति के लिए इन दोनों प्रत्यक्ष-वाचक पुरुषों के स्थान पर अन्य-वाचक अन्य पुरुष का प्रयोग अत्यन्त सार्थक और व्यंजक होता है। पुरुष का यह चमत्कारपूर्ण सार्थक प्रयोग ही पुरुष-वक्रता है।

इसके उदाहरण में तापसवत्सराज का यह श्लोक उद्धृत किया गया है :—
'दुष्ट शत्रुओं द्वारा अधिकृत कौशाम्बी को जीत कर नीति-द्वेषी महाराज की प्रमादी प्रकृति को मैं जानता हूँ। मैं यह भी जानता हूँ कि पति के वियोग में स्त्रियों का चित्त सदैव खिन्न रहता है। अतएव मेरा मन कुछ कहने का साहस नहीं करता। आगे, *देवी* स्वयं जानें।'

यहाँ 'आप' मध्यम पुरुष के स्थान पर कवि ने अन्य पुरुष 'देवी' का सार्थक प्रयोग अपनी उदासीनता की व्यंजना करने के निमित्त किया है। 'आप' में निकटता के कारण अधिकार और आग्रह का भाव आ जाता, जिसे कवि-निबद्ध पात्र—मंत्री यौगन्धरायण, रानी पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालने के लिए छिपाना चाहता है। अतएव कवि ने अन्य पुरुष का प्रयोग किया है।

हिन्दी में पुरुष-विपर्यय का प्रयोग इतना प्रचुर नहीं है जितना संस्कृत में। किन्तु फिर भी यह प्रयोग भाषागत रूढ़ि न होकर मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति है, इसलिए न केवल हिन्दी में वरन् अन्य भाषाओं में भी इसकी सार्वभौम स्वीकृति है। संस्कृत के अत्रभवान् आदि और अंग्रेज़ी के 'योर मेजेस्टी' आदि सम्मानार्थ प्रयोगों में यही प्रेरणा वर्तमान है। सामान्य वार्तालाप में भी 'मैं' न कहकर हम कभी-कभी विनय आदि की व्यंजना के लिए 'आपका दास' आदि पदों का प्रयोग करते हैं। संस्कृत में 'अयं जनः' का प्रयोग भी इसी आशय से किया जाता है।

कुछ उदाहरण लीजिए :—

१. करके ध्यान आज *इस जन* का निश्चय वे मुसकाये
फूल उठे हैं कमल, अधर-से ये बंधूक सुहाये। (मैं० श० गुप्त)

२. किंवा यह,—देव हैं दया-शरीर;
देख कर भूतल के तप्त क्षेत्र
प्रभु के सहस्र नेत्र
तप्त हो उठे थे प्राणियों के दु:खताप से;
और इसी हेतु बिना जाने ही, बिना कही
प्राप्त हुई आज्ञा वही
सेवक को अपने ही आप से।
+ + +
गुरुवर पदाब्जों में × + +
राजाधिप *शूरसेन-सूनु* यह नत है। (सियारामशरण गुप्त)

५. *उपग्रह-वक्रता*

उपग्रह का अर्थ है धातु-पद। संस्कृत में धातुओं के दो पद होते हैं—परस्मैपद और आत्मनेपद। जिसमें काव्य की शोभा के लिए (परस्मैपद और आत्मनेपद) दोनों पदों में से औचित्य के कारण किसी एक का प्रयोग किया जाता है, उसको उपग्रह-वक्रता कहते हैं। (३।३९)।

वास्तव में अपने रूढ़ रूप में तो उपग्रह का चमत्कार संस्कृत में ही सम्भव है क्यों कि हिन्दी आदि में आत्मनेपद यथावत् नहीं होता। फिर भी इस प्रकार के कर्म-कर्तृवाच्य प्रयोगों का हिन्दी में अभाव नहीं है—और कहीं-कहीं उनमें अपूर्व चमत्कार भी निहित रहता है। 'हाथ छूट जाना' आदि मुहावरों में इसका पूरा चमत्कार वर्तमान रहता है। इसके अतिरिक्त आत्मनेपद का संस्कार तो हिन्दी में स्पष्ट लक्षित ही है: आँख खुल गयी, हाथ टूट गया, जीभ कट गयी आदि कर्मकर्तृ-प्रयोग ही हैं। जहाँ इनका प्रयोग सचेष्ट रूप में विशेष सौंदर्य की व्यंजना करने के लिए किया जाता है, वहाँ हिन्दी प्रयोगों में भी निश्चय ही उपग्रह-वक्रता का चमत्कार वर्तमान रहता है।

१. *उठती* यह भौंह भी भला
उनके ऊपर तो अचंचला। (मैं० श० गुप्त)

२. मैं जभी तोलने का करती
उपचार स्वयं *तुल जाती हूँ*। (प्रसाद)

३. *छूटि गयो* मान वा सलोनी मुसकानि में।

४. हौं तो याही सोच में विचारत रही ही काहे
दर्पन हाथ ते न *छिन बिसरत* है। (भारतेन्दु)

६. प्रत्यय-वक्रता

सामान्यतः यह सभी प्रत्यय का ही चमत्कार है। परन्तु कहीं-कहीं उपर्युक्त प्रत्यय-प्रयोगों से भिन्न, एक प्रत्यय में दूसरा प्रत्यय लगा कर मर्मज्ञ कवि एक अपूर्व सौंदर्य उत्पन्न कर देता है। इसी को कुन्तक ने स्वतंत्र रूप से प्रत्यय-वक्रता का नाम दिया है। २।३२।

उदाहरण : येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः।[1]

अर्थात् जिसके संसर्ग से, मोर पंख को धारण करने वाले गोप-वेश विष्णु के (शरीर के) समान तेरा श्यामल शरीर भी कान्तिमय हो जायगा।

उपर्युक्त संस्कृत छंद में 'अतितरां' इस प्रत्यय-वक्रता का उदाहरण है। अति में तरप् प्रत्यय लगाकर अतितरां पद का निर्माण हुआ है :—अति में तो प्रत्यय पहले से ही वर्तमान है, उसमें तरप् प्रत्यय और लगाकर यह चमत्कार उत्पन्न किया गया है।

हिन्दी में प्रत्यय की स्थिति उतनी स्पष्ट नहीं है जितनी संस्कृत में। जैसा संस्कृत के सुबन्त और तिङन्त पदों में मिलता है, वैसा, शब्द के मूल प्रत्यय का अस्तित्व तो हिन्दी में प्रायः रहा ही नहीं है। अतएव हिन्दी में प्रायः दुहरा प्रत्यय ही लक्षित होता है: जैसे सँदेसड़ा, घइलवा आदि। संदेस (अ) और घइल में अङ् जैसा कोई मूल प्रत्यय पहले से ही वर्तमान है, उसमें स्वार्थ-वाचक 'ड़ा' 'वा' और लगाकर 'सँदेसड़ा' तथा 'घइलवा' का निर्माण हुआ है। इनका भाव-प्रेरित प्रयोग ही प्रत्यय-वक्रता का मूल आधार है :

पिय सों कहहु सँदेसड़ा, हे भौंरा, हे काग।
वह धनि बिरहै जरि मुई, तेहिक धुआँ हम लाग॥ (जायसी)

---

[1] इन्द्र चाप रुचिदान जासु मिलि तो तनु कारो।
पावत है छवि अधिक लगत नैनन को प्यारो॥
मोरचन्द्रिका संग सुभग जैसे मन मोहत।
गोपवेष गोविन्द बहुत श्यामल तन सोहत॥
(हिन्दी मेघदूत—लक्ष्मणसिंह)

आगि लागि घर जरिगा, विधि भल कीन्ह ।
पिय के हाथ घइलवा भरि भरि दीन्ह ॥ (रहीम)

उपर्युक्त दोनों प्रत्यय अत्यंत नैकट्य और अंतरंगता के द्योतक हैं : सामान्य स्वजन के लिए सँदेस और प्रिय के लिए सँदेसड़ा ।—घइलवा का 'वा' भी इसी स्नेहातिशय का सूचक है ।

प्रत्यय-वक्रता के इस रूप के साथ कुन्तक का पद-परार्ध-वक्रता-विवेचन समाप्त हो जाता है । पदपूर्वार्ध-वक्रता की भांति प्रत्यय-वक्रता के भी अनेक भेद हो सकते हैं—परन्तु उनका अंतर्भाव प्रायः उपर्युक्त भेदों में हो जाता है ।

पद-वक्रता के दो अन्य भेद—उपसर्ग-वक्रता और निपात-वक्रता :—

पद के दो ही मुख्य भेद हैं—प्रकृति अर्थात् नाम, धातु-रूप पूर्वार्ध और प्रत्यय-रूप परार्ध । परन्तु इनके अतिरिक्त दो भेद और भी रह जाते हैं : उपसर्ग और निपात । संस्कृत व्याकरण में पद के ये चार भेद ही माने गये हैं : नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात । इनमें से नाम और आख्यात की वक्रता का विवेचन पदपूर्वार्ध और पदपरार्ध के वक्रत्व-भेदों के अंतर्गत हो चुका है । उपसर्ग और निपात अव्युत्पन्न होने कारण अवयव-रहित हैं । अतएव इनका प्रकृति और प्रत्यय में विभाग सम्भव नहीं है । इसी कारण कुन्तक ने इनका सम्पूर्ण रूप में विचार किया है ।

उपसर्ग-वक्रता

उपसर्ग-वक्रता का मूल आधार उपसर्ग का चमत्कारपूर्ण प्रयोग है । जहाँ उपसर्ग का विशिष्ट प्रयोग ही शब्द अथवा उक्ति के सौंदर्य का विधायक होता है, वहाँ कुन्तक की पारिभाषिक शब्दावली में उपसर्ग-वक्रता होती है । उपसर्ग के विषय में वैयाकरणों का यह मत है कि वे मूलतः शब्द ही थे जो घिसते-घिसते अपने वर्तमान रूप को प्राप्त हो गये हैं । इस प्रकार उपसर्ग में भी अर्थ-विशेष निहित रहता है : कुशल कवि वाक्य के प्राण-रूप रसादि की पुष्टि के लिए इसी निहित अर्थ का सदुपयोग करता है ।

उदाहरण :—

अयमेकपदे तया वियोगः
प्रिया चोपनतः सुदुःसहो मे ।

अर्थात् एक ओर तो प्रिया के सुदुःसह विरह को सहन करने का समय उपस्थित हो गया है……। यहाँ सु और दुस् (र्) इन दो उपसर्गों का प्रयोग भी विशेष चमत्कार पूर्ण है—ये दुहरे उपसर्ग विरह की असह्यता को व्यक्त करते हैं।

हिन्दी कविता में भी उपसर्ग का कुशल प्रयोग रस तथा भावादि के उत्कर्ष के लिए—प्राचीन तथा नवीन—सभी कवियों ने किया है।

१. इन्दु-*विचुम्बित* बाल जलद-सा मेरी आशा का अभिनय!
(बालापन : पंत)

२. *विकम्पित* मृदु उर पुलकित गात। (भावी पत्नी के प्रति : पंत)

३. मैं त्रिविध-दुःख-*विनि*वृत्ति हेतु। (यशोधरा—गुप्त)

इनमें से प्रत्येक उपसर्ग विशेष रस-पोषक चमत्कार से युक्त है। 'विकम्पित' में 'वि' उपसर्ग द्वारा विशेष भाव का द्योतन किया गया है। चन्द्रमा द्वारा नवमेघ का स्पर्श सामान्य स्पर्श न होकर विशेष रमणीय स्पर्श है, इसलिए 'विचुम्बित' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार सामान्य भय के कम्पन से प्रणय के मादक उरकम्पन का पार्थक्य प्रदर्शित करने के लिए 'विकम्पित' शब्द का प्रयोग हुआ है। निवृत्ति में भी 'वि' उपसर्ग का योग अत्यन्त निवृत्ति या सर्वथा निवृत्ति की अभिव्यंजना करता है।

निपात-वक्रता

निपात से अभिप्राय उन अव्ययों से है जो अवयव-रहित, अव्युत्पन्न पद होते हैं। कुशल कवि इनका भी रसोत्कर्ष के लिए पूर्ण उपयोग करता है। निपात अर्थ के द्योतक ही होते हैं, वाचक नहीं। 'द्योतका प्रादयो येन निपाताश्चादयो यथा'। निपात का यही कुशल उपयोग निपात-वक्रता के नाम से अभिहित है।

उदाहरण : वैदेही तु कथं भविष्यति……
हा हा देवि धीरा भव!

यहाँ 'तु' शब्द में निपात-वक्रता है। 'पर वैदेही तो स्वयं ही इतनी कोमल है उसका क्या होगा?' इस प्रकार 'तु' शब्द राम की व्यथा को और भी प्रगाढ़ कर देता है।

कुन्तक ने दूसरा उदाहरण शाकुन्तलम् से दिया है

> मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः
> कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु।

अभि० शां० ३।२३

राजा दुष्यंत की अवसादमयी उक्ति है : मैंने उसका मुख उठा तो लिया पर चूम नहीं पाया। यहाँ भी 'तु' शब्द के द्वारा राजा की अपूर्ण लिप्सा और तज्जन्य पश्चात्ताप की व्यंजना की गयी है।

हिन्दी काव्य से भी निपात-वक्रता के प्रभूत उदाहरणों का संचय किया जा सकता है :

१. उसके आशय की थाह मिलेगी किसको ?
जन कर जननी *ही* जान न पायी जिसको।

२. क्या लिया बस है *यहीं* सब शल्य।
किन्तु मेरा *भी* यहीं वात्सल्य।

उपर्युक्त उद्धरणों में 'ही' का प्रयोग अत्यन्त अर्थगर्भित है। वह भरत के उज्ज्वल चरित्र की गरिमा और तज्जन्य आश्चर्य को व्यक्त करता है। दूसरे उद्धरण में यहीं (यहां ही) का 'ही' कैकेयी की अन्तर्व्यथा का द्योतक है और 'भी' में भयंकर अपराध-जन्य ग्लानि का परिमार्जन है।

इसी प्रकार—'आह ! सर्ग के अग्रदूत तुम असफल हुए विलीन हुए।' यहाँ 'आह' मनु के पश्चात्ताप और अवसाद का द्योतक है।

'च्युत हुए अहो नाथ जो यथा। धिक् वृथा हुई उर्मिला व्यथा।' यहाँ धिक् निपात के द्वारा उर्मिला की निराशा का द्योतन किया गया है।

पद के चारों भेदों पर आश्रित वक्रता का यह वर्णन यहाँ समाप्त हो जाता है। शब्द के छोटे-से-छोटे सार्थक अवयव के चमत्कार का इतना सूक्ष्म विश्लेषण कुन्तक की अद्भुत मर्मज्ञता का परिचायक है। वे शब्दार्थ [illegible] सूक्ष्म रहस्यों से सर्वथा अवगत थे—अतएव उन्होंने बड़े विशद रूप में यह [illegible] है कि प्रतिभा-वान कवि शब्दार्थ के छो[illegible] अवयवों में वक्र[illegible] अपने वाक्यों को

चमत्कारपूर्ण बना देता है। यह कार्य प्रतिभा के लिए इतना सहज होता है कि एक ही वाक्य में अनेक वक्रता-भेदों का प्रयोग अनायास ही हो जाता है। कुन्तक ने स्पष्ट लिखा है: "कहीं-कहीं एक-दूसरे की शोभा के लिए बहुत से वक्रता-प्रकार एकत्र होकर इसको (काव्य को) (अनेक रंगों से युक्त) चित्र की छाया के समान मनोहर बना देते हैं।"—और, जब वक्रता के एक रूप से ही काव्य इतना सहृदयाह्लादकारी हो सकता है, तब ये अनेक भेद एकत्र होकर तो उसके सौंदर्य को न जाने कितना समृद्ध कर सकते हैं? अतएव काव्य में वक्रता का प्रभाव असीम है।

3 वाक्य-वक्रता और वस्तु-वक्रता

वर्णों से प्रकृति तथा प्रत्यय—पदपूर्वार्ध तथा पदपरार्ध का निर्माण होता है और पदों से वाक्यों का। इस प्रकार क्रमशः वक्रता के प्रभाव-क्षेत्र का विस्तार करते हुए कुन्तक वर्ण के पश्चात् प्रकृति-प्रत्यय और प्रकृति-प्रत्यय के पश्चात् वाक्य की वक्रता का विवेचन करते हैं। अनेक पदों के संयोजन का नाम वाक्य है। वाक्य का यह अपने-आप-में-पूर्ण अर्थ अनेक पदों के अर्थ का समंजित रूप होता है। इस प्रकार वाक्य की वक्रता सामान्यतः पदार्थ अथवा अर्थ की वक्रता है—जिसकी परिभाषा कुन्तक के शब्दों में यह है:

> वस्तु का उत्कर्ष-युक्त स्वभाव से सुन्दर रूप में केवल शब्दों द्वारा वर्णन अर्थ अथवा वाच्य की वक्रता कहलाती है। (हिन्दी व० जी० ३।१)

अतएव वाच्य-वक्रता का दूसरा नाम वस्तु-वक्रता भी है। कुन्तक ने तृतीय उन्मेष के आरम्भ में प्रस्तुत विषय का विवेचन किया है। उसका निष्कर्ष इस प्रकार है—वाक्य अथवा वाच्य अथवा वस्तु की वक्रता सामान्यतः एक ही बात है। इसके दो भेद हैं: १. सहजा और २. आहार्या: 'सैषा सहजाहार्यभेदभिन्ना वर्णनीयस्य वस्तुनो द्विप्रकारस्य वक्रता' (व० जी० ३।२ वृत्ति)। वस्तु की सहज और आहार्य भेद से दो प्रकार की वक्रता होती है। सहज का अर्थ है सहज शक्ति द्वारा उत्पन्न—इसके अन्तर्गत वस्तु के स्वभाव का सहज-सुन्दर वर्णन आता है। आहार्य का अर्थ है व्युत्पत्ति तथा शिक्षाभ्यास द्वारा अर्जित—प्रस्तुत सौंदर्यरूपिणी होने पर भी यह अर्थालंकार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है: 'तदेवमाहार्या येयं सा प्रस्तुत-विच्छित्ति-विधाय्यलंकारव्यतिरेकेण नान्या काचिदुपपद्यते।' (हिन्दी व० जी० ३।२ की वृत्ति)। इस प्रकार वाच्य या वस्तु-वक्रता के दो भेद हुए: १. पदार्थ की स्वाभाविक शोभा का वर्णन (स्वभावोक्ति, जो कुन्तक के अनुसार अलंकार्य है), २. अर्थालंकार।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त में वस्तु (काव्य-विषय) का स्वरूप

कुन्तक ने किसी एकांगी सिद्धान्त का प्रतिपादन न कर वास्तव में एक स्वतः-सम्पूर्ण काव्य-सम्प्रदाय की स्थापना की है—अतएव उन्होंने अपने मूल सिद्धान्त के आधार पर काव्य के प्रायः सभी मुख्य पहलुओं पर प्रकाश डाला है। उनके मत से काव्य-वस्तु* दो प्रकार की होती है : सहज और आहार्य।

सहज :—सहज का अर्थ है स्वाभाविक अथवा प्रकृत—कवि अपनी सहज प्रतिभा के द्वारा प्रकृत वस्तुओं का सजीव चित्रण कर सहृदय को आह्लाद प्रदान करता है। परन्तु ये प्रकृत वस्तुएँ भी उत्कर्ष-युक्त और स्वभाव से सुन्दर होनी चाहिएँ। इसका अर्थ यह है कि इनके स्वाभाविक धर्म प्रकृत्या रमणीय होने चाहिएँ :

यस्मादत्यन्तरमणीयस्वाभाविकधर्मयुक्तं वर्णनीयं वस्तु परिग्रहणीयम्।
(हिन्दी व० जी० पृ० २।१ वृत्ति)

प्रत्येक वस्तु के कुछ स्वाभाविक धर्म या सहजात विशेषताएँ होती हैं—कवि को ऐसी ही वस्तुओं का वर्णन करना चाहिए जिनके स्वाभाविक धर्म उत्कर्ष-युक्त एवं रमणीय हों। कहने का तात्पर्य यह है कि कुछ वस्तुएँ अथवा विषय ऐसे होते हैं जिनका प्रकृत रूप ही मन में उल्लास भर देता है : कुन्तक ने वयःसन्धि, ऋतु-सन्धि, आदि के उदाहरण देकर यह निर्देश किया है कि नारी-अंगों का सौंदर्य, तथा प्रकृति की रंगोज्ज्वल छटा अपने स्वाभाविक रूप में ही, रमणीय होती है। इस प्रकार के पदार्थ काव्य के मुख्य वर्णनीय विषय हैं। सुकुमार-स्वभाव कवि अपनी सहज प्रतिभा के द्वारा इन पदार्थों का चयन और उनकी रमणीय विशेषताओं का उद्घाटन करने में समर्थ होता है। अतएव हैं ये भी कवि-कौशल के आश्रित—स्वभाव-रमणीय पदार्थों का भी रमणीय वर्णन कवि-कौशल का ही प्रसाद है। स्पष्ट शब्दों में कुन्तक का यह मत है कि मूलतः तो काव्य-वस्तु का सौंदर्य कविकौशल-जन्य ही होता है, परन्तु फिर भी ऐसे पदार्थ, जो स्वभाव से रमणीय और आह्लादकारी हैं, सुकुमार-स्वभाव कवियों के लिए अधिक उपयुक्त काव्य-विषय हैं। यहां बहुत कुछ भावगत दृष्टिकोण रखते हुए भी कुन्तक अंत में रमणीय काव्य-विषय को प्राथमिकता दे देते हैं।

---

*वस्तु से अभिप्राय यहाँ विषय का है—कथानक आदि का नहीं।

आहार्य :—

आहार्य का अर्थ है निपुणता तथा शिक्षाभ्यास आदि द्वारा सम्पादित। यह रूप सहज वस्तु से भिन्न है क्यों कि सहज वस्तु जहां प्रधान रूप से प्रकृत और स्वाभाविक होती है—उसके धर्म सहजात होते हैं, वहाँ आहार्य वस्तु कविकौशल-जन्य, दूसरे शब्दों में, उत्पाद्य होती है—आधुनिक आलोचना-शास्त्र की शब्दावली में उसे 'कल्पित' कहेंगे। आहार्य वस्तु के विषय में अपने आशय को और स्पष्ट करते हुए कुन्तक ने लिखा है कि आहार्य वस्तु भी कोई एकान्त काल्पनिक वस्तु नहीं होती।—यह सत्ता मात्र से प्रतिभासित रहती है: कवि अपने कौशल के द्वारा उसमें कुछ अलौकिक शोभातिशय की उद्भावना या आधान कर देता है जिससे उसका सत्ता मात्र से प्रतीत होने वाला मूल रूप आच्छादित हो जाता है और वह लोकोत्तर सौंदर्य से सम्पन्न एक नया ही रूप धारण कर लेती है।

कुन्तक का अभिप्राय स्पष्ट शब्दों में यह है: आहार्य वस्तु का अर्थ यह नहीं है कि उसका कोई वास्तविक अस्तित्व होता ही नहीं और स्वर्ण-लता की तरह कवि अपनी कल्पना में से उसे उदीर्ण कर रख देता है। आहार्य वस्तु का भी अस्तित्व निश्चय ही होता है—परन्तु वह सामान्यतः सत्ता मात्र से प्रतिभासित रहता है अर्थात् उसकी सत्ता तो रहती है किन्तु उसमें कोई आकर्षण नहीं रहता। कवि उसके अनेक धर्मों में से कतिपय विशिष्ट धर्मों को अतिरंजित कर इस रूप में प्रस्तुत करता है कि उसका वास्तविक रूप छिप जाता है और एक नवीन लोकोत्तर रूप प्राप्त हो जाता है—लोकोत्तर इसलिए कि विशेष धर्मों की अतिरंजना के कारण उसका रूप सामान्य वस्तुओं से भिन्न हो जाता है। यही वस्तु का आहार्य रूप है—इसी रूप में वह सहज न होकर उत्पाद्य या कल्पित होती है। परन्तु यह 'उत्पादन' या 'आहरण' निरंकुश नहीं हो सकता—अपने आहार्य रूप में भी वह स्वाभाविक होना चाहिए, कौतुक मात्र नहीं।

स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते।
वस्तु तद्रहितं यस्मात् निरुपाख्यं प्रसज्यते ॥१,१२॥

अर्थात् स्वभाव के बिना वस्तु का वर्णन ही सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि स्वभाव से रहित वस्तु तुच्छ असत्कल्प हो जाती है।

आहार्य वस्तु के विषय में कुन्तक का स्पष्ट मत है कि वह अर्थालंकार से अभिन्न है—इसलिए उसके अनेक प्रकार के भेदों द्वारा पदार्थों का वर्णन बहुत

विस्तृत हो जाता है। यद्यपि रस, स्वभाव, आदि सबके वर्णन में कवि का कौशल ही प्राणभूत है, फिर भी विशेष रूप से कवि-कौशल के अनुग्रह के बिना आहार्य वस्तु में नाम मात्र को भी वैचित्र्य नहीं हो सकता।

वस्तु के अन्य भेद :—

आगे चलकर कुन्तक ने वर्णनीय वस्तु के कुछ और भेद किये हैं। स्वभाव और औचित्य से सुन्दर चेतन और अचेतन पदार्थों का स्वरूप दो प्रकार का कहा गया है। उनमें से पहला भेद अर्थात् चेतन देवता आदि (उच्च योनि) से लेकर सिंह आदि (तिर्यक् योनि) तक प्रधान तथा अप्रधान रूप से दो प्रकार का होता है।

वर्णनीय वस्तु

- चेतन
  - प्रधान (देवता, मनुष्य आदि) उच्च योनि
  - अप्रधान (पशु, पक्षी आदि) तिर्यक् योनि
- अचेतन (प्राकृतिक पदार्थ)
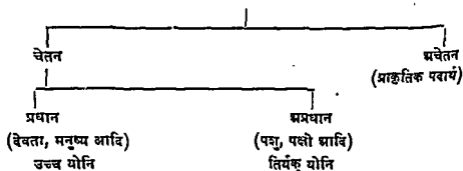
इस प्रकार देव तथा मानव-जीवन काव्य का मुख्य विषय है और पशु पक्षी-जीवन गौण विषय है। पशु-पक्षी—सिंह आदि तिर्यक् योनि के जीवों के वर्णन में जाति-स्वभाव प्रमाण है : प्रत्येक जीव का अपना-अपना जाति-स्वभाव होता है—कुशल कवि सूक्ष्म निरीक्षण के आधार पर यथावत् चित्रण करता हुआ अपने वर्णन को सहृदय के लिए आह्लादकारी बना देता है। अचेतन के अन्तर्गत प्राकृतिक पदार्थों तथा वृक्षों का वर्णन आता है। काव्य-परम्परा के अनुसार कुन्तक ने इन्हें रस के उद्दीपन माना है,[1] परन्तु फिर भी इनके सहज सौंदर्य के प्रति वे उदासीन नहीं हैं, उनकी स्वाभाविक शोभा का कुन्तक ने अत्यन्त उच्छ्वासपूर्ण शब्दों में वर्णन किया है। इस प्रकार सामान्य रूप से काव्य-वस्तु के दो भेद हुए—१. स्वभाव-प्रधान और १. रस-प्रधान : 'तदेवं विधं स्वभाव-प्राधान्येन, रस प्राधान्येन द्विप्रकारम्'।[2] इन दोनों

१. हिन्दी व० जीवित ३।८ वृत्ति
२. हिन्दी व० जीवित ३।१० वृत्ति।

के अतिरिक्त धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष-रूप पुरुषार्थ-चतुष्टय की सिद्धि के उपाय भी काव्य-वस्तु के अन्तर्गत आते हैं। इन उपायों से तात्पर्य उन सभी मानव-व्यापारों तथा अन्य प्राणियों के भी क्रिया-कलाप से है जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के अनुष्ठान में उपदेश-परक रूप से सहायक होते हैं। आधुनिक शब्दावली में इन्हें नैतिक व्यापार कहेंगे : कुन्तक ने इस प्रसंग में कादम्बरी इत्यादि में वर्णित शूद्रक आदि राजाओं तथा शुकनास आदि मंत्रियों के चरित्रों को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है।

उपर्युक्त वस्तु-विवेचन के अनुसार वक्रोक्ति-सिद्धान्त में काव्य-वस्तु के तीन प्रकार हैं : १. स्वभाव-प्रधान, २. रस-प्रधान और ३. नीति-प्रधान। जो पदार्थ अपनी सजहशोभा के कारण वर्णनीय होते हैं वे स्वभाव-प्रधान वस्तु के अन्तर्गत आते हैं; मानव हृदय की वृत्तियों का वर्णन मूलतः दूसरे वर्ग के अन्तर्गत आता है; और, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष नीति-वर्णन तीसरे वर्ग में आता है। नवीन आलोचना-शास्त्र की शब्दावली में इन्हें ही क्रमशः प्राकृत तत्व, रागात्मक तत्व तथा नैतिक (बौद्धिक) तत्व के नाम से अभिहित किया गया है, और आधुनिक काव्य-शास्त्र के अनुसार ये ही विषय-वस्तु के तीन मूलभूत तत्व हैं।

इस प्रकार कुन्तक ने वस्तु का विभाग दो दृष्टियों से किया है—१. कवि की दृष्टि से, २. सहृदय की दृष्टि से। सहज और आहार्य भेदों का आधार कवि की सर्जना है, और स्वभाव-प्रधान, रस-प्रधान तथा नीति-प्रधान का आधार सहृदय की ग्रहण-प्रतिक्रिया है : पहले रूप से सहृदय प्रत्यभिज्ञान का आनन्द ग्रहण करता है, दूसरे से रस और तीसरे से उपदेश तथा सद्ज्ञान। पहले विभाग का आधार है—कवि जैसा उसे प्रस्तुत करता है। दूसरे विभाग का आधार है—पाठक जैसा उसे ग्रहण करता है।

काव्य-विषय के सम्बन्ध में कुन्तक की मान्यताएँ

कुन्तक ने इस प्रसंग में दो स्थापनाएँ की हैं : (१) काव्य का विषय स्वभाव से रमणीय होना चाहिए। मूलतः कवि-कौशल पर आश्रित होने पर भी काव्य-वस्तु के धर्म सहृदय-आह्लादकारी होने चाहिएँ। (२) प्रकृति का वर्णन काव्य में मूलतः रस का उद्दीपक होता है।

काव्य-विषय की रमणीयता

ये दोनों मान्यताएँ विवादास्पद हैं : पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में आलोचकों का एक वर्ग ऐसा है जिनके मत से कोई भी विषय काव्योचित हो सकता है। विक्टर ह्यूगो ने स्पष्ट लिखा है कि कवि क्या कहता है यह महत्वपूर्ण नहीं है—कैसे कहता है इसका महत्व है। गॉवर्ट 'कुछ नहीं' पर ग्रन्थ-रचना करने का स्वप्न देखते थे। अभिव्यंजनावादियों ने तो काव्य-विषय की पृथक् कल्पना को ही निरर्थक माना है—क्रोचे के अनुसार काव्य-वस्तु का सौंदर्य अभिव्यंजना के सौंदर्य से अभिन्न है। इसके विपरीत अरस्तू से लेकर आर्नल्ड तक अनेक आचार्यों का दूसरा वर्ग भी है जो वस्तु के सौंदर्य को सत्काव्य के लिए अनिवार्य मानता है। इनके अनुसार काव्य का—सौंदर्य मूलतः वस्तु के सौंदर्य पर निर्भर रहता है। क्षुद्र विषय महान काव्य का—असुन्दर विषय सुन्दर काव्य का आश्रय नहीं बन सकता। हिन्दी में भी उपर्युक्त दोनों मतों की अनुगूंज मिलती है :

ललित कला कुत्सित कुरूप जग का जो रूप करे निर्माण।

(युगवाणी—पंत)

सामान्यतः तो सुकुमार विषय का चयन पंत जी की कविता का मुख्य गुण रहा है परन्तु उनके परिवर्तित दृष्टिकोण की यह अभिव्यक्ति काव्य के तथाकथित सुन्दर अथवा अभिजात विषयों को अमान्य घोषित करती हुई, काव्य अथवा ललित कला की सिद्धि इसी में मानती है कि वह कुरूप को रूप प्रदान कर दे। अर्थात् सौंदर्य वस्तुतः कवि के हृदय में बसता है—वह अपने हृदयगत सौंदर्य के द्वारा असुन्दर को भी सुन्दर बना देता है। रवि ठाकुर की एक प्रसिद्ध कविता है जिसका आशय यह है कि तुम्हारे विभिन्न अंगों की छवि मेरी भावनाओं के ही राग से रंजित है। यह दृष्टिकोण वास्तव में पाश्चात्य दर्शन की प्रत्ययवादी[1] चिंताधारा का प्रोद्भास है जिसके अनुसार वस्तु भाव की प्रतिच्छाया मात्र है : दूसरे शब्दों में सौंदर्य की स्थिति दृश्य में नहीं द्रष्टा के मन में है—(ब्यूटी लाइज इन दी माइन्ड ऑफ़ दी बिहोल्डर)।

इसके विपरीत शुक्ल जी का निम्नोक्त अभिमत है जो उतने ही निश्चय और दृढ़ता के साथ व्यक्त किया गया है : "सौंदर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है। योरपीय कला-समीक्षा की यह एक बड़ी ऊँची उड़ान या दूर की कौड़ी समझी गयी। पर वास्तव में यह भाषा के गड़बड़झाले के सिवा और कुछ नहीं है। जैसे वीर-कर्म से पृथक् वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही सुन्दर वस्तु से

१. आइडीयलिस्ट

पृथक् सौंदर्य कोई पदार्थ नहीं।　　(चिंतामणि (१) कविता क्या है—पृ० १६४)।

अब प्रश्न यह है कि इन दोनों में से सत्य वास्तव में क्या है ? यह प्रश्न सरल नहीं है; और इसका उत्तर दर्शन के क्षेत्र में भी दुर्लभ ही रहा है—इसका समाधान वस्तुतः सांख्य और वेदान्त और उधर मार्क्स तथा हीगल भी नहीं कर पाये। तत्व-दृष्टि से अन्तिम सत्य चाहे इनमें कुछ भी हो'''हम स्वयं वेदान्त और हीगल के मत को ही स्वीकार करते हैं, परन्तु दार्शनिक उलझन को बचाकर व्यावहारिक धरातल पर समन्वयवादियों ने विषय और विषयी, प्रकृति और पुरुष, अहं और इदं अर्थात् अन्तर्जगत और बहिर्जगत, वस्तु-तत्व और व्यक्ति-तत्व के सामंजस्य को ही श्रेयस्कर माना है। कुन्तक भी इसी सामंजस्य के पक्ष में हैं : उनके सिद्धान्त में व्यक्ति-तत्व और वस्तु-तत्व का समन्वय है। सौंदर्य को वक्रता-निष्ठ मानकर उन्होंने वस्तु-तत्व की प्रतिष्ठा की है क्यों कि वक्रता निश्चय ही रूपगत[1] है, और उधर वक्रता को मूलतः कवि-व्यापार-जन्य मानकर व्यक्ति-तत्व को सिद्ध किया है। प्रस्तुत प्रसंग में भी एक ओर जहाँ वे स्वभाव-रमणीय विषय के चयन के लिए आग्रह करते हैं, वहाँ दूसरी ओर उसके सौंदर्य का उद्घाटन पूर्णतः कवि-प्रतिभा पर आश्रित मानते हैं। स्वभाव-रमणीय पदार्थ से अभिप्राय ऐसे पदार्थ से है जिसमें संस्कारवश मानव-मन अधिक रमता है : आरम्भ में सम्भवतः यह रमणीयता व्यक्ति-निष्ठ ही रही होगी किन्तु संचित संस्कारों के परि-णाम-रूप वह वस्तु-निष्ठ प्रतीत होने लगी है। परन्तु इस वस्तु-निष्ठ सौंदर्य के भी उद्-घाटन की आवश्यकता होती है, जो कवि की प्रतिभा का कार्य है।—इस प्रकार दोनों पक्षों का—वस्तु और व्यक्ति का—समन्वय हो जाता है। कुन्तक ने यही किया है।

प्रकृति का रस के उद्दीपन-रूप में वर्णन

कुन्तक ने प्रकृति को मूलतः रस के उद्दीपन-रूप में ही वर्णनीय माना है। 'अमुख्य चेतन और बहुत-से जड़ पदार्थों का भी रस के उद्दीपन की सामर्थ्य के कारण वर्णन से मनोहर स्वरूप भी कवियों की वर्णना का दूसरे प्रकार का विषय होता है।' ३।८। आधुनिक हिन्दी आलोचना में इस प्रश्न पर आचार्यों का प्रायः एकमत है कि प्रकृति रस का उद्दीपन मात्र नहीं है। शुक्ल जी इस मत के सबसे प्रबल समर्थक थे। उनका सहज प्रकृति-प्रेम और उधर चित्र-कला के साथ उनका आरम्भिक सम्पर्क यह सहन नहीं कर सकता था कि प्रकृति का उपयोग रति आदि भावनाओं को उद्दीप्त करने के लिए ही किया जाए। रीति-काल में इस प्रवृत्ति का स्खलन उपर्युक्त सिद्धान्त की असफलता का प्रमाण दे चुका था। अतएव उन्होंने भारत के

१. फ़र्माल

वाल्मीकि तथा कालिदास और यूरोप के अनेक प्रकृति-कवियों के प्रकृति-वर्णनों के साक्ष्य पर शास्त्रीय परम्परा के विरुद्ध प्रकृति को काव्य का आलम्बन ही घोषित नहीं किया, वरन् उसके साक्षात् दर्शन में भी रस का परिपाक माना : और इसके लिए ही कदाचित् उन्हें अपनी यह नवीन स्थापना करनी पड़ी कि रस हृदय की मुक्तावस्था का नाम है। किन्तु शुक्ल जी की स्थापना भी विवाद-मुक्त नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि केवल रति आदि भावों को उद्दीप्त करने के लिए प्राकृतिक दृश्यों अथवा पदार्थों का उपयोग अत्यन्त परिसीमित दृष्टिकोण का परिचायक है—और रीति-युग अथवा उससे भी पहले संस्कृत काव्य के ह्रास-काल के शृंगार-चित्रों में उसका जो रुग्ण रूप सामने आया वह वास्तव में अकाव्योचित ही था। इसमें भी सन्देह नहीं कि प्रकृति का सौंदर्य प्रत्यक्ष रूप में मानव-मन में स्फूर्ति और उल्लास—विस्मय, ओज स्फीति, गाम्भीर्य आदि का संचार करता है और इन सबकी समंजित प्रतिक्रिया सात्त्विक आनन्द-रूप ही होती है, परन्तु क्या इस प्रकार के आनन्द को रस-परिपाक कहा जा सकता है ? शुक्ल जी ने वासना-मुक्त, निर्वैयक्तिक, राग-द्वेष से शुद्ध आनन्द को रस माना है। उनका तर्क यह है कि जिस प्रकार कला अथवा काव्य-जन्य आनन्द वैयक्तिक राग-द्वेष से मुक्त एक प्रकार का निर्वैयक्तिक सात्विक आनन्द होता है इसी प्रकार प्राकृतिक सौंदर्य से उद्भूत आनन्द भी एक प्रकार का विशद भाव है जो वैयक्तिक लिप्सा से मुक्त होता है। परन्तु यह रस-कल्पना शास्त्रीय परम्परा के अनुकूल नहीं है—संस्कृत काव्य-शास्त्र के अनुसार रस मानसिक विशदता मात्र नहीं है वह स्थायी भाव की चरम उद्दीप्ति या परिपाक है। स्थायी भाव अपनी चरम उत्कट अवस्था में निर्वैयक्तिक हो जाता है—यह प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है। उदाहरण के लिए एक इन्द्रिय की परितृप्ति अपनी चरम परिणति में समग्र चेतना की निर्विशिष्ट अनुभूति हो जाती है; इसी प्रकार एक भाव-विशेष का आस्वाद अपनी अत्यन्त उत्कट अवस्था में भाव मात्र का निर्विशिष्ट आस्वाद बन जाता है—जो केवल आनन्द-रूप है। अतएव भारतीय रस की स्थिति उत्कट आस्वाद की अत्यन्त भावात्मक स्थिति है, हृदय की मुक्तावस्था मात्र नहीं है। इस दृष्टि से शुक्ल जी द्वारा निरूपित रस के अनुभूत्यात्मक रूप में शास्त्रीय रस के अनुभूत्यात्मक रूप की अपेक्षा आनन्द की मात्रा कम है। और इसके लिए शुक्ल जी का वस्तु-निष्ठ दृष्टिकोण उत्तरदायी है जो पूर्ण तन्मयता में बाधक होता है। इसीलिए शुक्ल जी रस को आलम्बन-प्रधान मानते हैं : और यही उनके द्वारा प्रतिपादित 'प्रकृति की रसात्मक अनुभूति' का भी रहस्य है।

अब कुन्तक के पक्ष (शास्त्रीय पक्ष) और शुक्ल जी के पक्ष, अर्थात्

प्रकृति के आलम्बनत्व और उद्दीपनत्व का सापेक्षिक विवेचन कीजिए। प्रकृति के सौंदर्य का वर्णन निश्चय ही आह्लादकारी होता है; कवि को अथवा कवि-निबद्ध पात्र को आश्रय मानकर प्रकृति की शोभा को उसके रति भाव का आलम्बन माना जा सकता है और रस-प्रक्रिया की शास्त्रीय व्यवस्था हो सकती है—शुक्ल जी ने अपने निबन्ध में यही व्याख्या प्रस्तुत भी की है। परन्तु यहाँ एक दोष रह जाता है: क्या प्रकृति के प्रति वास्तव में रति भाव उत्कट अवस्था में उद्बुद्ध हो सकता है? हमारी धारणा है कि उषा और ज्योत्स्ना आदि का सौंदर्य मन में उल्लास, स्फूर्ति का संचार तो कर सकता है किन्तु उतना तीव्र उन्मुखीभाव (रति) जागृत नहीं कर सकता जितना कि मानव-सौंदर्य, विशेषकर इष्ट व्यक्ति का सौंदर्य। इसका मनोवैज्ञानिक कारण स्पष्ट है। भाव का पूर्ण परिपोष वस्तु से नहीं, भाव से होता है—उन्मुखीभाव प्रत्युन्मुखीभाव की अपेक्षा करता है:

इस भावभरे मानव उर को चाहिए भाव।

रस-शास्त्र में आलम्बन के अनुभाव आदि को इसी दृष्टि से उद्दीपन माना गया है; और ये उद्दीपन अन्य उद्दीपनों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रबल हैं। आचार्य शुक्ल का आलम्बनवाद यहीं आकर कमज़ोर पड़ जाता है। आलम्बन की वस्तुगत सत्ता पर शुक्लजी इतना अधिक बल देते हैं कि उनका विवेचन मनोवैज्ञानिक न रहकर नैतिक हो जाता है। रस मूलतः भाव का व्यापार है, वस्तु भी उसमें भाव-परक होकर ही अपनी उपयोगिता सिद्ध करती है। अतएव आलम्बन का भावपरक तथा भावात्मक रूप ही वस्तुतः रस-परिपाक के लिए अधिक उपयोगी है। जिन कवियों ने प्रकृति को ही आलम्बन माना है, उनको भी इसीलिए अनिवार्यतः उस पर चेतना का आरोप करना पड़ा है। प्रकृति का उद्दीपन-रूप में उपयोग इसी दृष्टि से सार्थक है—इसीलिए भारतीय रस-शास्त्र में प्रकृति के आलम्बनत्व की अपेक्षा उद्दीपनत्व पर ही अधिक बल दिया गया है, और यह अनुचित नहीं है, कम से कम इतना अनुचित नहीं है जितना शुक्लजी ने माना है। संस्कृत के ह्रास-काल अथवा रीति-युग के हीनतर कवियों ने प्रकृति का रूढ़ उपभोग-सामग्री के रूप में जो अकाव्योचित उपयोग किया है उसका उत्तरदायित्व इस सिद्धान्त पर नहीं है: उन रस-क्षीण कवियों ने तो प्रेम और नारी-सौंदर्य को भी रूढ़ उपभोग-सामग्री बना दिया है: इनका वर्णन भी वहाँ काव्यानन्द की अपेक्षा इन्द्रियानन्द ही अधिक दे सकता है।

कुन्तक ने अचेतन काव्य-वस्तु अर्थात् प्रकृति को इसी दृष्टि से, रस-शास्त्र की परम्परा के अनुसार, उद्दीपन-रूप में वर्णनीय माना है।

प्रकरण-वक्रता

प्रकरण-वक्रता की परिभाषा को कुन्तक विशेष स्पष्ट नहीं कर सके : जहां अपने अभिप्राय को अभिव्यक्त करने वाली और अपरिमित उत्साह के व्यापार से शोभायमान व्यवहर्ताओं (कवियों) की प्रवृत्ति होती है, वहां; और प्रारम्भ से ही निःशंक रूप से उठने या उठाने की इच्छा होने पर (अर्थात् जहां प्रारम्भ से ही निर्भय होकर अपने अथवा अपनी रचना को उठाने की अदम्य इच्छा हो, वहां) वह प्रकरण-वक्रता निस्सीम होकर प्रकाशित हो उठती है। व० जी० ४।१-२।

यह वाक्य अधिक स्वच्छ नहीं है, वृत्ति के खण्डान्वय से यह और भी उलझ जाता है, परन्तु कुन्तक के आशय में कोई भ्रान्ति नहीं है। उनका अभिप्राय यह है कि सृजन के उत्साह से प्रेरित होकर कवि अपने वस्तु-वर्णन में जो अपूर्व उत्कर्ष उत्पन्न करता है वह प्रकरण-वक्रता है। आगे चलकर कुन्तक ने भेद-प्रभेदों का इतना विशद निरूपण किया है कि प्रकरण-वक्रता का स्वरूप सर्वथा स्पष्ट हो जाता है।

प्रकरण का अर्थ कुन्तक के शब्दों में है : प्रबन्ध का एक देश अर्थात् कथा का एक प्रसंग :—प्रबन्धस्यैकदेशानां··· । (हिन्दी व० जी० परिशिष्ट ४।५)। समग्र कथा-विधान का नाम प्रबन्ध है और उसके अंग अथवा प्रसंग का नाम प्रकरण है। प्रकरण पर आश्रित, अथवा प्रकरण में निहित काव्य-चमत्कार का नाम प्रकरण-वक्रता है। जहां प्रसंगविशेष के उत्कर्ष से सम्पूर्ण प्रबन्ध उज्ज्वल हो उठता है, वहां प्रकरण-वक्रता होती है। अर्थात् सम्पूर्ण प्रबन्ध को दीप्त करने वाला प्रबन्ध के एक देश का चमत्कार प्रकरण-वक्रता के नाम से अभिहित होता है।

प्रकरण-वक्रता के सामान्य रूप का उद्घाटन एक दो उदाहरणों द्वारा करने के उपरान्त कुन्तक ने आठ-नौ विशिष्ट भेदों का उल्लेख किया है। सामान्य रूप में स्थिति के सजीव चित्रण को ही कुन्तक ने प्रकरण-वक्रता माना है और संस्कृत के सेतुबन्ध नामक नाटक के तृतीय अंक 'अभिजात-जानकी' से एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमें सेनापति नील की प्रेरक उक्ति के परिणाम-स्वरूप वानरों के आन्दोलन का सजीव चित्रण है। यहां प्रकरण-वक्रता की परिधि अत्यन्त सीमित है।—इसके आगे आठ-नौ विशिष्ट भेदों का वर्णन इस प्रकार है :—

१. भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना

जहां किसी ऐसी भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना की जाए जो पात्रों के चरित्र

का उत्कर्ष करती हो, वहाँ प्रकरण-वक्रता का प्रथम भेद उपलब्ध होता है : उदाहरण के लिए रघुवंश के पंचम सर्ग में रघु और कौत्स का संवाद। इस प्रसंग का सारांश यह है :—परन्तु मुनि के शिष्य कौत्स गुरु-दक्षिणा चुकाने के लिए महाराज रघु के पास १४ कोटि द्रव्य मांगने आये। किन्तु उससे पूर्व ही रघु विश्वजित् नामक याग सम्पन्न कर चुके थे और उनके पास मिट्टी के पात्रों के अतिरिक्त और कुछ भी शेष नहीं रह गया था। कौत्स मुनि को जब यह ज्ञात हुआ तो वे राजा को आशीर्वाद देकर जाने लगे। किन्तु राजा को इस प्रकार ब्राह्मण का विमुख होकर लौटना असह्य प्रतीत हुआ और वे कुबेर पर चढ़ाई करने का विचार कर ही रहे थे कि कुबेर के यहाँ से आवश्यकता से कहीं अधिक द्रव्य उसी रात्रि को प्राप्त हो गया। राजा ने यह सारा धन कौत्स मुनि के समक्ष प्रस्तुत कर दिया परन्तु निस्पृह मुनि ने आवश्यकता से अधिक अणु-मात्र भी स्वीकार नहीं किया। साकेतवासी इन दोनों के ही व्यवहार को देखकर मुग्ध हो गये : एक ओर गुरु-दक्षिणा से अधिक दान के प्रति निस्पृह याचक था और दूसरी ओर याचक की इच्छा से अधिक दान करने वाला राजा। कालिदास ने इस भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना से दोनों पात्रों के चरित्र का उत्कर्ष प्रदर्शित करते हुए अपनी प्रबन्ध-कल्पना को और भी अधिक प्रभावशाली बना दिया है। हिन्दी में भी इस प्रकार के अनेक प्रसंग उपलब्ध हो सकते हैं : उदाहरण के लिए साकेत का यह मार्मिक स्थल उद्धृत किया जा सकता है :

आ भाई, वह वैर भूल कर, हम दोनों समदुःखी मित्र,
आजा क्षण भर भेंट परस्पर, कर लें अपने नेत्र पवित्र।

हाय ! किन्तु इससे पहले ही मूर्छित हुआ निशाचर-राज,
प्रभु भी यह कह गिरे राम से रावण ही सहृदय है आज।

लक्ष्मण-शक्ति के उपरांत शोक-विक्षिप्त राम युद्ध में प्रलय मचा देते हैं,—इतने ही में उनके सम्मुख कुम्भकरण आ जाता है और वे 'भाई का बदला भाई ही' कहकर उसका वध कर डालते हैं। उसी समय रावण को देखकर राम की उत्तेजना क्षण भर के लिए शांत हो जाती है और भ्रातृहीन रावण तथा अपने बीच वे एक प्रकार के शोक-सौहार्द का अनुभव करने लगते हैं। परन्तु राम रावण की ओर संवेदनार्थ बढ़ने भी न पाये थे कि उससे पहले ही रावण मूर्छित हो जाता है और राम भी अन्त में विह्वल होकर भू-लुण्ठित हो जाते हैं।—उपर्युक्त प्रसंग राम की उदारता तथा रावण की सहृदयता का उत्कर्ष करता हुआ प्रबन्ध-विधान में एक अपूर्व प्रभाव-क्षमता उत्पन्न कर देता है।

२. *उत्पाद्य-लावण्य*

इतिहास में वर्णित कथा के मार्ग में तनिक से कल्पना-प्रसूत अंश के सौंदर्य से (उत्पाद्य-लावण्य के स्पर्श मात्र से) उसका सौंदर्य कुछ और हो हो जाता है। उत्पाद्य-लावण्य के उस स्पर्श मात्र से काव्य में इतना सौंदर्य आ जाता है कि वह प्रकरण चरम सीमा को प्राप्त रस से परिपूर्ण होकर समस्त प्रबन्ध का प्राण-सा प्रतीत होने लगता है। व० जी० ४।३-४। स्पष्ट शब्दों में इसका अभिप्राय यह है कि कहीं-कहीं ऐतिहासिक कथावस्तु में कवि अपनी कल्पना के द्वारा कुछ ऐसे सुन्दर परिवर्तन कर देता है कि समस्त प्रबन्ध ही उनसे रस-दीप्त हो उठता है। यह उत्पाद्य-लावण्य अर्थात् कल्पना-प्रसूत मधुर उद्भावना भी प्रकरण-वक्रता का ही प्रकार-भेद है। इस उत्पाद्य-लावण्य के दो भेद हैं : १. अविद्यमान की कल्पना, २. विद्यमान का संशोधन।

प्रथम रूप :—अविद्यमान की कल्पना—

अविद्यमान की कल्पना का अर्थ है नवीन प्रसंग की उद्भावना। प्रतिभावान कवि कल्पना के द्वारा प्रायः नवीन प्रसंगों की उद्भावना कर अपने काव्य का उत्कर्ष करता है। इतिहास जीवन के सत्यों का निर्मम आलेख है : उसका प्रत्येक प्रकरण मानव-मन का परितोष करे यह सम्भव नहीं है—उसमें कटुता और मधुरता दोनों ही निस्संग भाव से रहती हैं। किन्तु काव्य जीवन के सत्यों का सहृदय आलेख है—उसमें कटुता भी मधुर बनकर आती है। ऐसी स्थिति में काव्य की अन्तरंग आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कवि को अपनी कल्पना का उपयोग करना पड़ता है। कहीं-कहीं इतिहास की कटुता का परिहार करने के लिए उसे किसी नवीन प्रसंग की उद्भावना करनी पड़ती है : जैसे शाकुन्तलम् के चतुर्थ अंक में दुर्वासा-शाप की कल्पना, जो राजा के व्यक्तित्व-दोष का प्रक्षालन कर, क्रमशः समग्र कथा-वस्तु पर प्रभाव डालती हुई, अन्त में नाटक के मूल रस का उत्कर्ष करती है। इस उत्पाद्य-लावण्य से शाकुन्तलम् के रसास्वाद में बाधक तत्वों का परिहार और परिणामतः रस-परिपाक पूर्ण हो जाता है।

३. *द्वितीय रूप :—विद्यमान का संशोधन—*

जहाँ (मूल कथा) में विद्यमान होने पर भी सहृदय के हृदय-आह्लाद के लिए औचित्यरहित अर्थ का परिवर्तन कर दिया जाय, वहाँ उत्पाद्य-लावण्य का 'विद्यमान का संशोधन' नामक द्वितीय प्रकार समझना चाहिए : जैसे उदात्तराघव में मारीच-वध।

उदात्तराघव मायूराज कवि का अप्राप्य नाटक है, इसमें कवि ने राम के उदात्त चरित्र की रक्षा के निमित्त मारीच-वध-प्रसंग में थोड़ा परिवर्तन कर अनौचित्य का परिष्कार करने का प्रयत्न किया है। यहाँ मारीच-वध के लिए राम नहीं वरन् लक्ष्मण जाते हैं और सीता उनकी प्राण-रक्षा के निमित्त कातर होकर राम को भेजती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि घटना के इस संशोधित रूप में अधिक सौंदर्य है।

हिन्दी में प्रियप्रवास, साकेत, यशोधरा, कामायनी, चन्द्रगुप्त नाटक आदि में इस प्रकार के अनेक प्रसंगों में संशोधन किया गया है। उदाहरण के लिए साकेत में लक्ष्मण-शक्ति का संवाद सुनकर अयोध्या-वासियों की रण-सज्जा, अथवा कैकेई का पश्चात्ताप[1], कामायनी में मनु और इड़ा के पिता-पुत्री सम्बन्ध का संशोधन, चन्द्रगुप्त में चन्द्रगुप्त के स्थान पर शकटार द्वारा नन्द की हत्या आदि।

४. *प्रधान कार्य से सम्बद्ध प्रकरणों का उपकार्य-उपकारक भाव*

(फल-बन्ध) प्रधान कार्य का अनुसन्धान करने वाला प्रबन्ध के प्रकरणों का उपकार्योपकारक भाव असाधारण समुल्लेख वाली प्रतिभा से प्रतिभासित किसी कवि के (काव्यादि) में अभिनव सौंदर्य के तत्व को उत्पन्न कर देता है। व० जी० ४।५-६। यह प्रकरण-वक्रता का चौथा भेद है। स्पष्ट शब्दों में कुन्तक का अभिप्राय यह है कि प्रधान कार्य से सम्बद्ध प्रकरणों का पारस्परिक उपकार्य-उपकारक भाव प्रकरण-वक्रता का चतुर्थ भेद है। प्रत्येक प्रकरण की सार्थकता वास्तव में यह है कि वह अन्य प्रकरणों से सम्बद्ध तथा अन्त में प्रधान कार्य का उपकारक हो। अंग की सार्थकता इसी में है कि वह अन्य अंगों से समन्वित होकर अंगी का उत्कर्ष करता है—स्वतंत्र होकर तो वह अपने उद्देश्य को ही विफल कर देता है। अरस्तू ने इसे ही कार्यान्विति कहा है। यूनानी काव्य-शास्त्र में तीन अन्वितियों में कार्य की अन्विति सबसे प्रमुख मानी गयी है। भारतीय शास्त्र में भी वस्तु की अवस्थाओं तथा पंच सन्धियों की विवेचना इसी कार्यान्विति की महत्व-प्रतिष्ठा है।

उदाहरण के लिए उत्तररामचरित के प्रथम अंक में रामचन्द्र द्वारा जृम्भकास्त्रों का वर्णन पांचवें अंक में लव द्वारा उनके प्रयोग का उपकार करता हुआ अन्त में नाटक के प्रधान कार्य सीता-राम के मिलन में साधक होता है।—वास्तव में वक्रता का यह भेद कथा-काव्य के वस्तु-विन्यास का प्राण है: इसका प्रयोग सर्वत्र ही अनिवा-

---

१ विस्तृत व्याख्या के लिए देखिए—साकेत : एक अध्ययन [साकेत की कथावस्तु]

यंतः किया जाता है। हिन्दी में कामायनी के काम सर्ग में मनु-काम की वार्ता आगे चलकर इड़ा सर्ग में काम के अभिशाप का उपकार करती हुई मनु को पतन के मार्ग पर और भी वेग से अग्रसर कर देती है और इस प्रकार चरम घटना की सिद्धि में सहायक होती है।

५. *विशिष्ट प्रकरण की अतिरंजना:*

एक ही अर्थ कवि की प्रौढ़ प्रतिभा से आयोजित होकर अलग-अलग प्रकरणों में बार-बार निबद्ध होकर भी सर्वत्र विलकुल नये रस तथा अलंकारों से मनोहर प्रतीत होता हुआ आश्चर्यजनक वक्रता-शैली को उत्पन्न और पुष्ट करता है। व० जी० ४।७-८। सामान्यतः एक ही अर्थ का बार-बार कथन पुनरुक्त दोष हो जाता है, परन्तु प्रतिभावान कवि उसे इस प्रकार वैचित्र्यपूर्ण रीति से निबद्ध करता है कि वह काव्य में नवीन शोभा उत्पन्न कर देता है। कथा में कुछ ऐसे सरस प्रसंग होते हैं कि उनमें बार-बार रंग भरने से रस-परिपाक में बड़ी सहायता मिलती है, जैसे संभोग-क्रीड़ाओं का अथवा विरह की अवस्थाओं आदि का विस्तार से वर्णन सम्पूर्ण कथा में सरसता का समावेश कर देता है। कुन्तक ने इस भेद के उदाहरण-रूप में तापसवत्सराज नामक अलभ्य नाटक से उदयन के विरह-वर्णन, रघुवंश के नवम सर्ग से दशरथ के मृगया-वर्णन आदि का निर्देश किया है। इन प्रसंगों में घटना प्रायः नगण्य है, परन्तु कवि विरह, मृगया आदि के रमणीक प्रसंगों में रम गया है, और उसने उनका इतना मनोरम वर्णन किया है कि सम्पूर्ण कथा-भाग रस-प्लावित हो गया है। हिन्दी में इस वक्रता के अत्यन्त सरस उदाहरण मिलते हैं—जैसे कामायनी के लज्जा-वर्णन को ही लीजिए जो अपने काव्य-वैभव से घटना के अभाव को पूर्णतः आच्छादित कर प्रबन्ध को रस से दीपित कर देता है। साकेत के नवम सर्ग में उर्मिला-विरह-वर्णन में इसका अतिरंजित रूप मिलता है।

६. *जल-क्रीड़ा उत्सव आदि रोचक प्रसंगों का विशेष विस्तार से वर्णन*

सर्गबन्ध (महाकाव्य) आदि की कथा-वैचित्र्य का सम्पादक जो (जलक्रीड़ा आदि) अंग-सौंदर्य के लिए वर्णित किया जाता है वह भी प्रकरण-वक्रता कहलाता है। 'व०जी० ४।६। प्रबन्ध-काव्य में जीवन को समग्र रूप में अंकित करने के उद्देश्य से मूल घटनाओं के अतिरिक्त अनेक सरस प्रसंगों के समृद्ध चित्र रहते हैं। काव्य की रोचकता की अभिवृद्धि करने के कारण यह भी प्रकरण-वक्रता का ही एक भेद है।

संस्कृत काव्य-शास्त्र में तो इस प्रकार के वर्णनों का अन्तर्भाव महाकाव्य के लक्षण में ही कर दिया गया है :

नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनैः
उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः ॥ दंडी, काव्यादर्श ॥

अर्थात् प्रबन्ध-काव्य का कलेवर नगर, समुद्र, शैल, ऋतु, चन्द्रोदय, सूर्योदय, उद्यान, सलिल-क्रीड़ा, मधुपान, रति-उत्सव आदि से समृद्ध होता है।

इस प्रकार के वर्णन जीवन के प्राकृतिक तथा मानवीय दोनों पक्षों से सम्बद्ध होते हैं। कुन्तक ने इस वक्रता-भेद के दो उदाहरण दिये हैं : (१) रघुवंश के षोड़श सर्ग में कुश की जल-क्रीड़ा का वर्णन (२) किरातार्जुनीयम् में बाहु-युद्ध का प्रकरण। हिन्दी में प्रियप्रवास के रास-क्रीड़ा आदि अनेक वर्णन, जयद्रथ-वध में स्वर्ग-वर्णन इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

७. *प्रधान उद्देश्य की सिद्धि के लिए सुन्दर अप्रधान प्रसंग की उद्भावना*

जिसमें प्रधान वस्तु की सिद्धि के लिए अन्य (अप्रधान) वस्तु की उल्लेखनीय विचित्रता प्रतीत होती है, वह भी इस (प्रकरण) की ही दूसरी प्रकार की वक्रता होती है। व० जी० ४।११। कभी-कभी उद्देश्य की सिद्धि के लिए कवि किसी सुन्दर किन्तु अप्रधान प्रसंग की अवतारणा कर समग्र कथा में एक वैचित्र्य उत्पन्न कर देता है। उदाहरण के लिए मुद्राराक्षस नाटक के छठे अंक में प्रधान उद्देश्य की सिद्धि के लिए चाणक्य-नियुक्त पुरुष द्वारा आत्म-हत्या का प्रपंच इसके अन्तर्गत आता है। चाणक्य राक्षस को जीवित ही बन्दी बनाना चाहता है : उसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए उपर्युक्त रोचक प्रकरण की उद्भावना की गयी है। राजनीतिक प्रबन्धों में ऐसे उदाहरण प्रायः मिल जाते हैं—जासूसी उपन्यास इस प्रकार के प्रसंगों की अक्षय निधि हैं।

८. *गर्भांक*

सामाजिकों के मनोरंजन में निपुण नटों के द्वारा स्वयं सामाजिक का रूप धारण कर अन्य नटों को नट बनाकर, कहीं एक नाटक के भीतर जो दूसरा नाटक प्रयुक्त किया जाता है, वह समस्त प्रसंगों की सर्वस्वभूत अलौकिक वक्रता को पुष्ट

करता है। ४।१२-१३। स्पष्ट शब्दों में अंक के अन्तर्गत गर्भांक आदि का नियोजन भी प्रकरण-वक्रता का एक रूप है। राजशेखर के बालरामायण नाटक के तृतीय अंक में 'सीता-स्वयम्बर' नामक गर्भांक की नियोजना इसका सुन्दर उदाहरण है।

६. *प्रकरणों का पूर्वापर-अन्विति-क्रम*

मुख, प्रतिमुख आदि सन्धियों के संविधान से मनोहर उत्तरवर्ती अंगों का (उचित) सन्निवेश भी प्रकरण-वक्रता का प्रकार होता है।　　　(व० जी० ४।१४)।

इसका अर्थ यह है कि पूर्व प्रकरणों का उत्तर प्रकरणों के साथ सामंजस्य अर्थात् पूर्वापर-अन्विति-क्रम प्रकरण-वक्रता का एक प्रमुख रूप है। यह तो वास्तव में कथा की मूल आवश्यकता है। यदि विभिन्न प्रसंग पूर्वापर-क्रम से परस्पर सम्बद्ध नहीं होंगे तो कथा का सूत्र ही टूट जायगा। कुन्तक ने कुमारसम्भव में विभिन्न घटनाओं की पूर्वापर-अन्विति को इस भेद के उदाहरण-रूप में प्रस्तुत किया है। हिन्दी के सभी सफल प्रबन्धों में—साकेत, यशोधरा, आर्यावर्त, वर्धमान आदि महाकाव्यों और पंचवटी, नहुष, नूरजहाँ आदि खण्डकाव्यों की पूर्वापर-अन्विति में उपर्युक्त वक्रता का दिग्दर्शन होता है।

प्रबन्ध-वक्रता

प्रबन्ध-वक्रता की परिधि में समग्र प्रबन्ध-काव्य—महाकाव्य, नाटक आदि का वास्तु-कौशल अन्तर्निहित है। इसका आधार-फलक सबसे अधिक व्यापक है। प्रबन्ध-वक्रता वास्तव में प्रबन्ध-कल्पना के समग्र सौंदर्य का पर्याय है। कुन्तक ने उसके छह भेदों का वर्णन किया है।

१. *मूल-रस-परिवर्तन*

जहाँ इतिवृत्त अर्थात् आधारभूत ऐतिहासिक कथा-वस्तु में अन्यथा-निरूपित रस-सम्पदा की उपेक्षा करते हुए किसी अन्य हृदयाह्लादकारी रस में निर्वहण (पर्यवसान) करने के उद्देश्य से कथा-मूर्ति में आमूल परिवर्तन किया जाय वहाँ प्रबन्ध-वक्रता का उपर्युक्त भेद मिलता है। (देखिए हिन्दी वक्रोक्तिजीवित ४।१६-१७)। स्पष्ट शब्दों में इसका अर्थ यह है:—कभी-कभी कवि की मौलिक प्रतिभा प्रसिद्ध कथा के मूल रस में परिवर्तन करने के अभिप्राय से समस्त कथा-विधान में ही आमूल परिवर्तन

कर देती है और इस प्रकार एक नवीन प्रबन्ध-कल्पना का उदय होता है—यही कुन्तक की प्रबन्ध-वक्रता का प्रथम भेद है। समस्त कथा-विधान का प्राण रस है : मूल रस के अनुरूप ही कथा के विभिन्न प्रसंगों की कल्पना तथा आयोजना की जाती है। —समस्त कथामूर्ति का निर्माण प्राणभूत रस के अनुरूप ही होता है। अतएव जब कवि की मौलिक प्रतिभा पुनरावृत्ति के प्रति असहिष्णु होकर मूल रस में परिवर्तन करना चाहती है, तो स्वभावतः उसे समस्त घटना-विधान में ही आमूल परिवर्तन करना पड़ता है। इस प्रकार एक नवीन प्रबन्ध-कौशल की उद्भावना होती है—जो कुन्तक की प्रबन्ध-वक्रता का प्रथम रूप अथवा प्रकार है। इस प्रसंग में उन्होंने उत्तर-रामचरित तथा वेणीसंहार नाटकों की प्रबन्ध-कल्पना को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है। उत्तररामचरित की कथा का आधार रामायण और वेणीसंहार का महाभारत है। प्राचीन आचार्यों के मत से रामायण तथा महाभारत दोनों का प्रधान रस शान्त है, परन्तु उत्तररामचरित का मूल रस करुण और वेणीसंहार का वीर है। दोनों के रचयिताओं ने अपनी प्रतिभा के द्वारा मूल रस में और तदनुकूल कथा-विधान में परिवर्तन कर अपने प्रबन्ध-कौशल का परिचय दिया है। महाभारत का प्रधान रस निश्चय ही शान्त है और भट्टनारायण ने नाट्य-कला की आवश्यकतानुसार वेणी-संहार में शांत के स्थान पर वीर को प्रधानता देकर अपूर्व चमत्कार उत्पन्न कर दिया है, इसमें संदेह नहीं। परन्तु रामायण का भी प्रधान रस शांत है—इस सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है। यहाँ कुन्तक ने अपना मत न देकर प्राचीन विद्वानों का प्रमाण दिया है : रामायणमहाभारतयोश्च शान्ताङ्गित्वं पूर्वसूरिभिरेव निरूपितम्। (देखिए हि० व० जी० १७वीं कारिका की वृत्ति)। 'पूर्वसूरिभिः' से उनका अभिप्राय किन आचार्यों से है यह स्पष्ट नहीं है, यद्यपि हम स्वयं यह मानने को तैयार हैं कि रामायण में शांत के अंगित्व की कल्पना सर्वथा अनर्गल नहीं है[1], फिर भी आनन्दवर्धन आदि मान्य आचार्यों के मत से रामायण का प्रधान रस करुण है, शांत नहीं : 'रामायणे हि, करुणो रसः स्वयमादिकविना सूत्रितः शोकः श्लोकत्वमागतः एवं वादिना।'—अर्थात् रामायण से आदि कवि ने स्वयं ही यह कहकर कि 'शोक श्लोक में परिणत हो गया' करुण रस सूचित किया है। हिन्दी ध्वन्यालोक पृ० ४६६। परन्तु इस प्रासंगिक विवाद को छोड़ मुख्य विषय पर आइए। कुन्तक का अभिप्राय यह है कि रामायण का मुख्य रस शांत है, किन्तु भवभूति ने उत्तररामचरित में करुण

१. इसके समर्थन में भी युक्तियाँ दी जा सकती हैं—एक प्रबल युक्ति तो यही है कि रामायण का प्रतिपाद्य परम पुरुषार्थ की सिद्धि ही है, राम-सीता का मिलन नहीं है।

करता है । ४।१२-१३ । स्पष्ट शब्दों में अंक के अन्तर्गत गर्भांक आदि का नियोजन भी प्रकरण-वक्रता का एक रूप है । राजशेखर के बालरामायण नाटक के तृतीय अंक में 'सीता-स्वयम्वर' नामक गर्भांक की नियोजना इसका सुन्दर उदाहरण है ।

६. *प्रकरणों का पूर्वापर-अन्विति-क्रम*

मुख, प्रतिमुख आदि सन्धियों के संविधान से मनोहर उत्तरवर्ती अंगों का (उचित) सन्निवेश भी प्रकरण-वक्रता का प्रकार होता है । (व० जी० ४।१४) ।

इसका अर्थ यह है कि पूर्व प्रकरणों का उत्तर प्रकरणों के साथ सामंजस्य अर्थात् पूर्वापर-अन्विति-क्रम प्रकरण-वक्रता का एक प्रमुख रूप है । यह तो वास्तव में कथा की मूल आवश्यकता है । यदि विभिन्न प्रसंग पूर्वापर-क्रम से परस्पर सम्बद्ध नहीं होंगे तो कथा का सूत्र ही टूट जायगा । कुन्तक ने कुमारसम्भव में विभिन्न घटनाओं की पूर्वापर-अन्विति को इस भेद के उदाहरण-रूप में प्रस्तुत किया है । हिन्दी के सभी सफल प्रबन्धों में—साकेत, यशोधरा, आर्यावर्त, वर्धमान आदि महाकाव्यों और पंचवटी, नहुष, नूरजहाँ आदि खण्डकाव्यों की पूर्वापर-अन्विति में उपर्युक्त वक्रता का दिग्दर्शन होता है ।

प्रबन्ध-वक्रता

प्रबन्ध-वक्रता की परिधि में समग्र प्रबन्ध-काव्य—महाकाव्य, नाटक आदि का वास्तु-कौशल अन्तर्निहित है । इसका आधार-फलक सबसे अधिक व्यापक है । प्रबन्ध-वक्रता वास्तव में प्रबन्ध-कल्पना के समग्र सौंदर्य का पर्याय है । कुन्तक ने उसके छह भेदों का वर्णन किया है ।

१. *मूल-रस-परिवर्तन*

जहाँ इतिवृत्त अर्थात् आधारभूत ऐतिहासिक कथा-वस्तु में अन्यथा-निरूपित रस-सम्पदा की उपेक्षा करते हुए किसी अन्य हृदयाह्लादकारी रस में निर्वहण (पर्यवसान) करने के उद्देश्य से कथा-मूर्ति में आमूल परिवर्तन किया जाय वहाँ प्रबन्ध-वक्रता का उपर्युक्त भेद मिलता है । (देखिए हिन्दी वक्रोक्तिजीवित ४।१६-१७) । स्पष्ट शब्दों में इसका अर्थ यह है :—कभी-कभी कवि की मौलिक प्रतिभा प्रसिद्ध कथा के मूल रस में परिवर्तन करने के अभिप्राय से समस्त कथा-विधान में ही आमूल परिवर्तन

कर देती है और इस प्रकार एक नवीन प्रबन्ध-कल्पना का उदय होता है—यही कुन्तक की प्रबन्ध-वक्रता का प्रथम भेद है। समस्त कथा-विधान का प्राण रस है: मूल रस के अनुरूप ही कथा के विभिन्न प्रसंगों की कल्पना तथा आयोजना की जाती है। —समस्त कथामूर्ति का निर्माण प्राणभूत रस के अनुरूप ही होता है। अतएव जब कवि की मौलिक प्रतिभा पुनरावृत्ति के प्रति असहिष्णु होकर मूल रस में परिवर्तन करना चाहती है, तो स्वभावतः उसे समस्त घटना-विधान में ही आमूल परिवर्तन करना पड़ता है। इस प्रकार एक नवीन प्रबन्ध-कौशल की उद्भावना होती है—जो कुन्तक की प्रबन्ध-वक्रता का प्रथम रूप अथवा प्रकार है। इस प्रसंग में उन्होंने उत्तर-रामचरित तथा वेणीसंहार नाटकों की प्रबन्ध-कल्पना को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है। उत्तररामचरित की कथा का आधार रामायण और वेणीसंहार का महा-भारत है। प्राचीन आचार्यों के मत से रामायण तथा महाभारत दोनों का प्रधान रस शान्त है, परन्तु उत्तररामचरित का मूल रस करुण और वेणीसंहार का वीर है। दोनों के रचयिताओं ने अपनी प्रतिभा के द्वारा मूल रस में और तदनुकूल कथा-विधान में परिवर्तन कर अपने प्रबन्ध-कौशल का परिचय दिया है। महाभारत का प्रधान रस निश्चय ही शान्त है और भट्टनारायण ने नाट्य-कला की आवश्यकतानुसार वेणी-संहार में शांत के स्थान पर वीर को प्रधानता देकर अपूर्व चमत्कार उत्पन्न कर दिया है, इसमें संदेह नहीं। परन्तु रामायण का भी प्रधान रस शांत है—इस सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है। यहां कुन्तक ने अपना मत न देकर प्राचीन विद्वानों का प्रमाण दिया है: रामायणमहाभारतयोश्च शान्तांगित्वं पूर्वसूरिभिरेव निरूपितम्। (देखिए हि० व० जी० १७वीं कारिका की वृत्ति)। 'पूर्वसूरिभिः' से उनका अभिप्राय किन आचार्यों से है यह स्पष्ट नहीं है, यद्यपि हम स्वयं यह मानने को तैयार हैं कि रामा-यण में शांत के अंगित्व की कल्पना सर्वथा अनर्गल नहीं है[1], फिर भी आनन्दवर्धन आदि मान्य आचार्यों के मत से रामायण का प्रधान रस करुण है, शांत नहीं: 'रामायणे हि, करुणो रसः स्वयमादिकविना सूत्रितः शोकः श्लोकत्वमागतः एवं वादिना।'—अर्थात् रामायण से आदि कवि ने स्वयं ही यह कहकर कि 'शोक श्लोक में परिणत हो गया' करुण रस सूचित किया है। हिन्दी ध्वन्यालोक पृ० ४६६। परन्तु इस प्रासंगिक विवाद को छोड़ मुख्य विषय पर आइए। कुन्तक का अभिप्राय यह है कि रामायण का मुख्य रस शांत है, किन्तु भवभूति ने उत्तररामचरित में करुण

१. इसके समर्थन में भी युक्तियां दी जा सकती हैं—एक प्रबल युक्ति तो यही है कि रामायण का प्रतिपाद्य परम पुरुषार्थ की सिद्धि ही है, राम-सीता का मिलन नहीं है।

को अंगित्व प्रदान कर प्रबन्ध-वक्रता का सुन्दर प्रयोग किया है। यदि रामायण में प्रधान रस करुण माना जाय तब भी इस चमत्कार की संरक्षा की जा सकती है क्योंकि उत्तररामचरित आनन्द-पर्यवसायी नाटक है, रामायण की भाँति शोक-पर्यवसायी नहीं : अतएव उसका अंगी रस करुण न होकर शृंगार ही हो सकता है। इस प्रकार भी उसकी प्रबन्ध-वक्रता अक्षुण्ण रहती है।

हिन्दी में रामचरितमानस, रामचन्द्रिका तथा साकेत आदि प्रबन्ध उदाहरण-रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। करुणरसाश्रयी रामायण-कथा पर आश्रित रामचरितमानस का अंगी रस शांत है, रामचन्द्रिका का वीर, साकेत का शृंगार।

२. *नायक के चरित्र का उत्कर्ष करनेवाली चरम घटना पर कथा का उपसंहार*

जहाँ कवि उत्तर भाग की नीरसता का परिहार करने के उद्देश्य से, त्रैलोक्य को चकित करने वाले, नायक-चरित्र के पोषक, इतिहास-प्रसिद्ध कथा के प्रकरण-विशेष पर ही कथा को परिसमाप्ति कर देता है, वहाँ द्वितीय प्रकार की प्रबन्ध-वक्रता होती है। (व० जी० ४।१८-१९)। इसका आशय यह है कि चरित्रप्रधान काव्यों के सम्बन्ध में कभी-कभी कुशल कवि यह अनुभव करता है कि समस्त कथा रस-पुष्ट नहीं है—एक विशेष सीमा पर पहुँचने के पश्चात् फिर वह कोरा इतिवृत्त मात्र रह जाती है, अतएव नायक के पूर्ण उत्कर्ष की स्थिति को चरम घटना मानकर वह अपने प्रबन्ध का नाटकीय ढंग से वहीं निर्वहण कर देता है। इससे दो लाभ होते हैं, एक तो विरस कथा का परिहार हो जाता है और दूसरे चरम उत्कर्ष पर पाठक या प्रेक्षक का ध्यान केन्द्रित तथा स्थिर हो जाता है। इस विधान में निश्चय ही एक प्रकार का प्रबन्ध-कौशल वर्तमान रहता है, जिसे कुन्तक अपनी प्रबन्ध-वक्रता का दूसरा भेद मानते हैं।

[illegible] किया है। किराता-[illegible] लेकर दुर्योधन के नाश और युधिष्ठिर के राज्यारोहण तक समग्र कथा-वर्णन का उपक्रम कर रहा है। किन्तु होता यह नहीं है, जहाँ अर्जुन किरातवेषधारी शिव के साथ युद्ध में पराक्रम प्रदर्शित कर पाशुपत अस्त्र की उपलब्धि करता है, वहीं—नायक के इस चरमोत्कर्ष की स्थिति पर—कथा समाप्त हो जाती है। इस प्रकार उत्तरवर्ती नीरस प्रसंगों का परिहार हो जाता है और नायक के पूर्ण उत्कर्ष का चित्र सहृदय के मन में स्थिर रूप से अंकित हो जाता है। हिन्दी में चन्द्रगुप्त नाटक आदि का उदाहरण

प्रस्तुत किया जा सकता है। यवनों के निष्कासन के उपरान्त भी चन्द्रगुप्त के जीवन में अनेक महत्वपूर्ण घटनाएँ हुईं : वास्तव में उसके जीवन की कहानी एक नये रूप में इसके उपरान्त ही आरम्भ हुई, परन्तु प्रसाद जी ने उन सब विरस इतिवृत्त घटनाओं का त्याग कर नायक के पूर्ण उत्कर्ष के अवसर पर ही नाटक का अन्त कर दिया है। इसी प्रकार जयद्रथ-वध में भी यही वक्रता है। जयद्रथ-वध के उपरान्त दुर्योधन के नाश और युधिष्ठिर के राज-तिलक तक अनेक महत्वपूर्ण घटनाएँ हुईं; किन्तु कवि ने उनका वर्णन न कर प्रतिज्ञा-पूर्ति के साथ नायक के चरम उत्कर्ष पर ही कथा का अन्त कर दिया है।

३. कथा के मध्य में ही किसी अन्य कार्य द्वारा प्रधान कार्य की सिद्धि

प्रधान-वस्तु के सम्बन्ध का तिरोधान करने वाले किसी अन्य कार्य द्वारा बीच में ही विच्छिन्न हो जाने के कारण विरस हुई कथा, उसी विच्छेद-स्थल पर प्रधान कार्य की सिद्धि हो जाने से, अबाध रस से उज्ज्वल, प्रबन्ध की किसी अनिर्वचनीय नवीन वक्रता की सृष्टि करती है। व० जी० ४।१०-११।—अर्थात् प्रतिभावान कवि कभी-कभी किसी अन्य घटना को उत्कर्ष प्रदान कर कथा के स्वाभाविक विकास का विच्छेद करता हुआ अपने काव्य-कौशल के बल पर बीच में ही प्रधान कार्य की सिद्धि कर देता है। प्रधान कार्य की इस अनायास सिद्धि से प्रबन्ध-विधान में एक अपूर्व चमत्कार उत्पन्न हो जाता है :यही कुन्तक की प्रबन्ध-वक्रता का तीसरा प्रकार है—उदाहरण : शिशुपाल-वध। शिशुपाल-वध महाभारत के युधिष्ठिर-राजसूय प्रकरण की घटना है। इस प्रकरण का प्रधान कार्य है यज्ञ की पूर्ति—किन्तु महाकवि माघ ने शिशुपाल-वध की घटना को अत्यन्त उत्कर्ष प्रदान कर कथा को इस कौशल के साथ उच्छिन्न कर दिया है कि यज्ञ के फल की सिद्धि वहीं हो जाती है। यह नाटकीय चमत्कार निश्चय ही सहृदय का मनःप्रसादन करता है।

वास्तव में द्वितीय-तृतीय भेदों का चमत्कार उनकी आकस्मिकता तथा एकाग्रता में निहित है—ये ही गुण पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में 'नाटकीय गुण' कहलाते हैं जिनका प्रबन्ध के सभी रूपों में बड़ा महत्व है। आकस्मिकता विस्मय को उद्बुद्ध करती है, एकाग्रता से ध्यान केन्द्रित होता है; उत्तरवर्ती घटनाओं का त्याग कल्पना को उत्तेजित करता है : और ये तीनों गुण मिलकर कथा के प्रति पाठक के अनुराग की परिवृद्धि करते हैं। यही इन वक्रताओं का मूल रहस्य है।

४. नायक द्वारा अनेक फलों की प्राप्ति

जहाँ एक फलविशेष की सिद्धि में तत्पर नायक अपने माहात्म्य के चमत्कार से वैसे ही अनेक फलों की प्राप्ति कर प्रथित यश का भाजन बनता है, वहाँ प्रबन्ध-वक्रता का एक अपर—(अर्थात् चतुर्थ) प्रकार मिलता है। (व० जी० ४।१२-२३)। कभी-कभी कुशल कवि अपने नायक को मूलतः किसी एक फलविशेष की प्राप्ति में तत्पर दिखाकर, क्रमशः ऐसी स्थितियों की सृष्टि करता चलता है कि उसे वैसे ही अनेक स्पृहणीय फलों की प्राप्ति भी हो जाती है। इस प्रकार रोचक स्थितियों की उद्भावना द्वारा नायक के उत्कर्ष की वृद्धि कर मर्मज्ञ कवि की प्रतिभा अपने प्रबन्ध-विधान में एक अपूर्व चमत्कार उत्पन्न कर देती है—यही प्रबन्ध-वक्रता का चतुर्थ भेद है। कुन्तक ने इसके लिए नागानन्द का उदाहरण दिया है। नागानन्द का नायक जीमूतवाहन मूलतः अपने पिता की सेवा के लिए वन में जाता है, किन्तु वहाँ उसका गन्धर्व-कन्या मलयवती से प्रेम और विवाह होता है। फिर वह शंखचूड़ नामक नाग की रक्षा के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग कर नाग-कुल की रक्षा करता है। इस प्रकार नायक को पितृ-भक्ति के साथ प्रेम तथा लोक-कल्याणमयी भूमा का सुख भी उसी प्रसंग में प्राप्त हो जाता है।

हिन्दी में चित्रांगदा (अनूदित), हिडिम्बा आदि में इस प्रकार की वक्रता उपलब्ध होती है।—नायक एक कार्य की सिद्धि में तत्पर होते हैं, किन्तु उन्हें अनेक स्पृहणीय फल प्राप्त हो जाते हैं : वनवास-दण्ड-भोगी अर्जुन की यात्रा का उद्देश्य मनोरंजन है, परन्तु वहाँ उन्हें चित्रांगदा की प्राप्ति हो जाती है। इसी प्रकार हिडिम्बा में भीम लाक्षागृह से बचकर प्राण-रक्षा के निमित्त वन में जाते हैं—वहाँ उन्हें मूल उद्देश्य की पूर्ति के साथ हिडिम्बा की उपलब्धि भी हो जाती है।

इस वक्रता का मूल रहस्य भी कुतूहल-वृत्ति के परितोष में ही निहित है। मानव-मन वैचित्र्य का प्रेमी है—विधाता की सृष्टि चित्र-विचित्र रहस्यों का आकर है, जीवन में पग-पग पर अनेक रहस्यों का उद्घाटन मानव को मुग्ध-चकित करता रहता है। एक उद्देश्य की साधना में अनुरत सदाशय व्यक्ति द्वारा अप्रत्याशित रूप से अनेक फलों की प्राप्ति हमारे मन में अनायास ही एक मधुर विस्मय का भाव भर देती है। प्रतिभावान कवि इस मनोवैज्ञानिक सत्य को पहचानता हुआ इसके आधार पर घटनाओं का संयोजन कर अपने प्रबन्ध-कौशल का परिचय देता है।

५. *प्रधान कथा का द्योतक नाम*

प्रधान कथा के द्योतक चिह्न-रूप नाम से भी कवि काव्य में कुछ अपूर्व सौंदर्य उत्पन्न कर देता है और वह भी प्रबन्ध-वक्रता का एक भेद कहा जा सकता है। ४।२४। विदग्ध कवि कथा-विधान में तो चमत्कार उत्पन्न करता हो है— कभी-कभी वह अपने काव्य का नामकरण भी इतने अपूर्व कौशल के साथ करता है कि नाम के द्वारा हो कथा का मूल रहस्य प्रकट हो जाता है। उदाहरण के लिए अभिज्ञानशाकुन्तलम् या मुद्राराक्षस नामों को लीजिए। अभिज्ञानशाकुन्तलम् की कथा का मूल चमत्कार अभिज्ञान मुद्रिका द्वारा शकुन्तला के स्मरण पर निर्भर है : अभिज्ञान के खो जाने पर शकुन्तला का विस्मरण और उसके पुनः प्राप्त हो जाने पर शकुन्तला का पुनः स्मरण—यही अभिज्ञानशाकुन्तलम् की कथा का मूल सौंदर्य है। कवि कालिदास ने इसे नाम में ही सन्निहित कर अपने कौशल का परिचय दिया है। अभिज्ञानेन स्मृता शकुन्तला अभिज्ञानशकुन्तला, तामधिकृत्य कृतं नाटकम् अभिज्ञान-शाकुन्तलम्। मुद्राराक्षस का नामकरण भी ऐसा ही है। इधर हिन्दी में कामायनी, साकेत आदि काव्यों और रंगभूमि, कायाकल्प आदि उपन्यासों के नामों में भी इसी प्रकार का चमत्कार है। 'काम' अर्थात् जीवन की मांगलिक इच्छा को आधार मानकर भाव, ज्ञान तथा कर्म वृत्तियों का समन्वय ही कामायनी का मूल संदेश है। इसी को नाम द्वारा अभिव्यक्त करने के उद्देश्य से कवि ने मनु और श्रद्धा की कहानी का नाम कामायनी रखा है। साकेत नाम कथा के स्थान-ऐक्य का अभिव्यंजक है—इसी प्रकार रंगभूमि, कायाकल्प आदि से भी कथा के ध्वन्यार्थ का बोध होता है। इसके विपरीत रामचरित, शिशुपाल-वध, (हिन्दी में जयद्रथ-वध आदि) नाम सर्वथा अभिधात्मक हैं, कुन्तक ने इन्हें कल्पनाशून्य होने के कारण सर्वथा चमत्कार-हीन माना है।

सामान्यतः यह प्रबन्ध-विधान का कोई विशेष सौंदर्य नहीं है—किन्तु इसमें भी प्रबन्ध-कल्पना का थोड़ा बहुत चमत्कार तो रहता ही है। कथा के प्राणभूत चमत्कार को नाम में ही सन्निहित कर देना भी प्रबन्ध-कल्पना की विदग्धता का द्योतक है, इसीलिए कुन्तक ने इसे प्रबन्ध-वक्रता का एक भेद माना है।

६. *एक ही मूल कथा पर आश्रित प्रबन्धों का वैचित्र्य-वैविध्य*

एक ही कथा में महाकवियों द्वारा आबद्ध काव्य-बन्ध एक दूसरे से विलक्षण होने के कारण किसी अमूल्य वक्रता का पोषण करते हैं। ४।२५।

कथा-भाग का वर्णन समान होने पर भी अपने-अपने गुणों से, काव्य, नाटक आदि प्रबन्ध पृथक्-पृथक् होते हैं जैसे प्राणों के शरीर में समान होने पर भी उनके अपने-अपने गुणों से भय होता है। ४।२५। अंतश्लोक।

(इस प्रकार) नये-नये उपायों से सिद्ध होने वाले, नीति-मार्ग का उपदेश करने वाले, महाकवियों के सभी प्रबन्धों में (अपनी-अपनी) वक्रता अथवा सौंदर्य रहता है। ४।२६।

उपर्युक्त वाक्यों का निष्कर्ष यह है कि एक ही मूल कथा का आश्रय लेकर भी प्रबन्ध-कुशल कवि अपनी प्रतिभा के चमत्कार से एक-दूसरे से सर्वथा विलक्षण प्रबन्ध-काव्य, नाटकादि की सृष्टि करने में सफल हो जाते हैं। इन काव्य-नाटकादि की आधारभूत कथा एक होती है, इन सभी का मूल उद्देश्य—आनन्दवर्धन के शब्दों में ध्वन्यार्थ सर्वथा भिन्न होता है, और उसी के कारण इनका काव्य-सौंदर्य भी एक दूसरे से विलक्षण होता है।

उदाहरण के लिए रामायण की मूल कथा के आधार पर संस्कृत में रामाभ्युदय, उदात्तराघव, वीरचरित, बालरामायण, कृत्यारावण, मायापुष्पक आदि अनेक नाटकों की रचना हुई है। इन सभी की आधारभूत कथा समान है, किन्तु काव्य-सौंदर्य एक दूसरे से सर्वथा विलक्षण है।—इसी प्रकार हिन्दी में भी रामचरितमानस, रामचन्द्रिका, मेघनादवध (अनूदित), रामचरितचिन्तामणि, रामचन्द्रोदय, साकेत, साकेत-संत आदि अनेक प्रबन्ध-काव्यों का वस्तु-आधार एक होते हुए भी ध्वन्यार्थ और तदनुसार काव्य-सौंदर्य सर्वथा भिन्न है। एक ही मूल कथा का आश्रय लेकर अनेक परस्पर-भिन्न प्रबन्धों की सृष्टि करना अपूर्व प्रबन्ध-कौशल का परिचायक है—इसलिए कुन्तक ने इसे प्रबन्ध-वक्रता का एक महत्वपूर्ण (अनर्घ) भेद माना है।

यह भेद आनन्दवर्धन की प्रबन्ध-ध्वनि के समकक्ष है—आनन्दवर्धन का मत है कि कवि का इतिवृत्त-निर्वहण से कोई प्रयोजन नहीं; काव्य का प्राण तो वह ध्वन्यार्थ है जिसके माध्यम रूप में कवि कथा का प्रयोग करता है। अतएव एक ही कथा पर आश्रित काव्य अपने ध्वन्यार्थ के भेद से परस्पर भिन्न हो सकते हैं। कुन्तक ने वस्तु-परक दृष्टि से विवेचन करते हुए इसे कवि-कौशल का एक प्रकार मान लिया है—जब कि आनन्द इसे रसानुभूति-परक ही मानते हैं।

प्रबन्ध-वक्रता के इन भेदों के साथ कुन्तक का वक्रता-वर्णन समाप्त हो जाता है।—कवि-प्रतिभा की वस्तुगत अभिव्यक्ति का नाम है वक्रता, अतएव, कवि-प्रतिभा के आनन्त्य के अनुसार वक्रता का भी आनन्त्य स्वतःसिद्ध है। कवि की प्रतिभा न जाने किस प्रसंग में किस प्रकार की नूतन कल्पना या नूतन चमत्कार की सृष्टि कर सकती है, इसका निश्चित ज्ञान किसको है ? इसी लिए तो उपर्युक्त भेद सामान्य वर्गों का ही निर्देश मात्र करते हैं : वक्रता का आनन्त्य उसमें सीमा-बद्ध नहीं है।

कुन्तक और प्रबन्ध-कल्पना

अन्तिम दो वक्रता-भेदों के निरूपण में कुन्तक की प्रबन्ध-विधान-विषयक प्रौढ़ धारणाएँ सन्निहित हैं।

१. प्रबन्ध काव्य का श्रेष्ठतम रूप है।

इसमें सन्देह नहीं कि अन्य आचार्यों की भाँति कुन्तक भी प्रबन्ध को काव्य का श्रेष्ठतम रूप मानते हैं—प्रबन्ध को उन्होंने महाकवियों का कीर्तिकन्द अर्थात् उनके यश का मूल आधार माना है : 'प्रबन्धेषु कवीन्द्राणां कीर्तिकन्देषु किं पुनः।' ४।२६ वीं कारिका का अन्तश्श्लोक। भारतीय परम्परा आरम्भ से ही प्रबन्ध-काव्य को, जिसके अन्तर्गत महाकाव्य तथा चरित-काव्य के अतिरिक्त नाटक तथा कथा-काव्य का भी अन्तर्भाव है, वाङ्मय का चरम विकास मानती आयी है। भरत, वामन, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त आदि समस्त गम्भीरचेता आचार्यों ने इसी मत का अत्यन्त प्रबल शब्दों में प्रतिपादन किया है :

भरत :

नाटक महारस, महास्वाद, उदात्त भाषा-शैली, महापुरुषों के वृत्त, समस्त भाव, रस, कर्म-प्रवृत्ति तथा नाना अवस्थाओं से युक्त होता है। + + + कोई भी ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, कर्म अथवा योग ऐसा नहीं है जो नाटक में दृष्टिगत न होता हो। नाट्य-शास्त्र २१।११६,१२२,१२६।

वामन :

क्रमसिद्धिस्तयोः स्रगुत्तंसवत्—अर्थात् मुक्तक और प्रबन्ध में वही सम्बन्ध है जो माला और उत्तंस में—जिस प्रकार माला-गुंफन की कला में पारंगत होने के

उपरान्त ही उतंस-गुम्फन में सिद्धि प्राप्त होती है, इसी प्रकार मुक्तक-रचना की सिद्धि के उपरान्त ही कवि प्रबन्ध-रचना में सिद्धि लाभ करता है।—कुछ व्यक्ति मुक्तक में ही अपने कवि-कर्म की महत्ता मान बैठते हैं—पर वह उचित नहीं है क्यों कि जिस प्रकार अग्नि का पृथक् परमाणु प्रकाश-दान नहीं करता, उसी प्रकार मुक्तक काव्य भी सम्यक् रूप से प्रकाशित नहीं होता। हिन्दी का० सूत्र १।३।२८-२९।

अभिनवगुप्त :

तच्च (रसास्वादोत्कर्षकारकं विभावादीनां समप्राधान्यम्) प्रबन्ध एव। (अभिनव-भारती, गायकवाड़ संस्करण पृ० २२८)। विभाव आदि समस्त रसांगों का सम्यक् वर्णन रस के उत्कर्ष का कारण है, और वह प्रबन्ध-काव्य में ही सम्भव होता है—अतएव मुक्तक की अपेक्षा प्रबन्ध का महत्व निश्चय ही अधिक है। मुक्तक में (जैसा कि अभिनवगुप्त ने इसी प्रसंग में आगे चलकर कहा है) इन सबकी पूर्व-पीठिका मन में कल्पित करनी पड़ती है—जबकि प्रबन्ध में इनका प्रत्यक्ष वर्णन रहता है। आचार्यों के इस पक्षपात का कारण अपने आप में अत्यन्त स्पष्ट है। सबसे प्रमुख कारण तो यह है कि विभावादि रसांगों के वर्णन का पूर्ण अवकाश होने के कारण रस का सम्यक् परिपाक प्रबन्ध में ही सम्भव है—जीवन की अनेक परिस्थितियों में बारबार पुष्ट स्थायी भाव का जितना स्थायी परिपाक प्रबन्ध में हो सकता है, उतना मुक्तक की एक परिस्थिति में नहीं। प्राणों में निरन्तर प्रवहमान रस-धारा और रस के एक घूँट के आस्वाद में जो अन्तर है वही प्रबन्ध और मुक्तक के आस्वाद में अन्तर है। मुक्तक एक मनःस्थिति की काव्याभिव्यक्ति है, प्रबन्ध जीवन-दर्शन की। प्रबन्ध में जीवन का सर्वांग-विस्तार तथा सम्पूर्ण अभिव्यक्ति रहती है, इसलिए आनन्द के अतिरिक्त काव्य के अन्य महत्वपूर्ण उद्देश्य पुरुषार्थ-चतुष्टय की प्राप्ति का साधन प्रबन्ध-काव्य ही अधिक है। इस प्रकार काव्य की ऐहिक और आमुष्मिक दोनों सिद्धियों का माध्यम होने के कारण प्रबन्ध-काव्य भारतीय काव्य-शास्त्र में मूर्धन्य पर शोभित रहा है।—पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में भी इस मत का प्रचार कम नहीं रहा। प्राचीनों का निर्णय तो निश्चय ही प्रबन्ध के पक्ष में था ही, आधुनिकों में भी गम्भीरतर आलोचकों का प्रायः यही मत है। अरस्तू ने प्रबन्ध-काव्य को—दुःखान्तकी और महाकाव्य—विशेष रूप से दुःखान्तकी को कला का सबसे उत्कृष्ट रूप माना है। आधुनिकों में, महान विषय वस्तु से सम्पन्न प्रबन्ध-काव्य के प्रति मैथ्यू आर्नल्ड का पक्षपात प्रसिद्ध ही है। इधर रिचर्ड्स ने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर दुःखान्तकी का 'मूल्य' सबसे अधिक निर्धारित किया है : उनका तर्क है कि काव्य की सिद्धि मनो-

वृत्तियों के समन्वय में है। दुःखान्तकों की आधारभूत वृत्तियाँ हैं करुणा और भय जो एक दूसरे के सर्वथा विपरीत हैं क्यों कि करुणा का गुण आकर्षण है, भय का विकर्षण, अतएव इनका समन्वय अत्यन्त कठिन और उसी अनुपात से पूर्ण भी होता है। हिन्दी के आचार्यों में पं० रामचन्द्र शुक्ल की यह मान्यता तो इतनी बद्धमूल थी कि वे सूरदास तथा अन्य प्रगीत कवियों के साथ अन्याय कर बैठे हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि उपर्युक्त अभिमत के पीछे पुष्ट तर्क है : व्यापक जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति तथा रस का स्थायी परिपाक दोनों ही गुण अपने आप में इतने महान हैं कि सामान्यतः उनके आधार पर प्रबन्ध का गौरव स्वीकार करना ही पड़ता है। इसका एक स्थूल प्रमाण यह है कि संसार में ऐसे नाम विरल हैं जो प्रबन्ध-काव्य की रचना किये बिना महाकवि के गौरव-भागी हुए हों—यह कोई नियम नहीं है, एक प्रत्यक्ष प्रमाण मात्र है। परन्तु इस मान्यता को बहुत दूर तक नहीं ले जाना चाहिए—अन्यथा इससे जीवन और काव्य के अन्य मौलिक सत्यों की उपेक्षा हो सकती है। तर्क की दृष्टि से भी, इसमें संदेह नहीं कि व्यापकता महान गुण है परन्तु तीव्रता का भी महत्त्व कम नहीं : जीवन का अनुभव-विस्तार बड़ी बात है तो क्षण की एकाग्र तन्मयता का भी प्रभाव कम नहीं होता है। निरन्तर प्रवहमान रस काम्य है, परन्तु किसी-किसी एक घूंट में भी बड़ा तीखा आनन्द होता है। इसीलिए प्रगीत के पक्षपातियों की भी संख्या अल्प नहीं है—भारत में अमरुक के एक श्लोक को शत प्रबन्धों से अधिक मूल्य देने वाले भी थे ही। उधर पश्चिम के रोमानी युग में भी प्रगीत को ही अधिक प्रश्रय दिया गया था। आधुनिक युग के प्रसिद्ध कवि तथा काव्य-मर्मज्ञ ड्रिंकवाटर की तो स्पष्ट घोषणा है कि प्रगीत तत्व ही काव्य का प्राण है, और समस्त श्रेष्ठ काव्य मूलतः प्रगीत ही होता है। अतएव जीवन-काव्य के मूल्यों को विस्तार में ही आंकना सर्वथा संगत नहीं होगा—विस्तार के साथ गहराई और ऊँचाई : समतल-संचरण के साथ ऊर्ध्व-संचरण भी अपेक्षित है। समतल विस्तार प्रबन्ध का क्षेत्र है, ऊर्ध्व तथा अन्तःसंचरण प्रगीत का : इन दोनों के समन्वय से ही जीवन-काव्य की पूर्णता सिद्ध हो सकती है।—कहने का तात्पर्य यह है कि प्रबन्ध की एकान्त महत्व-स्वीकृति तो सर्वथा मान्य नहीं है, किन्तु उसे एक विशेष लाभ यह प्राप्त है कि अपने व्यापक कलेवर में वह मुक्तक और प्रगीत को भी अन्तर्भूत कर लेता है और इस प्रकार प्रगीत या मुक्तक की स्फुटता संयोजित रूप धारण कर पूर्णता की ओर अग्रसर हो सकती है। अतएव प्रबन्ध की श्रेष्ठता एक सापेक्षिक सत्य है जिसका आधार यह है कि प्रबन्ध के अन्तर्गत प्रगीत का भी समावेश हो सकता है और प्रायः

सभी उत्कृष्ट प्रबन्धों में प्रचुर मात्रा में होता है, परन्तु प्रगीत के सर्वथा संक्षिप्त कलेवर में प्रबन्ध-गुण के लिए अवकाश नहीं है।

२. *प्रबन्ध-काव्य का सौंदर्य इतिवृत्त पर आश्रित न होकर कवि की संयोजक कल्पना या प्रसंग-विधान-कौशल पर निर्भर रहता है।*

गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः ॥४।११

कुन्तक ने प्रबन्ध-वक्रता के भेद-निरूपण में यह स्पष्ट निर्देश किया है कि प्रबन्ध-काव्य का चमत्कार मूल इतिवृत्त पर आश्रित नहीं है। इस सौंदर्य का आधार तो कवि का प्रबन्ध-कौशल है, तभी तो एक ही इतिवृत्त को लेकर अनेक सफल प्रबन्ध-काव्यों की सृष्टि होती रही है जिनका चमत्कार एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है। एक कथा कवि की विधायिनी कल्पना के द्वारा विभिन्न व्यन्यार्थों—कुन्तक के शब्दों में वक्रताओं—की माध्यम बन सकती है। अर्थात् प्रबन्धत्व घटनावली में नहीं वरन् उनके विधान में निहित रहता है।

३. *प्रबन्ध-विधान के कई प्रकार हैं।*

(क) मूल रस में परिवर्तन—अर्थात् संवेद्य अनुभूति के अनुसार कथा का पुनर्भावन : इसके लिए कवि प्रसिद्ध कथा को अपने स्वभाव के अनुकूल एक भिन्न अनुभूति का माध्यम बनाकर, उसका पुनर्भावन करता है। इस प्रकार मनोविज्ञान की शब्दावली में मूल रस में परिवर्तन का अर्थ है कथा का पुनर्भावन।

(ख) नायक-चरित्र के किसी एक प्रधान पक्ष का चरम उत्कर्ष प्रदर्शित करने के लिए अंग को अंगी का रूप देकर कथा का पुनराख्यान।

(ग) कथा की नाटकीय परिणति—अर्थात् घटनाओं का तर्क-संगत विकास न दिखाकर बीच में ही किसी एक प्रधान घटना की चरमावस्था पर, आकस्मिक ढंग से, कथा का अन्त कर देना। इसके लिए नियोजन में सहज विकास-क्रम की संगति के स्थान पर आकस्मिकता का कुतूहल रहता है।

(घ) प्रतिपाद्य के अनुसार कथा का पुनराख्यान :—प्रत्येक कवि का अपने स्वभाव-संस्कार तथा परिस्थिति के अनुकूल एक विशिष्ट दृष्टिकोण होता है और

यह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से काव्य में उसी को प्रतिफलित करने की चेष्टा करता है—यही उसका प्रतिपाद्य या संदेश होता है। इस प्रकार अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुकूल अनेक कवि किसी एक ही प्रसिद्ध कथा का पुनराख्यान कर अपने प्रबन्ध-कौशल का परिचय देते हैं।

४. प्रबन्ध-विधान का आधार है प्रकरण-नियोजन।

यहाँ तक तो प्रबन्ध-विधान के समग्र रूप की विवेचना हुई, अब उसके अंगों को लीजिए। प्रकरणों की समष्टि का नाम प्रबन्ध है, अतएव प्रबन्ध-विधान अन्त में प्रकरणों की नियोजना पर निर्भर रहता है। कुन्तक ने प्रकरणों—स्पष्ट शब्दों में—घटनाओं की नियोजन-कला के विषय में कतिपय स्पष्ट संकेत दिये हैं।

प्रकरण-नियोजन के मूल तत्व इस प्रकार हैं :

(अ) घटनाओं का सजीव वर्णन।

(आ) घटनाओं का पूर्वापर-क्रम-बन्धन।

(इ) मूल उद्देश्य के सम्बन्ध से घटनाओं का उपकार्य-उपकारक सम्बन्ध, सामंजस्य तथा एकसूत्रता।

(ई) नवीन उद्भावना :—

१. चरित्र, उद्देश्य, अथवा रस के उत्कर्ष की दृष्टि से नवीन प्रसंगों की उद्भावना।

२. औचित्यादि की रक्षा के लिए प्रतिकूल अथवा अनावश्यक प्रसंगों में परिवर्तन अथवा उनका परित्याग।

३. मनोरम प्रसंगों की अतिरंजना द्वारा रोचकता का समावेश।

भारतीय काव्य-शास्त्र में प्रबन्ध-कौशल का यह सर्व-प्रथम मौलिक तथा सांगोपांग विवेचन है। कुन्तक से पूर्व नाटक की कथा-वस्तु के सम्बन्ध में भरत आदि ने, और रस के सम्बन्ध में आनन्दवर्धन ने प्रबन्ध-विधान का विवेचन किया है, परन्तु वहाँ यह साध्य न होकर साधन मात्र है। उदाहरण के लिए भरत ने नाटक को

कथा-वस्तु के आधार, आधिकारिक एवं प्रासंगिक भेद, तथा क्रम-विकास आदि का वर्णन रंगमंच की आवश्यकतानुसार; और आनन्दवर्धन ने प्रसंग आदि की उद्भावना की चर्चा रस-परिपाक की दृष्टि से की है। भरत का विवेचन बहुत कुछ वस्तु-परक है, और आनन्दवर्धन का व्यक्ति (सहृदय)-परक। भरत ने मुख्यतः कथा के तत्वों और आनन्दवर्धन ने कथा के रस पर ही अधिक ध्यान दिया है। कुन्तक ने पहली बार कवि-कौशल की दृष्टि से प्रबन्ध के शिल्प-विधान का विश्लेषण किया है। व्यावहारिक रूप में निगमन-विधि पर आधृत होने पर भी इस विवेचन में कला के सामान्य एवं मौलिक सिद्धान्तों का यथावत् निरूपण है। इसका प्रमाण यह है कि भारतीय तथा पाश्चात्य आचार्यों के प्रबन्ध-विवेचन के प्रायः सभी मूल तत्व इसके अन्तर्गत आ गये हैं।

भारतीय काव्य-शास्त्र में सबसे पूर्व भरत ने (और फिर उन्हीं के आधार पर धनंजय आदि ने) नाट्य-विधान की दृष्टि से वस्तु का विवेचन किया है। भरत के अनुसार कथा-वस्तु दो प्रकार की होती है—आधिकारिक अर्थात् प्रधान और प्रासंगिक अथवा गौण। कथा के विकास की पाँच अवस्थाएँ होती हैं, इनमें अन्तिम अवस्था है फलागम जहाँ कथा का विधान सम्पूर्ण हो जाता है। अवस्थाओं के समानान्तर सन्धियाँ हैं जो वस्तु-विकास के प्रत्येक मोड़ पर अवस्थाओं तथा अर्थ-प्रकृतियों के अन्विति-सूत्र को जोड़ती हैं। अन्तिम अर्थ-प्रकृति 'कार्य' है : कार्य से अभिप्राय कथा की उस प्रधान घटना का है जिसमें अन्य घटनाओं का समाहार हो जाता है।—कुन्तक ने अवस्था, अर्थ-प्रकृति और सन्धि आदि का तो वर्णन नहीं किया, वह उनकी विवेचन-योजना में आता भी नहीं है, परन्तु उनके अस्तित्व की स्वीकृति पृष्ठ-भूमि में सर्वत्र वर्तमान रही है। प्रकरण-वक्रता तथा प्रबन्ध-वक्रता के अनेक रूपों के निरूपण में आधिकारिक और प्रासंगिक वस्तु-भेदों, फलागम आदि अवस्था-भेदों तथा मुख-प्रतिमुख संधियों का पृष्ठाधार निश्चित रूप से ग्रहण किया गया है। आधिकारिक और प्रासंगिक कथा-भेदों का उल्लेख प्रधान और अप्रधान कार्य के रूप में प्रकारान्तर से अनेक स्थलों पर हुआ है : कहीं-कहीं तो आधिकारिक शब्द का ही प्रयोग है : 'प्रधानवस्तु-सम्बन्ध-तिरोधान-विधायिना आधिकारिकफलसिद्धुपायतिरोधानकारिणा' ४।२० वीं कारिका की वृत्ति। वास्तव में प्रधान-अप्रधान अथवा आधिकारिक-प्रासंगिक वस्तु का यह पार्थक्य-ज्ञान प्रबन्ध-कौशल का प्रमुख आधार है—कथा की एकता, अन्विति, सजीवता, रोचकता आदि अनेक गुणों का मूल उत्स यही है। फलागम अथवा मूल उद्देश्य तो कथा का

प्राण-तत्व है—अतएव उसका आश्रय भी कुन्तक ने अनेक भेदों के विवेचन में अनिवार्य रूप से ग्रहण किया है : प्रबन्धस्यैकदेशानां फलबन्धानुबन्धवान् । ४।५। यहाँ प्रबन्ध के एकदेश का अर्थ है प्रकरण और फलबन्ध से अभिप्राय है फलागम का । सन्धि की उपेक्षा भी प्रबन्ध-विधान में सम्भव नहीं है । कुशल प्रबन्धकार की रचना 'मुखाभिसन्धिसन्ध्यादिसंविधानकबन्धुरम्' होनी चाहिए—और मुख्य कार्य को तो कुन्तक प्रायः सर्वत्र ही प्रबन्ध-विधान का केन्द्र मानकर चले हैं ।

भरत के उपरान्त दशरूपक में धनंजय ने नाटक की कथा-वस्तु के विवेचन में प्रबन्ध-विधान का विस्तार से निरूपण किया है । उन्होंने भी प्रबन्ध-सौंदर्य की कतिपय साधन-विधियों का निर्देश किया है जो कुन्तक की प्रबन्ध-वक्रता के भेदों से मिल जाती हैं । उदाहरण के लिए धनंजय का भी मत है कि नाटक में यदि कोई प्रकरण नायक अथवा रस के उत्कर्ष के विरुद्ध हो तो उसका त्याग कर देना चाहिए या उसे अन्य रूप में परिवर्तित कर देना चाहिए :

यत् तत्रानुचितं किंचिन्नायकस्य रसस्य वा ।
विरुद्धं तत् परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ॥

दशरूपक ३।२४ ।

कुन्तक का उत्पाद्य-लावण्य नामक प्रकरण-वक्रता-भेद भी यही है ।

आनन्दवर्धन ने धनंजय और कुन्तक दोनों से पूर्व रस के सम्बन्ध से प्रबन्ध-कल्पना-विषयक अनेक महत्वपूर्ण तथ्यों का प्रतिपादन किया है । उन्होंने प्रबन्धगत रस के पाँच अभिव्यंजक हेतुओं का निर्देश किया है :

(१) विभाव, (स्थायी) भाव, अनुभाव, और संचारी भाव के औचित्य से सुन्दर ऐतिहासिक अथवा कल्पित कथा-शरीर का निर्माण । ३।१० ।

(२) ऐतिहासिक क्रम से प्राप्त होने पर भी रस के प्रतिकूल स्थिति को छोड़कर, बीच में अभीष्ट रस के अनुकूल नवीन कल्पना करके भी कथा का संस्करण । ३।११ ।

(३) केवल शास्त्रीय विधान के परिपालन की इच्छा से नहीं, अपितु रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से सन्धि और सन्ध्यंगों की रचना ३।१२ ।

(४) यथावसर (रसों के) उद्दीपन तथा प्रशमन (की योजना) और विश्रान्त होते हुए प्रधान रस का अनुसंधान । ३।१३ ।

(५) शक्ति होने पर भी (रस के) अनुरूप ही अलंकारों की योजना ।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार आनन्दवर्धन के मत से प्रबन्ध-काव्य का प्राण-तत्व रस है । यदि आधार-कथा ऐतिहासिक है तो उसमें बाह्य-चित्रण तथा शील-निरूपण आदि सभी रस के अनुरूप होने चाहिएँ और यदि कथा कल्पित है तो उसकी कल्पना का मूल आधार रस ही होना चाहिए : वस्तु के अन्तर्बाह्य अंगों के निर्माण में रसौचित्य का पूर्ण निर्वाह होना चाहिए । इस दृष्टि से यदि प्रसिद्ध कथा का कोई अंश रसौचित्य में बाधक हो तो उसका परित्याग तथा अनुकूल प्रसंग की उद्भावना कर कथा का संशोधन कर लेना चाहिए । कुन्तक ने प्रकरण-वक्रता के द्वितीय भेद—उत्पाद्य-लावण्य में इसी हेतु का मार्मिक विवेचन किया है । उत्पाद्य-लावण्य को—अविद्यमान की कल्पना और विद्यमान का संशोधन—इन दो उपभेदों में विभक्त कर उन्होंने अपनी समीक्षा को और भी सूक्ष्म तथा परिपूर्ण बना दिया है ।

तीसरा हेतु है सन्धि-सन्ध्यंगों की रचना : इसका उद्देश्य है कथा के विभिन्न अंगों में सामंजस्य । प्रधान कार्य को लक्ष्य मानकर कथा के समस्त प्रकरण परस्पर समंजित होने चाहिएँ, यह वस्तु-विधान की मौलिक आवश्यकता है । आनन्दवर्धन का मत है कि यह संधि-सन्ध्यंग-विधान और इसका परिणाम-रूप समंजन केवल यान्त्रिक प्रक्रिया नहीं होना चाहिए : उसके पीछे रस की प्रेरणा होनी चाहिए । केवल अंगों का वस्तुगत संयोजन मात्र पर्याप्त नहीं है, यह विधान ऐसा होना चाहिए कि सहृदय के मन के साथ भी उसका पूर्ण सामंजस्य हो सके । वास्तव में यही अन्तर्बाह्य-समंजन प्रबन्ध का प्राण-तत्त्व है । कुन्तक ने प्रकरण-वक्रता के दो भेदों के अन्तर्गत इस महत्व-पूर्ण तथ्य का विवेचन किया है : उनके निर्देशानुसार प्रकरणों में प्रधान कार्य के सम्बन्ध से परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव तथा पूर्वापर-अन्विति-क्रम रहना चाहिए । यह सामंजस्य का ही प्रकारान्तर से निर्देश है, सामंजस्य का अर्थ भी तो यही है कि किसी एक मूलाधार पर विभिन्न प्रकरण पूर्वापर-क्रम तथा उपकार्य-उपकारक भाव से परस्पर समन्वित हों । इस समंजन के पीछे रस की प्रेरणा रहनी चाहिए—यह उपबन्ध मूलतः कुन्तक के दृष्टिकोण की परिधि में नहीं आता क्योंकि वस्तु-रूप में कौशल ही उनका मुख्य विवेच्य है, फिर भी प्रबन्ध-वक्रता के विधान में रस की महत्व-प्रतिष्ठा उन्होंने प्रबल शब्दों में की है :

निरन्तररसोद्गारगर्भसंदर्भनिर्भराः
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः ४।४।११ ।

अर्थात् निरन्तर रस को प्रवाहित करने वाले सन्दर्भों से परिपूर्ण कवियों की वाणी कथा-मात्र के आश्रय से जीवित नहीं रहती है ।

प्रबन्ध का चौथा रसाभिव्यंजक हेतु अर्थात् आनन्दवर्धन के मत से प्रबन्ध-सौंदर्य की चौथी साधन-विधि है यथावसर रसों के उद्दीपन तथा प्रशमन की योजना और विश्रान्त होते हुए प्रधान रस का अनुसन्धान । इसका अर्थ यह है कि यद्यपि प्रत्येक सफल प्रबन्ध-काव्य का प्राणभूत एक मूल रस होता है जिसका अनुसन्धान कवि को निरन्तर करते रहना चाहिए फिर भी एकस्वरता का निवारण करने के लिए उसमें विभिन्न रसों के उद्दीपन और प्रशमन की व्यवस्था रहनी चाहिए—रसों का यह वैचित्र्य रोचकता का मूल कारण है । कुन्तक ने प्रबन्ध-वक्रता के प्रथम भेद के अन्तर्गत ही यह स्वीकार किया है कि प्रबन्ध-काव्य में आत्मा-रूप से एक रस का ही प्राधान्य होना चाहिए—इसके अतिरिक्त प्रकरण-वक्रता के दो भेदों के विवेचन में उन्होंने रस के उद्दीपन और प्रशमन की बात भी प्रकारान्तर से कही है । प्रकरण-वक्रता के चतुर्थ और पंचम भेदों में सरस प्रसंगों की अतिरंजना और रोचक प्रसंगों के विस्तृत वर्णन का निर्देश है । सरस प्रसंगों की अतिरंजना में रस का उद्दीपन निहित है—उधर ऋतु-वर्णन, उत्सव, युद्ध आदि विभिन्न रोचक प्रसंगों के विस्तृत वर्णनों का उद्देश्य भी एक रस के उद्दीपन और दूसरे के प्रशमन द्वारा रस-वैचित्र्य की सृष्टि करना ही है । इस प्रकार आनन्दवर्धन और कुन्तक के मन्तव्य एक ही हैं किन्तु यहाँ भी भेद दृष्टिकोण का ही है : आनन्दवर्धन रस को प्रबन्ध का साध्य मानते हैं, कुन्तक प्रबन्ध-वक्रता या प्रबंध-कौशल का साधन । इसके अतिरिक्त आनन्द ने जहाँ आगमन-विधि का प्रयोग किया है, वहाँ कुन्तक ने निगमन-विधि को अपनाया है—अर्थात् आनन्दवर्धन ने रस-सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर कथांशों की रस-परक विवेचना की है, और कुन्तक ने उपलब्ध प्रबन्ध-काव्यों का विश्लेषण कर उनके कतिपय प्रकरणों की सरसता को प्रबन्ध-वक्रता में समाहृत किया है ।

(४) यथावसर (रसों के) उद्दीपन तथा प्रशमन (की योजना) और विश्रान्त होते हुए प्रधान रस का अनुसंधान। ३।१३।

(५) शक्ति होने पर भी (रस के) अनुरूप ही अलंकारों की योजना।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार आनन्दवर्धन के मत से प्रबन्ध-काव्य का प्राण-तत्व रस है। यदि आधार-कथा ऐतिहासिक है तो उसमें बाह्य-चित्रण तथा शील-निरूपण आदि सभी रस के अनुरूप होने चाहिएँ और यदि कथा कल्पित है तो उसकी कल्पना का मूल आधार रस ही होना चाहिए : वस्तु के अन्तर्बाह्य अंगों के निर्माण में रसौचित्य का पूर्ण निर्वाह होना चाहिए। इस दृष्टि से यदि प्रसिद्ध कथा का कोई अंश रसौचित्य में बाधक हो तो उसका परित्याग तथा अनुकूल प्रसंग की उद्भावना कर कथा का संशोधन कर लेना चाहिए। कुन्तक ने प्रकरण-वक्रता के द्वितीय भेद—उत्पाद्य-लावण्य में इसी हेतु का मार्मिक विवेचन किया है। उत्पाद्य-लावण्य को—अविद्यमान की कल्पना और विद्यमान का संशोधन—इन दो उपभेदों में विभक्त कर उन्होंने अपनी समीक्षा को और भी सूक्ष्म तथा परिपूर्ण बना दिया है।

तीसरा हेतु है सन्धि-सन्ध्यंगों की रचना : इसका उद्देश्य है कथा के विभिन्न अंगों में सामंजस्य। प्रधान कार्य को लक्ष्य मानकर कथा के समस्त प्रकरण परस्पर समंजित होने चाहिएँ, यह वस्तु-विधान की मौलिक आवश्यकता है। आनन्दवर्धन का मत है कि यह संधि-सन्ध्यंग-विधान और इसका परिणाम-रूप समंजन केवल यान्त्रिक प्रक्रिया नहीं होना चाहिए : उसके पीछे रस की प्रेरणा होनी चाहिए। केवल अंगों का वस्तुगत संयोजन मात्र पर्याप्त नहीं है, यह विधान ऐसा होना चाहिए कि सहृदय के मन के साथ भी उसका पूर्ण सामंजस्य हो सके। वास्तव में यही अन्तर्बाह्य-समंजन प्रबन्ध का प्राण-तत्व है। कुन्तक ने प्रकरण-वक्रता के दो भेदों के अन्तर्गत इस महत्व-पूर्ण तथ्य का विवेचन किया है : उनके निर्देशानुसार प्रकरणों में प्रधान कार्य के सम्बन्ध से परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव तथा पूर्वापर-अन्विति-क्रम रहना चाहिए। यह सामंजस्य का ही प्रकारान्तर से निर्देश है, सामंजस्य का अर्थ भी तो यही है कि किसी एक मूलाधार पर विभिन्न प्रकरण पूर्वापर-क्रम तथा उपकार्य-उपकारक भाव से परस्पर समन्वित हों। इस समंजन के पीछे रस की प्रेरणा रहनी चाहिए—यह उपबन्ध मूलतः कुन्तक के दृष्टिकोण की परिधि में नहीं आता क्योंकि वस्तु-रूप में कौशल ही उनका मुख्य विवेच्य है, फिर भी प्रबन्ध-वक्रता के विधान में रस की महत्व-प्रतिष्ठा उन्होंने प्रबल शब्दों में की है :

निरन्तररसोद्गारगर्भसंदर्भनिर्भराः
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः ४।४।११ ।

अर्थात् निरन्तर रस को प्रवाहित करने वाले सन्दर्भों से परिपूर्ण कवियों की वाणी कथा-मात्र के आश्रय से जीवित नहीं रहती है।

प्रबन्ध का चौथा रसाभिव्यंजक हेतु अर्थात् आनन्दवर्धन के मत से प्रबन्ध-सौंदर्य की चौथी साधन-विधि है यथावसर रसों के उद्दीपन तथा प्रशमन की योजना और विश्रान्त होते हुए प्रधान रस का अनुसन्धान। इसका अर्थ यह है कि यद्यपि प्रत्येक सफल प्रबन्ध-काव्य का प्राणभूत एक मूल रस होता है जिसका अनुसन्धान कवि को निरन्तर करते रहना चाहिए फिर भी एकस्वरता का निवारण करने के लिए उसमें विभिन्न रसों के उद्दीपन और प्रशमन की व्यवस्था रहनी चाहिए—रसों का यह वैचित्र्य रोचकता का मूल कारण है। कुन्तक ने प्रबन्ध-वक्रता के प्रथम भेद के अन्तर्गत ही यह स्वीकार किया है कि प्रबन्ध-काव्य में आत्मा-रूप से एक रस का ही प्राधान्य होना चाहिए—इसके अतिरिक्त प्रकरण-वक्रता के दो भेदों के विवेचन में उन्होंने रस के उद्दीपन और प्रशमन की बात भी प्रकारान्तर से कही है। प्रकरण-वक्रता के चतुर्थ और पंचम भेदों में सरस प्रसंगों की अतिरंजना और रोचक प्रसंगों के विस्तृत वर्णन का निर्देश है। सरस प्रसंगों की अतिरंजना में रस का उद्दीपन निहित है—उधर ऋतु-वर्णन, उत्सव, युद्ध आदि विभिन्न रोचक प्रसंगों के विस्तृत वर्णनों का उद्देश्य भी एक रस के उद्दीपन और दूसरे के प्रशमन द्वारा रस-वैचित्र्य की सृष्टि करना ही है। इस प्रकार आनन्दवर्धन और कुन्तक के मन्तव्य एक ही हैं किन्तु यहाँ भी भेद दृष्टिकोण का ही है : आनन्दवर्धन रस को प्रबन्ध का साध्य मानते हैं, कुन्तक प्रबन्ध-वक्रता या प्रबन्ध-कौशल का साधन। इसके अतिरिक्त आनन्द ने जहाँ आगमन-विधि का प्रयोग किया है, वहाँ कुन्तक ने निगमन-विधि को अपनाया है—अर्थात् आनन्दवर्धन ने रस-सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर कथांशों की रस-परक विवेचना की है, और कुन्तक ने उपलब्ध प्रबन्ध-काव्यों का विश्लेषण कर उनके कतिपय प्रकरणों की सरसता को प्रबन्ध-वक्रता में समाहृत किया है।

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में प्रबन्ध-विधान

अरस्तू का मत

पश्चिम में प्रबन्ध-विधान का सर्वप्रथम विस्तृत विवेचन अरस्तू के प्रसिद्ध ग्रंथ काव्य-शास्त्र (पोयटिक्स) में ही मिलता है। अरस्तू ने दुःखान्तक के प्रसंग में, और फिर महाकाव्य के प्रसंग में कथा-वस्तु के गुण-दोषों की विस्तार से चर्चा की है। उनके अनुसार कथा-वस्तु दो प्रकार की होती है : सरल और जटिल। इस सरलता और जटिलता का निर्णायक है कार्य : कार्य यदि सरल है तो कथानक सरल होगा, और कार्य यदि जटिल है तो कथानक जटिल होगा। सरल का अर्थ यह है कि कार्य में किसी प्रकार की द्विधा नहीं होगी—वह चरम घटना की ओर सीधा और अकेला ही आगे बढ़ता जाएगा। जटिल कार्य में विपर्यास[1] अथवा विवृति[2] अथवा इन दोनों का ही प्रयोग रहता है। विपर्यास से अभिप्राय उस अप्रत्याशित स्थिति का है जिसके कारण सहसा किसी का भाग्य-चक्र घूम जाता है। उपर्युक्त दोनों प्रयोग प्रबन्ध-विधान के चमत्कार हैं जिनके द्वारा कुशल कवि अपने काव्य में कुतूहल की सृष्टि करता है। (भारतीय काव्य में शकुन्तला के हाथ से मुद्रिका का जल में गिर जाना विपर्यास का और दुष्यंत द्वारा भरत के मंत्र-सिद्ध मणिबन्ध का निर्बाध स्पर्श विवृति का उदाहरण है।) कुन्तक इन चमत्कारों से अवगत थे। प्रकरण-वक्रता के सप्तम भेद का चमत्कार बहुत-कुछ ऐसा ही है, उसमें किसी रोचक अप्रधान प्रसंग की अवतारणा द्वारा ऐसे रहस्य का उद्घाटन किया जाता है जो कथा में नूतन चमत्कार की सृष्टि कर देता है। इसके अतिरिक्त उत्पाद्य-लावण्य नामक प्रकरण-वक्रता में भी इस प्रकार की परिस्थितियों की उद्भावनाएँ अन्तर्भूत हैं। भारतीय नाटक की निर्वहण संधि में प्रायः इसी प्रकार की विवृति निहित रहती है, इसलिए वहाँ अद्भुत रस का समावेश आवश्यक माना गया है।

अरस्तू ने प्रबन्ध-विधान के कुछ आवश्यक गुण माने हैं जो संक्षेप में इस प्रकार हैं :

१. प्रबन्ध का उद्देश्य एक होना चाहिए—उसमें किसी प्रकार की द्विधा नहीं होनी चाहिए।

---

१. पैरीपैटिया (आयरनी)

२. एनेग्नारिसिस (डिस्क्लोज़र)

२. कथानक में पूर्ण अन्विति होनी चाहिए। अन्विति का अर्थ यह नहीं है कि उसमें केवल एक व्यक्ति की ही कथा हो—एक व्यक्ति की कथा में भी अनेकता तथा अन्विति का अभाव हो सकता है। कथानक के ऐक्य का अर्थ है कार्य का ऐक्य, सफल कथानक का कार्य पूर्ण इकाई के समान होता है, उसकी भिन्न-भिन्न घटनाएँ इस प्रकार से एकसूत्र-बद्ध होती हैं कि उनमें से एक के भी इधर-उधर होने से सम्पूर्ण विधान अस्त-व्यस्त हो जाता है।

३. पूर्ण इकाई से आशय यह है कि कथानक के आदि, मध्य और अवसान ये तीनों ही चरण निश्चित रहते हैं—और तीनों की ही अनिवार्यता स्वतःसिद्ध होती है, न आदि के बिना मध्य की स्थिति सम्भव है न मध्य के बिना आदि और अवसान की, और न अवसान के बिना आदि और मध्य का ही संगत विकास संभव है।

४. घटनाओं में औचित्य का निर्वाह सदा होना चाहिए : अनुचित घटनाओं से आनन्द की प्राप्ति नहीं होती।

५. कथानक के सभी प्रसंगों में सम्भाव्यता होनी चाहिए—सम्भाव्यता का अर्थ यह है कि जो हुआ है वही पर्याप्त नहीं है वरन् जो हो सकता है उसका वर्णन भी निश्चय ही काम्य है; परन्तु जो हो सकता है उसी का—जो नहीं हो सकता उसका नहीं। सम्भाव्यता कथानक का अत्यन्त आवश्यक गुण है; जिन घटनाओं का विकास एक-दूसरे में से सहज रूप से नहीं होता, वरन् जो संयोग पर आश्रित रहकर मनमाने ढंग से आगे बढ़ती हैं वे पाठक के मन का उचित परितोष नहीं कर सकतीं। इसीलिए यह आवश्यक है कि नियति आदि का सहज विकास कथानक में से ही होना चाहिए, उनका आरोप बाहर से नहीं होना चाहिए।

६. प्रबन्ध-विधान का एक अन्य गुण है सजीव परिकल्पना। इसका आशय यह है कि कवि को सभी वर्ण्य विषयों और घटनाओं का मनसा साक्षात्कार कर लेना चाहिए।

७. सजीव परिकल्पना के उपरान्त सजीव वर्णन भी उतना ही आवश्यक है। जब तक कवि घटनाओं का और परिस्थितियों का सजीव वर्णन नहीं करेगा तब तक उनमें रोचकता का अभाव रहेग।

८. प्रबन्ध-कौशल का मौलिक आधार है साधारणीकरण। साधारणीकरण का अर्थ यह है कि कवि घटना-विन्यास करने से पूर्व अपने कथानक की एक सार्वभौम,

सर्वसाधारण रूप-रेखा बना लेता है। यह रूप-रेखा देश-काल के बन्धनों से मुक्त सर्व-ग्राह्य एवं सर्व-प्रिय होती है जिसके साथ सभी तादात्म्य कर सकते हैं। कुशल कवि इस रूप-रेखा में ही प्रतिभा के द्वारा रूप और रंग का समावेश कर अपने प्रबन्ध-विधान को पूर्ण कर देता है। अरस्तू के अनुसार प्रबन्ध-काव्य का ही नहीं वरन् समस्त काव्य का यही मूल आधार है।

कुन्तक ने अपने विवेचन में उपर्युक्त प्रायः सभी विशेषताओं का समावेश अपने ढंग से कर लिया है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि प्रधान कार्य निश्चय ही एक होना चाहिए, उसी के सम्बन्ध से कथानक के विभिन्न प्रकरण परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव से सूत्र-बद्ध रहने चाहिएँ। इन प्रकरणों में निश्चित पूर्वापर-क्रम तथा अन्विति होनी चाहिए। इस विवेचन में अरस्तू के अनेक प्रबन्ध-गुणों का अन्तर्भाव है—एक उद्देश्य, अन्विति, आदि-मध्य-अवसान की निश्चित स्थिति, घटनाओं का एक दूसरे से सहज निस्सरण आदि गुणों का विवेचन अरस्तू और कुन्तक दोनों ने अपने-अपने ढंग से किया है। वास्तव में ये वस्तु-विधान के मौलिक गुण हैं, अतएव दोनों समीक्षक निगमन-शैली का अनुसरण करते हुए स्वतंत्र रूप से स्वभावतः ही इन तक पहुँच गये हैं। यही बात घटनाओं के औचित्य के विषय में भी कही जा सकती है। कुन्तक के उत्पाद्य-लावण्य भेद का आधार औचित्य ही है : आनन्दवर्धन, धनंजय आदि की भाँति वे भी अनुचित घटनाओं के निवारण पर बल देते हैं। 'सजीव परिकल्पना' और 'सजीव वर्णन' का उल्लेख कुन्तक ने आरम्भ में ही प्रकरण-वक्रता के लिए सामान्य निरूपण में कर दिया है : 'अपने अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए अपरिमित उत्साह की प्रवृत्ति' से उनका आशय वर्ण्य विषय की सजीव परिकल्पना तथा सजीव वर्णना का ही है। विषय के उत्कर्ष का अर्थ ही सजीव परिकल्पना और वर्णना है, और विषय का यह उत्कर्ष ही कुन्तक की प्रकरण-वक्रता का प्राण है।

अब अन्तिम प्रबन्ध-गुण साधारणीकरण रह जाता है। अरस्तू का मन्तव्य यह है कि प्रत्येक कथानक के मूल में—चाहे वह कितना ही महाकार क्यों न हो—जीवन की कतिपय मौलिक प्रवृत्तियाँ रहती हैं। कुशल कवि घटना-परम्परा का विस्तार करने से पूर्व नहीं मौलिक प्रवृत्तियों पर आश्रित शाश्वत सत्यों के आधार पर अपने प्रधान कार्य की रूप-रेखा बना लेता है। यह रूप-रेखा स्वभावतः ही सार्वभौम और सर्व-साधारण होती है क्योंकि इसका आधार जीवन की शाश्वत वृत्तियाँ होती हैं। इसी रूप-रेखा में फिर वह अनेक नाम-रूप-मय तथ्यों का समावेश कर अपने प्रबन्ध-विधान को पूर्णता प्रदान करता है। भारतीय काव्य-शास्त्र में साधारणी-

करण का अत्यन्त विशद विवेचन किया गया है, कुन्तक से पूर्व भट्टनायक इस सिद्धान्त की उद्भावना कर चुके थे। विशेष को साधारण रूप में प्रस्तुत करना ही भट्टनायक का भावकत्व अथवा साधारणीकरण व्यापार है—और यह प्रबन्ध-काव्य का ही नहीं, काव्य मात्र का मूल आधार है। कुन्तक ने इस मौलिक सिद्धान्त का पृथक् विवेचन नहीं किया और इसका कारण यह है कि उनकी दृष्टि कवि-कौशल पर ही अधिक थी। साधारणीकरण के सिद्धान्त का सम्बन्ध मूलतः काव्य के आस्वादन से है—कवि-व्यापार से इतना नहीं है, इसलिए वह कुन्तक के विवेचन से बाहर ही पड़ा। वैसे इसका एक वस्तुगत पक्ष भी है जिसका उल्लेख अरस्तू ने किया है, कुन्तक उससे अपरिचित नहीं थे—प्रधान कार्य की महत्व-प्रतिष्ठा कर, कथानक को गौण ठहराकर तथा मूल-रस-परिवर्तन को प्रबन्ध-कौशल का प्रमुख गुण मान-कर उन्होंने शाश्वत जीवन-वृत्तियों पर आश्रित उपर्युक्त प्रबन्ध-गुण की अवगति का परिचय दिया है, इसमें सन्देह नहीं।

अरस्तू के उपरान्त यूरोप के साहित्य-शास्त्र में प्रबन्ध-कौशल का लगभग प्रत्येक युग में ही गम्भीर विवेचन हुआ। वस्तु-विधान का अनेक दृष्टियों से आगमन-निगमन शैली से, अनेक रूपों में विश्लेषण किया गया और उसके सामान्य तथा विशेष सिद्धान्त स्थिर करने के प्रयत्न हुए। प्रबन्ध-कौशल का आधार है मानव का मानव के प्रति अनुराग। यह अनुराग रागात्मक सम्बन्धों की अनुभूति तथा जिज्ञासा में अभिव्यक्त होता है। मानव-सम्बन्धों की अनुभूति का काव्यगत रूप 'रस' है और जिज्ञासा का है 'कुतूहल'। रस और कुतूहल ही काव्य की दृष्टि से प्रबन्ध के प्राण-तत्त्व हैं—सफल प्रबन्ध में इनका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध और अन्ततः सामंजस्य रहता है। कुतूहल रस के परिपाक में योग देता है और रस कुतूहल में रागात्मक सरसता उत्पन्न करता है। रस से जीवनानुभूति की प्रगाढ़ता और कुतूहल से वैचित्र्य का समावेश होता है—इस प्रकार जीवन-चित्र में समतल-विस्तार के साथ ऊँचाई तथा गहराई आती है और वह पूर्ण हो जाता है। इन्हीं दो प्राण-तत्त्वों के आधार पर प्रबन्ध-विधान के अन्य सामान्य एवं विशेष तत्वों का विकास हुआ है।

पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के अन्तर्गत प्रबन्ध-विवेचन के सामान्य निष्कर्ष इस प्रकार हैं :—

वस्तु-विन्यास के प्रकार

वस्तु-विन्यास सामान्यतः तीन प्रकार का होता है :

(क) नायक-प्रधान—जिसमें घटना-चक्र नायक तथा उससे सम्बद्ध प्रमुख पात्रों के चारों ओर केन्द्रित रहता है। इसमें घटनाएँ अपने आप में कोई स्वतन्त्र महत्व नहीं रखतीं—वे चरित्र के उत्कर्ष की माध्यम या वाहक होती हैं और उनका गुम्फन-सूत्र प्रमुख पात्र के चरित्र-विकास के साथ आबद्ध रहता है।

(ख) घटना-प्रधान—जिसमें घटना-चक्र का स्वतन्त्र महत्व होता है। अनेक अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों से टकराता हुआ कथा का प्रवाह अविच्छिन्न रूप से आगे बढ़ता रहता है। घटना-प्रधान प्रबन्ध में कभी-कभी एक ही कथा होती है जो बिना किसी द्विधा अथवा प्रतिघात के फलागम तक आगे बढ़ती जाती है, कभी दो कथाएँ समानान्तर चलकर अन्त में मिल जाती हैं, और कभी कभी अनेक कथाओं का संगम रहता है। इनका प्रवाह क्रमशः पर्वती नदी के समान, समानान्तरवाही धाराओं के समान अथवा समुद्र के तरंगावर्त के समान होता है।

(ग) नाटकीय—जिसमें घटनाओं की अविच्छिन्न धारा न होकर महत्वपूर्ण परिस्थितियों का एकाग्र चित्रण रहता है। ये परिस्थितियाँ भी परस्पर-सम्बद्ध तो होती हैं परन्तु यहाँ सम्बन्ध-सूत्र प्रच्छन्न रहता है और विशेष परिस्थितियाँ इतनी उभारकर सामने रखी जाती हैं कि पाठक या प्रेक्षक का मन इन्हीं पर विराम करता हुआ क्रमशः कथा के अन्त तक पहुँचता है। यहाँ कथा की खण्ड दृश्यावली प्रत्यक्ष रहती है, अखण्ड सम्बन्ध-सूत्र अप्रत्यक्ष रहता है। यह नाटकीय कथा-विधान केवल दृश्य काव्य में ही नहीं होता, श्रव्य काव्य में भी उसका प्रयोग सहज सम्भाव्य है—देश-विदेश के अनेक श्रव्य काव्यों में इस प्रकार के नाटकीय दृश्य-विधान का कौशल लक्षित होता है।

(घ) कुतूहल-प्रधान—कुतूहल-प्रधान प्रबन्ध-विधान में भी निश्चय ही घटनाएँ अपने आप में स्वतन्त्र महत्व न रखकर कुतूहल की उद्बुद्धि और परितृप्ति की साधन-मात्र होती हैं। इस प्रकार के प्रबन्ध-विधान में कथाकार प्रायः रहस्य, चमत्कार, दैवयोग आदि के द्वारा पाठक की कुतूहल-वृत्ति के साथ क्रीड़ा करता है। उसका मूल उपकरण होती है कल्पना, जो मानव-जीवन के रागात्मक सम्बन्धों से दूर अपार्थिव अथवा अर्ध-अपार्थिव कृत्यों की सृष्टि करती रहती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार के प्रबन्ध-विधान में जीवन का गाम्भीर्य कम ही मिलता है।

कथा-विधान का विकास

यूरोप में जीवन को मूलतः संघर्ष माना गया है, अतएव वहाँ के काव्य-शास्त्र में संघर्ष के आधार पर ही जीवन-कथा के विकास की कल्पना की गई है। भारत का विश्वास-प्रधान आस्तिक जीवन-दर्शन, इसके विपरीत, सिद्धि अथवा फलागम को ही जीवन का मूल तत्व मानता है। वैसे तो न पाश्चात्य जीवन-दर्शन सिद्धि की उपेक्षा करता है और न भारतीय जीवन-दर्शन संघर्ष के बिना सिद्धि की आशा कर सकता है; परन्तु मूल भेद दृष्टि का है। सिद्धि को आधार-तत्व मान लेने से जीवन एक निश्चित उद्देश्य की नियमित साधना बन जाता है और उसके विकास में विश्वास की प्रेरणा निहित रहती है। उधर संघर्ष पर अधिक बल देने से जीवन में घात-प्रतिघात, द्वन्द्व, प्रतिकूल परिस्थितियों का विरोध और इन सबके परिणाम-स्वरूप सन्देह और अविश्वास का स्वतः ही प्राधान्य हो जाता है। एक में निश्चित सिद्धि की विश्वासमयी साधना है और दूसरे में अनिश्चित लक्ष्य की ओर सन्देहपूर्ण संघर्ष। जीवन-दृष्टि के इसी भेद के कारण भारतीय और पाश्चात्य कला-विकास में मौलिक अन्तर पड़ जाता है। भारतीय कथा-विकास की पंच अवस्थाओं और पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में प्रतिपादित कथा के पाँच संस्थानों में यह अन्तर स्पष्ट है। एक में जहाँ चरम घटना बाधाओं को पार कर प्राप्त्याशा उत्पन्न करती है वहाँ दूसरे में चरम घटना का अर्थ संशय की चरम परिणति मात्र है। एक का अन्त जहाँ निश्चय ही फलागम में होता है वहाँ दूसरे के अन्त में फल का नाश भी उतना ही सम्भव है।

पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र में कथा-विकास का सबसे प्रबल माध्यम घात-प्रतिघात माना गया है। अनेक प्रकार के विघ्नों की कल्पना वहाँ कथा के विकास में मूल रूप से ही निहित रहती है। यूरोप के कथा-शास्त्रियों ने प्रायः तीन प्रकार के विरोधों की कल्पना की है :

१. पात्र तथा परिस्थिति-जन्य विरोध :—जहाँ नायक अथवा प्रमुख पात्र के प्रयत्नों का विरोध अन्य पात्रों अथवा जीवनगत परिस्थितियों द्वारा होता है।

२. दैविक विरोध—जहाँ प्राकृतिक अथवा अलौकिक परिस्थितियाँ प्रतिघात करती हैं।

३. चारित्रिक द्वन्द्व अथवा दोष—जहाँ नायक या मुख्य पात्र का अपना ही चरित्रगत द्वन्द्व, ग्रन्थि अथवा दोष उसके प्रयत्नों में बाधक होता है।

कुन्तक के दृष्टिकोण में निश्चय ही भारतीय जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति मिलती है। उन्होंने भी अपने ढंग से पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के उपर्युक्त तीनों कथा-प्रकारों को मान्यता दी है। प्रबन्ध-वक्रता के द्वितीय भेद में जहाँ नायक के चरमोत्कर्ष पर ही कथा समाप्त कर दी जाती है, नायक-केन्द्रित कथा की ही स्वीकृति है। मध्य में ही किसी उत्कर्षपूर्ण घटना पर कथा का आकस्मिक अन्त नाटकीय कथा-विधान का द्योतक है। एक फल की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील नायक के द्वारा अप्रत्याशित रूप से अनेक फलों की प्राप्ति, जिसे कुन्तक ने प्रबन्ध-वक्रता का चतुर्थ भेद माना है, घटना-प्रधान कथा का ही एक प्रकार है। फलागम की अनेकता के साथ कथा स्वतः ही अनेकमुखी हो जाती है और उसमें फलागम से सम्बद्ध घटनाओं का महत्व अनायास ही सिद्ध हो जाता है : हल्के कुतूहल पर आश्रित कथाओं का संस्कृत वाङ्मय में अभाव नहीं है किन्तु गम्भीरचेता आचार्यों ने उनको कभी महत्व नहीं दिया। इसलिए कुन्तक के प्रबन्ध-विवेचन में इस प्रकार के कुतूहल-वर्द्धक कथा-चमत्कारों का उल्लेख नहीं है। कथा के विकास में कुन्तक ने भारतीय जीवन-दृष्टि के अनुसार ही सर्वत्र फलागम का प्रभुत्व स्थापित किया है। प्रबन्ध-कौशल के जिन विभिन्न तत्वों का उल्लेख उन्होंने किया है उन सभी का आधार नायक की सिद्धि ही है। नवीन उद्भावनाएँ—अविद्यमान की कल्पना और विद्यमान का संशोधन—भी नायक के फलागम में सहायक होने के लिए ही की जाती हैं। कथा के उपकरणों के उपकार्य-उपकारक भाव और अन्विति का मूल आधार भी फलागम ही है। विपरीत परिस्थितियों की कल्पना से कुन्तक पराङ्मुख नहीं हैं किन्तु उनको कहीं भी उभार कर नहीं रखा गया—वे तो मानों फलागम के साधना-मार्ग की सहज परिस्थितियाँ मात्र हैं, उनसे अधिक कुछ नहीं।

वक्रोक्ति तथा अन्य काव्य-सिद्धान्त

वक्रोक्ति और अलंकार

वक्रोक्ति का अलंकार के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है—आलोचकों ने वक्रोक्ति को प्रायः अलंकार का अंग मानकर वक्रोक्ति-सम्प्रदाय को अलंकार-सम्प्रदाय का ही पुनरुत्थान मात्र सिद्ध किया है। इस कथन में निश्चय ही सत्यता है, परन्तु फिर भी इन दोनों में स्पष्ट भेद है, और यह भेद स्थूल अवयवगत न होकर तत्वगत है। वक्रोक्ति के स्वरूप को पूर्णतया हृदयंगम करने के लिए अलंकार, और केवल अलंकार ही नहीं, अन्य काव्य-तत्वों के साथ भी उसका तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक है।

अलंकार और अलंकार्य :—

अलंकार और अलंकार्य के भेदाभेद का प्रश्न यूरोप में अभिव्यंजनावाद के प्रवर्तन के पश्चात् आधुनिक काव्य-शास्त्र में विशेष चर्चा का विषय बन गया है। परन्तु भारतीय काव्य-शास्त्र के लिए यह कोई नवीन विषय नहीं है। प्राचीन आलंकारिकों ने—भामह, दण्डी, वामन आदि ने अलंकार और अलंकार्य का अभेद माना है और समस्त काव्य-सौंदर्य को अलंकार के अन्तर्गत ही रखा है।

१. काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान्प्रचक्षते। — दंडी

२. सौन्दर्यमलंकारः। — वामन

इस प्रकार इन आचार्यों के अनुसार अलंकार काव्य-शोभा के कारण अथवा पर्याय हैं : इन्होंने इसी दृष्टि से समस्त रस-प्रपंच को रसवदादि अलंकार-चक्र में अन्तर्भूत कर लिया है। इनके मत से काव्य का प्रस्तुत पक्ष अरमणीय या चमत्कार-रहित होने पर काव्य न होकर वार्ता मात्र रह जाता है।

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुः यान्ति वासाय पक्षिणः ।
इत्येवमादि किं काव्यं ?.....वार्तामेनां प्रचक्षते ॥ भामह—काव्यालंकार २, ८६

अर्थात् सूर्य अस्त हो गया, चन्द्रमा का उदय हो गया है, पक्षिगण अपने-अपने नीड़ों को लौट रहे हैं...इत्यादि—यह क्या कोई काव्य है ? इनको वार्ता कहते हैं। रमणीय अथवा चमत्कार-पूर्ण होने पर काव्य का यह प्रस्तुत पक्ष अलंकार से अभिन्न हो जाता है। अभिप्राय यह है कि अलंकारवादी प्रस्तुत अर्थ का निषेध नहीं करते, परन्तु उसमें यथावत् काव्यत्व की सम्भावना नहीं मानते—किसी भी प्रकार के सौंदर्य से विशिष्ट होने पर फिर वह अपने समग्र रूप में अलंकार बन जाता है। अर्थात् शब्द-अर्थ के दो रूप हैं : (१) प्रकृत (अनलंकृत रूप) (२) अलंकृत रूप।—इनमें से प्रथम अकाव्य है, द्वितीय अपने समग्र रूप में ही काव्य है—वही अलंकार भी है, उसमें अलंकार और अलंकार्य का भेद नहीं है। रस-ध्वनिवादियों ने रस को अथवा शब्द-अर्थ को—और स्पष्ट शब्दों में शब्द-अर्थ को प्रत्यक्षतः और रस को मूलतः—अलंकार्य माना है और उपमा-अनुप्रासादि को अलंकार नाम से अभिहित किया है। उन्होंने अलंकार और अलंकार्य की पृथक् सत्ता का स्पष्ट निर्देश किया है। अलंकार की उपादेयता के विषय में आनन्दवर्धन का मत है :

विवक्षा तत्परत्वेन नांगित्वेन कदाचन। २-१८

अर्थात् अलंकार की विवक्षा रस को प्रधान मानकर ही होनी चाहिए, अंगी-रूप में नहीं। इसका अभिप्राय यह है कि अंगी होने के नाते रस अलंकार्य है—अलंकार की सार्थकता उसका उत्कर्ष-वर्धन करने में ही है। इस प्रकार अलंकार और अलंकार्य की पृथकता सिद्ध है। मम्मट और विश्वनाथ ने इसी मन्तव्य की अपने-अपने ढंग पर पुष्टि की है :

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्-
हारादिवदलंकारास्ते......................। काव्यप्रकाश ८।६७

अर्थात् रस-रूप अंगी को अलंकार शब्द-अर्थ-रूप अंग के द्वारा उपकृत करते हैं : हारादि आभूषण जिस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से शरीर को सुशोभित करते हुए मूलतः आत्मा का उत्कर्ष करते हैं, इसी प्रकार अलंकार प्रत्यक्षतः शब्द-अर्थ को भूषित करते हुए मूल रूप में रस का उपकार करते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार उपमादि अलंकार हैं और शब्द-अर्थ प्रत्यक्ष रूप में तथा रस मूल रूप में अलंकार्य है। इसी तथ्य का प्रतिपादन विश्वनाथ भिन्न प्रकार से करते हैं :

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्ते············ ।   (सा० द०)

अर्थात् अलंकार शब्द-अर्थ के अस्थिर धर्म हैं जो उनकी शोभा की अभिवृद्धि करते हुए मूलतः रस का उपकार करते हैं। यहाँ अलंकरण का अर्थ किया गया है शोभा-वर्धन—प्रकृत शोभा की अभिवृद्धि, और प्रत्यक्ष रूप से शब्द-अर्थ को तथा तत्व-रूप से रस को अलंकार्य माना गया है। रस-ध्वनिवादियों की उपमा—हारादिवत् वा अंगदादिवत्—ही अलंकार की भिन्नता को पुष्ट करती है। परन्तु आगे चलकर इन आचार्यों ने भी, ऐसे अनेक अलंकारों को अलंकारता स्वीकार कर ली है जो वास्तव में वर्णन-शैली के प्रकार न होकर वर्ण्य विषय के ही रूप हैं। अतः यह शंका हो सकती है कि उनके मन में भी कदाचित् अलंकार और अलंकार्य का पार्थक्य एकांत स्पष्ट नहीं था।

कुन्तक की दृष्टि इस विषय में सर्वथा निर्भ्रान्त है, उन्होंने अनेक प्रसंगों में अनेक प्रकार से इस प्रश्न को उठाया है और अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में अपना मन्तव्य व्यक्त किया है।

१. अलंकार और अलंकार्य को अलग-अलग करके उनकी विवेचना उस (काव्य की व्युत्पत्ति) का उपाय होने से ही की जाती है। (वास्तव में तो) अलंकार-सहित (शब्द-अर्थ और अलंकार की समष्टि) ही काव्य है।

अलंकृति का अर्थ अलंकार है। जिसके द्वारा अलंकृत किया जाय (उसको अलंकार कहते हैं) इस प्रकार विग्रह करने से उसका विवेचन अर्थात् विचार किया जाता है। और जो अलंकरणीय वाचक (शब्द)-रूप तथा वाच्य (अर्थ)-रूप है उसका भी विवेचन किया जाता है। सामान्य तथा विशेष लक्षण द्वारा उसका निरूपण किया जाता है। किस प्रकार? अलग करके, निकाल कर, पृथक्-पृथक् करके। जिस समुदाय (रूप वाक्य) में उन दोनों का अन्तर्भाव है उससे विभक्त करके। किस कारण? उसका उपाय होने से × × × इस प्रकार का विवेचन काव्य-व्युत्पत्ति का उपाय हो जाता है। × × × समुदाय के अंतःपाती असत्य पदार्थों का भी व्युत्पत्ति के लिए (शास्त्रों में) विवेचन पाया जाता है। जैसे वैयाकरणों के मत में वाक्य के अन्तर्गत पदों का और पदों के अन्तर्गत वर्णों का अलग-अलग कोई अस्तित्व नहीं है, फिर भी पदों के अन्तर्गत प्रकृति-प्रत्यय का और वाक्य के अन्तर्गत पदों का अलग-अलग विवेचन व्याकरण-ग्रन्थों में किया जाता है। × × ×

यदि इस प्रकार काव्य-व्युत्पत्ति का उपाय होने से असत्यभूत (अलंकार तथा अलंकार्य) उन दोनों का पार्थक्य किया जाता है, तो फिर सत्य क्या है, इसको कहते हैं। तत्वं सालंकारस्य काव्यता……अर्थात् सालंकार (शब्दार्थ) की काव्यता है, यह यथार्थ (तत्व) है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि अलंकार-सहित अर्थात् अलंकरण-सहित सम्पूर्ण, अवयव-रहित समस्त समुदाय की काव्यता है—कवि-कर्मत्व है। इसलिए अलंकृत (शब्द-अर्थ) का ही काव्यत्व है…न कि अलंकार का काव्य में योग होता है। (हिन्दी वक्रोक्तिजीवित—कारिका ६ की वृत्ति।)

आगे चलकर प्रथम उन्मेष की ही दसवीं कारिका में कुन्तक ने एक स्थान पर अलंकार और अलंकार्य का पृथक् उल्लेख किया है :

ये दोनों (शब्द और अर्थ) अलंकार्य होते हैं, और चतुरता-पूर्ण शैली से कथन (वैदग्ध्यभंगीभणिति)-रूप वक्रोक्ति ही उन दोनों का अलंकार होती है। (व० जी० १।१०) परन्तु तुरन्त ही वे एक शंका उठाकर उसका निराकरण कर देते हैं :

पूर्व पक्ष—आपने पहले स्थापित किया है कि अलंकार और अलंकार्य के विभाग से रहित सालंकार काव्य का ही काव्यत्व है तो यह क्यों कहते हैं ?

उत्तर पक्ष—ठीक है। किन्तु वहाँ भेद-विवक्षा से वर्णपद-न्याय से अथवा वाक्यपद-न्याय से (तत्व-रूप में) असत्य होते हुए भी विभाग किया जा सकता है, यह कहा जा चुका है। (ग्यारहवीं कारिका की वृत्ति)।

इस प्रकार कुन्तक का दृष्टिकोण इस विषय में सर्वथा निर्भ्रान्त है। उनके मन्तव्य का सार यह है :—

(१) तत्व-रूप में अलंकार और अलंकार्य की पृथक् सत्ता नहीं है।

(२) काव्य में शब्द-अर्थ-रूप अलंकार्य का और वक्रोक्ति-रूप (जिसके अन्तर्गत काव्य के उपमादि सभी प्रकार के शोभादायक तत्वों का समावेश है) अलंकार का पूर्ण तादात्म्य रहता है। अलंकार कोई बाह्य वस्तु नहीं है जिसका शब्द-अर्थ के साथ योग होता है।

(३) फिर भी काव्य-सौंदर्य को हृदयंगम करने के लिए व्यवहार-रूप में इन दोनों का पृथक् विवेचन किया जा सकता है और वह उपादेय भी होता है। केवल काव्य-शास्त्र में ही नहीं वरन् व्याकरणादि अन्य शास्त्रों में भी तत्व और व्यवहार में इसी प्रकार की भेद-कल्पना की जाती है। उदाहरण के लिए व्याकरण का सिद्धान्त यह है कि वाक्य के अन्तर्गत पदों का और पद के अन्तर्गत वर्णों का पृथक् अस्तित्व नहीं है, तो भी, व्यवहार-रूप में, व्याकरण के तत्व को समझने के लिए, पदों के अन्तर्गत प्रकृति-प्रत्यय का और वाक्य के अन्तर्गत पदों का पृथक् विचार सफलतापूर्वक किया जाता है।

क्रोचे का मत

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में भी अलंकार और अलंकार्य का व्यवहारगत भेद प्रायः आरम्भ से ही मान्य रहा है। वहाँ इस भेद की स्पष्टता की मात्रा में तो अन्तर होता रहा है परन्तु उसका निषेध क्रोचे से पूर्व किसी ने नहीं किया। क्रोचे का सिद्धान्त संक्षेप में इस प्रकार है : कला मूलतः सहजानुभूति अथवा स्वयंप्रकाश्य ज्ञान है; और सहजानुभूति अभिव्यंजना से अभिन्न है, जो अभिव्यंजना में मूर्त नहीं होती, वह सहजानुभूति न होकर संवेदन या प्रकृत विकार मात्र है। अपने मूर्त रूप में वस्तु मन्त्रवत् है, निष्क्रिय है; मानवात्मा उसका अनुभव तो करती है, परन्तु सृजन नहीं करती। सहजानुभूति से अभिन्न होने के कारण अभिव्यंजना अखंड है—रीति, अलंकार आदि में उसका विभाजन नहीं हो सकता।

"अभिव्यंजना का विभिन्न श्रेणियों में अवैध विभाजन साहित्य में अलंकार-सिद्धान्त अथवा रीति-वर्ग के नाम से प्रसिद्ध है। × × × उपचार के चौदह भेद, शब्द और वाक्य के अलंकार......ये अथवा अभिव्यंजना के ऐसे ही प्रकार या कोटि-क्रम, परिभाषा का प्रयत्न करने पर यह प्रकट कर देते हैं कि तत्व-रूप में उनका कोई अस्तित्व नहीं है क्यों कि या तो वे शून्य में खो जाते हैं—या निरर्थक वाग्जाल मात्र रह जाते हैं। इसका एक उदाहरण उपचार[1] की यह परिभाषा है कि उचित शब्द के स्थान पर किसी अन्य शब्द का प्रयोग उपचार है। अब प्रश्न है कि यह कष्ट क्यों उठाया जाय ? उपर्युक्त शब्द के लिए अनुपयुक्त शब्द का प्रयोग ही क्यों किया जाय ? जब आप छोटा और सुगम मार्ग जानते हैं तो लम्बे और दुर्गम मार्ग से जाने का क्या लाभ ? इसका उत्तर कदाचित् यह दिया जाता है कि कुछ

१. मेटाफ़र

परिस्थितियों में उपयुक्त शब्द उतना अभिव्यंजक नहीं होता जितना कि तथाकथित अनुपयुक्त द्योतक (लाक्षणिक) शब्द। किन्तु ऐसी स्थिति में यह द्योतक शब्द ही वास्तव में उचित शब्द है, और तथाकथित उपयुक्त शब्द अव्यंजक अतएव अत्यन्त अनुपयुक्त है। इसी प्रकार की युक्तियाँ अन्य वर्ग-भेदों के विषय में भी दी जा सकती हैं—उदाहरण के लिए अलंकार को लीजिए। "यहाँ यह पूछा जा सकता है कि उक्ति में अलंकार का नियोजन किस प्रकार किया जा सकता है? बाहर से? तब तो वह उक्ति से सर्वद पृथक् रहेगा। भीतर से? ऐसी दशा में या तो वह उक्ति का साधक न होकर बाधक हो जाएगा, या फिर उसका अंग बनकर अलंकार ही न रह जाएगा। तब तो वह उक्ति का ही एक अभिन्न अंग बन जाएगा।" (एस्थेटिक पृ० ६६)।

आचार्य शुक्ल का मत

क्रोचे का उत्तर शुक्ल जी ने उतने ही प्रबल शब्दों में दिया है :

"अलंकार-अलंकार्य का भेद मिट नहीं सकता। शब्द-शक्ति के प्रसंग में हम दिखा आये हैं कि उक्ति चाहे कितनी ही कल्पनामयी हो, उसकी तह में कोई 'प्रस्तुत अर्थ' अवश्य ही होना चाहिए। इस अर्थ से या तो किसी तथ्य की या भाव की व्यंजना होगी। इस 'अर्थ' का पता लगाकर इस बात का निर्णय होगा कि व्यंजना ठीक हुई है या नहीं। अलंकारों (अर्थालंकारों) के भीतर भी कोई न कोई अर्थ व्यंग्य रहता है, चाहे उसे गौण ही कहिए। उदाहरण के लिए पन्त जी की ये पंक्तियाँ लीजिए :

"बाल्य-सरिता के कूलों से
खेलती थी तरंग-सी नित
—इसी में था असीम अवसित।"

इसका प्रस्तुत अर्थ इस प्रकार कहा जा सकता है—"वह बालिका अपने बाल्य-जीवन के प्रवाह की सीमा के भीतर उछलती-कूदती थी। उसके उस बाल्य-जीवन में अत्यन्त अधिक और अनिर्वचनीय आनन्द प्रकट होता था।"

बिना इस प्रस्तुत अर्थ को सामने रखे, न तो कवि की उक्ति की समीचीनता की परीक्षा हो सकती है, न उसकी रमणीयता के स्थल ही सूचित किये जा सकते हैं। अब यह देखिए कि उक्त प्रस्तुत अर्थ को कवि की उक्ति सुन्दरता के साथ अच्छी तरह व्यंजित कर सकी है या नहीं। पहले 'बाल्य-सरिता' यह रूपक लीजिए। कोई अवस्था स्थिर नहीं होती, प्रवाह-रूप में बहती चली जाती है, इससे साम्य ठीक है।

अब नदी की मूर्त भावना का प्रभाव लीजिए। नदी की धारा देखने से स्वच्छता, द्रुत गति, चपलता, उल्लास आदि की स्वभावतः भावना होती है, अतः प्रभाव भी वैसा ही रम्य है जैसा भोली-भाली स्वच्छ-हृदय प्रफुल्ल और चंचल बालिका को देखने से पड़ता है। अतः कह सकते हैं कि यह रूपक समीचीन और रम्य है। बाल्यावस्था या कोई अवस्था हो उसकी दो सीमाएँ होती हैं—एक सीमा के पार व्यतीत अवस्था होती है, दूसरी के पार आने वाली अवस्था। अतः 'दो कूलों' भी बहुत ठीक है। तरंग नदी की सीमा के भीतर ही उछलती है, बालिका भी बाल्यावस्था के बीच स्वच्छन्द क्रीड़ा करती है। अतः 'तरंग-सी' उपमा भी अच्छी है। असीम अर्थात् ब्रह्म अनन्त-आनन्द-स्वरूप है और उस बालिका में भी अपरिमित आनन्द का आभास मिलता है। अतः यह कहना ठीक ही है कि मानो उस ससीम बाल्य जीवन के भीतर असीम आनन्द-स्वरूप ब्रह्म ही आ बैठा है। इसलिए यह प्रतीयमान उत्प्रेक्षा भी अनूठी है क्यों कि इसके भीतर 'अधिक' अलंकार के वैचित्र्य की भी झलक है।"

शुक्ल जी के वक्तव्य का सारांश इस प्रकार है :—

(१) प्रत्येक काव्य-उक्ति में एक प्रस्तुत अर्थ वर्तमान रहता है—यह प्रस्तुत अर्थ ही अलंकार्य है। यह अलंकार्य प्रस्तुत अर्थ भाव-रूप होता है या (रमणीय) तथ्य-रूप।

(२) प्रत्येक अलंकार (अर्थालंकार) के पीछे भी एक प्रस्तुत अर्थ रहता है—उसी के द्वारा अलंकार में सन्निहित अप्रस्तुत-विधान के औचित्यानौचित्य का वर्णन हो सकता है।

(३) अतएव अलंकार्य और अलंकार में अनिवार्य भेद है जो मिट नहीं सकता।

विवेचन

अलंकार्य-अलंकार-भेद आधुनिक समालोचना-शास्त्र का अत्यन्त रोचक प्रसंग है। एक उदाहरण लेकर उसके पक्ष-विपक्ष की आलोचना करना अधिक समीचीन होगा :

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-वन बीच गुलाबी रंग। (श्रद्धा, कामायनी)

संस्कृत काव्य-शास्त्र के अनुसार, प्रस्तुत उद्धरण में, 'कोमल नील परिधान में श्रद्धा का सुकुमार अधखुला अंग अत्यन्त सुन्दर प्रतीत होता था' यह तो है प्रस्तुत अर्थ अथवा वस्तु; मनु के हृदय में उद्बुद्ध इसके प्रति आकर्षण अथवा अनुराग है भाव (रस); और 'मानो मेघों के वन में बिजली का गुलाबी फूल खिला हो' यह अप्रस्तुत-विधान है उत्प्रेक्षा अलंकार। यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार वस्तु के चित्रण (प्रस्तुत अर्थ) को रमणीय बनाता हुआ, भाव का भी उत्कर्ष करता है। प्रस्तुत अर्थ 'नील परिधान में श्रद्धा का अंग अत्यन्त सुन्दर लगता है' तथ्य-कथन मात्र है, उससे सहृदय के मन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। इसीलिए अप्रस्तुत-विधान की आवश्यकता पड़ी। श्रद्धा का रक्तिम-गौर अंग प्रस्तुत है और बिजली का फूल अप्रस्तुत, उधर रुएँदार नीली ऊन का परिधान प्रस्तुत है और मेघ-वन अप्रस्तुत—इसके आगे फिर नील परिधान से झलकता हुआ रक्तिम-गौर अंग संयुक्त रूप में प्रस्तुत है और मेघ-वन में हँसता हुआ विद्युत्पुष्प अप्रस्तुत। यह अप्रस्तुत- विधान श्रद्धा के रूप को निश्चय ही प्रभावक बना देता है क्यों कि सहृदय की कल्पना को उत्तेजित करता हुआ यह उसके चित्त को उद्दीप्त कर देता है जिससे उसके उद्बुद्ध रति भाव के 'भाव' अथवा 'रस' रूप में आस्वाद्य होने में सहायता मिलती है। इस प्रकार संस्कृत काव्य-शास्त्र में वस्तु, रस (भाव) और अलंकार की सत्ता पृथक् मानी गयी है—इन तीनों में घनिष्ठ सम्बन्ध अवश्य है, परन्तु उनकी अपनी-अपनी सत्ता भी है। यूरोप का प्राचीन काव्य-शास्त्र भी इस पार्थक्य को स्वीकार करता है—अरस्तू से लेकर आर्नल्ड तक यह मान्यता प्रायः अक्षुण्ण रही है।

क्रोचे को यह विश्लेषण सर्वथा अमान्य है। उनके अनुसार उपर्युक्त उक्ति अपने छन्दोबद्ध रूप में ही अखण्ड है; वस्तु, भाव और अलंकार की पृथक् खण्ड-कल्पना अनर्गल है। इसी प्रकार प्रस्तुत और अप्रस्तुत का भेद भी सर्वथा मिथ्या है—जिसे प्रस्तुत अर्थ कहा गया है वह भिन्न अर्थ है, उक्ति का समग्र अर्थ ही प्रस्तुत अर्थ है। 'नील परिधान में श्रद्धा का अंग अत्यन्त सुन्दर लगता है' यह एक बात हुई, और, 'नील परिधान में श्रद्धा का अंग ऐसा लगता है जैसे मेघ-वन में बिजली का फूल' यह दूसरी बात। इन दोनों उक्तियों में केवल उत्प्रेक्षा अलंकार का ही अन्तर नहीं

है—दोनों की मूल व्यंजना ही भिन्न है। इस प्रकार क्रोचे को वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का भेद भी अमान्य है, उनके अनुसार वे एक ही उक्ति के दो अर्थ न होकर दो पृथक् उक्तियाँ हैं। प्रत्येक उक्ति का वाच्यार्थ ही उसका एकमात्र अर्थ है—एक उक्ति का एक ही अर्थ, एक ही व्यंजना हो सकती है। उस विशेष परिस्थिति में गान्धार-कन्या श्रद्धा के प्रति अपने कवि-निबद्ध पात्र मनु की प्रतिक्रिया की सहजानुभूति प्रसाद को एक ही रूप में हो सकती थी, अतएव उसकी अभिव्यक्ति भी एक अखण्ड ही होनी चाहिए।

इन दोनों में कौन-सा मत मान्य होना चाहिए? वास्तव में अलंकार-अलंकार्य के भेदाभेद का प्रश्न प्रत्यक्ष रूप से वाणी और अर्थ के भेदाभेद के साथ सम्बद्ध है। भारतीय चिन्ताधारा के लिए यह कोई नया प्रश्न भी नहीं है। संस्कृत के व्याकरण-शास्त्र में निश्चय ही वाणी और अर्थ के अभेद, उक्ति की अखण्डता, प्रत्येक शब्द की एकार्थता आदि का स्पष्ट विवेचन मिलता है :

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन॥

[(वैयाकरणभूषणसार) का० ६८]

एकः शब्दः सकृदेकमेवार्थं गमयते।

(परिभाषेन्दुशेखर)

यह प्रश्न यहीं नहीं समाप्त हो जाता। इसका मूल दर्शन में है। रूप और तत्व—अथवा इसके भी आगे प्रकृति और ब्रह्म का भेदाभेद भारतीय दर्शन का प्रमुख विवेच्य विषय रहा है और अन्ततोगत्वा भेद और अभेद दोनों ही स्वीकार कर लिये गये हैं। तत्व-रूप में तो ब्रह्म की अखण्ड सत्ता है और प्रकृति उसी की अभिन्न अभिव्यक्ति है। इसी प्रकार अर्थ की भी सत्ता अखण्ड है—शब्द उसका अविभाज्य माध्यम है। परन्तु व्यवहार में दोनों की पार्थक्य-कल्पना अनिवार्य है, अन्यथा चिन्तन-प्रक्रिया ही व्यर्थ हो जाती है। वास्तव में पार्थक्य का बोध अथवा आभास ही अन्त में अपार्थक्य की सिद्धि कराता है, इसलिये तत्व-उपलब्धि के लिए प्राकल्पना के रूप में प्रकृति की पृथक् सत्ता माननी ही पड़ती है। यही अर्थ और वाक् के लिए भी मान्य है—और यही फिर आगे चलकर अलंकार्य-अलंकार के लिए भी मानना पड़ेगा। क्रोचे का यह तर्क सर्वथा संगत है कि प्रतिक्रिया का अपना अस्तित्व होता है जो

अन्य किसी भी प्रतिक्रिया से भिन्न होता है, और यह भी ठीक ही है कि यह प्रतिक्रिया अभिव्यंजना में ही रूप ग्रहण करती है : उसके बिना वह अरूप संवेदन मात्र होती है। परिणामतः प्रत्येक उक्ति भी किसी भी अन्य उक्ति से भिन्न होती है। इस दृष्टि से 'नीले परिधान में श्रद्धा का अंग अत्यन्त सुन्दर लगता है' और 'नीले परिधान में श्रद्धा का अंग ऐसा लगता है मानो मेघ-वन में बिजली का फूल हो' दोनों उक्तियाँ निश्चय ही भिन्न हैं—इसे कौन अस्वीकार करता है ?

तुम चन्द्रमा-सी सुन्दर हो।
तुम उषा-सी कान्तिमय हो।
तुम गुलाब-सी प्रसन्न हो।
तुम लता-सी सुकुमार हो।

ये सभी उक्तियाँ निश्चय ही भिन्न हैं—इन सभी में आलम्बन के सौंदर्य के विभिन्न पक्षों की व्यंजना है। परन्तु इस अनेकता के मूल में क्या यह एक भावना विद्यमान नहीं है : 'तुम मुझे प्रिय लगती हो।' यदि ऐसा नहीं है तो उपर्युक्त सभी उक्तियाँ अर्थहीन प्रलाप हैं क्योंकि पहले तो चन्द्रमा, उषा, गुलाब और लता में सौंदर्य, कान्ति, प्रसन्नता, सौकुमार्य आदि गुणों का आरोप मिथ्या हो सकता है, और दूसरे कोई स्त्री न चन्द्रमा के समान सुन्दर हो सकती है, न उषा के समान कान्तिमयी, न गुलाब के समान प्रसन्न और न लता के सदृश सुकुमार। उपर्युक्त उक्तियों की सार्थकता का एकमात्र आधार यही भाव है कि 'तुम मुझे प्रिय लगती हो।' यही उनका व्यंग्यार्थ है। यही शुक्ल जी के शब्दों में प्रस्तुत अर्थ है, इसी को व्यक्त करने के लिए अनेक प्रकार का अप्रस्तुत-विधान किया गया है जिसका काव्य-शास्त्र ने विवेचन की सुविधा के लिए नामकरण कर दिया है।—ये नाम निरक्षेप नहीं हैं परन्तु स्वरूप-बोध के लिए उनकी उपयोगिता है, उसी सीमा तक मूल रूप में असत्यभूत होने पर भी, व्यवहार में वे मान्य हैं। अनेकता की धारणा के बिना एकता, या भेद के बिना अभेद की कल्पना कैसे सम्भव है ? अभेद को हृदगत करने के लिए भेद का ज्ञान अनिवार्य है। भारतीय दर्शन और उस पर आधृत भारतीय अलंकार-शास्त्र इस सत्य से अवगत रहा है, इसीलिए मूलतः अभेद का विश्वासी होने पर भी उसने व्यवहारतः भेदाभेद की सापेक्षता को निस्संकोच रूप से स्वीकार किया है। काव्य को इसी लिए अर्धनारीश्वर का रूप माना गया है जिसमें वाक् और अर्थ शंभु और शिवा के समान संपृक्त हैं :[१]

१—वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये। (कालिदास)

२—अर्थः शम्भुः शिवा वाणी (लिंगपुराण)

३—रुद्रोऽर्थोक्षरस्सोमा।

दोनों तत्वतः एक हैं, किन्तु प्रत्यक्षतः दो हैं ही। व्यवहार-रूप में इस भेद को अनर्गल कह कर उड़ा देने से समस्त शास्त्र-विवेचन ही व्यर्थ हो जाता है, अलंकार-शास्त्र ही नहीं, दर्शन-शास्त्र का भी अस्तित्व नहीं रह जाता। फिर क्रोचे का सौंदर्य-शास्त्र और उसमें स्वीकृत मानव-चेतना के धारणा तथा सहजानुभूति-मूलक भेद-प्रभेद सभी निरर्थक सिद्ध हो जाते हैं: एक अखण्ड सत्य की सत्ता शेष रह जाती है जिसकी सहजानुभूति मात्र सम्भव है, विवेचन-विश्लेषण नहीं। इसी कारण से अन्त में क्रोचे को यह स्वीकार करना पड़ा: 'स्वयं हमने ही इस निबन्ध में कई बार इस प्रकार की शब्दावली का प्रयोग किया है, और आगे भी प्रयोग करने का विचार है जिससे कि हम अपने द्वारा प्रयुक्त, अथवा (विवेच्य प्रसंग में) अन्य द्वारा प्रयुक्त शब्दों का अर्थ स्पष्ट कर सकें। किन्तु यह विज्ञान और दर्शन-शास्त्र-सम्बन्धी विवेचन के लिए तो उपयुक्त है, कला के विवेचन में इसका कोई मूल्य नहीं है + + + + (क्यों कि) कला में उपयुक्त शब्दों के अतिरिक्त अन्य शब्दों का प्रश्न ही नहीं है: वह सहजानुभूति[1] है, धारणा[2] नहीं।" (क्रोचे—ऐस्थेटिक)

बस यहीं समस्या हल हो जाती है। जहाँ तक कला की अनुभूति या सहजानुभूति का प्रश्न है, कोई भी उसकी अखण्डता में सन्देह नहीं करता: वह अखण्ड है, वस्तु-तत्व और रूप-आकार अथवा अलंकार तथा अलंकार्य की पृथक् सत्ता उसमें नहीं है। परन्तु वह तो कला की सहजानुभूति है जिसे हमारे शास्त्र में (सहृदय की दृष्टि से) आस्वाद कहा गया है, और आस्वाद की अखण्डता की इतनी प्रबल घोषणा भारतीय काव्य-शास्त्र के अतिरिक्त अन्यत्र कहाँ मिलेगी?—उसने तो आस्वाद को अखण्ड, स्वप्रकाश, वेद्यान्तरस्पर्शशून्य और अन्त में अनिर्वचनीयता के कारण ब्रह्मास्वादसहोदर कह दिया है। फिर भी यह कला की आलोचना तो नहीं है: कला की आलोचना सहजानुभूति अथवा आस्वाद-रूप न होकर धारणा-रूप ही होती है। स्पष्ट शब्दों में (सहृदय द्वारा) कला की सहजानुभूति तो कला का आस्वाद है, कला की आलोचना इस सहजानुभूति की धारणा (विवेचना) का ही नाम है। अपने अखण्ड रूप में सहजानुभूति अविवेच्य है—अनिर्वचनीय है, धारणाओं में खण्डित होकर ही

---

१. इन्ट्यूशन २. कन्सेप्ट

यह विवेच्य हो सकती है : यही उसकी आलोचना है। शुक्ल जी की विवेक-परिपुष्ट आलोचना-दृष्टि ने क्रोचे को यहीं पकड़ लिया है : "रस अलंकार आदि के नाना भेद निरूपण क्रोचे के अनुसार कला के निरूपण में योग न देकर तर्क या शास्त्र-पक्ष में सहायक होते हैं। उन सबका मूल्य केवल वैज्ञानिक समीक्षा में है, कला-निरूपिणी समीक्षा में नहीं। इस सम्बन्ध में मेरा वक्तव्य यह है कि वैज्ञानिक या विचारात्मक समीक्षा ही कला-निरूपिणी समीक्षा है। उसी का नाम समीक्षा है।" (चिंतामणि भाग २ पृष्ठ १९१)।

उपर्युक्त समीक्षा के आधार पर आप देखें कि कुन्तक का मन्तव्य कितना शुद्ध है। इस क्रान्तदर्शी आचार्य ने आज से एक सहस्र वर्ष पूर्व ही मानो क्रोचे की युगान्तरकारी स्थापना की आकल्पना कर उसका समाधान भी प्रस्तुत कर दिया था।

> अलंकृतिरलंकार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते ।
> तदुपायतया तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता ॥ १-६'

वक्रोक्ति-सिद्धान्त और स्वभावोक्ति

संस्कृत अलंकार-शास्त्र में स्वभावोक्ति की स्थिति भी विचित्र है। वह काव्य है अथवा अकाव्य ? और, यदि काव्य है तो वह अलंकार है अथवा अलंकार्य ? आदि अनेक तर्क-वितर्क इस प्रसंग में उठते हैं। कुन्तक ने अपनी स्थापना को पुष्ट करने के लिए प्रथम उन्मेष की ११ से १४ वीं कारिकाओं में प्रस्तुत प्रसंग का अत्यन्त मार्मिक विवेचन किया है :—

जिन (दंडी सदृश) आलंकारिक आचार्यों के मत में स्वभावोक्ति अलंकार है उनके मत में अलंकार्य क्या रह जाता है ?

जिन आलंकारिकों का मत यह है कि स्वभावोक्ति भी अलंकार है—अर्थात् जिनके मत में स्वभाव अथवा पदार्थ के धर्मभूत लक्षण की उक्ति या कथन ही अलंकार है, वे सुकुमार-बुद्धि होने से विवेक का कष्ट नहीं उठाना चाहते। क्यों कि स्वभावोक्ति का क्या अर्थ है—स्वभाव ही उच्यमान अर्थात् उक्ति का विषय—वर्ण्य विषय है, यदि वही अलंकार है तो फिर उससे भिन्न काव्य की शरीर-स्थानीय कौन-सी वस्तु है जो उनके मत में अलंकार्य अथवा विभूष्य रूप से स्थित होकर पृथक् सत्ता को प्राप्त

करती है—अर्थात् और कुछ नहीं है।

+ + +

स्वभाव (कथन) के बिना वस्तु का वर्णन ही सम्भव नहीं हो सकता क्योंकि उस (स्वभाव) से रहित वस्तु तो निरुपाख्य अर्थात् असत्कल्प हो जाती है। + + + स्वभाव शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार होती है। जिससे (अर्थ का) कथन और ज्ञान होता है, वह भाव है। और स्व का अर्थात् अपना भाव स्वभाव (स्वरूप) है। इसलिए वह (स्वभाव या स्वरूप) ही सब पदार्थों के ज्ञान और कथन-रूप व्यवहार का कारण होता है। उससे रहित वस्तु शश-विषाण सदृश शब्द के लिए अगोचर हो जाती है, अर्थात् उसका शब्द से कथन सम्भव नहीं है क्योंकि स्वभाव-युक्त वस्तु ही सर्वथा कथन-योग्य होती है। (और यदि स्वभाव-वर्णन को ही अलंकार माना जाय तो) स्वभावोक्तियुक्त होने से गाड़ीवालों के वाक्यों में सालंकारता अर्थात् काव्यत्व प्राप्त होगा।

इस बात को दूसरी युक्ति से फिर कहते हैं :—

(स्वभाव अर्थात् स्वरूप तो काव्य का शरीर-रूप है) वह शरीर ही यदि अलंकार हो जाय तो वह दूसरे किसको अलंकृत करेगा? कहीं कोई स्वयं अपने कन्धे पर नहीं चढ़ सकता।

+ + +

स्वभाव को यदि अलंकार मान लिया जाय तो अन्य अलंकारों की रचना होने पर उन दोनों का अर्थात् स्वभावोक्ति तथा उपमादि का भेद-ज्ञान या तो स्पष्ट होता है या अस्पष्ट। स्पष्ट होने पर (दोनों अलंकारों की निरपेक्ष स्थिति होने से) सर्वत्र संसृष्टि अलंकार होगा और अस्पष्ट होने से संकर। इसलिए शुद्ध रूप से (उपमादि) अन्य अलंकारों का विषय (उदाहरण) ही नहीं बचेगा।

+ + +

अथवा यदि वह संसृष्टि और संकर ही उन (उपमादि अलंकारों) के विषय मान लिए जायँ तो भी कुछ बनता नहीं क्योंकि (स्वभावोक्ति का प्रतिपादन करने वाले) वे ही आलंकारिक इस बात को स्वीकृत नहीं करते। इस प्रकार आकाश-चर्वण के समान (स्वभावोक्ति अलंकार का) मिथ्या वर्णन व्यर्थ है। इसलिए प्रकृत मार्ग

का अनुसरण करना ही उचित है। सब प्रकार से कवि-व्यापार के विषय होने के कारण अवर्णनीयता को प्राप्त होने वाले सभी पदार्थों का सहृदय-आह्लादकारी स्वभाव ही (काव्य में) वर्णनीय होता है। वह ही सब अलंकारों से अलंकृत किया जाता है।
(११-१५ कारिका व० जी० प्रथम उन्मेष)।

यही बात प्रथम उन्मेष की नवम और दशम कारिकाओं में कह चुके हैं :

अन्य पर्याय शब्दों के रहते हुए भी विवक्षित अर्थ का बोधक केवल एक शब्द ही वस्तुतः (काव्य में) शब्द है, इसी प्रकार सहृदयों के हृदय को आनन्दित करने वाला अपने स्वभाव से सुन्दर अर्थ ही वास्तव में अर्थ है। (का० ९)

ये दोनों (शब्द और अर्थ) ही अलंकार्य होते हैं। वैदग्ध्य-पूर्ण उक्ति-रूप वक्रोक्ति ही उन दोनों का अलंकार है। (का० १०)।

कुन्तक का मंतव्य सर्वथा निर्भ्रान्ति है। स्वभावोक्ति के निराकरण में उन्होंने अत्यन्त प्रबल तर्क प्रस्तुत किये हैं जिनका सारांश इस प्रकार है :

१. स्वभावोक्ति का अर्थ है स्वभाव का कथन। स्वभाव से अभिप्राय उन मूल विशेषताओं का है जिनके द्वारा किसी पदार्थ का कथन या ज्ञान होता है। अतएव किसी वस्तु का वर्णन निसर्गतः उसके स्वभाव का ही वर्णन है क्योंकि उससे रहित वस्तु तो शब्द के लिए अगोचर हो जाती है। अर्थात् वस्तु-वर्णन मूलतः स्वभाव-वर्णन—स्वभावोक्ति ही है।

२. लोक तथा शास्त्र में सभी वस्तुओं का वर्णन रहता है, किन्तु काव्य में उन्हीं का वर्णन होता है जो स्वभाव से सुन्दर हों—अथवा यह भी कहा जा सकता है कि लोक और शास्त्र में किसी वस्तु के सभी गुणों का वर्णन मिल जाता है, परन्तु काव्य में केवल उन्हीं का वर्णन प्रेय है जो स्वभाव से सुन्दर हों। अतएव सुन्दर स्वभाव काव्य का प्रकृत वर्ण्य विषय है, और वर्ण्य विषय होने से वह अलंकार्य ही है, अलंकार नहीं हो सकता।

३. स्वभाव-कथन यदि अलंकार है तो जन-सामान्य के साधारण वाक्य भी अलंकार हो जायँगे।

४. स्वभाव का वर्णन ही यदि अलंकार मान लिया जाय तो उसका अलंकार्य क्या होगा? यदि यह कहा जाय कि वह स्वयं ही अलंकार्य भी है तो यह असम्भव

है। अलंकार तो शरीर पर धारण किया जाता है, यदि शरीर ही अलंकार है तो शरीर अपने को कैसे धारण कर सकता है ?

५. यदि स्वभावोक्ति अलंकार है तो उपमा आदि सभी अलंकारों में उसकी स्थिति माननी पड़ेगी क्यों कि स्वभाव-कथन तो सभी वर्णनों में अनिवार्य है। ऐसी स्थिति में शुद्ध अलंकार कोई भी नहीं रह जाएगा : स्वभावोक्ति का योग होने से वे या तो संसृष्टि बन जायेंगे या संकर।

उपर्युक्त मन्तव्य कुन्तक की निर्भीक प्रकृति और मौलिक प्रतिभा का प्रमाण है। उनके पूर्ववर्ती तथा परवर्ती प्रायः समस्त आलंकारिक आचार्यों ने स्वभावोक्ति की अलंकारता को स्वीकार किया है। संस्कृत के आद्याचार्य भरत हैं—किन्तु भरत ने स्वभावोक्ति का वर्णन न तो 'लक्षणों' के अन्तर्गत किया है और न अलंकारों के ही अन्तर्गत। उन्होंने ३६ 'लक्षणों' और ४ अलंकारों का विवेचन किया है : उनके 'लक्षण' भी बहुत-कुछ अलंकारों के ही समवर्ती हैं और परवर्ती आचार्यों ने अनेक 'लक्षणों' को अलंकार-रूप में ग्रहण कर ही लिया है। यों तो 'लक्षणों' के अनेक भेद वर्ण्य विषय से भी सम्बन्ध रखते हैं, परन्तु उनमें स्वभावोक्ति का कहीं उल्लेख नहीं है—स्वभावोक्ति का समकक्ष भी उनमें कोई नहीं है। वास्तव में स्वभावोक्ति का यथावत् विवेचन सर्व-प्रथम भामह के काव्यालंकार में ही मिलता है। परन्तु भामह से पूर्व, स्वभावोक्ति का नामोल्लेख न होने पर भी प्रकारान्तर से उसका वर्णन बाण के हर्षचरित तथा भट्टिकाव्य में उपलब्ध हो जाता है। बाण ने 'जाति' नाम के एक काव्य-उपकरण का उल्लेख किया है : 'नवोऽर्थो जातिरग्राम्या', जो स्वभावोक्ति का ही समतुल्य है और दण्डी आदि ने उसे इसी रूप में ग्रहण भी किया है। डा० राघवन ने प्रस्तुत प्रसंग का दो[1]-[2] स्थलों पर अत्यन्त प्रामाणिक विवेचन किया है। उनका मन्तव्य है कि 'जाति' के दो अर्थ हो सकते हैं (१) किसी पदार्थ के सहजात रूप का वर्णन (जन् धातु से), (२) (जाति—वर्ग के आधार पर) किसी पदार्थ की जातिगत विशेषताओं का वर्णन। इनमें से एक या दोनों ही अर्थ कदाचित् बाद में चलकर अलंकार-रूप में रूढ़ हो गए हैं। भट्टिकाव्य में प्रस्तुत अर्थ में 'वार्ता' का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार भामह से पूर्व स्वभावोक्ति का वर्णन जाति और वार्ता रूप में हुआ है।[1]

भामह ने जाति का प्रयोग नहीं किया और वार्ता को अकाव्य माना है।

१—भोजस शृंगार प्रकाश : भोज एण्ड स्वभावोक्ति। २—सम कन्सेप्ट्स ऑफ़ अलंकार-शास्त्र : दि हिस्टरी ऑफ़ स्वभावोक्ति इन संस्कृत पोयटिक्स।

उन्होंने स्पष्ट रूप से स्वभावोक्ति का उल्लेख किया है :

स्वभावोक्तिरलंकारः इति केचित्प्रचक्षते ।
अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहितो यथा ॥. (भामह २।९३)

अर्थात् कुछ अलंकारिकों ने स्वभावोक्ति नामक अलंकार का वर्णन किया है। अर्थ का यथावत् कथन स्वभाव कहलाता है।—भामह के स्वभावोक्ति-विवेचन के विषय में विद्वानों में मतभेद है। भामह ने इतने आग्रह के साथ वक्रोक्ति को अलंकार का प्राण-तत्व माना है कि सामान्यतः उनके विधान में स्वभावोक्ति के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। इसीलिए संकरन आदि का मत है कि भामह स्वयं स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं मानते—स्वभावोक्ति अलंकार है यह किसी-किसी का मत है 'केचित्प्र-चक्षते', भामह का अपना मत नही है। परन्तु वास्तविकता यह नहीं है : जैसा कि डा० राघवन का कथन है 'केचित्प्रचक्षते' से भामह की अस्वीकृति अथवा उदासीनता व्यक्त नहीं होती, यह वर्णन-परम्परा का द्योतक सामान्य वाक्य मात्र है। जहाँ भामह को किसी अलंकार का निराकरण करना होता है, वहाँ वे अत्यन्त स्पष्ट कथन करते हैं और फिर लक्षण देने की आवश्यकता नहीं समझते। उपर्युक्त उद्धरण में भामह ने स्वभाव का लक्षण देकर अपनी स्वीकृति निश्चित रूप से दे दी है। अब प्रश्न यह है 'स्वभावोक्तिरलंकारः' और 'कोऽलंकारोऽनया (वक्रोक्त्या) विना' में किस प्रकार सामंजस्य हो सकता है ? इसका उत्तर यह है कि वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति में कोई विरोध नहीं है। वक्र का अर्थ स्वभाव से भिन्न अथवा अस्वाभाविक नहीं है। वक्र का अर्थ है साधारण से भिन्न अर्थात् विशिष्ट और स्वभावोक्ति में भी निश्चय ही विशि-ष्टता का सद्भाव रहता है। स्वभावोक्ति में किसी वस्तु के उन मूल गुणों का वर्णन होता है जो स्वभाव से सुन्दर हों—सभी सामान्य गुणों का यथावत् वर्णन स्वभावोक्ति न होकर वार्ता मात्र होता है। स्वभावोक्ति में कवि रमणीय के ग्रहण तथा अरमणीय के त्याग में अपनी प्रतिभा अथवा कल्पना का उपयोग करता है। इस दृष्टि से उसमें वक्रता या विशिष्टता की मात्रा निश्चय ही वर्तमान रहती है और इसीलिए वह अलंकार है।

भामह के उपरान्त दण्डी ने स्वभावोक्ति का विस्तार के साथ विवेचन किया है। उन्होंने जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया के आधार पर स्वभावोक्ति के चार भेद

किये हैं। उनके अनुसार स्वभावोक्ति जाति की पर्याय है और उसकी परिभाषा इस प्रकार है :

नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षात् विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा ॥ २।८

अर्थात् विभिन्न अवस्थाओं में पदार्थ के स्वरूप का साक्षात् वर्णन करता हुआ प्राथमिक अलंकार स्वभावोक्ति या जाति कहलाता है। यहाँ साक्षात् के अर्थ के विषय में मतभेद है : तरुणवाचस्पति ने साक्षात् का अर्थ किया है 'प्रत्यक्षमिव दर्शयन्ती' अर्थात् प्रत्यक्ष-सा दिखाती हुई। हृदयंगमा टीका में साक्षात् का अर्थ किया गया है 'अव्याजेन'—प्रकृत रूप में। इन दोनों में प्रसंगानुसार दूसरा अर्थ ही अधिक संगत प्रतीत होता है क्यों कि एक तो उदाहरणों में सजीवता की अपेक्षा अव्याजता ही अधिक है, दूसरे दण्डी ने स्वभावोक्ति को वक्रोक्ति से पृथक् माना है :

भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्। २।३६१

तीसरे उन्होंने स्वभावोक्ति को आदि अर्थात् प्रारम्भिक अलंकार मानते हुए उसका साम्राज्य मूलतः शास्त्र में ही माना है। इस दृष्टि से दण्डी के अनुसार स्वभावोक्ति में पदार्थों के अपने गुणों का प्रकृत वर्णन रहता है : उनका यह अनारोपित प्रकृत रूप-वर्णन ही अपने आप में आकर्षक होने के कारण स्वभावोक्ति-अलंकार-पदवी का अधिकारी और काव्य के लिए भी वांछनीय हो जाता है : 'काव्येष्वप्येतदीप्सितम्।'

उद्भट ने स्वभावोक्ति का क्षेत्र सीमित कर दिया है—उनके मत में क्रिया में प्रवृत्त मृगशावकादि की लीलाओं का वर्णन ही स्वभावोक्ति है :

क्रियायां संप्रवृत्तस्य हेवाकानां निबन्धनम्।
कस्यचित् मृगडिम्भादेः स्वभावोक्तिरुदाहृता ॥ ३।८६

यहाँ वास्तव में 'मृगशावकादि की लीला' का प्रयोग सांकेतिक रूप से प्राकृतिक व्यापार के व्यापक अर्थ में ही किया गया है; फिर भी स्वभावोक्ति की परिधि संकुचित तो हो ही जाती है क्यों कि उससे मानव-व्यापार का सर्वथा बहिष्कार भी समीचीन नहीं माना जा सकता। रुद्रट ने, इसके विपरीत, स्वभावोक्ति के क्षेत्र का सम्यक् विस्तार कर दिया है, उन्होंने अर्थालंकारों के चार वर्ग किये हैं—वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष। इनमें स्वभावोक्ति अथवा जाति 'वास्तव' वर्ग का प्रमुख अलंकार

है—इस प्रकार से रुद्रट ने जाति को 'वास्तव' का ही सह-व्यापी बना दिया है।
'वास्तव' में वस्तु के स्वरूप का कथन होता है—यह स्वरूप-कथन पुष्टार्थ (रमणीयार्थ)
तो होता है, परन्तु वैपरीत्य, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष आदि के चमत्कार पर
निर्भर नहीं रहता।

वास्तवमिति तज्ज्ञेयं क्रियते वस्तु-स्वरूपकथनं यत्।
पुष्टार्थमविपरीतं निरुपमनतिशयम् अश्लेषम् ॥ ८।१०

रुद्रट की यह परिभाषा पदार्थ के वस्तुगत सौंदर्य की अत्यन्त स्पष्ट व्याख्या है।
वस्तुगत सौंदर्य का भी अर्थ यही है कि यथा-सम्भव वस्तु का सहजात रूप ही प्रस्तुत
किया जाय, भावना-कल्पना के द्वारा उस पर बाह्य गुणों का आरोप न किया जाय।
विरोध-मूलक, औपम्य अर्थात् सादृश्य-साधर्म्य-मूलक, अतिशय-मूलक तथा श्लेष-मूलक
समग्र अप्रस्तुत-विधान कल्पना का चमत्कार है। इस कल्पनात्मक अप्रस्तुत-विधान
के बिना पदार्थ के प्रस्तुत रमणीय गुणों का चित्रण ही वस्तुगत सौंदर्य का चित्रण
है—वही रुद्रट के मत में 'वास्तव' है। इस प्रकार रुद्रट के अनुसार स्वभावोक्ति का
स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट है: किसी प्रकार के अप्रस्तुत गुणों के आरोप के बिना पदार्थ
का प्रस्तुत पुष्ट अर्थात् रमणीय रूप अंकित करना ही स्वभाव-कथन या स्वभावोक्ति
है। यह पुष्ट अर्थ क्या है, इसका संकेत रुद्रट के टीकाकार नमिसाधु की व्याख्या
में मिल जाता है। 'जाति' का निरूपण करते हुए नमिसाधु कहते हैं: 'जातिस्तु
अनुभवं जनयति। यत्र परस्यं स्वरूपं वर्ण्यमानमेव अनुभवमिवैतीतिस्थितम्।' अर्थात्
जाति में वस्तु-स्वरूप का ऐसा सजीव वर्णन रहता है कि वह श्रोता के मन में अनुभव-
सा उत्पन्न कर देता है।—जो रूप अनुभव में परिणत हो जाता है वही रमणीय है,
वही पुष्टार्थ है। वस्तुगत सौंदर्य और भागवत सौंदर्य में यही भेद है कि एक दृष्टि का
विषय अधिक होता है, दूसरा भावना का। स्वभावोक्ति या जाति वस्तु के वर्णनीय
स्वरूप का यथावत् श्रोता अथवा पाठक के मन में संचार कर प्रायः वही अनुभव
उत्पन्न कर देती है जो उसके साक्षात् दर्शन से होता है। स्वरूप की यह अनुभव-
रूपता ही उसकी रमणीयता या पुष्टार्थता है।

रुद्रट के उपरान्त भोज ने अपनी प्रकृति के अनुसार स्वभावोक्ति-सम्बन्धी
प्रचलित मतों का समन्वयात्मक विवेचन किया है। उन्होंने अलंकार-रूप में जाति
नाम ही ग्रहण किया है और उसकी व्युत्पत्ति-मूलक परिभाषा की है।

नानावस्थासु जायन्ते यानि रूपाणि वस्तुनः।
स्वेभ्यः स्वेभ्यः निसर्गेभ्यः तानि जातिं प्रचक्षते ॥
(सरस्वतीकण्ठाभरण ३।४५)

अर्थात् जाति के अन्तर्गत वस्तु के ऐसे रूपों का वर्णन आता है जो अपने स्वभाव से ही भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार भोज ने 'जाति' का 'जायन्ते' के साथ सम्बन्ध घटाकर वस्तु के जायमान रूपों का वर्णन ही स्वभावोक्ति के अन्तर्गत माना है। इसी आधार पर अर्थ-व्यक्ति गुण से उसका भेद करते हुए उन्होंने लिखा है कि अर्थ-व्यक्ति और जाति में यह भेद है कि उसमें सार्वकालिक रूपों का वर्णन रहता है, इसमें जायमान अर्थात् आगन्तुक रूपों का। जैसा कि डा० राघवन आदि प्रायः सभी विद्वानों का मत है, भोज का यह भेद निरर्थक है और इसी प्रकार स्वभावोक्ति को पदार्थ के जायमान रूपों तक सीमित करने का प्रयत्न भी व्यर्थ है। इसकी अपेक्षा भोज की एक अन्य उद्भावना कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। दण्डी के आधार पर, किन्तु उनके मत का संशोधन करते हुए भोज ने वाङ्मय का तीन रूपों में विभाजन किया है : वक्रोक्ति, रसोक्ति और स्वभावोक्ति—

वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्चेति वाङ्मयम्।

इनमें अलंकार-प्रधान साहित्य वक्रोक्ति के अन्तर्गत आता है, रस-भावादि-प्रधान रसोक्ति के अन्तर्गत, और गुण-प्रधान साहित्य स्वभावोक्ति के अन्तर्गत। (देखिए शृंगारप्रकाश भाग २, अध्याय ११)। भोज ने समन्वय के अनावश्यक उत्साह के कारण स्वभावोक्ति को गुण-प्रधान मान लिया है क्यों कि वे अलंकार, रस और रीति-सम्प्रदायों का समंजन करना चाहते थे। परन्तु स्पष्टतया यह मत अधिक तर्क-पुष्ट नहीं है। इसकी उपेक्षा कर देने पर भोज का उपर्युक्त विभाजन आधुनिक आलोचना-शास्त्र की कसौटी पर भी खरा उतरता है। काव्य के तीन प्रमुख तत्व हैं—सत्य, भाव और कल्पना। साहित्य के विभिन्न रूपों में इनका महत्व भिन्न अनुपात में रहता है। इनमें सत्य का अर्थ है सहज रूप, कहीं जीवन और जगत के सहज या प्रस्तुत रूप का चित्रण प्रधान होता है—इसी को भोज ने स्वभावोक्ति कहा है; कहीं भाव का प्राधान्य होता है—वही भोज के शब्दों में रसोक्ति होगी, और कहीं कल्पना का प्राधान्य रहता है अर्थात् प्रस्तुत की अपेक्षा कवि अप्रस्तुत-विधान की सृष्टि में अधिक रुचि लेता है—ऐसा काव्य अलंकृत होता है और दण्डी या भोज के शब्दों में वक्रोक्ति के अन्तर्गत आता है। एक अन्य दृष्टि से भी भोज का यह विभाजन आधुनिक आलोचना-शास्त्र के अनुकूल

पड़ता है । सौंदर्य के दो व्यापक रूप हैं : (१) वस्तु-परक और (२) व्यक्ति-परक। इनमें से वस्तुगत सौंदर्य भोज की स्वभावोक्ति का ही पर्याय है । व्यक्ति-परक सौंदर्य भावना या कल्पना की प्रसूति है और इस दृष्टि से उसके दो रूप हो सकते हैं—एक वह जो मन के माधुर्य का प्रक्षेपण हो और दूसरा वह जो कल्पना का विलास हो । इनमें से पहला रसोक्ति है, दूसरा वक्रोक्ति ।

भोज के समसामयिक कुन्तक ने यह सब स्वीकार न करते हुए स्वभावोक्ति की अलंकारता का निषेध किया । परन्तु महिम भट्ट ने उनके आह्वान का उचित उत्तर दिया : महिम भट्ट और उनके अनुयायी हेम चन्द्र तथा माणिक्य चन्द्र के तर्क का सारांश इस प्रकार है ।—स्वभाव मात्र का वर्णन स्वभावोक्ति नहीं है, इसमें सन्देह नहीं । परन्तु वस्तु के दो रूप होते हैं : एक सामान्य रूप, दूसरा विशिष्ट रूप । सामान्य रूप का ग्रहण सभी जन-साधारण कर सकते हैं, किन्तु विशिष्ट रूप का साक्षात्कार केवल प्रतिभावान ही कर पाते हैं । अतएव सामान्य स्वभाव का वर्णन मात्र अलंकार नहीं है । इस सामान्य लौकिक अर्थ को अधिक से अधिक अलंकार्य कहा जा सकता है : कवि-प्रतिभा ही इसे अपने संसर्ग से चमका देती है, अन्यथा अपने सहज रूप में तो यह अपुष्ट अर्थ-दोष है । इसके विपरीत विशिष्ट स्वभाव लोकोत्तर-प्रतिभा-गोचर है : जिसमें केवल रमणीय वाच्य का वाचन होता है, अवाच्य का वाचन नहीं । कवि का प्रातिभ नयन ही उसका उद्घाटन कर सकता है । यह विशिष्ट-स्वभाव-वर्णन ही स्वभावोक्ति अलंकार है । महिम भट्ट तथा उनके अनुयायी आचार्यों की धारणा है कि कुन्तक ने सामान्य और विशेष के इस भेद को न समझकर स्वभावोक्ति का वास्तविक स्वरूप नहीं पहचाना है ।*

*देखिए डा० राघवन का लेख : हिस्टरी ऑफ़ स्वभावोक्ति ।

न हि स्वभावमात्रोक्तौ विशेषः कश्चनानयोः ।
उच्यते वस्तुनस्तावद् द्वैरूप्यमिह विद्यते ।
तत्रैकमस्य सामान्यं यद्विकल्पैकगोचरः ।
स एव सर्वशब्दानां विषयः परिकीर्तितः
अत एवाभिधेयं ते श्यामलं बोधयन्त्यलम् ॥
विशिष्टमस्य यद्रूपं तत् प्रत्यक्षस्य गोचरः ।
स एव सत्कविगिरां गोचरः प्रतिभाभुवम् ।

व्यक्तिविवेक २।११३-१६

(अगले पृष्ठ पर)

स्वभावोक्ति के पक्ष में महिम भट्ट से अधिक प्रबल तर्क और कोई नहीं दे सका—परवर्ती आचार्यों ने इस प्रसंग में कोई नवीन योगदान नहीं किया। उन्होंने या तो इन्हीं के शब्दों में थोड़ा-बहुत फेर-बदल कर संतोष कर लिया या स्वभावोक्ति को छोड़ ही दिया। मम्मट ने उद्भट के मृगडिम्भ के स्थान पर केवल डिम्भ का और हेवाक (लीला) के स्थान पर स्वक्रियारूप (रूप=वर्ण, संस्थान आदि) का प्रयोग किया और इस प्रकार उद्भट के लक्षण की अव्याप्ति का निराकरण कर दिया। मम्मट के मत में डिम्भादि की अपनी-अपनी क्रिया तथा रूप अर्थात् वर्ण एवं संस्थान का वर्णन स्वभावोक्ति कहलाता है: *'स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्।'* इस परिभाषा के अनुसार प्राकृतिक जगत के अतिरिक्त मानव जगत के भी एकाश्रय व्यापार का वर्णन स्वभावोक्ति के अन्तर्गत आता है। यहाँ मम्मट का एकाश्रय शब्द (स्वयोस्तदेकाश्रयोः) अत्यंत मार्मिक है। इसका अर्थ यह है कि मानव जीवन के अंतर्गत शिशु आदि के स्वनिष्ठ व्यापार ही स्वभावोक्ति के अन्तर्गत आते हैं। जहाँ वे अन्य के आलम्बन या आश्रय बन जाते हैं वहाँ स्वभावोक्ति न होकर रसोक्ति हो जाती है। यहाँ मम्मट ने वस्तु-परक सौंदर्य और व्यक्ति-परक सौंदर्य के अन्तर की ओर अत्यन्त मार्मिक संकेत किया है।

मम्मट के उपरान्त रुद्रट ने महिम भट्ट-प्रतिपादित विशिष्ट स्वभाव के स्थान पर सूक्ष्म स्वभाव का वर्णन स्वभावोक्ति के लिए अभीष्ट माना—विद्यानाथ ने वर्णन के लिए चारु विशेषण का प्रयोग किया और स्वभाव के लिए उच्चैस् का। अर्थात् उनके अनुसार उच्चैस्स्वभाव का वर्णन या चारु यथावत् वस्तु-वर्णन ही स्वभावोक्ति है। रसवादी विश्वनाथ भी परम्परा की उपेक्षा नहीं कर सके, और उनको भी स्वभावोक्ति की सत्ता को स्वीकार करना पड़ा। उनकी परिभाषा पर मम्मट की गहरी छाप है:

स्वभावोक्तिर्दुरूहार्थस्वक्रियारूपवर्णनम्।
दुरूहयोः कविमात्रवेद्ययोरर्थस्य डिम्भादेः स्वयोस्तदेकाश्रयोश्चेष्टास्वरूपयोः।

(सा० द० १०।९२)

वस्तुमात्रानुवादस्तु पूरणैकफलो मतः
अर्थदोषस्स दोषज्ञैरपुष्ट इति गीयते ॥ (व्यक्ति-वि०)

वस्तुनो हि सामान्यस्वभावो लौकिकोऽर्थोऽलंकार्यः। कविप्रतिभासंरम्भविशेष-विषयस्तु लोकोत्तरार्थोऽलंकरणमिति।

(हेमचन्द्र काव्यानुशासन पृ० २७५)

अर्थात् कवि मात्र द्वारा ज्ञातव्य बालक आदि की एकाश्रय चेष्टा तथा स्वरूप का वर्णन स्वभावोक्ति कहलाता है।

उपर्युक्त परिभाषा में 'डिम्भादेः' 'एकाश्रय' 'क्रिया-रूप' ये तीन तत्व तो यथावत् मम्मट की परिभाषा से उद्धृत हैं। केवल 'दुरूह' शब्द का दुरूह प्रयोग विश्वनाथ का अपना है—यद्यपि मूल विचार यहाँ भी उनका अपना नहीं है। दुरूह का अर्थ विश्वनाथ के अनुसार है कविमात्रवेद्य जिसका कथन महिम भट्ट तथा उनके अनुयायी हेम चन्द्र माणिक्य चन्द्र प्रतिभोद्भव, कविप्रतिभासंरम्भ, कविप्रतिभागोचर आदि अपेक्षाकृत अधिक व्यंजक शब्दों से कर चुके थे। इस प्रकार विश्वनाथ ने महिम भट्ट तथा मम्मट की परिभाषाओं के समन्वय से स्वभावोक्ति की परिभाषा को अधिक पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है। पंडितराज जगन्नाथ ने स्वभावोक्ति को छोड़ ही दिया।

निष्कर्ष

स्वभावोक्ति के पोषक मन्तव्यों का सारांश यह है :—

(१) स्वभाव-मात्र का वर्णन स्वभावोक्ति नहीं है। स्वभाव के भी दो रूप हैं : सामान्य और विशिष्ट। सामान्य के अन्तर्गत जातिगत रूप, गुण आदि आते हैं जिनका ग्रहण अथवा वर्णन सभी जन-साधारण कर सकते हैं। यह लौकिक है—अप्रतिभोद्भव है। विशिष्ट रूप लोकोत्तर है—अपने प्रकृत रूप में रोचक है, प्रतिभा-गोचर है अर्थात् उसका उद्घाटन प्रतिभा अथवा कवि-कल्पना के द्वारा ही सम्भव है। स्वभावोक्ति अलंकार में स्वभाव के इसी विशिष्ट रूप का वर्णन रहता है, सामान्य रूप का नहीं, अतएव वह प्रतिभा-जन्य है, सुन्दर है : उसमें बाह्य रूपों के आरोपण के लिए नहीं वरन् प्रकृत सौंदर्य के उद्घाटन के निमित्त कवि-कल्पना का सन्निवेश होता है। इसीलिए वह शोभा-कारक अलंकार है।

(२) स्वभावोक्ति में मानव और प्राकृत जगत का वस्तुगत सौंदर्य-चित्रण होता है। अपने रंग में रंगने वाली भावना और बाह्य-रूपों का आरोपण करने वाली कल्पना का असम्पर्क उसे क्रमशः रसोक्ति तथा वक्रोक्ति से पृथक् करता है।

(२) किन्तु स्वभावोक्ति का वक्रोक्ति से विरोध नहीं है—क्यों कि वक्र का अर्थ स्वभावेतर अथवा अस्वाभाविक न होकर केवल असामान्य अथवा विशिष्ट ही है।

यह असामान्यता या विशिष्टता ही चमत्कार है जिसका सद्भाव स्वभावोक्ति में भी निश्चय ही रहता है।

इस प्रकार सब मिलाकर संस्कृत आचार्यों का बहुमत कुन्तक के विरुद्ध ही रहा। मम्मट जैसे ध्वनिवादी और विश्वनाथ जैसे प्रबल रसवादी आचार्यों ने भी उसकी सत्ता स्वीकार की। हिन्दी आलंकारिकों ने भी इसी परिपाटी का यथावत् अनुकरण किया। उन्होंने कुन्तक के आक्षेप को बिना किसी प्रत्युक्ति के यों ही उड़ा दिया। "वक्रोक्तिजीवितकार राजानक कुन्तक ने स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं माना है··· । किन्तु यह वक्रोक्ति को ही काव्य का सर्वस्व मानने वाले राजानक कुन्तक का दुराग्रह मात्र है। प्राकृतिक दृश्यों के स्वाभाविक वर्णन वस्तुतः चमत्कारक और *अत्यन्त मनोहारी होते हैं।" (सेठ कन्हैयालाल पोद्दार— का० क० अलंकार-मंजरी,* पृ० ३६६-७०) सेठ जी के उपर्युक्त वक्तव्य से स्पष्ट है कि हिन्दी के रीतिकार कुन्तक के आशय की थाह नहीं पा सके हैं। किन्तु भारतीय काव्य-शास्त्र का पुनरालोचन करते हुए शुक्ल जी की दृष्टि इस प्रसंग पर भी पड़ी और उन्होंने इसे विवेक की कसौटी पर कसकर कुन्तक के पक्ष में निर्णय दिया।

आचार्य शुक्ल का मत

+ + + वर्ण्य वस्तु और वर्णन-प्रणाली बहुत दिनों से एक दूसरे से अलग कर दी गई हैं। प्रस्तुत-अप्रस्तुत के भेद ने बहुत-सी बातों के विचार और निर्णय के सीधे रास्ते खोल दिये हैं। अब यह स्पष्ट हो गया है कि अलंकार प्रस्तुत या वर्ण्य वस्तु नहीं, बल्कि वर्णन की भिन्न-भिन्न प्रणालियाँ हैं, कहने के खास-खास ढंग हैं। पर प्राचीन अव्यवस्था के स्मारक-स्वरूप कुछ अलंकार ऐसे चले आ रहे हैं जो वर्ण्य वस्तु का निर्देश करते हैं और अलंकार नहीं कहे जा सकते—जैसे, स्वभावोक्ति, उदात्त, अत्युक्ति। स्वभावोक्ति को लेकर कुछ अलंकार-प्रेमी कह बैठते हैं कि प्रकृति का वर्णन भी तो स्वभावोक्ति अलंकार ही है। पर स्वभावोक्ति अलंकार-कोटि में आ ही नहीं सकती। अलंकार वर्णन करने की प्रणाली है। + + +

अलंकारों के भीतर स्वभावोक्ति का ठीक-ठीक लक्षण-निरूपण हो भी नहीं सका है। काव्यप्रकाश की कारिका में यह लक्षण दिया गया है—

स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रिया-रूप-वर्णनम्।

अर्थात् 'जिसमें बालकादिकों की निज की क्रिया या रूप का वर्णन हो वह स्वभावोक्ति है।' प्रथम तो बालकादिक पद की व्याप्ति कहाँ तक है, यही स्पष्ट नहीं। अतः यही समझा जा सकता है कि सृष्टि की वस्तुओं के रूप और व्यापार का वर्णन स्वभावोक्ति है। खैर, बालक की रूप-चेष्टा को लेकर ही स्वभावोक्ति की अलंकारता पर विचार कीजिए। वात्सल्य में बालक के रूप आदि का वर्णन विभाव के अन्तर्गत और उसकी चेष्टाओं का वर्णन उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत होगा। प्रस्तुत वस्तु की रूप-क्रिया आदि के वर्णन को रस-क्षेत्र से घसीटकर अलंकार-क्षेत्र में हम कभी नहीं ले जा सकते। मम्मट ही के ढंग के और आचार्यों के लक्षण भी हैं। अलंकार-सर्वस्व-कार रुय्यक कहते हैं—'सूक्ष्मवस्तु-स्वभाव-यथावद्वर्णनं स्वभावोक्तिः'। आचार्य दण्डी ने अवस्था की योजना करके यह लक्षण लिखा है—

> नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती।
> स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा॥

बात यह है कि स्वभावोक्ति अलंकारों के भीतर आ ही नहीं सकती। वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने भी इसे अलंकार नहीं माना है।

(चिन्तामणि—१ : कविता क्या है ? पृ० १८३-८४)

संक्षेप में शुक्ल जी के तर्क इस प्रकार हैं :

१. प्रस्तुत विषय और अप्रस्तुत-विधान अर्थात् वर्ण्य वस्तु तथा वर्णन-प्रणाली में स्पष्ट अन्तर है। स्वभावोक्ति प्रस्तुत वर्ण्य वस्तु है, अलंकार वर्णन-प्रणाली है—अतएव स्वभावोक्ति अलंकार नहीं हो सकती।

२. स्वभावोक्ति की अलंकारता इसी से असिद्ध है कि उसका कोई निश्चित लक्षण नहीं मिलता। किसी ने उसे स्वक्रिया-रूप-वर्णन कहा है—किसी ने अवस्था-वर्णन और किसी ने सूक्ष्म स्वभाव-वर्णन।

३. मम्मट की परिभाषा में निर्दिष्ट बालक आदि पद का आशय अत्यन्त अस्पष्ट है। स्वयं बालकों की रूप-चेष्टा का वर्णन वात्सल्य रस के अन्तर्गत आता है : वह रस का अंग है, अलंकार नहीं है। और यदि 'डिम्भादेः' की व्याप्ति सृष्टि की नाना वस्तुओं के रूप और व्यापार तक मान ली जाय तो वह वर्ण्य वस्तु ही है, वर्णन प्रणाली नहीं है।

विवेचन

स्वभावोक्ति के विषय में पक्ष-विपक्ष को प्रस्तुत कर देने के उपरान्त अब उनका परीक्षण करना और अपना निर्णय देना सरल होगा। स्वभावोक्ति के विरुद्ध कुन्तक का पहला तर्क यह है :—

१. यदि स्वभाव-कथन अलंकार है तो जन-साधारण के सभी वर्णन अलंकार हो जायेंगे क्यों कि कोई भी वस्तु-वर्णन स्वभाव-कथन के बिना सम्भव नहीं है।

स्वभावोक्ति-पक्ष ने इसका अत्यन्त उपयुक्त उत्तर दिया है और वह यह कि स्वभाव मात्र का कथन स्वभावोक्ति नहीं है : स्वभाव के सामान्य रूप का त्याग कर विशेष रमणीय रूप का ग्रहण ही स्वभावोक्ति है।

किन्तु कुन्तक का दूसरा तर्क और भी प्रबल है :—

२. रमणीय स्वभाव—स्वपरिस्पन्दसुन्दर—का यह वर्णन तो अलंकार्य है—यदि यह अलंकार है तो अलंकार्य क्या है ? अलंकार का अर्थ है अलंकरण का साधन, किन्तु यह तो शरीर है।

इसका उत्तर विपक्ष के पास नहीं है—महिम भट्ट के आधार पर हेम चन्द्र ने इसका उत्तर यह दिया है कि पदार्थ का सामान्य रूप अलंकार्य अथवा शरीर है, विशेष प्रतिभा-गोचर रूप अलंकार है। परन्तु यह उत्तर विशेष तर्क-सम्मत नहीं है, क्यों कि सामान्य हो या विशेष, रूप तो रूप ही रहेगा अलंकरण का साधन कैसे होगा ? काव्य में भी व्यवहारतः यह होता नहीं है, हो भी नहीं सकता। स्वभावोक्ति के जितने उदाहरण अलंकार-ग्रन्थों में दिये गये हैं उनमें सामान्य का अलंकार्य-रूप में और विशेष का अलंकार-रूप में प्रयोग कहीं नहीं मिलता—वास्तव में सामान्य को तो अवाच्य मानकर छोड़ ही दिया जाता है : विशेष का ही वाचन होता है। अलंकार-ग्रन्थों के प्रसिद्ध उदाहरणों के आधार पर हम अपने मन्तव्य को और स्पष्ट करते हैं। आलंकारिकों में सामान्य रूप के वर्णन का यह उदाहरण अत्यन्त प्रसिद्ध है :

गोरपत्यं बलीवर्दः तृणान्यत्ति मुखेन सः।
मूत्रं मुंचति शिश्नेन अपानेन तु गोमयम् ॥

अर्थात् बैल गाय की सन्तान है, वह मुख से घास खाता है, शिश्न से मूत्र-मोचन करता है और अपान से गोबर : रुद्रट के टीकाकार की स्पष्ट घोषणा है कि 'अस्य वास्तवत्वं न भवति,' अर्थात् यहाँ 'वास्तव' नहीं है क्यों कि उसका आवश्यक उपबन्ध है पुष्टार्थ का ग्रहण और अपुष्टार्थ की निवृत्ति। पुष्टार्थ को ही महिम भट्ट तथा हेम चन्द्र आदि ने विशेष रूप और अपुष्टार्थ को सामान्य रूप कहा है। उपर्युक्त उद्धरण में न तो अपुष्टार्थ 'सामान्य' की निवृत्ति है और न पुष्टार्थ 'विशेष' का ग्रहण ही। इसलिए इसमें अलंकारत्व नहीं है—यह जाति अथवा स्वभावोक्ति नहीं है।

इसके विपरीत कालिदास का यह प्रसिद्ध छन्द है :—

ग्रीवाभंगाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दनेदत्तदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति॥

(अ० शा० १।७)

अर्थात्

फिर-फिर सुन्दर ग्रीवा मोरत। देखत रथ पीछे जो घोरत।
कबहुँक डरपि बान मत लागी। पिछलो गात समेटत भागी॥
अधरौंधी मग दाभ गिरावत। थकित खुले मुख तें बिखरावत।
लेत कुलाँच लखो तुम अबहीं। धरत पाँव धरती जब-तबहीं॥

(रा० लक्ष्मणसिंह-कृत अनुवाद)

संस्कृत काव्य-शास्त्र में स्वभावोक्ति का यह उत्कृष्ट उदाहरण माना गया है। इसमें आप देखें कि मृग की कोई भी चेष्टा या क्रिया ऐसी नहीं है जो अपुष्टार्थ अथवा ग्राम्य हो। सम्भव है कि भयभीत मृग ने भी मूत्र और पुरीष का मोचन किया हो किन्तु कवि की परिष्कृत दृष्टि ने उसकी उपेक्षा कर पुष्टार्थ विशेष चेष्टाओं का ही ग्रहण किया है—यहाँ मृग की समस्त चेष्टाएँ एक-से-एक 'चारु' हैं।

अब प्रश्न यह है कि यदि मृग का उपर्युक्त रूप अलंकार है तो अलंकार्य क्या है? हेम चन्द्र के अनुसार मृग का सामान्य अर्थात् चार पैर, दो सींग और निश्चित लम्बाई-ऊँचाई वाला रूप अलंकार्य है और ग्रीवा-भंगि, अंग का समेटना, थके मुख से दाभ गिराना, अत्यंत तीव्र गति से कुलाँच भरना आदि चेष्टाएँ अलंकार हैं। परन्तु

क्या यह सत्य है ? ध्वनि की स्थापना के उपरांत अलंकार-अलंकार्य का पृथक् स्वरूप निर्णय हो जाने पर तो यह तर्क-संगत माना ही नहीं जा सकता क्यों कि ग्रीवा, पश्चार्ध-पूर्वकाय, पक्व अधखुला मुख आदि सभी शरीर (वर्ण्य वस्तु) के अंग हैं, अतएव उनकी चेष्टाएँ भी शरीर की ही चेष्टाएँ हैं—शरीर ही शरीर को अलंकृत कैसे कर सकता है ? परन्तु पूर्वध्वनि अलंकार-सिद्धान्त के अनुसार शोभा-कारक सभी धर्म अलंकार हैं—चाहे वे शरीर के हों या शरीर से बाहर के। इस दृष्टि से मृग की चेष्टाओं को अलंकार माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त एक युक्ति और हो सकती है—शृंगार रस के अन्तर्गत नायिका के तीन प्रकार के अलंकार माने गये हैं : (१) अंगज (२) अयत्नज और (३) स्वभावज। शरीर से सम्बन्धित तीन प्रकार के अलंकार अंगज हैं :—भाव, हाव और हेला। अयत्नज अलंकार जो कृति-साध्य नहीं है, सात हैं : शोभा, कांति आदि। कृति-साध्य लीला, विलास आदि अठारह अलंकार स्वभावज हैं। इस विचार-पद्धति का विस्तार करते हुए क्या मृग की उपर्युक्त चेष्टाओं में अलंकार की कल्पना सर्वथा अनर्गल है ?

परन्तु इस युक्ति का निराकरण किया जा सकता है। एक तो मृग का सामान्य रूप जिसे अलंकार्य कहा जा सकता है प्रस्तुत छन्द में वर्णित ही नहीं है : प्रकृति में उसकी स्थिति अवश्य है, उसके आधार पर पाठक की कल्पना में भी हो सकती है किन्तु विवेच्य कविता में उसकी स्थिति नहीं है। वह विज्ञान का सत्य है, काव्य का सत्य नहीं है, अतएव कवि के लिए 'अवाच्य' रहा। ऐसी स्थिति में जिसे हेम चन्द्र ने अलंकार्य कहा है उसका तो काव्य में ग्रहण ही नहीं होता। जैसा कि कुन्तक ने कहा है काव्य का वर्ण्य तो स्वभाव से सुन्दर—स्वपरिस्पन्द सुन्दर ही होता है। अलंकार्य और अलंकार दोनों की सह-स्थिति होनी चाहिए—यह नहीं हो सकता कि अलंकार कविता में हो और अलंकार्य प्रकृति में या पाठक के मन में। दूसरे, हाव-भाव, शोभा, कान्ति आदि शरीर के ही सौंदर्य-विकार हैं, अतएव वे शरीर ही हैं। उन्हें अलंकार तब तक नहीं माना जा सकता जब तक कि वामन के अनुसार 'सौन्दर्यम-लंकारः'—अर्थात् अलंकार को समस्त सौंदर्य का ही पर्याय न मान लिया जाय। किन्तु वामन के मत की अतिव्याप्ति सिद्ध हो चुकी है : अलंकार के 'कार' में निहित-कृतित्व या प्रयत्न-साध्यता उसकी परिधि को प्रसाधन तक ही सीमित कर देती है। वास्तव में महिम भट्ट तथा हेम चन्द्र आदि का तर्क स्वभावोक्ति के 'काव्यत्व' को तो सिद्ध कर देता है परन्तु उसको तो कुन्तक भी अस्वीकार नहीं करते। प्रश्न स्वभावोक्ति के अलंकारत्व का है जिसकी सिद्धि नहीं होती।

रसवदादि अलंकार

स्वभावोक्ति की भाँति कुन्तक ने रसवदादि अलंकारों को भी अमान्य घोषित किया है और इनके निराकरण का भी मूल तर्क लगभग वही है। तृतीय उन्मेष की ग्यारहवीं कारिका और उसकी विस्तृत वृत्ति में कुन्तक ने अनेक सूक्ष्म युक्तियों द्वारा रसवत् अलंकार का खण्डन किया है। संक्षेप में दो मूल आक्षेप हैं :—

अलंकारोन रसवत् परस्याप्रतिभासनात्।
स्वरूपादतिरिक्तस्य शब्दार्थासंगतेरपि ॥ ३।११ ॥

अर्थात् (१) एक तो अपने स्वरूप के अतिरिक्त (अलंकार्य रूप से) अन्य किसी की प्रतीति नहीं होती, और (२) दूसरे (अलंकार्य रस के साथ अलंकार शब्द का प्रयोग होने पर) शब्द और अर्थ की संगति नहीं बैठती, इसलिए रसवत् अलंकार नहीं है।

वृत्ति में इन्हीं दो युक्तियों का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए कुन्तक ने रसवत् के खण्डन में अनेक छोटे-मोटे तर्क उपस्थित किये हैं जिनका सारांश इस प्रकार है :—

(क) सहृदयों को सत्कवियों के काव्य में सभी अलंकारों के विषय में अलंकार्य और अलंकार की पृथक् सत्ता की प्रतीति निश्चय-पूर्वक होती है। किन्तु 'रसवदलंकारयुक्त' इस वाक्य में कौन अलंकार्य है और कौन अलंकार इसका परिज्ञान सम्भव नहीं है। यदि शृंगार आदि रस ही प्रधान रूप से वर्ण्यमान अलंकार्य हैं तो उनका अलंकार किसी अन्य को होना चाहिए, अथवा यदि सहृदय-आह्लादकारी होने के कारण रस को ही अलंकार कहते हैं तो भी उससे भिन्न कोई अन्य पदार्थ अलंकार्य रूप से प्रस्तुत होना चाहिए। परन्तु भामह आदि प्राचीन आलंकारिकों के अभिमत रसवत् अलंकार के उदाहरणों में इस प्रकार का कोई तत्व नाम को भी नहीं है।

(ख) भामह ने इस अलंकार का निरूपण इस प्रकार किया है : 'रसवद् दर्शितस्पष्टशृंगारादिरसं यथा।' इस वाक्य की व्याख्या कई प्रकार से सम्भव हो सकती है परन्तु किसी भी रूप में रसवत् का अलंकारत्व सिद्ध नहीं होता। यदि बहुव्रीहि समास मानकर उपर्युक्त लक्षण का अर्थ यह किया जाय—दर्शित तथा स्पष्ट अथवा स्पष्ट है शृंगार आदि जिसमें—तो बहुव्रीहि समास का अर्थभूत, अन्य

पदार्थ यहाँ क्या होगा ? यदि यह अन्य पदार्थ काव्य ही है तो उपर्युक्त उक्ति में उपक्रम तथा उपसंहार का विरोध रूप दोष आ जाता है क्यों कि भामह आदि सभी आलंकारिक आरम्भ में ही काव्य के अवयव-रूप शब्द तथा अर्थ के पृथक् अलंकार मान चुके हैं। यदि उपर्युक्त लक्षण का अर्थ यह किया जाय—प्रदर्शित किए हैं स्पष्ट रूप से शृंगार आदि जिसने—तो भी 'जिसने' द्वारा सूचित वह अभिकरण कौन-सा है ? यदि इसके उत्तर में कहा जाय कि वह अभिकरण प्रतिपादन का वैचित्र्य ही है तो भी उसकी पुष्टि नहीं हो सकती क्यों कि प्रतिपाद्य स्वयं ही प्रतिपादन-वैचित्र्य, दूसरे शब्दों में अलंकार्य स्वयं अपना अलंकार हो सकता है, यह असम्भव है। अथवा स्पष्ट रूप से प्रदर्शित रसों का प्रतिपादन-वैचित्र्य—यदि इस प्रकार की व्याख्या की जाय तो भी वह संगत नहीं है क्यों कि शृंगारादि रसों के स्पष्ट दर्शन में उनके अपने स्वरूप की ही सिद्धि होती है, उसके अतिरिक्त अलंकार अथवा अलंकार्य किसी की भी सिद्धि नहीं होती।

(३) उद्भट की परिभाषा और भी असंगत है : अभिनय के योग्य स्थायी भाव, संचारी भाव, विभाव आदि को (अभिनय द्वारा अभिव्यक्त न कर) शृंगार आदि रस का नाम लेकर स्वशब्द से प्रकट करना रसवदलंकार है : 'स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम्।' (भा० का० वि०—उद्भट) इसके विषय में कुन्तक का तर्क यह है कि रसों की स्वशब्द-वाच्यता स्वयं ही असिद्ध है, उसके द्वारा रसवत् अलंकार की सिद्धि कैसे हो सकती है ?

(४) किसी-किसी ने यह लक्षण भी किया है कि रस के संश्रय से रसवत् अलंकार होता है : 'रसवद् रससंश्रयात्।' परन्तु यह भी तर्क-सम्मत नहीं है। रस-संश्रय का अर्थ है रस जिसका संश्रय है—तो उसका खण्डन पहले ही किया जा चुका है। अथवा यदि रस-संश्रय का अर्थ षष्ठी तत्पुरुष मानकर किया जाय—रस का संश्रय, तो भी रस का संश्रय काव्य के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

(५) रसवत् अलंकार की सिद्धि एक अन्य प्रकार से भी की जाती है : (जिस प्रकार रस के संचार से रूखे-सूखे वृक्ष हरे-भरे हो जाते हैं, उसी प्रकार) रस के अनुप्रवेश से वाक्य का पदार्थ रूप अलंकार्य अलंकारता धारण कर लेता है। यह युक्ति भी मान्य नहीं है क्यों कि जो पहले अलंकार्य था वही बाद में अलंकार कैसे हो सकता है ?

(६) शब्द और अर्थ की असंगति होने से भी रसवत् अलंकार सिद्ध नहीं होता। रसवदलंकार का विग्रह दो प्रकार से हो सकता है। (१) तत्पुरुष के रूप में इसका विग्रह होता है—रसवतः अलंकारः अर्थात् रसवान का अलंकार, (२) कर्मधारय के रूप में रसवाञ्चासोऽलंकारः अर्थात् रसवान जो अलंकार है। इन दोनों ही विग्रह-रूपों में शब्द और अर्थ की संगति नहीं बैठती क्यों कि (१) रसवान का अलंकार और (२) रसवान जो अलंकार है—ये दोनों ही वाक्य प्रायः निरर्थक-से हैं। पहले तो रसवान क्या है जिसका अलंकार रसवत् है, और फिर रसवान तो अलंकार्य है, वह अलंकार का विशेषण कैसे हो सकता है ?

(७) 'रसवान का अलंकार' में यदि रसवान को काव्य का पर्याय माना जाय तो काव्य का अलंकार होने से रसवत् सर्व-साधारण अलंकार हुआ जिसकी सत्ता उपमादि सभी अलंकारों में अनिवार्यतः माननी पड़ेगी क्यों कि उपमादि सभी अलंकार काव्य के अलंकार पहले हैं, और उपमादि बाद में। इस प्रकार रसवत् का अनिवार्य संयोग होने से किसी भी अलंकार का रूप शुद्ध नहीं रह जायगी।

(८) आनन्दवर्धन द्वारा प्रस्तुत रसवत् अलंकार की परिभाषा यद्यपि भामह आदि की परिभाषा से भिन्न है तथापि उसकी मान्यता भी स्वीकार नहीं की जा सकती। आनन्दवर्धन के अनुसार जहाँ अन्य वाक्यार्थ का प्राधान्य हो और रसादि उसके अंग हों वहाँ रसवत् अलंकार होता है। उदाहरण रूप में आनन्दवर्धन ने यह श्लोक दिया है :

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तम्
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण।
आलिंगन्योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः॥

अर्थात् त्रिपुर दाह के समय, सद्यः अपराध कामी के समान हाथ से छूने पर भी झटका हुआ, जोर से पटक देने पर भी वस्त्रों के किनारों को पकड़ता हुआ, केशों को ग्रहण करते समय हटाया गया, पैरों में पड़ा हुआ भी सम्भ्रम के कारण उपेक्षित, और आलिंगन का प्रयत्न करने पर भी अश्रु-पूर्ण कमल-लोचनी त्रिपुर-सुन्दरियों द्वारा तिरस्कृत शिव जी के बाण की अग्नि तुम्हारे दुःखों को दूर करे। इसमें शिव जी के प्रभाव का अतिशय कवि का मुख्य अभिप्रेत विषय है, श्लेष-सिद्ध ईर्ष्या-विप्रलम्भ तथा करुण रस उसके परिपोषक अंग हैं, इसलिए रस की अलंकार-रूप में निबन्धना होने से यहाँ रसवदलंकार हुआ।

यह ध्वन्यालोककार का मत है, परन्तु कुन्तक इससे सहमत नहीं हैं। उनका तर्क यह है कि एक तो करुण और शृंगार—इन दो विरोधी रसों की सह-स्थिति अक्षम्य रस-दोष है, और दूसरे कामी तथा शम्भु की शराग्नि में साम्य-भावना करना असम्भव है क्यों कि दोनों के धर्म सर्वथा विरुद्ध हैं। इसलिए अनुचित विषय के समर्थन में चातुर्य दिखाने का यह प्रयत्न व्यर्थ है।

इस अनौचित्य-प्रदर्शन के अतिरिक्त उपर्युक्त स्थापना के विरुद्ध भी कुन्तक ने फिर यही आक्षेप किया है कि यहाँ भी अलंकार्य और अलंकार की परस्पर-भ्रान्ति विद्यमान है—जो अलंकार्य है वही अलंकार हो जाता है।

(६) कुछ आलंकारिकों के अनुसार चेतन पदार्थों के सम्बन्ध में रसवत् अलंकार और अचेतन पदार्थों के सम्बन्ध में उपमा आदि अन्य अलंकार होते हैं। इस स्थापना का खण्डन कुन्तक ने आनन्दवर्धन के तर्कों का आधार लेकर किया है जिनका सारांश इस प्रकार है :—अचेतन वस्तु के वर्णन में भी किसी-न-किसी रूप में चेतन सम्बन्ध विद्यमान रहता है—यदि चेतन सम्बन्ध होने पर रसवत् अलंकार हो जाय तो फिर उपमा आदि अन्य अलंकारों का कोई विषय ही नहीं रह जाता। और, यदि चेतन सम्बन्ध होने पर भी अचेतन वस्तु-वर्णन में रस-तत्व न माना जाय तो महाकवियों के अनेक वर्णन सर्वथा नीरस हो जायेंगे। अतः उपर्युक्त धारणा मिथ्या है।

इस प्रकार अनेक युक्तियों के द्वारा कुन्तक ने रसवदलंकार-विषयक विभिन्न धारणाओं का विस्तार से खण्डन किया है। कुन्तक की युक्तियों का मूल आधार वास्तव में यही है कि तथाकथित रसवत् अलंकार में अलंकार्य और अलंकार की परस्पर भ्रान्ति है, अर्थात् अलंकार्य को ही अलंकार मान लिया गया है जिससे अलंकार्य क्या है और अलंकार क्या है, इसकी प्रतीति नहीं हो पाती। और, इसमें सन्देह नहीं कि यह तर्क अकाट्य ही है।

रसवत् अलंकार का वास्तविक स्वरूप

किस प्रकार यह रसवत् समस्त अलंकारों का प्राण और काव्य का अद्वितीय सार-सर्वस्व हो सकता है, इसका अब कुन्तक अपने मौलिक दृष्टिकोण से वर्णन करते हैं :

रसेन वर्तते तुल्यं रसतत्वविधानतः
योऽलंकारः स रसवत् तद्विदाह्लादनिर्मितेः। ३-१४

अर्थात् रसतत्व के विधान से, सहृदयों के लिए आह्लादकारी होने के कारण जो अलंकार रस के समान हो जाता है वह अलंकार रसवत् कहा जा सकता है। प्रस्तुत प्रसंग में कुन्तक ने कई-एक उदाहरण दिए हैं। एक तो पाणिनि का निम्नलिखित श्लोक है :

उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तथा पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम्॥

अर्थात् सान्ध्य अरुणिमा को धारण किये हुए (प्रेमोन्मत्त) चन्द्रमा ने रात्रि के चंचल तारक-युक्त मुख को इस प्रकार पकड़ा कि, राग के कारण, समस्त अंधकार-रूप वस्त्र गिर जाने पर भी रात्रि को दिखायी नहीं दिया। यहाँ प्रसंगोचित सुन्दर निशा और शशि के वर्णन में नायक-नायिका-वृत्तान्त के आरोप द्वारा कवि ने रूपकालंकार की रचना की है, और यह रूपकालंकार श्लेष की छाया से मनोहर विशेषणों की वक्रता से तथा विशेष लिंगों की सामर्थ्य से (शशि और निशा के पुल्लिंग तथा स्त्रीलिंग के चमत्कार-पूर्ण प्रयोग से) काव्य की सरसता को प्रस्फुटित करता हुआ तथा सहृदयों का मनः प्रसादन करता हुआ स्वयं ही रसवदलंकारता को प्राप्त कर लेता है।

दूसरा शाकुन्तलम् का यह प्रसिद्ध छन्द है :—

चलापांगां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं।
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती॥

अर्थात्

दृग चौंकत कोए चलें चहुँधा अंग बारहिं बार लगावत तू।
लगि कानन गूँजत मंजु कछू मनो मर्म की बात सुनावत तू॥
कर रोकती को अधरामृत ले रति को सुखसार उठावत तू।
हम खोजत जातिहि पाँति मरे धनि रे धनि भौंर कहावत तू॥

रसवत् के आधारभूत भाव, अनुभाव, विभाव आदि की सत्ता चैतन्य मानव-व्यापारों में ही सम्भव है और अप्रस्तुत-विधान के आधारभूत उपकरण अधिकतर अचेतन प्राकृतिक जगत में ही उपलब्ध होते हैं। इसीलिए इन ध्वनि-पूर्व आलंकारिकों ने मानव-जीवन के चित्रण-सौंदर्य को रसवत् के आश्रित और मानवेतर जगत के वर्णन-चमत्कार को उपमादि अन्य अलंकारों पर निर्भर माना है। ये आचार्य भी काव्य के समस्त सौंदर्य को अलंकार ही मानते हैं, अतः यह धारणा भी मूलतः प्रथम धारणा से भिन्न न होकर उसी का आख्यान मात्र है।

३. आनन्दवर्धन ने उपर्युक्त दोनों धारणाओं का खण्डन कर रसवत् अलंकार की एक तीसरी ही परिभाषा की है : जहाँ रस अंगी हो वहाँ रसध्वनि और जहाँ रस किसी अन्य वाक्यार्थ का चमत्कार-वर्धक अंग हो वहाँ रसवत् अलंकार होता है। यहाँ रस वस्तु-ध्वनि अथवा अलंकार-ध्वनि का चमत्कार-वर्धक होने के कारण अलंकार का कार्य करता है, इसी आधार पर आनन्दवर्धन ने यह नवीन कल्पना की है।

४. चौथी स्थापना कुन्तक की है जो इन तीनों से ही भिन्न है। इसके अनुसार रस के योग से जिस अलंकार में सरसता का समावेश हो जाता है वह रसवत् अलंकार है। कुन्तक की धारणा से यह स्पष्ट है कि वे चमत्कार के दो रूप मानते हैं, एक भावगत चमत्कार दूसरा कल्पना-जन्य चमत्कार। रस-प्रपंच भावगत चमत्कार के अन्तर्गत है और अलंकार-प्रपंच कल्पना-जन्य चमत्कार के अन्तर्गत। जहाँ कल्पना के चमत्कार के साथ भाव-सौंदर्य का संयोग हो जाता है वहाँ कुन्तक के मत से अलंकार रसवत् हो जाता है अथवा रसवत् अलंकार की स्थिति हो जाती है। कल्पना और अनुभूति का यह मणि-कांचन योग निश्चय ही काव्य की सबसे बड़ी सिद्धि है, इसीलिए कुन्तक ने रसवत् अलंकार को अलंकार-चूडामणि कहा है।

यहाँ अब दो प्रश्न उठते हैं:—(१) रसवत् अलंकार की सत्ता मान्य है अथवा नहीं? (२) यदि मान्य है तो किस रूप में अर्थात् उपर्युक्त धारणाओं में से कौन-सी धारणा ग्राह्य है?

रसवत् अलंकार की सत्ता के विषय में रस-ध्वनिवादी आचार्यों तथा कुन्तक का तर्क ही वास्तव में संगत है। अलंकार शब्द ही साधन का वाचक है। इसीलिए 'अलंकार' शब्द का एक पर्याय 'प्रसाधन' भी है। वह सौंदर्य का पर्याय अथवा कारण भी नहीं हो सकता। जहाँ कहीं सौंदर्य अथवा रूप आदि को अलंकार कहा भी जाता है वहाँ अलंकार शब्द का लाक्षणिक प्रयोग ही मानना चाहिए। सौंदर्य अथवा रूप निश्चय

ही अलंकार्य है, अलंकार नहीं। अलंकार उसको अलंकृत अथवा भूषित ही करता है—दूसरे शब्दों में उस अन्यथा विद्यमान रूप की अभिवृद्धि ही करता है। इसीलिए रस-ध्वनिवादियों ने 'शोभाकर' के स्थान पर 'शोभातिशायी' विशेषण का प्रयोग किया है। इस दृष्टि से सरस वर्णन अलंकार्य ही है, अलंकार नहीं है। काव्य का आस्वाद्य रूप ही उसका सौंदर्य है और आस्वाद्यता मूलतः भाव पर ही आश्रित है। आस्वादन अनुभूति का विषय है, और वस्तु भी अनुभूति-रूप होकर ही आस्वाद्य बनती है। अतः अनुभूति का आह्लादकारी रूप ही काव्य का सौंदर्य है। अलंकार कल्पना का चमत्कार है।—अनुभूति की उत्तेजना से कल्पना भी उत्तेजित होकर अलंकारमयी वाणी में उसको अभिव्यक्त कर देती है। जिस अनुभूति की प्रेरणा से कल्पना को उत्तेजना मिली, उसी के मूर्त्त रूप को बदले में कल्पना से चमत्कार प्राप्त हो जाता है। अनुभूति कल्पना को उद्बुद्ध करती है, कल्पना उसके (व्यक्त) मूर्त्त रूप को चमत्कृत कर देती है—इसीलिए अभिव्यंजना में दोनों अविभाज्य-से प्रतीत होते हैं। किन्तु विश्लेषण करने पर यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि अभिव्यंजना का विषय तो अनुभूति ही है—कल्पना उसको चमत्कार-पूर्ण मूर्त्त रूप प्रदान करती है। इसलिए सज्जा कल्पना की क्रिया है, अनुभूति इस सज्जा का विषय है। अनुभूति का कार्य सज्जा नहीं है, वह कल्पना को उत्तेजित करती हुई सज्जा की प्रेरणा तो बन जाती है, जैसे सहज सौंदर्य शृंगार-सज्जा की प्रेरणा बन जाता है, परन्तु अन्त में तो सज्जा का प्रयोजन उसी का उत्कर्ष-वर्धन होता है। स्पष्ट शब्दों में इसका अर्थ यह है : अनुभूति काव्य का प्राण-तत्व है, कल्पना उसका रूप-विधायक तत्व है और अलंकार इस रूप-विधान की प्रक्रिया के साधन हैं। अतएव अनुभूति अलंकार से भिन्न वस्तु है : अलंकार-विधायिनी कल्पना की प्रेरक-शक्ति होने के कारण वह अलंकार की प्रेरक-शक्ति तो है, परन्तु न तो अलंकार है और न अलंकार का अंग है और न अलंकार की क्रिया। इस प्रकार अलंकार-वादी दृष्टिकोण का खण्डन हो जाता है जिसमें रस को या तो अलंकार मान लिया गया है, या उसका अंग या उसकी सृष्टि—और इसी के साथ रसवत् अलंकार का भी खण्डन हो जाता है।

* दूसरी धारणा इसी धारणा का विस्तार मात्र है। उसका मूल आधार यह तथ्य है कि रस का सम्बन्ध मानव-जीवन से है और अप्रस्तुत-विधान का सम्बन्ध मानवेतर जगत से—इसीलिए चेतन जगत के वर्णन में रसवत् अलंकार और अचेतन जगत के वर्णन में उपमादि अन्य अलंकार रहते हैं। इसके खण्डन में आनन्दवर्धन ने निम्नलिखित तर्क दिये हैं :

१. अचेतन जगत के वर्णन में चेतन का भी सम्पर्क अनिवार्य रूप से रहता है, अतएव उपमादि समस्त अलंकार रसवत् से संकीर्ण हो जाते हैं—कोई भी अलंकार शुद्ध नहीं रह जाता।

२. अचेतन पदार्थों के वर्णन में रस का अभाव सर्वत्र नहीं होता—अनेक कवियों के इस प्रकार के वर्णन अत्यन्त सरस हैं। यदि रसवत् को केवल चेतन जीवन के वर्णन तक ही सीमित कर दिया जायेगा तो अचेतन जगत के सभी चित्र नीरस हो जायेंगे।

३. इनके अतिरिक्त एक तीसरा तर्क यह भी है कि इस धारणा का आधार-भूत तथ्य भी अंशतः ही मान्य है। अचेतन अथवा मानवेतर जगत के अनेक चित्र मानव-भावना के आरोप से रस-पेशल हैं, और उधर उपमादि के अप्रस्तुत-विधान में भी मानव-भावनाओं, चेष्टाओं आदि का प्रयोग मिलता है। रम्याद्भुत काव्य में इन दोनों विशेषताओं का प्राचुर्य है।

—और फिर इस धारणा के अंतर्गत भी तो मूल आक्षेप का कोई समाधान नहीं है: अर्थात् अलंकार्य अलंकार कैसे हो सकता है?

आनन्दवर्धन की स्थापना उनके ध्वनि-सिद्धान्त के अनुकूल ही है। कहीं-कहीं मूल व्यंग्य रस-रूप न होकर वस्तु-रूप या अलंकार-रूप होता है और रस का उपयोग वस्तु-ध्वनि अथवा अलंकार-ध्वनि का उत्कर्ष-वर्धन करने के लिए ही किया जाता है। यहाँ रस अलंकार बन जाता है। पर यह स्थापना भी अधिक मान्य नहीं है—आनन्द ने यहाँ अलंकार का रूढ़ अर्थ ग्रहण न कर लाक्षणिक अर्थ ही ग्रहण किया है। उनके अनुसार अमरु के मंगल छन्द में शिव-प्रताप मूल व्यंग्य है और करुण आदि रस उसका अलंकार है। परन्तु उनका यह मत अधिक तर्क-सम्मत नहीं है क्यों कि शिव-प्रताप कोई स्वतन्त्र तथ्य नहीं है—उसके द्वारा रौद्र रस का परिपाक होता है और आलम्बनगत करुण रस इस रौद्र रस का पोषक है। अब यदि मंगल श्लोक होने के कारण यहाँ मूल रस भक्ति माना जाय तो आलम्बन शिव का यह प्रताप-व्यंजक रौद्र रूप भक्ति का उद्दीपक हो जाता है और इस प्रकार रसों की यह परम्परा पोषक-पोष्य रूप में ठीक बैठ जाती है। यहाँ पोषक रस को यदि उत्कर्ष-वर्धक होने के कारण अलंकार कहा जाय तो वह निश्चय ही अलंकार शब्द का लाक्षणिक प्रयोग ही होगा। वैसे, रस-प्रपंच में एक रस द्वारा दूसरे रस के पोषण का स्पष्ट विधान होने के कारण

यह सब अनावश्यक ही है—पोषक रस को अलंकार और पोष्य रस को अलंकार्य कहने में कोई विशेष संगति नहीं। वास्तव में उपर्युक्त भ्रान्त धारणा का कारण आनन्दवर्धन की वस्तु-ध्वनि की कल्पना है जिसे उन्होंने रस-ध्वनि से भिन्न स्वतन्त्र रूप दे दिया है। जैसा कि शुक्ल जी ने सिद्ध किया है, वस्तु-ध्वनि रस-ध्वनि (और रस के अन्तर्गत केवल रस-परिपाक को न मानकर समस्त रस-प्रपंच को ही मानना चाहिए) से स्वतन्त्र नहीं है। भाव के संसर्ग के बिना वस्तु-ध्वनि काव्य हो नहीं रह जाती, कोरी तथ्य-व्यंजना रह जाती है। इस प्रकार उपर्युक्त छन्द में रस को अलंकार-रूप में कल्पना का आधार यही मिथ्या धारणा है।

कुन्तक की रसवदलंकार-कल्पना में रसवत् वास्तव में कोई स्वतंत्र अलंकार नहीं है। उनके मतानुसार कहीं-कहीं रस के संयोग से अलंकार भी रसवत् अर्थात् रस के समान ही सहृदय-आह्लादकारी हो जाता है—यही अलंकार का रसवत् स्वरूप अथवा रसवत् अलंकार है। परन्तु यह सामान्य काव्य-सिद्धान्त है—रसवत् नामक किसी विशेष अलंकार का निरूपण नहीं है: यहाँ रस और अलंकार दोनों की पृथक् सत्ता है और उनमें उपमान-उपमेय सम्बन्ध मात्र है। जहाँ तक इस सिद्धान्त का सम्बन्ध है वहाँ तक तो दो मत हो ही नहीं सकते। क्यों कि काव्य के मनोविज्ञान का यह स्वीकृत सत्य है कि कल्पना भाव के संसर्ग से ही रमणीय बनती है—काव्य-शास्त्र की शब्दावली में, रस के संयोग से ही अलंकार में काव्यत्व अथवा चारुता आती है। रस और कल्पना का मणि-कांचन योग ही काव्य की सबसे बड़ी सिद्धि है और कुन्तक ने उसका प्रतिपादन कर निश्चय ही अपने प्रौढ़ काव्य-ज्ञान का परिचय दिया है। परन्तु 'रसवत्' अलंकार की स्थापना यह नहीं है, यह तो काव्य की रसवत्ता की स्थापना है।

अतः उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यही है कि रसवत् अलंकार वास्तव में कोई अलंकार नहीं है क्यों कि विषय से सम्बन्द्ध होने के कारण रस अलंकार्य ही है, अलंकार नहीं है। उसकी स्थापना के लिए प्रकारान्तर से भी जो प्रयत्न किये गये हैं, उनसे भी कम-से-कम उसकी अलंकारता की सिद्धि नहीं होती।

रसवत् वर्ग के अन्य अलंकार

रसवत् वर्ग के अन्य अलंकार हैं : प्रेयोऽलंकार, ऊर्जस्वी और समाहित । भामह, दण्डी तथा उद्भट आदि आचार्यों ने इनके भिन्न-भिन्न लक्षण दिये हैं। भामह ने तो वास्तव में लक्षण दिये ही नहीं, केवल उदाहरणों से ही उनका स्वरूपोल्लेख कर दिया है । दण्डी तथा उद्भट के लक्षणों में भी अन्तर है । दण्डी के अनुसार प्रियतर आख्यान या प्रिय कथन प्रेयोऽलंकार है और ऊर्जस्वी कथन ऊर्जस्वी अलंकार है । उद्भट ने इनकी परिभाषा इस प्रकार की है 'भाव—देवादि-विषयक रति—का अंग-रूप में प्रयोग प्रेयोऽलंकार, रसाभास तथा भावाभास का अंग-रूप में प्रयोग ऊर्जस्वी अलंकार, और भाव-शांति का समाहित अलंकार कहलाता है।'

कुन्तक ने दोनों के मतों का खण्डन करते हुए उपर्युक्त सभी अलंकारों का भी रसवदलंकार की भाँति ही निषेध किया है । उनका एक सामान्य तर्क तो यही है कि रस-पूर्ण कथन की भाँति प्रिय कथन अथवा ऊर्जस्वी कथन आदि, उद्भट के अनुसार भाव, भावाभास, रसाभास, तथा भाव-शान्ति भी, अलंकार्य ही हैं, वे अलंकार नहीं हो सकते । इसके अतिरिक्त प्रत्येक अलंकार के विरुद्ध विशेष तर्क भी कुन्तक ने प्रस्तुत किये हैं : उदाहरण के लिए दण्डी का 'प्रियतर आख्यान' व्याजस्तुति मात्र है, उद्भट का ऊर्जस्वी का 'भाव-कथन' भी व्याजस्तुति आदि कोई अलंकार हो सकता है । उद्भट का ऊर्जस्वी तो किसी प्रकार मान्य हो ही नहीं सकता क्यों कि औचित्य का विघातक रसाभास अथवा भावाभास काव्य में सर्वथा अग्राह्य है, वह अलंकार कैसे हो सकता है ?

अन्य अलंकारों का विवेचन

कुन्तक ने अपने सिद्धान्त के अनुसार अन्य अलंकारों का भी मौलिक निरूपण किया है । इस क्षेत्र में उनका सबसे स्तुत्य प्रयत्न है अलंकारों की व्यवस्था : अलंकारों की बढ़ती हुई संख्या को विवेक के आधार पर सीमित करने का संस्कृत काव्य-शास्त्र में यह कदाचित् पहला और अन्तिम प्रयत्न था । इस व्यवस्था के लिए कुन्तक ने तीन विधियों का अवलम्बन किया : (१) अनेक अलंकारों का अलंकार्य होने के कारण निषेध, (२) चमत्कारहीन तथाकथित अलंकारों का त्याग और (३) अनावश्यक भेद-विस्तार रूप अलंकारों का अन्य अलंकारों में अन्तर्भाव ।

१. इस दृष्टि से रसवत् वर्ग के अलंकारों के अतिरिक्त उदात्त को भी कुन्तक ने अलंकार्य ही माना है और अलंकारों की श्रेणी से बहिष्कृत कर दिया है। उनकी युक्ति है कि ऋद्धिमत् वस्तु-वर्णन अथवा महापुरुषों के चरित्र का वर्णन तो वर्ण्य विषय या अलंकार्य है, अलंकार नहीं । इसी युक्ति का समर्थन आचार्य रामचन्द्र

शुक्ल ने किया है : 'पर प्राचीन अव्यवस्था के स्मारक-स्वरूप कुछ अलंकार ऐसे चले आ रहे हैं जो वर्ण्य वस्तु का निर्देश करते हैं और अलंकार नहीं कहे जा सकते—जैसे स्वभावोक्ति, उदात्त, अत्युक्ति।' (चिन्तामणि १—कविता क्या है ? पृ० १८३) और, इसमें सन्देह के लिए वास्तव में स्थान नहीं है।

इन्हीं के समतुल्य संस्कृत अलंकार-शास्त्र के और भी अलंकार हैं जिनका सम्बन्ध भी मूलतः वर्णन-शैली से न होकर वर्ण्य वस्तु से ही है। ये अलंकार हैं आशीः, विशेषोक्ति आदि। इनमें 'स्वभावमात्रमेव रमणीयम्' (कुन्तक)—रमणीयता स्वभाव की ही है, अतः पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार इन्हें अलंकार नहीं माना जा सकता।

२. कतिपय तथाकथित अलंकारों का खण्डन कुन्तक ने इस आधार पर किया है कि उनमें कोई चमत्कार नहीं है। ऐसे अलंकारों में सबसे मुख्य हैं यथासंख्य, हेतु, सूक्ष्म, लेश आदि जिनमें भणिति-वैचित्र्य के अभाव में कोई कान्ति नहीं होती : 'भणितिवैचित्र्यविरहान्न काचिदत्रकान्तिर्विद्यते'। (३।४ की वृत्ति)। इसी तर्क से आगे चलकर उन्होंने सन्देह के भेदों का भी निषेध किया है।

३. इनके अतिरिक्त अनेक अलंकारों को कुन्तक ने केवल अनावश्यक भेद-विस्तार मात्र मानकर अन्य महत्वपूर्ण अलंकारों में उनका अन्तर्भाव कर दिया है। उदाहरण के लिए, साम्य-मूलक अधिकांश अलंकारों को उन्होंने उपमा के अन्तर्गत ही स्थान दिया है—पृथक् नहीं। उपमालंकार के प्रारम्भ में ही उन्होंने कहा है : 'इदानीं साम्यसमुद्भासिनो विभूषणवर्गस्य विन्यासविच्छित्तिं विचारयति' अर्थात् अब साम्य-मूलक अलंकारों की रचना-शैली का विचार करते हैं। इस कथन से स्पष्ट ही यह ध्वनि निकलती है कि वे साम्य-मूलक समस्त अलंकारों का पृथक् निरूपण अनावश्यक समझते हैं—और उनमें से अधिकांश का उपमा में अन्तर्भाव मानते हैं। प्रतिवस्तूपमा, तुल्ययोगिता, निदर्शना, परिवृत्ति तथा अनन्वय इसी कोटि में आते हैं। कुन्तक का स्पष्ट मत है कि ये सभी उपमा के ही रूप हैं : अनन्वय को उन्होंने इसी दृष्टि से कल्पितोपमान उपमा नाम दिया है। इसी प्रकार समासोक्ति की सत्ता भी कुन्तक को श्लेष से पृथक् मान्य नहीं है।

वास्तव में उपर्युक्त धारणा का यह आधारभूत सिद्धान्त तो सर्वथा मान्य है ही कि अलंकार-समुदाय का अनावश्यक भेद-प्रस्तार काव्य की व्युत्पत्ति में सहायक न होकर बाधक ही होता है, अतएव उसके लिए व्यवस्था और मर्यादा अनिवार्य है। इस दृष्टि से उन्होंने उपर्युक्त जिन तीन विधियों का अवलम्बन किया है वे भी निश्चय ही तर्क-सम्मत हैं। परन्तु कुन्तक ने कदाचित् इस प्रसंग पर विशेष ध्यान नहीं

दिया—वैसे वक्रोक्तिजीवितम् का यह तृतीय उन्मेष भी अत्यन्त खण्डित रूप में ही उपलब्ध है, इसलिए उसकी बाधा भी नगण्य नहीं है। फिर भी उनके विवेचन को यथावत् स्वीकार करने में कुछ कठिनाई अवश्य होती है—उदाहरण के लिए कुन्तक ने एक ओर तो प्रतिवस्तूपमा और निदर्शना जैसे अलंकारों को स्वतन्त्र नहीं माना, और दूसरी ओर उत्प्रेक्षा तथा सन्देह आदि को स्वतन्त्र मान लिया है। किन्तु साम्य के आधार पर यदि परीक्षा करें तो हमारा विचार है कि उत्प्रेक्षा और सन्देह निदर्शना आदि की अपेक्षा उपमा के कहीं अधिक निकट हैं। इसी प्रकार समासोक्ति का चमत्कार श्लेष पर अंशतः आश्रित अवश्य है, परन्तु समग्र रूप में उसकी रमणीयता का समावेश श्लेष में नहीं हो सकता। वास्तव में दोनों की प्रकृति ही भिन्न है: श्लेष में बौद्धिक चमत्कार है और समासोक्ति का चमत्कार भाव और कल्पना पर आश्रित रहता है। छायावादी काव्य का समासोक्ति-वैभव भला श्लेष की खिलवाड़ में कैसे सीमित किया जा सकता है? श्लेष तो समासोक्ति का एक साधन मात्र है—अतएव प्रस्तुत विषय में हमारा निष्कर्ष यही है कि भेद-प्रभेद के विवेचन में कुन्तक ने थोड़ी जल्दबाजी से काम लिया है जिसके परिणाम-स्वरूप यह अधिक तर्क-संगत नहीं बन पाया। अन्य अलंकारों के विषय में कुन्तक को कुछ विशेष नहीं कहना; उन्होंने केवल मुख्य अलंकारों का ही मौलिक ढंग से निरूपण किया है। जिसमें मौलिकता के लिए अवकाश नहीं है उसका उन्होंने स्पर्श ही नहीं किया है। उनके विवेचन में केवल दो साधारण-सी विशेषताएँ हैं—एक तो रूपक और व्यतिरेक के उन्होंने दो भेद माने हैं (१) वाच्य तथा (२) प्रतीयमान, और दूसरे दीपक की प्राचीनों से भिन्न परिभाषा की है। इनमें से प्रतीयमान अलंकार की कल्पना तो वास्तव में नवीन नहीं है क्यों कि आनन्दवर्धन की अलंकार-ध्वनि में उसका निश्चित समावेश है: आनन्दवर्धन की रूपक-ध्वनि ही कुन्तक का प्रतीयमान रूपक है। दीपक के सम्बन्ध में उन्होंने प्राचीनों की इस धारणा का खण्डन किया है कि केवल क्रियापद ही दीपक हो सकते हैं और यह स्थापना की है कि क्रियापदों के समान अन्य पद भी दीपक-पद हो सकते हैं। कुन्तक के अनुसार दीपक के दो भेद होते हैं (१) केवल दीपक और (२) पंक्ति-दीपक। ये वास्तव में कोई महत्वपूर्ण उद्भावनाएँ नहीं हैं क्यों कि एक तो अलंकार का चमत्कार जितना क्रियापद दीपक से निखरता है उतना कर्तृपदादि से नहीं, और दूसरे पंक्ति-दीपक दण्डी आदि के माला-दीपक का नामान्तर मात्र है। किन्तु यह अपने आप में इतनी बड़ी बात नहीं है—वास्तविक महत्व तो संस्कृत अलंकार-शास्त्र की सबसे बड़ी दुर्बलता—अनावश्यक भेद-प्रस्तार का अत्यन्त निर्भीक तथा आश्वस्त होकर उद्घाटन करने वाली उस अन्तर्प्रवेशिनी दृष्टि का है। भारतीय अलंकार-शास्त्र

का यह दुर्भाग्य ही रहा कि परवर्ती रस-ध्वनिवादी आचार्यों ने भी कुन्तक के इस मार्ग-दर्शन का वांछित उपयोग नहीं किया, अन्यथा हमारे अलंकार-विधान का आधार आज कहीं अधिक व्यवस्थित तथा विवेक-पुष्ट होता।

अलंकार का महत्त्व

आलोचकों ने कुन्तक को प्रायः अलंकारवादी ही माना है—परन्तु वे उस अर्थ में अलंकारवादी नहीं हैं जिस अर्थ में जयदेव आदि, जो अलंकारहीन काव्य की अनुष्ण अनल से उपमा देते हैं। उन्होंने काव्य को सालंकार तो अवश्य माना है परन्तु अलंकार के अतिचार का प्रबल शब्दों में अनेक बार विरोध किया है:—

१. इसका अभिप्राय यह हुआ कि इस प्रकार के पदार्थों की स्वभाव-सुकुमारता के वर्णन में वाच्य अलंकार उपमा आदि का अधिक उपयोग उचित नहीं हो सकता क्योंकि उससे स्वाभाविक सौंदर्य के अतिशय में मलिनता आने का भय रहता है। (३।१ कारिका की वृत्ति)

२. इस प्रकार के समस्त उदाहरणों में स्वाभाविक सौंदर्य की प्रधानता से वर्ण्य वस्तु के उस स्वाभाविक सौंदर्य के आच्छादित हो जाने के भय से उनके रचयिता कवियों ने अधिक अलंकारों अथवा सजावट की रचना नहीं की है, और यदि कहीं अलंकारों का प्रयोग करते भी हैं तो उसी स्वाभाविक सौंदर्य को और भी अधिक प्रकाशित करने के लिए ही करते हैं न कि अलंकार की विचित्रता दिखाने के लिए। (३।१ कारिका की वृत्ति)

३. (सत्कवियों की) उदार-अभिधा वाणी सौंदर्य आदि गुणों से उज्ज्वल, प्रत्येक पग रखते समय हाव-भाव से युक्त, सुन्दर रीति से धारण किये हुए थोड़े से परिमित अलंकारों से अलंकृत, अत्यन्त रसपूर्ण होने से आर्द्र-हृदया नायिका के समान मन को हरण करने में समर्थ होती है।

(३।४० कारिका की वृत्ति—परिशिष्ट से उद्धृत)

उपर्युक्त उद्धरण कुन्तक की सहृदयता के अतर्क्य प्रमाण हैं। उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे अलंकार को काव्य का साधन ही मानते हैं, सिद्धि नहीं। अन्य साधनों की भाँति अलंकारों की भी सार्थकता यही है कि उनका सुरुचि-पूर्ण विवेक-

सम्मत उपयोग किया जाय। सुरुचि अथवा विवेक के अभाव में केवल विचित्रता-प्रदर्शन के लिए अलंकारों का अनावश्यक प्रयोग काव्य-सौंदर्य का साधक न होकर बाधक हो जाता है। साधन का उपयोग साध्य पर निर्भर रहता है, साध्य से स्वतंत्र होकर जिस प्रकार साधन अपनी वास्तविक स्थिति से भ्रष्ट हो जाता है, इसी प्रकार अलंकार भी। उसकी सार्थकता तो स्वाभाविक सौंदर्य को और अधिक प्रकाशित करने में है अर्थात् वह शोभातिशायी है—स्वतंत्र रूप में सौंदर्य का स्थानापन्न नहीं है। काव्य का मूल सौंदर्य अलंकृति-जन्य न होकर रस-जन्य ही है।

इस प्रकार अलंकार की स्थिति के विषय में कुन्तक का मत रस-ध्वनिवादियों से मूलतः भिन्न नहीं है। उनके शब्दों में और आनन्दवर्धन के शब्दों में कितना साम्य है :

(रूपकादि की) विवक्षा (सदैव रस को प्रधान मानकर हो), रस-परत्वेन ही हो, प्रधान रूप से किसी भी दशा में नहीं। (उचित) समय पर (उनका) ग्रहण और त्याग होना चाहिए। (आदि से अन्त तक) अत्यन्त निर्वाह की इच्छा नहीं करनी चाहिए। अत्यन्त निर्वाह हो जाने पर भी (वह) अंग-रूप में (ही) हो, यह बात सावधानी से फिर देख लेनी चाहिए।   (ध्वन्यालोक २।१८-१९)

और वास्तव में यही उचित भी है—अलंकार का उपयोग साधन मानकर, शोभा का अतिशय करने के लिए, परतन्त्र रूप में ही होना चाहिए : वे 'प्रसाधन' ही हैं, सौंदर्य के पर्याय नहीं।

अलंकार-सिद्धान्त और वक्रोक्ति-सिद्धान्त

अधिकांश विद्वानों ने वक्रोक्ति-सम्प्रदाय को अलंकार-सम्प्रदाय का रूपान्तर अथवा उसके पुनरुत्थान का प्रयत्न माना है। यह मत मूलतः मान्य होते हुए भी अतिव्याप्त अवश्य है और वास्तव में इन दोनों सम्प्रदायों में साम्य की अपेक्षा वैषम्य भी कम नहीं है :—

साम्य : (१) कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का प्राण माना है और साथ ही अलंकार भी :

उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव……।   +   +   ॥

इस दृष्टि से वक्रोक्ति-सिद्धान्त भी नाम-भेद से अलंकार-सिद्धान्त ही ठहरता है। कुन्तक ने 'सालंकारस्य काव्यता' कहकर भी अलंकार की ग्रनिवार्यता स्वीकार कर ली है।

(२) इन सिद्धान्तों में दूसरी मौलिक समानता यह है कि दोनों के दृष्टिकोण वस्तु-परक हैं : अर्थात् दोनों काव्य-सौंदर्य को मूलतः वस्तुगत मानते हैं। दोनों सिद्धान्तों में काव्य को कवि-कौशल पर ही आश्रित माना गया है। दोनों की वस्तु-परकता में मात्रा का अन्तर अवश्य हो सकता है—परन्तु काव्य को अनुभूति न मानकर कौशल मानना निश्चय रूप से भाव-परक दृष्टिकोण का निषेध ग्रौर वस्तु-परक दृष्टिकोण की स्वीकृति ही है।

(३) दोनों सिद्धान्तों के अनुसार वर्ण-सौंदर्य से लेकर प्रबन्ध-सौंदर्य तक समस्त काव्य-रूप चमत्कारप्राण हैं : एक में उसे ग्रलंकार कहा गया है दूसरे में वक्रता : दोनों में शब्द का भेद है अर्थ का नहीं क्यों कि दोनों में उक्ति-वैदग्ध्य का ही प्राधान्य है।

(४) दोनों में रस को उक्ति के आश्रित माना गया है।

वैषम्य : (१) अलंकार-सिद्धान्त की अपेक्षा वक्रोक्ति-सिद्धान्त में व्यक्ति-तत्व का कहीं अधिक समावेश है : ग्रलंकार-सम्प्रदाय में जहाँ शब्द ग्रौर ग्रर्थ के चमत्कार का निर्वैयक्तिक विधान है, वहाँ वक्रोक्ति में कवि-स्वभाव को मूर्धन्य पर स्थान दिया गया है।

(२) ग्रलंकार-सिद्धान्त की ग्रपेक्षा वक्रोक्ति-सिद्धान्त रस को अत्यधिक महत्व देता है : रसवत् को अलंकार से ग्रलंकार्य के पद पर प्रतिष्ठित कर कुन्तक ने निश्चय ही रस के प्रति ग्रधिक आदर व्यक्त किया है। वक्रोक्ति-सिद्धान्त में प्रबन्ध-वक्रता को वक्रोक्ति का सबसे प्रौढ़ रूप माना गया है—ग्रौर प्रबन्ध-वक्रता में रस का गौरव सर्वाधिक है।

(३) ग्रलंकार-सिद्धान्त में स्वभाव-वर्णन को प्रायः हेय माना गया है : भामह ने तो वार्ता मात्र कहकर स्पष्ट ही उसे ग्रकाव्य घोषित कर दिया है, दण्डी ने भी ग्राद्य अलंकार मानकर उसको कोई विशेष ग्रादर नहीं दिया क्यों कि उन्होंने शास्त्र में ही उसका साम्राज्य माना है—काव्य के लिए वह केवल वांछनीय है।

इसके विपरीत वक्रोक्ति-सिद्धान्त में स्वभाव-सौंदर्य का वर्णन आहार्य की अपेक्षा अधिक काम्य है : अलंकार की सार्थकता स्वभाव-सौंदर्य को प्रकाशित करने में ही है, अपनी विचित्रता दिखाने में नहीं; स्वभाव-सौंदर्य को आच्छादित करने वाला अलंकार त्याज्य है।

(४) वक्रोक्ति-सिद्धान्त में काव्य के अन्तरंग का विवेचन अधिक है, अलंकार सिद्धान्त बहिरंग से ही उलझकर रह जाता है अर्थात् वक्रता द्वारा अभिप्रेत चमत्कार अलंकार की अपेक्षा अधिक अन्तरंग है।

इस प्रकार वक्रोक्ति-सिद्धान्त अलंकार-सिद्धान्त से कहीं अधिक उदार, सूक्ष्म तथा पूर्ण है।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त और रीति

रीति-सिद्धान्त के अनुसार रीति काव्य की आत्मा है, और वक्रोक्ति के अनुसार रीति या पद-रचना वक्रता का एक भेद है। रीति के लिए कुन्तक ने भी दण्डी की भाँति मार्ग शब्द का प्रयोग किया है।

मार्ग का अर्थ और स्वरूप

मार्ग की परिभाषा तो कुन्तक ने नहीं की परन्तु उनके अनेक वाक्यों में मार्ग शब्द की व्याख्या अवश्य मिलती है :

सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः । १।२४ ।

× × ते च कीदृशाः कविप्रस्थानहेतवः । कवीनां प्रस्थानं प्रवर्तनं तस्य हेतवः काव्यकरणस्य कारणभूताः । २४ वीं कारिका वृत्ति ।

अर्थात् मार्ग का अर्थ है कवि-प्रस्थान-हेतु—कवि के प्रस्थान से अभिप्राय है रचना में प्रवृत्त होना अर्थात् काव्य-रचना।

इसी प्रसंग में आगे चलकर एक बार फिर कुन्तक ने मार्ग शब्द के आशय पर प्रकाश डाला है :

सुकुमाराभिधः सोऽयं येन सत्कवयो गताः ।
मार्गेणोत्फुल्लकुसुमकाननमेव षट्पदाः ॥ १ । २९ ।

+ + + गताः प्रयाताः तदाश्रयेण काव्यानि कृतवन्तः । (वृत्ति)
—यह वही सुकुमार मार्ग है जिससे, खिले हुए पुष्पों के वन में भ्रमरों के समान, सत्कवि जाते रहे हैं। + + जाते रहे हैं अर्थात् जिसका अवलम्बन कर काव्य-रचना करते रहे हैं।

अर्थात् जिसका अवलम्बन कर कवि काव्य-रचना करता है वही मार्ग है।

इस प्रकार कुन्तक के अनुसार जिस विधि का अवलम्बन कर कवि काव्य-रचना में प्रवृत्त होता है, उसका नाम मार्ग है : और स्पष्ट शब्दों में काव्य-रचना की रीति का नाम मार्ग है। यह परिभाषा संस्कृत रीति-शास्त्र की मान्य परिभाषा से मूलतः अभिन्न है। दण्डी ने यद्यपि कोई परिभाषा नहीं की, तो भी काव्य-मार्ग शब्द का प्रयोग अपने आप में सर्वथा स्पष्ट है और उसका आशय वही हो सकता है जो कुन्तक ने दिया है। वामन के अनुसार रीति का अर्थ है शब्द और अर्थगत सौंदर्य से युक्त पद रचना : उनके मतानुसार यही वास्तव में काव्य-रचना है। भोज ने, इस अर्थ में प्रयुक्त रीति, मार्ग, पन्थ आदि अनेक शब्दों की, व्युत्पत्ति के अनुसार, पर्यायता सिद्ध करते हुए मार्ग अथवा रीति का अर्थ कवि-गमन-मार्ग ही माना है और यही कुन्तक का कवि-प्रस्थान-हेतु है।

मार्ग-भेद का आधार

कुन्तक से पूर्व मार्ग-भेद के दो आधार मान्य थे : एक प्रादेशिक और दूसरा गुणात्मक। वास्तव में मार्गों का नामकरण मूलतः प्रादेशिक आधार पर ही हुआ था—भरत, बाण, भामह तथा दण्डी आदि पूर्व-रीति आचार्यों के विवेचन से यह सर्वथा स्पष्ट है कि मार्गों का सम्बन्ध भारत के भिन्न-भिन्न प्रदेशों से था। किन्तु इन सभी आचार्यों ने किसी-न-किसी रूप में प्रादेशिक आधार में सन्देह भी प्रकट किया है—और भामह ने तो स्पष्ट ही प्रादेशिक आधार पर मार्गों के तारतम्य का निषेध किया है[1], वैदर्भ और गौड़ीय के पार्थक्य को भी उन्होंने अनावश्यक या अधिक-से-अधिक औपचारिक माना है : वैदर्भ को अपने आप में श्रेष्ठ और गौड़ीय को अपने आप में निकृष्ट मानना अन्ध गतानुगतिकता है। वामन ने प्रादेशिक आधार का खण्डन कर गुणात्मक

१. देखिए लेखक की हिन्दी-काव्यालंकारसूत्र की भूमिका पृ० ३२।३३।

आधार की प्रतिष्ठा की है—प्रादेशिक नामकरण को उन्होंने संयोग मात्र माना है। इस विषय में उनका मत यह है :

"किन्तु क्या भिन्न-भिन्न द्रव्यों की भाँति काव्य के गुणों की भी उत्पत्ति पृथक्-पृथक् देशों से होती है जो उनका नामकरण देशों के आधार पर किया गया है ?

नहीं, ऐसा नहीं है। वैदर्भी आदि रीतियों के नाम विदर्भादि देशों के नाम पर इसलिए रखे गये हैं कि इन देशों में उनका विशेष प्रयोग मिलता है।

विदर्भ, गौड़ और पांचाल देशों में वहाँ के कवियों ने क्रमशः वैदर्भी, गौड़ीया और पांचाली रीतियों का उनके वास्तविक रूपों में मुख्यतः प्रयोग किया है। इसलिए इनके नाम विदर्भादि के नामों पर रखे गये हैं, इसलिए नहीं कि इन देशों का उपर्युक्त रीतियों पर कोई विशेष प्रभाव पड़ा है।" (का० सू० अध्याय २०)।

अर्थात् वामन के अनुसार—(१) रीतियों पर प्रदेश का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

२. रीतियाँ निश्चय ही गुणात्मक अर्थात् शब्द और अर्थगत सौंदर्य के आश्रित हैं।

(३) वैदर्भी आदि रीतियों के नाम विदर्भादि प्रदेशों पर इसलिए रखे गये हैं कि उन प्रदेशों के कवियों ने इन रीतियों का इनके वास्तविक रूप में मुख्यतः प्रयोग किया है।—परन्तु यह संयोग मात्र है कि इन प्रदेशों की परम्पराएँ ऐसी थीं; द्रव्यादि की भाँति कोई रीति किसी प्रदेशविशेष की उपज नहीं है।

कुन्तक ने अपनी अमोघ शैली में मार्गों के प्रादेशिक आधार का तो तिरस्कार किया ही है—साथ ही अपने व्यंग्य की लपेट में वामन को भी ले लिया है। कुन्तक का विवेचन इस प्रकार है:—

"यहाँ अनेक प्रकार के मत-भेद हो सकते हैं क्योंकि (वामन आदि) प्राचीन आचार्यों ने विदर्भादि देशविशेष के आश्रय से वैदर्भी आदि तीन रीतियों का वर्णन किया है, और अन्य (दण्डी) ने वैदर्भ तथा गौड़ीय-रूप दो मार्गों का वर्णन किया है। ये दोनों ही मत संगत नहीं हैं क्योंकि रीतियों को देश-भेद के आधार पर मानने से तो देशों के अनन्त होने से रीति-भेदों की भी अनन्तता होने लगेगी। और, ममेरी बहिन

से विवाह के समान विशेष रीति से युक्त होने से काव्य की व्यवस्था नहीं की जा सकती क्यों कि देश-धर्म तो वृद्धों की व्यवहार-परम्परा मात्र पर आश्रित है, इसलिए उसका अनुष्ठान अशक्य नहीं है। परन्तु उस प्रकार के (सहृदयाह्लादकारी) काव्य की रचना-शक्ति (काव्य-प्रतिभा) आदि कारण-समुदाय की पूर्णता की अपेक्षा रखती है, इसलिए (देश में प्रचलित वृद्ध-व्यवहार) के समान जैसे-तैसे नहीं की सकती है।

और न दाक्षिणात्यों की संगीत-विषयक सुस्वरतादि-रूप ध्वनि की रमणीयता के समान उस (काव्य-रचना) को स्वाभाविक कहा जा सकता है क्यों कि वैसा होने पर तो सभी कोई उस प्रकार का काव्य बनाने लगें, और शक्ति के होने पर भी व्युत्पत्ति आदि आहार्य कारण सामग्री (भी) प्रतिनियत-देश-विषय रूप से स्थित नहीं होती है (अर्थात् शक्ति को स्वाभाविक मान लिया जाय तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि शेष व्युत्पत्ति आदि आहार्य सामग्री देशविशेष के आधार पर प्राप्त होती है)—(ऐसा कोई) नियम न होने से, उस देश में (कवियों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों में) उसका अभाव होने से, अन्यत्र प्राप्त होने से।" (हिन्दी-वक्रोक्तिजीवित १।२४ वीं कारिका की वृत्ति)।

उपर्युक्त उद्धरणों में कुन्तक ने प्रादेशिक आधार के विरुद्ध तीन तर्क दिये हैं :

१. काव्य-रचना देश-धर्म नहीं है।—देश-धर्म तो परम्परागत प्रथाओं पर आश्रित रहता है जिनका अनुकरण किसी के लिए भी अशक्य नहीं है, परन्तु काव्य-रचना तो प्रतिभा की अपेक्षा करती है जिसका सभी में सद्भाव नहीं है।

२. काव्य-रचना मधुर स्वर आदि के समान प्रदेशविशेष का भौगोलिक प्रभाव भी नहीं है क्यों कि यदि ऐसा होता तो उस प्रदेश के सभी व्यक्ति सत्काव्य की रचना करने में समर्थ होते।

३. केवल प्रतिभा ही नहीं, व्युत्पत्ति आदि आहार्य गुण भी देश-जन्य नहीं हैं, वे भी व्यक्ति-निष्ठ ही हैं।

मार्ग का वास्तविक आधार : स्वभाव

कुन्तक काव्य-रचना में स्वभाव को मूर्धन्य पर स्थान देते हैं और इसी सिद्धान्त के अनुसार वे स्वभाव के आधार पर मार्ग-भेद को संगत मानते हैं :—

"कवियों के स्वभाव-भेद के आधार पर किया गया काव्य-मार्गों का भेद युक्ति-संगत हो सकता है। सुकुमार स्वभाव वाले कवि की उसी प्रकार की (सुकुमार) सहज-शक्ति उत्पन्न होती है : शक्ति तथा शक्तिमान के अभिन्न होने से। और उससे कवि उसी प्रकार के सौकुमार्य से रमणीय व्युत्पत्ति को प्राप्त करता है। उन दोनों से सुकुमार मार्ग से ही अभ्यास में तत्पर होता है। उसी प्रकार जिस कवि का स्वभाव इस (सुकुमार स्वभाव) से विचित्र होता है, वह भी सहृदयाह्लादकारी काव्य-निर्माण के प्रस्ताव से सौकुमार्य से व्यतिरिक्त वैचित्र्य से रमणीय ही होता है। उसको उसी प्रकार की कोई विचित्र तदनुरूप शक्ति प्राप्त होती है और उससे वह उसी प्रकार की वैदग्ध्य-सुन्दर व्युत्पत्ति को प्राप्त करता है। और उन दोनों से वैचित्र्य से अधिवासित मन वाला (वह कवि) विचित्र मार्ग से अभ्यास करता है। इसी प्रकार इन दोनों (में से किसी एक) प्रकार के कवित्व-मूलक स्वभाव से युक्त कवि की उसी के योग्य मिश्रित शोभाशालिनी कोई शक्ति उत्पन्न होती है। उस (शक्ति) से उन दोनों प्रकार के स्वभाव से सुन्दर व्युत्पत्ति को प्राप्त करता है और उसके बाद उन दोनों की छाया के परिपोष से सुन्दर अभ्यास करने वाला हो जाता है।

इस प्रकार ये कवि समस्त काव्य-रचना-कलाप के चरम सौंदर्य से युक्त कुछ अपूर्व सुकुमार, विचित्र और उभयात्मक काव्य का निर्माण करते हैं। वे ही (सुकुमार, विचित्र और उभयात्मक)—इन कवियों को प्रवृत्त करने वाले मार्ग कहलाते हैं। यद्यपि कवि-स्वभावभेद-मूलक होने से (कवियों और उनके स्वभावों के अनन्त होने से) मार्गों का भी आनन्त्य अनिवार्य है, परन्तु उसकी गणना असम्भव होने से साधारणतः त्रैविध्य ही युक्ति-संगत है।" (व० जी० १।२८ वीं कारिका की वृत्ति)।

अर्थात् (१) कुन्तक के अनुसार काव्य-भेद का वास्तविक आधार है कवि-स्वभाव।

(२)स्वभाव के अनुसार ही प्रत्येक कवि को शक्ति होती है—शक्ति के अनुरूप ही वह व्युत्पत्ति का अर्जन करता है और इन दोनों के अनुरूप ही उसका अभ्यास होता है। अतएव काव्य के तीनों हेतु शक्ति, निपुणता और अभ्यास स्वभाव पर ही आश्रित हैं।

(३) प्रत्येक कवि का अपना विशिष्ट स्वभाव होने से कवि-स्वभाव के अनन्त भेद हैं, परन्तु उनके तीन सामान्य वर्ग बनाये जा सकते हैं : सुकुमार, विचित्र और उभयात्मक या मध्यम।

(४) तदनुसार काव्य-मार्ग के भी मूलतः अनन्त भेद हैं, परन्तु फिर भी उनके तीन सामान्य भेद किये जा सकते हैं : सुकुमार, विचित्र और मध्यम।

विवेचन

सामान्यतः कुन्तक का यह मन्तव्य मान्य ही है कि प्रदेश की अपेक्षा स्वभाव के आधार पर मार्ग-भेद करना अधिक संगत है। काव्य-शैली का व्यक्ति के साथ प्रत्यक्ष तथा घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसमें संदेह नहीं : आधुनिक आलोचना-शास्त्र में शैली को भाषा का व्यक्तिगत प्रयोग इसी अर्थ में माना गया है। परन्तु कुन्तक का विवेचन भी सर्वथा निर्दोष नहीं है। उन्होंने वामन के आशय को अशुद्ध रूप में प्रस्तुत किया है, अथवा वामन के सिद्धान्त का सम्यक् अध्ययन नहीं किया। वामन ने स्वयं ही प्रादेशिक आधार का प्रबल शब्दों में खण्डन किया है। उनकी रीतियों का आधार गुणात्मक है। प्रादेशिक नामकरण को तो उन्होंने संयोग मात्र माना है और इसमें स्वयं कुन्तक को भी आपत्ति नहीं है : 'तदेवं निर्वचनसमाख्यामात्रकरणकारणत्वे देशविशेषाश्रयणस्य वयं न विवदामहे'—अर्थात् इस प्रकार देश-विशेष के आश्रय से (रीतियों के) निर्वचन अथवा नामकरण के विषय में हमारा विवाद नहीं है। १,२४-वीं कारिका की वृत्ति। अतः वामन के साथ कुन्तक ने न्याय नहीं किया और एक उड़ती हुई बात को लेकर उन पर आक्षेप किया है।

यह तो वामन का मत रहा—परन्तु व्यापक दृष्टि से विचार करने पर प्रादेशिक आधार की कल्पना इतनी अनर्गल नहीं। शैली के पीछे कवि का व्यक्तित्व और व्यक्तित्व के पीछे देश-काल रहता है : यह सिद्धान्त प्रायः सर्वमान्य-सा ही है। शैली के निर्माण में कवि के व्यक्तित्व का और कवि-व्यक्तित्व के निर्माण में देश-काल का प्रभाव असन्दिग्ध है : इस प्रकार काव्य-शैली के साथ देश का अप्रत्यक्ष सम्बन्ध अवश्य है। इसके विरुद्ध वामन का यह तर्क है कि काव्य की रचना द्रव्य के समान प्रादेशिक जलवायु का उत्पादन नहीं है, और कुन्तक की आपत्ति यह है कि तब तो फिर किसी प्रदेश के सभी नर-नारी एक-सी काव्य-रचना करने लगेंगे। परन्तु ये दोनों तर्क एकांगी हैं। समान जलवायु में द्रव्य के उत्पादन में भी कर्षक के कौशल का बड़ा महत्व है। कर्षक का कौशल उत्पादन के गुण और परिमाण दोनों में अन्तर डाल देता है, फिर भी भौगोलिक परिस्थितियों के प्रभाव को तो अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसी तरह कुन्तक की युक्ति भी पूर्ण नहीं है : एक प्रदेश के क्या, सभी व्यक्तियों के स्वभाव एक-से होते हैं ? जब समान जलवायु सभी नर-नारियों

को एक-सा व्यक्तित्व अथवा स्वभाव प्रदान नहीं कर सकती तो सबको समान काव्य-शैली प्रदान कैसे करेगी ? तथापि इस युक्ति के आधार पर प्रादेशिक अथवा भौगोलिक प्रभाव का निषेध तो नहीं किया जा सकता। कहने का अभिप्राय यह है कि व्यक्तित्व की शक्ति असीम है—हम भी उसको ही प्रमुख मानते हैं; सामान्य जीवन की अपेक्षा काव्य के क्षेत्र में तो उसका प्रभुत्व और अधिक है। परन्तु व्यक्तित्व के निर्माण में और व्यक्तित्व के माध्यम से काव्य-शैली के निर्माण में देश-काल का प्रभाव भी असंदिग्ध है, उसका इतनी सरलता से खण्डन नहीं किया जा सकता।[1] फिर भी, समग्रतः, प्रदेश तथा स्वभाव—इन दोनों आधारों में स्वभाव ही अधिक मान्य है, कुन्तक की इस स्थापना में भी संदेह के लिए स्थान नहीं है। स्वभाव अथवा व्यक्तित्व ही मूलतः प्रतिभा का माध्यम है, और जीवन तथा काव्य दोनों में ही प्रतिभा का प्रभुत्व है। स्वभाव के अनुसार प्रत्येक कवि की अपनी शैली या रीति होती है :

तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः। (दण्डी १।१०१)

अपनी-अपनी रीति के काव्य और कवि-रीति। (देव-शब्दरसायन)

अतएव यदि काव्य-रीतियों का वर्गीकरण ही करना है, तो स्वभाव अथवा व्यक्तित्व के आधार पर ही यह अधिक संगत होगा। पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में भी, यद्यपि क्विन्टीलियन आदि कतिपय आचार्यों ने प्रादेशिक आधार भी ग्रहण किया है तथापि मान्यता स्वभावगत आधार को ही दी गयी है। वहाँ आरम्भ से ही ऐटिक-एशियाटिक आदि की अपेक्षा मधुर-उदात्त अथवा कोमल-परुष आदि शैली-वर्गों का ही अधिक प्रचार रहा है और आज भी ये ही मान्य हैं।

मार्गों का तारतम्य

मार्गों के तारतम्य का खण्डन करने में कुन्तक ने फिर अपने आधुनिक दृष्टिकोण का परिचय दिया है। भामह की भाँति उनका भी यही मत है कि वैदर्भी, गौड़ी आदि को उत्तम और अधम मानना अनुचित है :

"और न उत्तम, अधम तथा मध्यम रूप से रीतियों का त्रैविध्य स्थापित करना ही उचित है। क्यों कि सहृदयाह्लादकारी काव्य की रचना में वैदर्भी के समान सौंदर्य (अन्य भेदों में) असम्भव होने से मध्यम और अधम का उपदेश व्यर्थ हो जाता है।

---

१. देखिए हिन्दी काव्यालंकारसूत्र की भूमिका पृ० ४४।

ऐसा परित्याग करने के लिए किया गया है, यह (कथन भी) युक्ति-युक्त नहीं है। वे (रीतिकार वामन) ही इसको नहीं मानते। और शक्ति-अनुसार (थोड़ा-बहुत) दरिद्रों को दान करने के समान (यथाशक्ति भला-बुरा) काव्य करणीय नहीं हो सकता।

+ + + रमणीय काव्य के ग्रहण करने के प्रसंग में सुकुमार-स्वभाव काव्य एक (प्रथा) है। उससे भिन्न अरमणीय काव्य के अनुपादेय होने से। उस (सुकुमार) से भिन्न और रमणीयता-विशिष्ट 'विचित्र' कहलाता है। इन दोनों के ही रमणीय होने से इन दोनों की छाया पर आश्रित अन्य अर्थात् तृतीय भेद का भी रमणीयत्व मानना ही युक्ति-संगत है। इसलिए इन (तीनों भेदों) में अलग-अलग अपने निर्दोष स्वभाव से तद्विदाह्लादकारित्व की पूर्णता होने से किसी की न्यूनता नहीं है।"

(व० जी० १।२४ वीं कारिका की वृत्ति)

कुन्तक के तर्क इस प्रकार हैं :

१. काव्य की कसौटी है सहृदयाह्लादकारित्व—यदि सहृदयाह्लादकारी काव्य की रचना समग्र-गुण-भूषिता वैदर्भी रीति से हो सकती है, तो अन्य रीतियों की चर्चा व्यर्थ है। किन्तु यदि अन्य रीतियों द्वारा भी यह कार्य सिद्ध हो सकता है तो वैदर्भी की श्रेष्ठता की कल्पना व्यर्थ है। इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि अन्य रीतियां उतनी आह्लादकारी नहीं हैं, पर भारतीय काव्य-दर्शन के अनुसार कुन्तक कदाचित् आह्लाद की कोटियां मानने को प्रस्तुत नहीं हैं।

२. सुकुमार तथा रमणीय का सम्बन्ध एक प्रथा मात्र है : विचित्र मार्ग भी उतना ही रमणीय होता है, और जब सुकुमार और विचित्र दोनों ही रमणीय हैं तो इन दोनों का समन्वय-रूप मध्यम मार्ग भी रमणीय ही होगा : अरमणीय तो वास्तव में काव्य ही नहीं है। सहृदयाह्लादकारी होने के कारण तीनों ही काव्य-मार्गों में रमणीयता का परिपूर्ण रूप रहता है—फिर तारतम्य की सम्भावना कहां है ?

कुन्तक की यह स्थापना अत्यन्त आधुनिक है—कुन्तक से पूरे एक हजार वर्ष बाद यूरोप में क्रोचे ने ऐसी ही घोषणा कर सौंदर्य-शास्त्र के क्षेत्र में कुछ समय के लिए सनसनी पैदा कर दी थी, और आज की प्रायः सौंदर्य-धारणाएं इसी सिद्धान्त से प्रभावित हैं।

"सुन्दर के अन्तर्गत कोटियाँ नहीं होती क्योंकि सुन्दर से सुन्दरतर अर्थात् अभिव्यंजक की अपेक्षा अधिक अभिव्यंजक—यथेष्ट की अपेक्षा अधिक यथेष्ट की कल्पना सम्भव नहीं है।" (क्रोचे : एस्थेटिक)

इसमें सन्देह नहीं कि इस सिद्धान्त ने स्थूल वर्ग-विभाजन की प्रवृत्ति को नियन्त्रित कर सौंदर्य-शास्त्र का उपकार ही किया है, और इसमें सत्य का पर्याप्त अंश विद्यमान है। सामान्यतः भारतीय दर्शन भी आनन्द की कोटियाँ मानने के पक्ष में नहीं है और तदनुसार भारतीय रस-शास्त्र में भी रस के अन्तर्गत कोटि-क्रम की स्थिति साधारणतः अमान्य है। फिर भी तात्विक निरूपण के अतिरिक्त व्यावहारिक विवेचन में क्या आनन्द अथवा रस के अन्तर्गत मात्रा-भेद की कल्पना नहीं की जाती? यदि ऐसा है तो रसराज का सारा प्रपंच ही मिथ्या है। यूरोप के काव्य-शास्त्र में अरस्तू ने दुःखान्तकी को काव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप मानकर कोटि-क्रम को स्वीकृति प्रदान की है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक आलोचना के प्रतिनिधि डा० रिचर्ड्स ने भी अन्तःवृत्तियों के समंजन के आधार पर काव्यगत मूल्यों की प्रतिष्ठा करते हुए दुःखान्तकी को काव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप माना है। जब अन्तःप्रवृत्तियों के समंजन में मात्रा-भेद माना जा सकता है तो आनन्द में मात्रा-भेद मानने में क्या आपत्ति हो सकती है? यों तो रिचर्ड्स ने काव्य में आह्लाद की स्थिति अनिवार्य नहीं मानी : परन्तु यह केवल शब्दों का हेर-फेर है। अन्तःवृत्तियों का समीकरण आनन्द से भिन्न स्थिति नहीं है। वास्तव में रिचर्ड्स ने 'प्लेज़र' की अनिवार्यता का खण्डन किया है—उनके यहाँ 'आनन्द' शब्द का पर्याय नहीं : 'प्लेज़र' का निषेध कर वे जिस गम्भीर मनोदशा की व्यंजना करना चाहते हैं वह हमारे आनन्द में सहज ही निहित है। कहने का अभिप्राय यह है कि तत्व-रूप में चाहे कुछ भी हो, व्यवहार में तो आनन्द की कोटियाँ मानी ही जाती हैं अन्यथा काव्य तथा कवियों के सापेक्षिक महत्व की कल्पना निरर्थक हो जाती है क्योंकि काव्य के मूल्यांकन की कसौटी अन्ततः रस अथवा आनन्द ही तो है। ऐसी स्थिति में कुन्तक अथवा क्रोचे का यह अभिमत अत्यन्त तात्विक तथा महत्वपूर्ण होते हुए भी कम से कम व्यावहारिक नहीं है किन्तु कुन्तक सम्भवतः इतनी दूर न जाते हों—कुन्तक के मन्तव्य में क्रोचे के मन्तव्य का यथावत् अर्थानुसन्धान कदाचित् संगत न हो। कुन्तक वास्तव में इस तथ्य पर बल देना चाहते हैं कि काव्य-मार्ग अपने आप में उत्कृष्ट या निकृष्ट नहीं हैं—न उनके प्रकृत रूपों में तारतम्य हो है। सुकुमार मार्ग की सर्वश्रेष्ठ रचना को विचित्र अथवा मध्यम मार्ग की उसी कोटि की रचना से अधिक उत्कृष्ट मानने का कोई कारण नहीं है : तारतम्य कवि की शक्ति तथा व्युत्पत्ति आदि पर निर्भर तो हो सकता है, परन्तु मार्ग के आधार पर उसकी

कल्पना मिथ्या है—यदि कुन्तक केवल इतना ही कहना चाहते हैं तब तो उनका मन्तव्य सर्वथा ग्राह्य है और उनके साथ मतभेद के लिए कोई स्थान नहीं है।

मार्गभेद और उनका स्वरूप

कुन्तक ने प्रदेश पर आश्रित वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली का निषेध कर स्वभाव के अनुसार सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम या उभयात्मक—इन तीन काव्य-मार्गों का प्रतिपादन किया है और मौलिक रीति से उनके लक्षण किये हैं।

सुकुमार मार्ग :

कुन्तक ने प्रथम उन्मेष की पांच कारिकाओं में सुकुमार मार्ग का वर्णन इस प्रकार किया है—"कवि की अम्लान प्रतिभा से उद्भिन्न नवीन शब्द तथा अर्थ से मनोहर, और अनायास रचित परिमित अलंकारों से युक्त, पदार्थ के स्वभाव के प्राधान्य से आहार्य कौशल का तिरस्कार करने वाला, रसादि के तत्वज्ञ सहृदयों के मन के अनुरूप होने के कारण सुन्दर (मनःसंवादसुन्दर), अज्ञात रूप से स्थित सौंदर्य के द्वारा आह्लादकारी, विधाता के वैदग्ध्य से उत्पन्न अलौकिक अतिशय के समान, जो कुछ भी वैचित्र्य प्रतिभा से उत्पन्न हो सकता है वह सब सुकुमार स्वभाव से प्रवाहित होता हुआ जहां शोभा देता है—यह वही सुकुमार नामक मार्ग है जिससे, उत्फुल्ल कुसुम-वन में भ्रमरों के समान सत्कवि जाते हैं।" (१।२५-२९)

जैसे :—

प्रत्यंचा से बांध दिये जाने के कारण जिसकी भुजाएँ निश्चल हो गयी हैं, और जिसके (दश) मुखों की परम्परा हाँफ रही है, (ऐसा) इन्द्रजित् रावण (भी) जिस (कार्तवीर्य) के कारागृह में उसकी कृपा होने तक पड़ा रहा। रघुवंश ६।४०।—यहाँ वर्णन के अन्य प्रकार से निरपेक्ष, कवि की शक्ति का परिणाम चरम परिपाक को प्राप्त हो गया है। (उपर्युक्त कारिकाओं की वृत्ति)।

इस लक्षण से सुकुमार मार्ग के निम्न-लिखित तत्व उपलब्ध होते हैं।

(क) सहज प्रतिभा का प्रस्फुरण,

(ख) स्वाभाविक सौंदर्य,

(ग) आहार्य कौशल का अभाव,

"सुन्दर के अन्तर्गत कोटियाँ नहीं होती क्यों कि सुन्दर से सुन्दरतर अर्थात् अभिव्यंजक की अपेक्षा अधिक अभिव्यंजक—यथेष्ट की अपेक्षा अधिक यथेष्ट की कल्पना सम्भव नहीं है।" (क्रोचे : एस्थेटिक)

इसमें सन्देह नहीं कि इस सिद्धान्त ने स्थूल वर्ग-विभाजन की प्रवृत्ति को नियन्त्रित कर सौंदर्य-शास्त्र का उपकार ही किया है, और इसमें सत्य का पर्याप्त अंश विद्यमान है। सामान्यतः भारतीय दर्शन भी आनन्द की कोटियाँ मानने के पक्ष में नहीं है और तदनुसार भारतीय रस-शास्त्र में भी रस के अन्तर्गत कोटि-क्रम की स्थिति साधारणतः अमान्य है। फिर भी तात्विक निरूपण के अतिरिक्त व्यावहारिक विवेचन में क्या आनन्द अथवा रस के अन्तर्गत मात्रा-भेद की कल्पना नहीं की जाती? यदि ऐसा है तो रसराज का सारा प्रपंच ही मिथ्या है। यूरोप के काव्य-शास्त्र में अरस्तू ने दुःखान्तकी को काव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप मानकर कोटि-क्रम को स्वीकृति प्रदान की है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक आलोचना के प्रतिनिधि डा० रिचर्ड्स ने भी अन्तःवृत्तियों के समंजन के आधार पर काव्यगत मूल्यों की प्रतिष्ठा करते हुए दुःखान्तकी को काव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप माना है। जब अन्तःप्रवृत्तियों के समंजन में मात्रा-भेद माना जा सकता है तो आनन्द में मात्रा-भेद मानने में क्या आपत्ति हो सकती है? यों तो रिचर्ड्स ने काव्य में आह्लाद की स्थिति अनिवार्य नहीं मानी : परन्तु यह केवल शब्दों का हेर-फेर है। अन्तःवृत्तियों का समीकरण आनन्द से भिन्न स्थिति नहीं है। वास्तव में रिचर्ड्स ने 'प्लेजर' की अनिवार्यता का खण्डन किया है—उनके यहाँ 'आनन्द' शब्द का पर्याय नहीं : 'प्लेजर' का निषेध कर वे जिस गम्भीर मनोदशा की व्यंजना करना चाहते हैं वह हमारे आनन्द में सहज ही निहित है। कहने का अभिप्राय यह है कि तत्व-रूप में चाहे कुछ भी हो, व्यवहार में तो आनन्द की कोटियाँ माननी ही जाती हैं अन्यथा काव्य तथा कवियों के सापेक्षिक महत्व की कल्पना निरर्थक हो जाती है क्यों कि काव्य के मूल्यांकन की कसौटी अन्ततः रस अथवा आनन्द ही तो है। ऐसी स्थिति में कुन्तक अथवा क्रोचे का यह अभिमत अत्यन्त तात्विक तथा महत्वपूर्ण होते हुए भी कम से कम व्यावहारिक नहीं है किन्तु कुन्तक सम्भवतः इतनी दूरी न जाते हों—कुन्तक के मन्तव्य में क्रोचे के मन्तव्य का यथावत् अर्थानुसन्धान कदाचित् संगत न हो। कुन्तक वास्तव में इस तथ्य पर बल देना चाहते हैं कि काव्य-मार्ग अपने आप में उत्कृष्ट या निकृष्ट नहीं है—न उनके प्रकृत रूपों में तारतम्य ही है। सुकुमार मार्ग की सर्वश्रेष्ठ रचना को विचित्र अथवा मध्यम मार्ग की उसी कोटि की रचना से अधिक उत्कृष्ट मानने का कोई कारण नहीं है : तारतम्य कवि की शक्ति तथा व्युत्पत्ति आदि पर निर्भर तो हो सकता है, परन्तु मार्ग के आधार पर उसकी

कल्पना मिथ्या है—यदि कुन्तक केवल इतना ही कहना चाहते हैं तब तो उनका मन्तव्य सर्वथा ग्राह्य है और उनके साथ मतभेद के लिए कोई स्थान नहीं है।

मार्गभेद और उनका स्वरूप

कुन्तक ने प्रदेश पर आश्रित वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली का निषेध कर स्वभाव के अनुसार सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम या उभयात्मक—इन तीन काव्य-मार्गों का प्रतिपादन किया है और मौलिक रीति से उनके लक्षण किये हैं।

सुकुमार मार्ग :

कुन्तक ने प्रथम उन्मेष की पांच कारिकाओं में सुकुमार मार्ग का वर्णन इस प्रकार किया है—"कवि की अम्लान प्रतिभा से उद्भिन्न नवीन शब्द तथा अर्थ से मनोहर, और अनायास रचित परिमित अलंकारों से युक्त, पदार्थ के स्वभाव के प्राधान्य से आहार्य कौशल का तिरस्कार करने वाला, रसादि के तत्वज्ञ सहृदयों के मन के अनुरूप होने के कारण सुन्दर (मनःसंवादसुन्दर), अज्ञात रूप से स्थित सौंदर्य के द्वारा आह्लादकारी, विधाता के वैदग्ध्य से उत्पन्न अलौकिक अतिशय के समान, जो कुछ भी वैचित्र्य प्रतिभा से उत्पन्न हो सकता है वह सब सुकुमार स्वभाव से प्रवाहित होता हुआ जहां शोभा देता है—यह वही सुकुमार नामक मार्ग है जिससे उत्फुल्ल कुसुम-वन में भ्रमरों के समान सत्कवि जाते हैं।" (१।२५-२६)

जैसे :—

प्रत्यंचा से बाँध दिये जाने के कारण जिसकी भुजाएँ निश्चल हो गयी हैं, और जिसके (दश) मुखों की परम्परा हांफ रही है, (ऐसा) इन्द्रजित् रावण (भी) जिस (कार्तवीर्य) के कारागृह में उसकी कृपा होने तक पड़ा रहा। रघुवंश ६।४०।—यहाँ वर्णन के अन्य प्रकार से निरपेक्ष, कवि की शक्ति का परिणाम चरम परिपाक को प्राप्त हो गया है। (उपर्युक्त कारिकाओं की वृत्ति)।

इस लक्षण से सुकुमार मार्ग के निम्न-लिखित तत्व उपलब्ध होते हैं।

(क) सहज प्रतिभा का प्रस्फुरण,

(ख) स्वाभाविक सौंदर्य,

(ग) आहार्य कौशल का अभाव,

(घ) रसज्ञों के मन के अनुरूप सरसता,

(ङ) अलौकिक तथा अविचारित वैदग्ध्य,

(च) शब्द और अर्थ का सहज (प्रतिभाजात) चमत्कार,

(छ) अनायास रचित परिमित अलंकारों की स्थिति, और

(ज) अन्त में उदाहरण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सुकुमार का अर्थ केवल कोमल अथवा मधुर नहीं है।—कालिदास, सर्वसेन आदि इस मार्ग के प्रसिद्ध कवि हैं।

विचित्र मार्ग

"जहाँ प्रतिभा के प्रथम विलास के समय पर (ही) शब्द और अर्थ के भीतर वक्रता स्फुरित होने लगती है, जहाँ कवि (एक ही अलंकार से) सन्तुष्ट न होने से एक अलंकार के लिए हार आदि में मणियों के जड़ाव के समान दूसरा अलंकार जोड़ते हैं, रत्न-किरणों की छटा के बाहुल्य से भास्वर आभूषणों के द्वारा ढक देने से जैसे कान्ता का शरीर (और भी) भूषित हो जाता है (इसी प्रकार अनेक अलंकारों की जगमगाहट से जहाँ काव्य का कलेवर और भी रमणीय हो जाता है), जहाँ इसी प्रकार भ्राजमान अलंकारों के द्वारा अपनी शोभा के भीतर छिपा हुआ अलंकार्य अपने स्वरूप से प्रकाशित होता है, जहाँ प्राचीन कवियों द्वारा वर्णित वस्तु भी केवल उक्ति के वैचित्र्य मात्र से चरम सौंदर्य को प्राप्त हो जाती है, जहाँ वाच्य-वाचक वृत्ति से भिन्न किसी वाक्यार्थ की प्रतीयमानता की रचना की जाती है, जहाँ किसी कमनीय वैचित्र्य से परिपोषित और सरस आशय से युक्त पदार्थ-स्वभाव का वर्णन किया जाता है, जहाँ वक्रोक्ति का वैचित्र्य जीवन के समान प्रतीत होता है और जिसमें किसी अपूर्व अतिशय (चमत्कार) की अभिधा स्फुरित होती है—वह विचित्र मार्ग है।

यह मार्ग अत्यन्त कठिन (दुःसंचर) है। सुभटों के मनोरथ जिस प्रकार खड्ग-धारा के मार्ग पर चलते हैं, इसी प्रकार चतुर कवि इस मार्ग से विचरण करते रहे हैं।

+ × + + (१।३४ से ४३)

जैसेः—

कौन-सा देश आपने विरह-व्यथा-युक्त और शून्य कर दिया है ?

अथवा

कौन-से पुण्यशाली अक्षर आपके नाम की सेवा करते हैं ?

(हर्ष-चरित १।४०-४१)

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार विचित्र मार्ग की विशेषताएँ इस प्रकार हैं :

(क) शब्द और अर्थ का प्रतिभा-जात चमत्कार,

(ख) अलंकारों की जगमगाहट,

(ग) उक्ति-वैचित्र्य,

(घ) प्रतीयमान अर्थ का चमत्कार,

(ङ) वक्रोक्ति की अतिरंजना,

और (च) उदाहरणों से यह भी स्पष्ट है कि विचित्र मार्ग का ओज से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है।—बाणभट्ट, भवभूति तथा राजशेखर प्रभृति कवि इसी मार्ग के अभ्यासी हैं।

(३) मध्यम मार्ग

जहाँ सहज तथा आहार्य शोभा के अतिशय से युक्त विचित्र तथा सुकुमार (दोनों मार्ग) परस्पर मिश्रित होकर शोभित होते हैं, जहाँ माधुर्य आदि गुण-समूह मध्यम वृत्ति का अवलम्बन कर रचना के सौंदर्यातिशय को पुष्ट करता है, जहाँ दोनों मार्गों का सौंदर्य स्पर्धा-पूर्वक विद्यमान होता है, छाया-वैचित्र्य से मनोरम जिस मार्ग के प्रति सौंदर्य-व्यसनी (कवि-सहृदय), चित्र-विचित्र भूषा के प्रति रसिक नागरिकों के समान, आदरवान होते हैं—वही मध्यम मार्ग है।

अर्थात् मध्यम मार्ग की विशेषताएँ हैं :—

(क) सहज तथा आहार्य शोभा के उत्कृष्ट रूपों का समन्वय,

(ख) मध्यम वृत्ति का अवलम्बन,

मध्यम मार्ग का अवलम्बन करने वाले कवि हैं मातृगुप्त, मायुराज, मंजीर आदि।

मार्गों के गुण

कुन्तक ने मार्गों के दो प्रकार के गुण माने हैं : सामान्य और विशेष। सामान्य गुण दो हैं—औचित्य और सौभाग्य—इनकी सभी मार्गों में समान स्थिति रहती है।

विशेष गुण चार हैं : माधुर्य, प्रसाद, लावण्य तथा आभिजात्य—इन गुणों की स्थिति भी सभी मार्गों में रहती है, परन्तु प्रत्येक मार्ग में इनका स्वरूप भिन्न हो जाता है।

सामान्य गुण

औचित्य गुण : जिस 'प्रकार' से उचिताख्यान-रूप स्वभावगत महत्व स्पष्टतया परिपुष्ट किया जाता है उसे औचित्य कहते हैं। (व० जी० १।५३)

अथवा

जिसमें वक्ता तथा बोधव्य के शोभातिशायी प्रभाव के कारण वाच्य अर्थ आच्छादित हो जाता है, वह भी औचित्य गुण ही कहलाता है।

(व० जी० १।५४)

इन लक्षणों के अनुसार औचित्य गुण का मूल तत्व है उचित अर्थात् स्वरूपानुरूप वर्णन। पदार्थ का उसके स्वभाव के अनुरूप यथावत् वर्णन करना ही औचित्य है—यदि पदार्थ का स्वभाव निराभरण रहकर ही पुष्ट होता है तो निराभरण वर्णन में ही औचित्य की स्थिति है, और यदि वह अलंकृति की अपेक्षा करता है तो औचित्य की स्थिति उसके स्वरूप के अनुरूप अलंकारों के नियोजन में है।

कुन्तक ने औचित्य को उदाहृत करने के लिए अनेक छन्द उद्धृत किए हैं :—

१. हाथों में जपमाला लिए हुए, साध्वस (भय या सात्विक भाव) के उत्पन्न हो जाने से जिनके हाथ सन्न (कार्याक्षम अथवा पसीने से तर) हो गये हैं, और जटाओं की सुन्दर रचना किए हुए, दोनों का समागम इस प्रकार हुआ मानो शिव-पार्वती का दूसरा समागम हुआ हो।[1] (तापसवत्सराज ३।८४)

२. हे राजन्, सत्पात्रों को अपनी सम्पत्ति दान देकर अब शरीर मात्र से स्थित आप, वनवासियों द्वारा फल चुन लिए जाने के बाद, ठूंठ मात्र शेष नीवार के समान शोभित होते हैं।[2] (रघुवंश—५।१५)।

---

१. करतलकलिताक्षमालयोः समुदितसाध्वससन्नहस्तयोः।
कृतरुचिरजटानिवेशयोरपर उमेश्वरयोः समागमः॥ तापसवत्सराज ३।८४

२. शरीरमात्रेण नरेन्द्र तिष्ठन्नाभासि तीर्थप्रतिपादितर्द्धिः।
आरण्यकोपात्तफलप्रसूतिः स्तम्बेन नीवार इवावशिष्टः॥ रघुवंश ५।१५

स्वयं कुन्तक के अनुसार प्रथम उदाहरण में उचित अलंकार-योजना के द्वारा औचित्य गुण का परिपोष हो रहा है, और द्वितीय छंद में महाराज रघु के लोकोत्तर स्वरूप का औदार्य अलंकार के औचित्य को पुष्ट करता हुआ औचित्य गुण की सिद्धि कर रहा है।

प्रत्येक सत्काव्य में औचित्य के उदाहरण सर्वत्र मिलेंगे। हिन्दी के प्राचीन अथवा नवीन काव्य से अनेक छन्द अनायास ही उद्धृत किये जा सकते हैं :

मानहुँ मुख-दिखरावनी, दुलहिन करि अनुरागु।
सासु सदन मन ललन हूँ, सौतिन दियौ सुहागु॥

(बिहारी)

यहाँ अलंकार का चमत्कार औचित्य का परिपोष कर रहा है।

अथवा

तुम मांसहीन, तुम रक्तहीन,
हे अस्थिशेष ! तुम अस्थिहीन,
तुम शुद्ध-बुद्ध आत्मा केवल,
हे चिर पुराण, हे चिर नवीन ! (पंत)

यहाँ बापू के व्यक्तित्व का औदार्य अलंकार के औचित्य का पोषण कर औचित्य गुण को सिद्ध कर रहा है।

सौभाग्य गुण—इस (शब्दादि रूप) उपादेय वर्ग में कवि-प्रतिभा जिस (वस्तु) के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील रहती है, उस वस्तु के गुण को सौभाग्य कहते हैं। १।५५।

और वह केवल प्रतिभा के व्यापार मात्र से साध्य नहीं है अपितु उस (कवि या काव्य के लिए) विहित समस्त सामग्री से सम्पादन करने योग्य है, यह कहते हैं :

(यह सौभाग्य गुण) सम्पूर्ण (काव्योचित) सामग्री से सम्पादित करने योग्य, सहृदयों के लिए अलौकिक चमत्कारी और काव्य का प्राण-स्वरूप है। १। ५६।

यथा : तन्वंगी के शरीर में यौवन का पदार्पण होने पर इसकी रूप-रेखा धीरे-धीरे कुछ और ही होती जा रही है। उसकी छाती पर बाहुमूल तक स्तनों के उभार

की रेखा पड़ गई है। आँखों में स्नेह-युक्त कटाक्षों का प्रवेश हो गया है। स्मित-रूप सुधा से सिक्त अर्थात् मुस्कराते हुए बात करते समय भौंहें नाचने में कुछ प्रवीण-सी हो चली हैं, मन में काम के अंकुर-से उदय होने लगे हैं और शरीर के अंगों ने लावण्य ग्रहण कर लिया है। इस प्रकार यौवन के आते ही धीरे-धीरे उस तन्वंगी की रूप-रेखा कुछ और ही हो गई है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से सौभाग्य का स्वरूप स्वतः स्पष्ट नहीं होता—परन्तु विश्लेषण करने पर इस सामान्य गुण के निम्न-लिखित तत्व उपलब्ध होते हैं :—

(क) कल्पना का प्राचुर्य, और

(ख) वक्रता, गुण, अलंकार आदि समस्त काव्य-सम्पदा का विलास। अर्थात् सौभाग्य से कुन्तक का अभिप्राय कल्पना-विलास अथवा काव्य-समृद्धि का है।

हिन्दी में विद्यापति और सूर के काव्य में और इधर छायावाद की कविता में सौभाग्य गुण का अनन्त वैभव मिलता है : उदाहरण के लिए पंत के पल्लव, गुंजन, स्वर्णकिरण, रजतशिखर, शिल्पी आदि में और प्रसाद की कामायनी में सौभाग्य गुण का अपूर्व उत्कर्ष है।

उदाहरण के लिए लज्जा सर्ग के अन्तर्गत सौंदर्य का वर्णन देखिए।

विशेष गुण

विशेष गुणों के स्वरूप सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम तीनों मार्गों में भिन्न होते हैं, अतः मार्ग के अनुकूल ही उनके लक्षण किये गये हैं।

सुकुमार मार्ग के गुण

१. माधुर्य : समासरहित मनोहर पदों का विन्यास जिसका प्राण है, इस प्रकार का माधुर्य सुकुमार मार्ग का पहला गुण है।

---

१. दोर्मूलावधि सूत्रितस्तनमुरः स्निह्यत्कटाक्षे दृशौ
किंचित्ताण्डवपंडिते स्मितसुधासिक्तोक्तिषु भ्रूलते।
चेतः कन्दलितं स्मरव्यतिकरैर्लावण्यमंगैर्धृतं
तन्वंग्यास्तरुणिम्नि सर्पति शनैरन्यैव काचिद्गतिः॥ १२१॥
(काव्यानुशासन में हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत श्लोक)

२. प्रसाद : रस तथा वक्रोक्ति के विषय में अनायास ही अभिप्राय को व्यक्त कर देने वाला तुरन्त अर्थ-समर्पकत्व-रूप जो गुण है उसका नाम प्रसाद है।

३. लावण्य : वर्ण-विन्यास-शोभा से युक्त पद-योजना की थोड़ी-सी सम्पदा से उत्पन्न बन्ध-सौंदर्य अर्थात् रचना-सौष्ठव का नाम लावण्य है। अर्थात् सुरुचि-पूर्ण वर्ण-योजना पर आश्रित रचना-सौष्ठव ही सुकुमार मार्ग का लावण्य गुण है।

४. आभिजात्य : स्वभाव से मसृण छाया-युक्त, श्रुति-कोमल तथा सुखद स्पर्श के समान चित्त से छूता हुआ (बन्ध-सौंदर्य) आभिजात्य नामक गुण कहलाता है।

जैसा कि पं० बलदेव उपाध्याय ने लिखा है, यह आभिजात्य गुण भी वास्तव में लावण्य की कोटि का ही गुण है—इसका आधार भी वर्ण-योजना है। दोनों में यह अन्तर प्रतीत होता है कि लावण्य से वर्णों की झंकार अभिप्रेत है और आभिजात्य से कदाचित् उनकी स्निग्धता या मसृणता—एक में वर्ण परस्पर झनक कर क्वरणन-सा करते हैं, दूसरे में वे परस्पर घुलते-ढुलकते चले जाते हैं।

कुन्तक के उदाहरण हमारी इस धारणा को पुष्ट करते हैं।

लावण्य— स्नानार्द्रमुक्तेष्वनुधूपवासं विन्यस्तसायन्तनमल्लिकेषु।
कामो वसन्तात्ययमन्दवीर्यः केशेषु लेभे बलमंगनानाम्॥
(रघुवंश १६।५०)

इस श्लोक की बन्ध-रचना में स, न तथा अनुस्वारयुक्त द और ग आदि की सुरुचि-पूर्ण आवृत्ति के द्वारा झंकार उत्पन्न की गयी है।

आभिजात्य—

ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य बर्हं भवानी। (मेघदूत)

यहाँ य, ल, ग आदि वर्णों की कोमल ध्वनियाँ एक दूसरे में घुलती हुई, मसृण प्रभाव उत्पन्न करती हैं।

हिन्दी रीति-काव्य में देव की या आधुनिक काव्य में पंत की झंकारमयी भाषा लावण्य से और मतिराम की अथवा वर्तमान युग में महादेवी की कोमलकान्त पदावली आभिजात्य गुण से समृद्ध है। दो-एक उदाहरण लीजिए :—

लावण्य—

पीत रंग सारी गोरे अंग मिलि गई देव,
श्रीफल-उरोज-आभा आभासै अधिक-सी।
छूटी अलकनि छलकनि जलबूंदन की
बिना बेंदी बंदन बदन सोभा बिकसी।
तजि-तजि कुंज पुंज ऊपर मधुप-गुंज—
गुंजरत, मंजु-रव बोलैं बाल पिक-सी।
नीबी उकसाइ नेकु नयन हँसाय हँसि,
ससिमुखी सकुचि सरोवर तें निकसी॥ (देव)

आभिजात्य—

आनन पूरनचन्द लसै, अरबिंद-बिलास बिलोचन पेखे।
अंबर पीत लसै चपला, छवि अंबुद मेचक अंग उरेखे।
काम हूँ तें अभिराम महा, मतिराम हिए निहचै करि लेखे।
तें बरने निज बैनन सों, सखि मैं निज नैनन सों जनु देखे॥
(मतिराम)

विचित्र मार्ग के गुण

१. माधुर्य : विचित्र मार्ग के अन्तर्गत पदों के वैदग्ध्य-प्रदर्शक माधुर्य की रचना की जाती है जो शैथिल्य को छोड़कर रचना के सौंदर्य का वर्द्धक होता है। १।४४। इस परिभाषा के अनुसार वैचित्र्य के अंगभूत माधुर्य में सुकुमार मार्गगत माधुर्य की अपेक्षा दो तत्वों का विशेष-रूप से समावेश है — (१) वैदग्ध्य (२) शिथिलता का अभाव।

२. *प्रसाद : समस्त पदों से रहित तथा कवियों की रचना-शैली का प्रसिद्ध* अंग प्रसाद इस विचित्र मार्ग में ओज का किंचित् स्पर्श करता हुआ देखा जाता है। १।४५। अर्थात् सुकुमार मार्ग के प्रसाद गुण से विचित्र मार्ग के प्रसाद गुण में मूल अन्तर यह है कि यहाँ प्रसाद गुण में ओज का स्पर्श भी है; और ओज का मूल आधार है गाढ़बन्धत्व, अतएव विचित्र मार्ग के अंगभत प्रसाद गुण में समस्त पद-रचना

का अनिवार्यतः समावेश हो जाता है। कुन्तक द्वारा उदाहृत छंद इस धारणा को और भी स्पष्ट कर देता है :

अपांगगततारकाः स्तिमितपक्ष्मपालीभृतः
स्फुरत्सुभगकान्तयः स्मितसमुद्गतिद्योतिताः।
विलासभरमन्थरास्तरलकल्पितैकभ्रुवो
जयन्ति रमणोऽर्पिताः समदसुन्दरीदृष्टयः॥[1]

प्रसाद गुण का एक और लक्षण भी कुन्तक ने दिया है जो इस प्रकार है:—जहाँ वाक्य में पदों के समान अन्य व्यंजक वाक्य भी ग्रथित किये जाते हैं वह प्रसाद गुण का एक दूसरा ही प्रकार है। १।४६। इस लक्षण के अनुसार प्रसाद गुण का आधार है वाक्य-गुम्फ।

इस तरह कुन्तक के अनुसार विचित्र मार्गगत प्रसाद गुण के मूल तत्व हैं (१) गाढ़बन्धत्व (२) वाक्य-गुम्फ, और इस दृष्टि से यह न केवल सुकुमार मार्ग के ही प्रसाद गुण से भिन्न हो जाता है वरन् वामन तथा आनन्दवर्धन आदि के प्रसाद गुण से भी इसमें वैचित्र्य आ जाता है।

३. लावण्य : यहाँ अर्थात् इस विचित्र मार्ग में परस्पर-गुम्फित ऐसे पदों से जिनके अंत में विसर्गों का लोप नहीं होता और संयोग-पूर्वक ह्रस्व स्वर की बहुलता रहती है लावण्य की वृद्धि हो जाती है। १।४७। वास्तव में यह गुण भी विचित्र मार्ग के प्रसाद गुण की ही कोटि का है—रचना का रूप दोनों में मूलतः भिन्न नहीं है।

४. आभिजात्य : जो न तो अधिक कोमल छाया से युक्त हो और न अत्यन्त कठिन ही हो ऐसे प्रौढ़ि-निर्मित बन्ध-गुण को विचित्र मार्ग के अन्तर्गत आभिजात्य कहते हैं। १।४८।—इस गुण का आधार है प्रौढ़ रचना। प्रौढ़ि का यह स्वभाव है कि उसमें एक अपूर्व संतुलन तथा सामंजस्य रहता है। इसीलिए कुन्तक के इस गुण में न तो अत्यन्त श्रुति-पेशल वर्ण-योजना का आग्रह है और न उद्धत पद-रचना का ही : उसमें तो दोनों की सहज स्वीकृति है। उनके उदाहरण से इस गुण का स्वरूप सर्वथा स्पष्ट हो जाता है :

---

१. पाठक इन संस्कृत श्लोकों का अर्थ हिन्दी वक्रोक्तिजीवित में यथास्थान देख लें—यहाँ उनकी पद-रचना से ही प्रयोजन है, अतएव व्याख्या करना अनावश्यक है।

अधिकरतलतल्पं कल्पितस्वापलीला
परिमलननिमीलत्पाण्डिमा गण्डपाली
सुतनु कथय कस्य व्यंजयत्यंजसैव
स्मरनरपतिकेली—यौवराज्याभिषेकम् ॥[1]

इस श्लोक में ल, न आदि माधुर्य-व्यंजक कोमल और ण्ड, स्म आदि कठिन, संयुक्त वर्णों का संतुलित प्रयोग प्रौढ़ि का निदर्शक है।

मध्यम मार्ग के गुण

सुकुमार तथा विचित्र मार्गों की भाँति मध्यम मार्ग में भी उपर्युक्त चार गुणों की अपनी पृथक् सत्ता होती है। कुन्तक ने इन गुणों के लक्षण न देकर केवल उदाहरण ही दिये हैं: परन्तु उन्होंने आरम्भ में कुछ ऐसे संकेत अवश्य कर दिये हैं जिनसे मध्यम-मार्गीय चारों गुणों का सामान्य रूप स्पष्ट हो जाता है:

माधुर्यादिगुणग्रामो वृत्तिमाश्रित्य मध्यमाम्।
यत्र कामपि पुष्णाति बन्धच्छायातिरिक्तताम् ॥ १।५०

अर्थात् यहाँ माधुर्य आदि गुण-समूह मध्यमा वृत्ति का अवलम्बन कर रचना के सौंदर्यातिशय को पुष्ट करता है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि मध्यम मार्ग के प्रत्येक गुण में सुकुमार तथा विचित्र मार्गों के उसी गुण की विशेषताओं का सन्तुलन रहता है अर्थात् मध्यम मार्ग के माधुर्य आदि गुणों की स्थिति सुकुमार मार्ग के माधुर्यादि तथा विचित्र मार्ग के माधुर्यादि गुणों की मध्यवर्ती है, उनमें दोनों की सौंदर्य-विवृत्तियों का समन्वय है।— इस सामान्य लक्षण के उपरान्त फिर प्रत्येक मार्ग का विशेष लक्षण करना अनावश्यक हो जाता है। वास्तव में मध्यम मार्ग का भी कुन्तक ने कोई विशेष लक्षण न कर उसे पूर्वोक्त दोनों मार्गों का मध्यवर्ती रूप ही माना है क्योंकि मध्यम अथवा उभयात्मक विशेषण अपने आप में इतना स्पष्ट है कि फिर उसकी व्याख्या की अपेक्षा नहीं रह जाती। यही कारण है कि कुन्तक ने मध्यम मार्ग के गुणों के लक्षण नहीं किये— उदाहरण मात्र देकर यह स्पष्ट कर दिया है कि इन गुणों में पूर्वोक्त दोनों रूपों की मध्यमा वृत्ति का अवलम्बन किया गया है।

---

१. पाठक इन संस्कृत श्लोकों का अर्थ हिन्दी वक्रोक्तिजीवित में यथास्थान देख लें— यहाँ उनकी पद-रचना से ही प्रयोजन है, अतएव व्याख्या करना अनावश्यक है।

विवेचन

कुन्तक का गुण-विवेचन निश्चय ही उनकी मौलिक प्रतिभा का द्योतक है। उन्होंने केवल नवीन गुणों की उद्भावना ही नहीं की, वरन् गुण के मूलभूत सिद्धान्त में भी संशोधन किया है। कुन्तक के गुण मार्गों के अंग हैं, आधार नहीं हैं—अर्थात् विशेष गुणों का सद्भाव मार्ग के स्वरूप तथा तारतम्य का निश्चय नहीं करता: *सभी मार्गों में चारों गुण स्वरूप-भेद से विद्यमान रहते हैं।* इस प्रकार गुणों की अधिकता या न्यूनता का प्रश्न नहीं उठता। इसके अतिरिक्त गुणों में किसी प्रकार का तारतम्य भी नहीं है क्योंकि सभी गुणों का एक-सा महत्व है और साथ ही सभी मार्गों के गुणों में भी स्वरूप का भेद है, सौंदर्य की मात्रा का नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि चारों गुणों का काव्य-सौंदर्य समान है, विभिन्न मार्गों के एक ही नाम के गुणों में भी केवल स्वरूप-भेद है: काव्य-सौंदर्य समान है, और तीनों मार्गों में गुणों की संख्या भी समान है। अतएव मार्गों का अपने-अपने प्रकृत रूप में समान महत्व स्वतःसिद्ध है—उनमें काव्य-सौंदर्य की मात्रा का भेद नहीं है, केवल प्रकृति का भेद है। कुन्तक का यह तर्क सर्वांग-पूर्ण है और उसके उपरान्त मार्गों के तारतम्य के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाता।

कुन्तक की दूसरी उद्भावना है गुणों की मार्ग-सापेक्ष्यता—उनके मत में गुणों की स्वतन्त्र अथवा निरपेक्ष स्थिति नहीं है, उनका स्वरूप मार्ग के अनुसार बदल जाता है। यह स्थापना वास्तव में विचारणीय है। क्या जीवन में माधुर्य आदि गुण व्यक्ति-सापेक्ष्य हैं? उदाहरण के लिए क्या सरल-सुकुमार व्यक्ति का प्रणय-व्यापार वैचित्र्य-प्रिय व्यक्ति के प्रणय-व्यापार से भिन्न होता है? क्या दोनों की चित्त-द्रुति भिन्न होती है? दोनों में मात्रा का भेद हो सकता है—अभिव्यक्ति का भेद हो सकता है, किन्तु मूल स्वरूप द्रुति का भेद कैसे हो सकता है? शकुन्तला और वासवदत्ता के प्रणय की अभिव्यक्ति तो भिन्न अवश्य थी—किन्तु प्रेमानुभूति की दशा में दोनों के मन की द्रुति तो मूलतः एक ही थी। कुन्तक का मत इसके विपरीत नहीं है क्योंकि एक तो वे गुण को अभिव्यक्ति का ही अंग मानते हैं, चित्त की अवस्था नहीं; दूसरे उन्होंने अतिरंजना के रूप में मात्रा-भेद का भी संकेत किया है:

> आभिजात्यप्रभृतयः पूर्वमार्गोदिता गुणः :
> अत्रातिशयमायान्ति जनिताहार्यसम्पदः ।

अर्थात् सुकुमार मार्ग के प्रसंग में पूर्वोक्त आभिजात्य आदि गुण विचित्र मार्ग में आहार्य-शोभा को प्राप्त कर अतिरंजित रूप में उपलब्ध होते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि सुकुमार मार्ग में माधुर्य आदि सहज होते हैं, यहाँ आहार्य तथा अतिरंजित। —(किन्तु अतिरंजना का अर्थ सौंदर्य का आधिक्य नहीं है—उस गुणविशेष का आतिशय्य ही है क्योंकि अधिक मधुर का अर्थ अधिक सुन्दर या अधिक उत्कृष्ट नहीं होता)।

वामन आदि अन्य देहवादियों की भाँति कुन्तक भी गुण को मूलतः रचना का ही अंग मानते हैं। अपने अधिकांश गुणों के विवेचन में उन्होंने वर्ण-विन्यास, ह्रस्व-दीर्घ अक्षरों की मैत्री, पद-रचना, समास, वाक्य-गुम्फ आदि का ही आधार ग्रहण किया है: केवल एक स्थान पर—सुकुमार मार्ग के आभिजात्य गुण के प्रसंग में उन्होंने चित्त का उल्लेख किया है :—'सुखद स्पर्श के समान चित्त से छूता हुआ-सा'। इससे दो निष्कर्ष सम्भव हैं एक तो यह कि उपर्युक्त वर्णन केवल लाक्षणिक है, दूसरा यह कि मूलतः देहवादी होते हुए भी कुन्तक ने जिस प्रकार रस के प्रति सर्वत्र अनुराग व्यक्त किया है इसी प्रकार गुण को रचना का अंग मानते हुए भी उन्होंने उसके आन्तरिक चित्तवृत्ति-रूप की सर्वथा उपेक्षा नहीं की। इनमें से कोई-सा भी निष्कर्ष ठीक हो किन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि कुन्तक का मत वामन के मत के ही अधिक निकट है। जैसा कि हम वामन के गुण-विवेचन के प्रसंग में स्पष्ट कर चुके हैं, गुण मूलतः चित्तवृत्ति-रूप है—किन्तु व्यवहार में उनके रचनागत आधार अर्थात् वर्ण-योजना, पद-विन्यास, समास आदि को भी आधार-रूप में मान्यता देना अनिवार्य हो जाता है। इस दृष्टि से कुन्तक का मत भी उसी अनुपात में अशुद्ध है जिस अनुपात में कि वह गुण के आन्तरिक रूप की उपेक्षा करता है।

गुणों के स्वरूप-विश्लेषण में भी कुन्तक की धारणाएँ अधिक स्पष्ट तथा मान्य नहीं है। सुकुमार मार्ग के अन्तर्गत लावण्य और आभिजात्य में और विचित्र मार्ग के अन्तर्गत प्रसाद तथा लावण्य में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। विचित्र-मार्गगत प्रसाद में विसर्गों का अलोप मुख्य आधार माना गया है, इसका अभिप्राय यह हुआ कि हिन्दी आदि भाषाओं में जहाँ विसर्ग का प्रयोग बहुत कम है, इस गुण की स्थिति ही प्रायः सम्भव नहीं है। तब फिर इसे काव्य का मौलिक गुण कैसे माना जाय? सामान्य गुणों में सौभाग्य की लावण्य और आभिजात्य आदि गुणों से अतिरिक्त क्या स्थिति रह जाती है, यह कहना कठिन है। और फिर, ओज का सर्वथा त्याग किसी प्रकार संगत नहीं है—स्वभाव को आधार मानने पर भी ओज का पृथक् महत्व किसी

भाँति कम नहीं होता। वास्तव में ओज की स्थिति लावण्य तथा आभिजात्य गुणों की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट तथा मौलिक है। इस प्रकार गुणों के सम्बन्ध में कुन्तक की उद्भावनाएँ अधिक तर्क-पुष्ट नहीं हैं : आनन्दवर्धन के गुण-निरूपण में वे कोई सुधार नहीं कर सके, उनकी अपेक्षा मम्मट और जगन्नाथ का विवेचन अधिक ग्राह्य हुआ।

वामन और कुन्तक के विचारों की पारस्परिक संगति

कुन्तक के रीति-सम्बन्धी विचारों का उचित मूल्यांकन करने के लिए यह आवश्यक है कि वामन के रीति-सिद्धान्त के प्रकाश में उनकी परीक्षा की जाय।

रीति के लक्षण तथा स्वरूप के विषय में कुन्तक का मत वामन के मत से मूलतः भिन्न नहीं है। कुन्तक के अनुसार काव्य-रचना की विधि का नाम मार्ग या रीति है, और वामन ने भी उसे विशिष्ट पद-रचना माना है। इस प्रकार दोनों आचार्यों के मत में रचना-विधि ही रीति है।

लक्षणों की शब्दावली से साधारणतः कुछ ऐसा आभास मिलता है कि कुन्तक के मार्ग का स्वरूप वामनीया रीति की अपेक्षा अधिक व्यापक है—कुन्तक का मार्ग काव्य-रचना की विधि है और वामन की रीति केवल पद-रचना है। परन्तु कुन्तक के सम्पूर्ण विवेचन की परीक्षा करने पर इस भ्रम का निराकरण हो जाता है,—और इसके प्रमाण ये हैं : (१) कुन्तक ने मार्गों का विवेचन बन्ध के प्रसंग में किया है :

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि बन्धे व्यवस्थितौ काव्यम्…… ।

यह कुन्तक का काव्य-लक्षण है। क्रमशः इसके 'शब्द' 'अर्थ' 'सहितौ' 'वक्र' 'कवि-व्यापार' आदि की व्याख्या करने के उपरांत 'बन्ध' अर्थात् रचना के प्रसंग में ही मार्गों की विवेचना की गई है। (२) मार्गों के समस्त गुणों के निरूपण में बन्ध अर्थात् पद-रचना के ही तत्वों का विवेचन है, रचना के व्यापक रूपों का जैसे प्रबन्ध-रचना, प्रकरण-रचना आदि का कोई उल्लेख नहीं है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि बन्ध का अर्थ यहाँ प्रायः पद-रचना ही है।

आधार के विषय में कुन्तक का वामन से पर्याप्त मत-भेद है। जहाँ तक प्रादेशिक आधार का प्रश्न है दोनों ने प्रायः एक ही स्वर से उसे अमान्य घोषित किया है। कुन्तक ने वामन पर प्रादेशिक आधार को मान्यता देने का दोषारोप किया

है, पर यह उनका भ्रम है : वामन ने स्पष्ट शब्दों में प्रादेशिक आधार का निषेध किया है। किन्तु इसके अतिरिक्त भी दोनों के मतों में पर्याप्त वैषम्य है। वामन ने जहाँ गुण को रीति का आधार माना है, वहाँ कुन्तक ने स्वभाव को—वामन ने गुणों की न्यूनाधिकता के आधार पर वैदर्भी, गौड़ी आदि रीतियों का निरूपण तथा मूल्यांकन किया है, किन्तु कुन्तक ने स्वभाव को प्रमाण मानते हुए तीनों मार्गों में समाव गुणों की स्थिति स्वीकार की है। उधर तारतम्य के विषय में तो दोनों के मन्तव्य सर्वथा विपरीत हैं : वामन ने समग्र-गुण-भूषिता वैदर्भी को वास्तव में काव्य की मूल रीति स्वीकार किया है—अन्य को काव्योचित नहीं माना, यहाँ तक कि अभ्यास के लिए भी उनकी उपादेयता स्वीकार नहीं की। इसके विपरीत कुन्तक ने तारतम्य का सर्वथा निषेध किया है—उनके मत से रीतियों में काव्य-सौंदर्य की मात्रा का भेद नहीं है, प्रकार का या प्रकृति का भेद है।

रीतियों के स्वरूप के विषय में प्राचीन और नवीन पण्डितों का प्रायः यह मत रहा है कि कुन्तक के सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम मार्ग क्रमशः वामनीया वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली के पर्याय मात्र हैं। परन्तु यह समंजन वास्तव में अधिक संगत नहीं है। कुन्तक के मत को अनादृत करने के लिए कदाचित् परवर्ती आचार्यों ने उचित विचार के बिना ही उनके मार्गों का वामनीया रीतियों में अन्तर्भाव कर दिया है। लक्षणों का विश्लेषण करने पर कुन्तकीय मार्गों तथा वामनीया रीतियों का स्वरूप-भेद स्पष्ट हो जाता है। सबसे प्रथम तो वैदर्भी रीति और सुकुमार मार्ग को लीजिए। वामन के अनुसार वैदर्भी रीति समग्र-गुण-सम्पन्न है और इस प्रकार आदर्श काव्य की समानार्थी है—कुन्तक सुकुमार मार्ग के लिए ऐसा कोई दावा नहीं करते। कुन्तक के सुकुमार मार्ग की आत्मा है स्वाभाविकता, वह सहज प्रतिभा की सृष्टि है और आहार्य कौशल का उसमें अभाव है। वामन के वैदर्भी-लक्षण में पूरा बल समस्त गुणों के सद्भाव और दोषों के एकान्त अभाव पर ही दिया गया है, उसमें कहीं आहार्य कौशल की अस्वीकृति नहीं है : वरन् समग्र-गुण-भूषिता होने से उसमें स्वाभाविक तथा आहार्य दोनों प्रकार की शोभा का समावेश अनिवार्य है। इस वैषम्य के अतिरिक्त दोनों में पर्याप्त साम्य भी है : दोनों ही रस-निर्भरा हैं, दोनों में मधुर—कोमल, परुष तथा प्रसन्न आदि सभी वृत्तियों का समावेश है और दोनों का प्रतिनिधि कवि कालिदास है। किन्तु फिर भी समग्रतः उनमें साम्य की अपेक्षा वैषम्य ही अधिक है, अतएव दोनों को समानार्थी मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। विचित्र मार्ग और गौड़ीया रीति में भी कम असमानता नहीं है : वास्तव में दोनों का मूलवर्ती दृष्टिकोण

ही भिन्न है। इसमें सन्देह नहीं कि दोनों में रचनागत साम्य भी पर्याप्त है अर्थात् समास-बहुलता, गाढ़-बन्धत्व, वाक्य-गुम्फ, अलंकार का प्राचुर्य आदि तत्व दोनों में समान हैं और दोनों के प्रतिनिधि कवि बाणभट्ट आदि भी समान हैं। परन्तु वामन की गौड़ीया जहाँ अग्राह्य है, वहाँ कुन्तक का विचित्र मार्ग अपने ढंग से उतना ही काम्य है जितना सुकुमार मार्ग; उसमें भी रमणीयता की पराकाष्ठा रहती है। कुन्तक ने इसके प्रयोग को 'खड्गधारापथ' विशेषण द्वारा प्रशस्ति की है। वामन के परवर्ती आनन्दवर्धन, मम्मट आदि की परुषा वृत्ति का, जिसे गौड़ीया की समानार्थी माना गया है, मनोवैज्ञानिक आधार सर्वथा भिन्न है : उसका प्राण-तत्व है ओजस् जो मूलतः चित्त की दीप्ति-रूप है। चित्त की दीप्ति-रूप ओजस् और विचित्र स्वभाव अथवा वैचित्र्य-प्रेम दोनों की सत्ता अलग-अलग है। विचित्र स्वभाव सहज स्वभाव का विपर्यय तो अवश्य है, परन्तु ओजस्वी का पर्याय नहीं है : ओजस् सहज स्वभाव का भी उतना ही घनिष्ठ अंग हो सकता है जितना विचित्र का। अतएव बाह्य, पद-रचनागत साम्य के आधार पर दोनों का एकीकरण संगत नहीं है। निष्कर्ष यह है कि परवर्ती रस-ध्वनि-वादियों की परुषा वृत्ति उपनाम गौड़ीया रीति तथा कुन्तक के विचित्र मार्ग की तो कल्पना का आधार ही भिन्न है। हाँ, वामन का दृष्टिकोण चूँकि वस्तु-परक है—इस दृष्टि से उनकी 'ओजः—कान्तिमती गौड़ी'—जो गाढ़-बन्धत्व, नृत्य-सी करती हुई पद-रचना, संगुम्फित विचारधारा तथा रस-दीप्ति आदि से सम्पन्न होती है—सहज 'सुकुमार' से भिन्न तथा 'विचित्र' के निकट अवश्य है। परन्तु उनके भी दृष्टिकोण का मौलिक भेद, जिसके अनुसार गौड़ीया अग्राह्य रीति है, विचित्र मार्ग और गौड़ीया रीति की अभेद-कल्पना को सर्वथा विफल कर देता है।—तीसरे मार्ग अर्थात् मध्यम मार्ग और पांचाली रीति में लगभग कोई साम्य नहीं है, कुन्तक के मध्यम मार्ग में भी रमणीयता की वैसी ही पराकाष्ठा है, जैसी सुकुमार अथवा विचित्र मार्ग में; सामान्य रसिक नहीं अरोचकी, अर्थात् ऐसे रसिक जो सदा असाधारण सौंदर्य की कामना करते हैं, इसी मध्यम मार्ग से संतुष्ट होते हैं। किन्तु वामन की पांचाली रीति 'विच्छाया'[1] है। वामन की पांचाली में जहाँ केवल माधुर्य और सौकुमार्य का समावेश है, वहाँ कुन्तक का मध्यम मार्ग चारों गुणों से ही विभूषित नहीं है वरन् आहार्य तथा स्वाभाविक दोनों प्रकार की शोभा का सुन्दर समंजन है। वामन के परवर्ती आचार्यों ने रीति और वृत्ति का एकीकरण करते हुए पांचाली रीति को प्रसाद-गुणमयी कोमला वृत्ति की समानार्थी माना है। शिंगभूपाल ने वामनीया रीतियों के नाम ही बदल दिये हैं : उनके अनुसार वामन की वैदर्भी कोमला, गौड़ी कठिना और पांचाली मिश्रा हो

१. विच्छाया च—का० सू० १।२।१२ की वृत्ति।

जाती है। इस प्रकार समंजन का यह प्रयत्न संस्कृत काव्य-शास्त्र में नियमित रूप से चल रहा था। अतएव कुन्तक का मध्यम मार्ग यदि पांचाली का प्रतिरूप माना गया तो इसमें विशेष आश्चर्य नहीं है—क्यों कि शिंगभूपाल आदि ने भी पांचाली को मिश्रा ही माना था। फिर भी, स्थिति चाहे कुछ भी रही हो, एकीकरण का यह प्रयत्न विशेष संगत तथा तर्क-पुष्ट नहीं था; वास्तव में परवर्ती आचार्यों ने कुन्तक का धैर्य-पूर्वक अध्ययन नहीं किया था।—ग्रन्थ के लुप्त हो जाने से यह सम्भव नहीं था।

कुन्तक के गुणों का स्वरूप भी स्वभावतः वामन आदि के गुणों के स्वरूप से अत्यन्त भिन्न है। सुकुमार मार्ग के माधुर्य और प्रसाद गुण तो वामन के शब्द-गुण माधुर्य तथा शब्द-गुण प्रसाद से बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। कुन्तक के सुकुमार-मार्गीय माधुर्य गुण का प्राण है 'समास-रहित मनोहर पदों का विन्यास' और उधर वामन का माधुर्य भी पृथक्पदत्व का ही नाम है। कुन्तक का सुकुमार-मार्गगत प्रसाद वामन के शब्द-गुण अर्थव्यक्ति तथा अर्थ-गुण प्रसाद का समतुल्य है। सुकुमार-मार्ग के लावण्य और आभिजात्य नाम से तो सर्वथा मौलिक गुण हैं, परन्तु स्वरूप की दृष्टि से वे वामन के कान्ति, उदारता तथा सौकुमार्य नामक शब्द-गुणों से मिलते-जुलते हैं। सुकुमार-मार्गगत लावण्य में जो वर्ण-झंकार है वही वामन के शब्द-गुण 'कान्ति' में है जहाँ उज्ज्वल पदरचना का चमत्कार रहता है, और वही शब्दगुण 'उदारता' में भी है जिसमें पद नृत्य-सा करते हैं। सुकुमारगत आभिजात्य का प्राण है स्निग्ध पद-रचना जिसका वामन के दो शब्द-गुणों में अन्तर्भाव है—श्लेष में जिसका आधार है मसृणत्व, जहाँ अनेक पद एक-से प्रतीत होते हैं, और सौकुमार्य में जहाँ पद-रचना कोमल होती है।

विचित्र-मार्गगत गुणों की स्थिति और भी भिन्न है। माधर्य तो, जिनमें पृथक्पदत्व के अतिरिक्त शैथिल्य का अभाव तथा वैदग्ध्य का सद्भाव रहता है, वामन के उपर्युक्त उदारता नामक शब्द-गुण के निकट है जहाँ पद नृत्य-सा करते हैं—क्यों कि पदों का नर्तन तभी सम्भव है जब पद-रचना शैथिल्य-रहित तथा वैदग्ध्य-पूर्ण हो। प्रसाद में कुन्तक ने ओज अर्थात् गाढ़-बन्धत्व और उधर वाक्य-गुम्फ का समावेश कर उसे एक ऐसा नवीन रूप प्रदान कर दिया है जो वामन तथा आनन्दवर्धनादि के प्रसाद से तो एकान्त भिन्न है किन्तु वामनीया ओज के शब्द-गुण रूप तथा अर्थ-गुण रूप दोनों के निकट है। विचित्र मार्ग का लावण्य गुण भी वामन के शब्द-गुण ओज या दण्डी के शब्द-गुण श्लेष की परिधि में आ जाता है; आभिजात्य ऐसे प्रौढ़ि-निर्मित बन्ध-गुण का नाम है जो न तो अधिक कोमल छाया से युक्त हो और न अत्यन्त कठिन ही हो। यह

'विचित्र' गुण वास्तव में वामन के किसी गुण की अपेक्षा दण्डी के सौकुमार्य गुण के अधिक सन्निकट है जिसमें एक ओर अतिनिष्ठुर वर्णों का और दूसरी ओर रचना में शैथिल्य उत्पन्न करने वाले अति कोमल वर्णों का त्याग, अथवा—दूसरे शब्दों में—कोमल तथा परुष वर्णों का रमणीय संतुलन रहता है।[1] वामन के गुणों में शब्द-गुण समाधि से ही इस गुण का थोड़ा-बहुत साम्य है क्यों कि समाधि में भी कोमल तथा परुष वर्णों की संयोजना द्वारा रचना में आरोह-अवरोह का चमत्कार उत्पन्न किया जाता है। मध्यम मार्ग के गुणों की स्थिति मध्यवर्ती है—उनमें सुकुमार तथा विचित्र मार्गों के गुणों की विशेषताओं का मिश्रण रहता है, अतएव उनका पृथक् विवेचन अनावश्यक है।

वक्रोक्ति और रीति-सिद्धान्त

संस्कृत काव्य-शास्त्र में ये दोनों देहवादी सिद्धान्त माने गये हैं क्यों कि इनमें से एक में अंगसंस्थानवत् रीति को और दूसरे में अलंकृति-रूप वक्रोक्ति को ही काव्य का जीवन-सर्वस्व माना गया है। इसमें संदेह नहीं कि इन दोनों सिद्धान्तों का आधारभूत दृष्टिकोण वस्तु-परक है किन्तु दोनों की वस्तु-परकता में मात्रा-भेद है। रीति-सिद्धान्त में जहाँ रचना-नैपुण्य मात्र को ही काव्य-सर्वस्व मानकर व्यक्ति-तत्व की लगभग उपेक्षा कर दी गयी है, वहाँ वक्रोक्ति में स्वभाव को मूर्धन्य पर स्थान दिया गया है। व्यक्ति-तत्व के इसी मात्रा-भेद के अनुपात से रस तथा ध्वनि के प्रति दोनों के दृष्टिकोण में भेद है। रीति की अपेक्षा वक्रोक्ति-सिद्धान्त की रस और ध्वनि दोनों के प्रति अधिक निष्ठा है: रीति-सिद्धान्त के अन्तर्गत रस को बीस गुणों में से केवल एक गुण अर्थ-कान्ति का अंग मानकर सर्वथा अमुख्य स्थान दिया गया है, किन्तु वक्रोक्ति-सिद्धान्त में प्रबन्ध-वक्रता, वस्तु-वक्रता आदि प्रमुख भेदों का प्राण-तत्व मानकर रस को निश्चय ही अत्यन्त महत्व प्रदान किया गया है। और वास्तव में यह स्वाभाविक भी था क्यों कि वक्रोक्ति-सिद्धान्त की स्थापना तक ध्वनि अथवा रस-ध्वनि सिद्धान्त का व्यापक प्रचार हो चुका था और कुन्तक के लिए उसके प्रभाव से मुक्त रहना संभव नहीं था। इस प्रकार रस और ध्वनि के साथ वक्रोक्ति का रीति की अपेक्षा निश्चय ही अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है।—फिर भी दोनों में मूल साम्य यह है कि दोनों काव्य को कौशल या नैपुण्य ही मानते हैं, सृजन नहीं: दोनों के मत से काव्य रचना है, आत्माभिव्यक्ति नहीं है।

---

१. अनिष्ठुराक्षरप्रायं सुकुमारमिहेष्यते।
बन्धशैथिल्यदोषोपि दर्शितः सर्वकोमले॥ (काव्यादर्श १।६९।)

रीति तथा वक्रोक्ति के आधार-तत्व, अंग-उपांग, भेद-प्रभेद आदि का तुलनात्मक विवेचन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वक्रोक्ति का कलेवर निश्चय ही रीति की अपेक्षा कहीं व्यापक है। रीति की परिधि जहाँ पद-रचना तक ही सीमित है वहाँ वक्रोक्ति की परिधि में प्रकरण-रचना, प्रबन्ध-कल्पना आदि का भी यथावत् समावेश है: रीति की परिधि में, वास्तव में वक्रोक्ति के प्रथम चार भेद अर्थात् वर्णविन्यास-वक्रता, पदपूर्वार्ध-वक्रता, पदपरार्ध-वक्रता तथा वाक्य-वक्रता ही आते हैं। वामन प्रबन्ध-कौशल के महत्व से अनभिज्ञ नहीं थे—उन्होंने मुक्तक की अपेक्षा प्रबन्ध-रचना को अधिक मूल्यवान माना है:

क्रमसिद्धिस्तयोः स्रगुत्तंसवत्। १।३।२८

नानिबद्धं चकास्त्येकतेजः परमाणुवत्। २।३।२९

अर्थात् माला और उत्तंस के समान उन दोनों (मुक्तक और प्रबन्ध) की सिद्धि क्रमशः होती है। १।३।२८।

जैसे अग्नि का एक परमाणु नहीं चमकता है इसी प्रकार अनिबद्ध अर्थात् मुक्तक काव्य प्रकाशित नहीं होता है। १।३।२६।

उपर्युक्त सूत्रों से इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि वामन के मन में प्रबन्ध-रचना के प्रति कितना आदर है। फिर भी प्रबन्ध में भी वे रीति अर्थात् पद-रचना के नैपुण्य को ही प्रमाण मानते हैं—निबद्ध काव्य का महत्व उनकी दृष्टि में कदाचित् इसीलिए अधिक है कि उसमें विशिष्ट पद-रचना की निरन्तर शृंखला रहती है, इसलिए नहीं कि उसमें जीवन के व्यापक और महत् तत्वों के *विराट कल्पना-विधान* के लिए विस्तृत क्षेत्र है। इस दृष्टि से कुन्तक की वक्रोक्ति का आधार निश्चय ही अधिक व्यापक और उसकी परिधि अधिक विस्तृत है। आधुनिक आलोचना-शास्त्र की शब्दावली में यह कहना असंगत न होगा कि वक्रोक्ति वास्तव में काव्य-कला[1] की समानार्थी है और रीति काव्य-शिल्प[2] की; इस प्रकार वामन की रीति वक्रोक्ति का एक अंग मात्र रह जाती है—और मैं समझता हूँ इन दोनों सिद्धान्तों के अन्तर का सार यही है।

---

१. पोयटिक आर्ट २. पोयटिक क्राफ्ट

वक्रोक्ति और ध्वनि

१. स्वरूपगत साम्य

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय का जन्म वास्तव में प्रत्युत्तर-रूप में हुआ था। काव्यात्मवाद के विरुद्ध देहवादियों का यह अन्तिम विफल विद्रोह था। काव्य के जिन सौंदर्य-भेदों की आनन्दवर्धन ने ध्वनि द्वारा आत्म-परक व्याख्या की थी, उन सभी की कुन्तक ने अपनी अपूर्व मेधा के बल पर वक्रोक्ति के द्वारा वस्तु-परक विवेचना प्रस्तुत करने की चेष्टा की। इस प्रकार वक्रोक्ति प्रायः ध्वनि की वस्तुगत परिकल्पना-सी प्रतीत होती है।

उपर्युक्त तथ्य को हम उद्धरणों द्वारा पुष्ट करते हैं। आनन्दवर्धन ने ध्वनि की परिभाषा इस प्रकार की है :

जहाँ अर्थ स्वयं को तथा शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके 'उस अर्थ को' प्रकाशित करते हैं, उस काव्यविशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है। (ध्व० १।१३) 'उस अर्थ' से क्या तात्पर्य है ?

प्रतीयमान कुछ और ही चीज है जो रमणियों के प्रसिद्ध (मुख, नेत्र, श्रोत्र, नासिकादि) अवयवों से भिन्न (उनके) लावण्य के समान महाकवियों की सूक्तियों में (वाच्य अर्थ से अलग ही) भासित होता है। (ध्व० १।४)

उस स्वादु अर्थ को बिखेरती हुई बड़े-बड़े कवियों की सरस्वती अलौकिक तथा प्रतिभासमान प्रतिभाविशेष को प्रकट करती है। (ध्व०।१६)

अतएव यह विशिष्ट अर्थ अलौकिक प्रतिभाजन्य है, स्वादु है, वाच्य से भिन्न कुछ विचित्र वस्तु है और प्रतीयमान है।

अब कुन्तक-कृत वक्रोक्ति की परिभाषा लीजिए :—'प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र अभिधा अर्थात् वर्णन-शैली ही वक्रोक्ति है। —यह कैसी है ? वैदग्ध्य-पूर्ण शैली द्वारा उक्ति। वैदग्ध्य का अर्थ है कविकर्म-कौशल।' + + (व० जी० १।१० की

वृत्ति) । प्रसिद्ध कथन से भिन्न का अर्थ है (१) 'शास्त्र आदि में उपनिबद्ध शब्द-अर्थ के सामान्य प्रयोग से भिन्न' तथा (२) 'प्रचलित (सामान्य) व्यवहार-सरणि का अतिक्रमण करने वाला ।'

इन दोनों परिभाषाओं का तुलनात्मक परीक्षण करने पर ध्वनि और वक्रोक्ति का साम्य सहज ही स्पष्ट हो जाता है ।

१. दोनों में प्रसिद्ध वाच्य अर्थ और वाचक शब्द का अतिक्रमण है : आनन्द-वर्धन का सूत्र 'यत्रार्थः शब्दो वा···उपसर्जनीकृतस्वार्थौ' (जहाँ अर्थ अपने आपको और शब्द अपने अर्थ को गौण करके) ही कुन्तक की शब्दावली में 'शास्त्रादिप्रसिद्ध-शब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकि' (शास्त्रादि में उपनिबद्ध शब्द-अर्थ के प्रसिद्ध अर्थात् सामान्य प्रयोग से भिन्न) का रूप धारण कर लेता है । इस प्रकार ध्वनि और वक्रोक्ति दोनों में साधारण का त्याग और असाधारण की विवक्षा है ।

२. ध्वनि और वक्रोक्ति दोनों में वैचित्र्य की समान वांछा है—आनन्द ने 'अन्यदेव वस्तु' के द्वारा और कुन्तक ने 'विचित्रा अभिधा' के द्वारा इसको स्पष्ट किया है ।

३. दोनों आचार्य इस वैचित्र्य-सिद्धि को अलौकिक प्रतिभा-जन्य मानते हैं ।

किन्तु यह सब होते हुए भी दोनों में मूल दृष्टि का भेद है : ध्वनि का वैचित्र्य अर्थ-रूप होने से आत्म-परक है, उधर वक्रोक्ति का वैचित्र्य अभिधा-रूप अर्थात् उक्ति-रूप होने के कारण मूलतः वस्तु-परक है ।—इसीलिए हमारी स्थापना है कि वक्रोक्ति प्रायः ध्वनि की वस्तुपरक परिकल्पना ही है ।

(२) भेद-प्रस्तारगत साम्य :

स्वरूप की अपेक्षा ध्वनि तथा वक्रोक्ति के भेद-प्रस्तार में और भी अधिक साम्य है । जिस प्रकार आनन्दवर्धन ने ध्वनि में काव्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयव से लेकर व्यापक से व्यापक रूप का भी अन्तर्भाव कर उसको सर्वांगपूर्ण बनाने की चेष्टा की

---

१. शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकि व० जी० ।

२. प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकि व० जी० ।

थी, वैसे ही कुन्तक ने बहुत-कुछ उनकी पद्धति का ही अवलम्बन कर वक्रोक्ति में काव्य के सभी अवयवों का समावेश कर उसे भी सर्व-व्यापक रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार वक्रोक्ति और ध्वनि में स्पष्ट सहव्याप्ति है : ध्वनि का चमत्कार जैसे सुप्, तिङ्, वचन, कारक, कृत, तद्धित, समास, उपसर्ग, निपात, काल, लिंग, रचना, अलंकार, वस्तु तथा प्रबन्ध आदि में है, वैसे ही वक्रोक्ति का विस्तार भी पद-पूर्वार्ध और पद-परार्ध से लेकर प्रकरण तथा प्रबन्ध तक है। वास्तव में ध्वनि के आत्म-परक सौंदर्य-भेदों की कुन्तक ने वस्तु-परक व्याख्या करने का ही प्रयत्न किया है, इसलिए उनके विवेचन की रूप-रेखा अथवा योजना बहुत-कुछ वही है जो ध्वनिकार ने अपनी स्थापनाओं के लिए बनाई थी।

ध्वनि तथा वक्रोक्ति के भेदों का तुलनात्मक विवरण देने से यह धारणा *सर्वथा स्पष्ट हो जायगी। वक्रोक्ति का सर्वप्रथम भेद है वर्णविन्यास-वक्रता* जिसका चमत्कार वर्ण-रचना पर आश्रित है। इसी को आनन्दवर्धन ने वर्ण-ध्वनि अथवा रचना-ध्वनि कहा है।

पदपूर्वार्ध-वक्रता और ध्वनि :

पदपूर्वार्ध-वक्रता के अन्तर्गत रूढ़िवैचित्र्य-वक्रता, पर्याय-वक्रता, उपचार-वक्रता, विशेषण-वक्रता, संवृत्ति-वक्रता, वृत्ति-वक्रता, लिंगवैचित्र्य-वक्रता और क्रियावैचित्र्य-वक्रता—ये आठ भेद हैं, इनमें से अधिकांश का ध्वनि के विभिन्न रूपों में सहज ही अन्तर्भाव हो जाता है—अथवा यह कहिये कि अधिकांश ध्वनि-भेदों के रूपान्तर हैं। रूढ़िवैचित्र्य-वक्रता लक्षणामूला ध्वनि के अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य भेदों का ही रूपान्तर है—यहाँ तक कि कुन्तक ने अपने दोनों उदाहरण भी ध्वन्यालोक से ही लिए हैं :

(१) ताला जाअन्ति गुणा जाला दे सहिअएहि घेप्पन्ति।
रइ किरणाणुग्गहिआइं होन्ति कमलाइं कमलाइं॥

अर्थात्

तब ही- गुन सोभा लहैं, सहृदय जबहिं सराहिं।
कमल कमल हैं तबहिं जब, रविकर सों बिकसाहिं॥

(२) कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे।
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव॥

अर्थात्

मैं कठोर-हृदय राम हूँ, सब कुछ सह लूंगा। परन्तु सीता की क्या दशा होगी ?—हा देवि ! धैर्य रखना।

उपर्युक्त प्रथम उदाहरण में कमल में और द्वितीय में राम पद में चमत्कार है। इसी को आनन्दवर्धन ने अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य ध्वनि और कुन्तक ने रूढ़िवैचित्र्य-वक्रता नाम से अभिहित किया है।

पदपूर्वार्ध-वक्रता के अन्य भेदों का ध्वनि में समाहार : पदपूर्वार्ध-वक्रता के अन्य भेदों का भी ध्वनि में सहज ही समाहार हो जाता है। जैसे पर्याय-वक्रता पर्याय-ध्वनि का रूपान्तर मात्र है, पारिभाषिक शब्दावली में जिसे शब्दशक्ति-मूला अनुरणनरूपव्यंग्य-पदध्वनि कहते हैं। स्वयं कुन्तक ने इसी तथ्य को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है :

एष एव शब्दशक्तिमूला अनुरणनरूपव्यंग्यस्य पदध्वनेर्विषय :
(व० जी० २।१२ वृत्ति भाग)।

उपचार-वक्रता भी स्पष्टतः लक्षणा-मूला ध्वनि के द्वितीय भेद अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्य-ध्वनि की समानार्थी है : दोनों में उपचार अर्थात् लक्षणा का ही चमत्कार है। उधर संवृति-वक्रता तो ध्वनन अथवा व्यंजना पर ही पूर्णतया आश्रित है : यहाँ सांकेतिक सर्वनाम आदि के द्वारा रमणीय अर्थ की व्यंजना रहती है। पारिभाषिक दृष्टि से यह भी अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य के ही अन्तर्गत आती है; इसमें भी सर्वनाम आदि सांकेतिक शब्दों पर कमनीया अर्थों का अध्यारोप रहता है—ध्वनिवाद की दृष्टि से अनेक कमनीय अर्थों का ध्वनन किया जाता है। वृत्तिवैचित्र्य-वक्रता समास-ध्वनि के समतुल्य है :

सुप्तिङ्वचनसम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः।
कृत्तद्धितसमासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित् ॥ ध्व० ३।१६।

ध्वन्यालोक की इस कारिका में जिन कृत्तद्धित समास-ध्वनि रूपों की विवृत्ति है, वे वृत्तिवैचित्र्य-वक्रता के ही समानान्तर हैं। लिंग का उल्लेख आनन्दवर्धन ने यहाँ पृथक् रूप से नहीं किया किन्तु उनके उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि लिंग पर आश्रित रमणीय अर्थ-संकेतों से वे अपरिचित नहीं थे। उपर्युक्त कारिका में भी वचन, कारक आदि का तो स्पष्ट संकेत है ही—साथ ही 'च' के द्वारा निपात, उपसर्ग, काल

आदि की व्यंजना भी आनन्दवर्धन ने अपने आप स्वीकार की है : 'च शब्दात् निपातोपसर्ग-कालादिभिः प्रयुक्तैरभिव्यज्यमानो दृश्यते।' वास्तव में उपर्युक्त भेद उपलक्षण मात्र हैं—आनन्दवर्धन ने लिंग, प्रत्यय आदि सभी में ध्वनि के चमत्कार की व्यंजना-क्षमता मानी है। इस प्रकार लिंगवैचित्र्य-वक्रता लिंग-ध्वनि की पर्याय सिद्ध होती है। शेष दो भेदों—विशेषण-वक्रता तथा क्रियावैचित्र्य-वक्रता—की स्थिति एकान्त स्वतन्त्र नहीं है—विशेषण-वक्रता को पर्याय-वक्रता का ही एक रूप मानना अनुचित न होगा : इस प्रकार वह तो पर्याय-ध्वनि के अन्तर्गत आ जाती है : वैसे 'च' शब्द के आधार पर विशेषण-ध्वनि की कल्पना भी असंगत नहीं होगी। क्रियावैचित्र्य-वक्रता के अन्तर्गत भी अनेक वक्रता-रूपों का संक्रमण है; उपचार-मनोज्ञता उपचार-वक्रता को।समतुल्य होने के कारण अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि के अन्तर्गत आती है। कर्मादि-संवृति संवृति-वक्रता से अधिक भिन्न नहीं है, अतः उसका तो ध्वनि के साथ सहज सम्बन्ध ही है। क्रियाविशेषण-वक्रता भी विशेषण-वक्रता और उसके आगे पर्याय-वक्रता के निकट पहुँच जाती है और अन्त में पर्याय-ध्वनि से मिल जाती है।

पदपरार्ध-वक्रता और ध्वनि

पदपरार्ध-वक्रता के भी लगभग आठ ही भेद हैं : वैचित्र्य-वक्रता, कारक-वक्रता, वचन-वक्रता, पुरुष-वक्रता, उपग्रह-वक्रता, प्रत्यय-वक्रता, उपसर्ग-वक्रता और निपात-वक्रता। इनमें से प्रत्यय, काल, कारक, वचन, उपसर्ग, निपात का तो ध्वनिकार की उपर्युक्त कारिका में स्पष्ट उल्लेख ही है; शेष दो, पुरुष और उपग्रह को भी, 'च' में गर्भित माना जा सकता है। काल, कारक, प्रत्यय आदि के जिन चमत्कारों को ध्वनिकार ने व्यक्ति-निष्ठ मानकर ध्वनि के भेद-प्रभेदों में स्थान दिया है, उन्हीं को कुन्तक ने वस्तु-निष्ठ मानते हुए वक्रता-भेदों में परिगणित कर लिया है। चमत्कार वे ही हैं, केवल उन्हें परखने का दृष्टि-भेद है।

वस्तु-वक्रता और वस्तु-ध्वनि

वस्तु-वक्रता की परिभाषा कुन्तक ने इस प्रकार की है : 'वस्तु का उत्कर्षयुक्त स्वभाव से सुन्दर रूप में केवल सुन्दर शब्दों द्वारा वर्णन अर्थ (वस्तु) या वाच्य की वक्रता कहलाती है।'. (हिन्दी व० जी० पृ ३।१)। आगे वस्तु-स्वभाव-वर्णन की व्याख्या करते हुए कुन्तक ने इसी प्रसंग में लिखा है : 'वर्णन का अर्थ है प्रतिपादन। कैसे ? केवल वक्र शब्द के विषय रूप से। वक्र अर्थात् नाना प्रकार की (पूर्वोक्त) वक्रता से युक्त जो कोई शब्द-विशेष विवक्षित अर्थ के समर्पण में समर्थ हो—केवल

उस एक ही के गोचर अर्थात् प्रतिपाद्यतया विषय होने से। यहाँ (उस शब्दविशेष के) वाच्य-रूप से विषय यह नहीं कहा है, (प्रतिपाद्यतया विषय कहा है) क्यों कि प्रतिपादन तो व्यंग्य-रूप से भी हो सकता है। (हिन्दी व० जी० ३।१ वृत्तिभाग)।' उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कुन्तक की वस्तु-वक्रता पूर्णतः नहीं तो कम-से-कम अंशतः वस्तु-ध्वनि की समनार्थी अवश्य है। अन्तर इतना है कि कुन्तक वस्तु-सौंदर्य का प्रतिपादन वाच्य रूप में भी सम्भव मानते हैं; किन्तु आनन्दवर्धन उसे केवल व्यंग्य रूप में ही स्वीकार करते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि यहाँ वस्तुतः आनन्द का ही मत मान्य है क्यों कि मूलरूप में अनुभवगम्य होने से सौंदर्य वाच्य न होकर व्यंग्य ही हो सकता है, फिर भी कुन्तक की वस्तु-वक्रता—जहाँ तक कि उसका आधार व्यंग्य है—वस्तु-ध्वनि से अभिन्न ही है, इसमें सन्देह नहीं।

वाक्य-वक्रता और अलंकार-ध्वनि

वाक्य-वक्रता के अन्तर्गत सामान्यतः अर्थालंकारों का सन्निवेश है। वाच्य पर आश्रित अर्थालंकारों का सौंदर्य तो निश्चय ही अलंकार-ध्वनि के अन्तर्गत नहीं आता, किन्तु कुन्तक ने रूपक, व्यतिरेक आदि कतिपय अलंकारों का प्रतीयमान रूप भी माना है। ये प्रतीयमान अलंकार स्पष्टतः अलंकार-ध्वनि के ही समरूप हैं—कुन्तक के प्रतीयमान रूपक को आनन्दवर्धन रूपक-ध्वनि नाम से अभिहित कर चुके थे। दोनों का उदाहरण भी एक ही है :—

लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः॥

अर्थात् हे तरलायतनयने! अब लावण्य और कान्ति से दिग्दिगन्तर को परिपूर्ण कर देने वाले तुम्हारे मुख के मन्द मुसकानयुक्त होने पर भी इसमें तनिक भी चंचलता दिखाई नहीं पड़ती है, इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह पयोधि जलराशि मात्र है।

उपर्युक्त श्लोक के व्यंग्य रूपक पर दोनों आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से टिप्पणी की है :

आनन्दवर्धन :—"इस प्रकार के उदाहरणों में संलक्ष्यक्रमव्यंग्य रूपक के आश्रय से ही काव्य का चारुत्व व्यवस्थित होता है, इसलिए (यहाँ) रूपक-ध्वनि व्यवहार (नामकरण) ही उचित है, (हिन्दी ध्वन्यालोक पृ० १६५)"

कुन्तक—"यह प्रतीयमान रूपक का उदाहरण है—'प्रतीयमानरूपकं यथा।' (हिन्दी वक्रोक्तिजीवित—३।१६ की वृत्ति के अन्तर्गत उद्धृत)।"

कुन्तक ने स्वतंत्र विवेचन तो केवल दो तीन ही प्रतीयमान अलंकारों का किया है, किन्तु उनकी वृत्तियों से प्रतीत होता है कि उन्हें उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अनेक अलंकारों के भी प्रतीयमान रूप स्वीकार्य थे।

इस प्रकार वाक्य-वक्रता के प्रतीयमान भेदों में अलंकार-ध्वनि का स्पष्ट अन्तर्भाव है।

प्रबन्ध-वक्रता और प्रबन्ध-ध्वनि

कुन्तक की प्रबन्ध-वक्रता वास्तव में प्रबन्ध-कौशल का ही पर्याय है जिसके अन्तर्गत कथा-विधान की विभिन्न प्रणालियों का समाहार किया गया है। परन्तु अपने समष्टि रूप में वह प्रबन्ध-ध्वनि से अभिन्न है। कुन्तक ने स्पष्ट लिखा है: 'किसी महाकवि के बनाये हुए रामकथा-मूलक नाटक आदि में पाँच प्रकार की (वर्णविन्यास-वक्रता, पदपूर्वार्ध-वक्रता, प्रत्यय-वक्रता, वाक्य-वक्रता तथा प्रकरण-वक्रता) वक्रता से सुन्दर सहृदयाह्लादकारी (नायक-रूप) महापुरुष का वर्णन ऊपर से किया गया प्रतीत होता है। परन्तु वास्तव में [कवि का प्रयोजन उसके चरित्र का वर्णन मात्र नहीं होता, अपितु] 'राम के समान आचरण करना चाहिए, रावण के समान नहीं' इस प्रकार का, विधि-निषेधात्मक धर्म का उपदेश (उस काव्य या नाटक का) परमार्थ होता है। यही उस प्रबन्ध काव्य की वक्रता या सौंदर्य है।' (१।२१ वीं कारिका की वृत्ति)। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह परमार्थ-रूप प्रबन्ध-वक्रता ही प्रबन्ध-ध्वनि है। इस समष्टि रूप के अतिरिक्त प्रबन्ध-वक्रता के दो-एक भेद भी ऐसे हैं जो प्रबन्ध-ध्वनि के प्रतिरूप हैं। उदाहरण के लिए प्रबन्ध-वक्रता का छठा भेद कुन्तक के शब्दों में इस प्रकार है:

"कथाभाग का वर्णन समान होने पर भी अपने-अपने गुणों से काव्य, नाटक आदि प्रबन्ध पृथक् पृथक् होते हैं जैसे प्राणों के शरीर में समान होने पर भी उनके अपने-अपने गुणों से भेद होता है। ४।२५ का अन्तश्लोक।

(इस प्रकार) नये-नये उपायों से सिद्ध होने वाले, नीति-मार्ग का उपदेश करने वाले, महाकवियों के सभी प्रबन्धों में (अपनी-अपनी) वक्रता अथवा सौंदर्य रहता है।" ४।२६।

इसका अभिप्राय यह है कि एक ही कथा पर आश्रित काव्य अपने ध्वन्यार्थ के भेद से परस्पर भिन्न हो सकते हैं : कुन्तक के शब्दों में यही प्रबन्ध-वक्रता है और आनन्दवर्धन के शब्दों में प्रबन्ध-ध्वनि।

इसी प्रकार प्रबन्ध-वक्रता का प्रथम भेद भी, जहाँ प्रतिभाशाली कवि अपने काव्य में उपजीव्य कथा से भिन्न रस का परिपाक कर उसे सर्वथा नवीन रूप प्रदान कर देता है, प्रबन्ध-ध्वनि से भिन्न नहीं है क्यों कि अन्ततः काव्य-सौंदर्य की दृष्टि से प्रबन्ध-ध्वनि रस-रूप ही होती है, अतः रस-परिवर्तन का अर्थ प्रबन्ध-ध्वनि का परिवर्तन ही है। इस भेद-विशेष की चर्चा वक्रोक्ति और रस के प्रसंग में करेंगे।

वक्रोक्ति और व्यंजना :

ध्वनि-सिद्धान्त का आधार है व्यंजना शक्ति। कुन्तक मूलतः अभिधावादी हैं—उन्होंने अपनी वक्रोक्ति को विचित्र अभिधा ही माना है। परन्तु उन्होंने लक्षणा और व्यंजना की स्थिति का निषेध नहीं किया—वास्तव में इन दोनों को उन्होंने अभिधा का ही विस्तार माना है, अभिधा के गर्भ में ही इन दोनों की स्थिति उन्हें मान्य है अर्थात् वाचक शब्द में द्योतक और व्यंजक शब्द, वाच्य अर्थ में द्योत्य और व्यंग्य अर्थ स्वयं ही अन्तर्भूत हो जाते हैं।

(प्रश्न)—द्योतक और व्यंजक भी शब्द हो सकते हैं। (आपने केवल वाचक को शब्द कहा है।) उनका संग्रह न होने से अव्याप्ति होगी। (उत्तर)—यह नहीं कहना चाहिए क्यों कि (वाचक शब्दों के समान व्यंजक तथा द्योतक शब्दों में भी) अर्थप्रतीतिकारित्व की समानता होने से उपचार (गौणी वृत्ति) से वे (द्योतक और व्यंजक) दोनों भी वाचक ही हैं। इसी प्रकार द्योत्य और व्यंग्य दोनों अर्थों में भी बोध्यत्व की समानता होने से वाच्यत्व ही रहता है।

(हिन्दी वक्रोक्तिजीवित पृ० ३७)

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन के फलस्वरूप यह स्पष्ट हो जाता है कि ध्वनि-सम्प्रदाय के विरोध में एक प्रतिद्वन्द्वी सम्प्रदाय खड़ा कर देने पर भी कुन्तक ने ध्वनि का तिरस्कार नहीं किया—अथवा नहीं कर सके। वास्तव में ध्वनि का जादू उनके सिर पर चढ़कर बोलता रहा है, इसलिए अपने सिद्धान्त-निरूपण के आरम्भ से अन्त तक स्थान स्थान पर वे उसे सांकेतिक अथवा स्पष्ट रूप में स्वीकृति देते रहे हैं।

जैसा कि मैंने आरम्भ में ही स्पष्ट किया है इन दोनों आचार्यों की सौंदर्य-कल्पना में मौलिक भेद नहीं है। दोनों निश्चित रूप से कल्पनावादी हैं—आनन्दवर्धन और कुन्तक दोनों ने ही अपने सिद्धान्तों में अनुभूति तथा बुद्धि-तत्व की अपेक्षा कल्पना-तत्व की महत्व-प्रतिष्ठा की है। किन्तु दोनों की दृष्टि अथवा विवेचन-पद्धति भिन्न है। आनन्दवर्धन कल्पना को आत्मगत मानते हैं अर्थात् कल्पना से तात्पर्य प्रमाता की कल्पना से है : सत्काव्य प्रमाता की कल्पना को उद्बुद्ध कर सिद्धि-लाभ करता है। कुन्तक कल्पना को वस्तुगत मानते हैं—उनकी दृष्टि से यह है तो मूलतः कवि की ही कल्पना, किन्तु रचना के उपरान्त कवि के भूमिका से हट जाने के कारण, वह अब काव्य में सन्निविष्ट हो गई है, अतः उसकी स्थिति काव्य में वस्तुगत ही रह जाती है। इस प्रकार वक्रोक्ति और ध्वनि-सिद्धान्तों में बाह्य प्रतिद्वन्द्व होते हुए भी मौलिक साम्य है।—और कुन्तक इससे अवगत थे। एक प्रमाण के द्वारा अपनी स्थापना को पुष्ट कर मैं इस प्रसंग को समाप्त करता हूँ। कुन्तक के दो मार्गों—सुकुमार और विचित्र—में मूल अन्तर यह है कि एक में स्वाभाविकता का सहज सौंदर्य है, और दूसरे में वक्रता का प्राचुर्य अर्थात् कल्पना का विलास। इसके लिए किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं है, विचित्र मार्ग के नाम और गुण दोनों ही इसके साक्षी हैं। कुन्तक ने ध्वनि[1] अथवा प्रतीयमानता को इस कल्पना-विशिष्ट विचित्र मार्ग का प्रमुख गुण घोषित कर कल्पना पर आश्रित वक्रता और ध्वनि के इसी मौलिक साम्य की पुष्टि की है : वक्रता—कल्पना—ध्वनि।

---

१. प्रतीयमानता यत्र वाक्यार्थस्य निबध्यते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यामतिरिक्तस्य कस्यचित् ॥ व० जी० १।४०

अर्थात् जहाँ वाच्य-वाचक वृत्ति से भिन्न वाक्यार्थ की किसी प्रतीयमानता की रचना की जाती है।

वक्रोक्ति और रस

यद्यपि कुन्तक ने उच्च स्तर से 'सालंकारस्य काव्यता' की घोषणा की है, फिर भी उनकी सहृदयता रस का अनादर नहीं कर सकी। सिद्धान्त रूप से वक्रोक्ति और रस में वैसा मौलिक साम्य तो नहीं है जैसा ध्वनि और वक्रोक्ति में है, किन्तु सब मिला-कर वक्रोक्ति-चक्र में रस का स्थान भी कम महत्वपूर्ण नहीं है : वास्तव में यह कहना असंगत न होगा कि रस के प्रति वक्रोक्ति और ध्वनि दोनों सम्प्रदायों का दृष्टिकोण बहुत-कुछ समान है।

काव्य के लक्षण और प्रयोजन के अन्तर्गत रस की महत्ता : सबसे पूर्व तो कुन्तक ने काव्य के लक्षण और प्रयोजन के अन्तर्गत ही रस का महत्व स्वीकृत किया है। काव्य-लक्षण :—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥ १।१०।

यहाँ काव्य-बन्ध के लिए वक्र-कविव्यापार के साथ ही तद्विदाह्लादकारिता को भी अनिवार्य माना गया है : तद्विद् का अर्थ है काव्य-मर्मज्ञ अथवा सहृदय···इस प्रकार कुन्तक के अनुसार काव्य को अनिवार्यतः सहृदय-आह्लादकारी होना चाहिए।

काव्य-प्रयोजन :—

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम् ।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥ १।५

अर्थात् काव्यामृत का रस उसको समझने वाले (सहृदयों) के अन्तःकरण में चतुर्वर्गरूप फल के आस्वाद से भी बढ़कर चमत्कार उत्पन्न करता है।

'चमत्कारो वितन्यते' का अर्थ स्वयं कुन्तक की वृत्ति के अनुसार यह है : 'आह्लादः पुनः पुनः क्रियते' अर्थात् आनन्द का विस्तार करता है। इस प्रकार कुन्तक आनन्द को काव्य का चरम प्रयोजन मानते हैं।

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि कुन्तक इतना महत्व आह्लाद को दे रहे हैं—रस को नहीं, अर्थात् काव्यानन्द को रसास्वाद का पर्याय क्यों माना जाय? भामह आदि अलंकारवादियों ने भी प्रीति अथवा आनन्द को मूल प्रयोजन माना है, परन्तु

उनकी आनन्द-विषयक धारणा रस से भिन्न है। इसी प्रकार कुन्तक का आह्लाद-स्तवन रस का स्तवन नहीं है—इस शंका का समाधान स्वयं कुन्तक के शब्दों का आधार लेकर किया जा सकता है। सुकुमार मार्ग के विवेचन में कुन्तक ने सहृदय या तद्विद् को स्पष्टतया रसादिपरमार्थज्ञ अर्थात् रसादि के परम तत्व का वेत्ता कहा है: 'रसादि-परमार्थज्ञ-मनःसंवादसुन्दरः'। १ २९। इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी कई स्थलों पर तथा कई रूपों में उन्होंने सहृदय को रसज्ञ का ही पर्याय माना है। उदाहरण के लिए सौभाग्य गुण के लक्षण में सहृदय के लिए 'सरसात्मनाम्' शब्द का प्रयोग किया गया है और उसकी व्याख्या करने के लिए 'आर्द्रचेतसाम्' शब्द का:

> सर्वसम्पत्परिस्पन्दसम्पाद्यं सरसात्मनाम् । १ । ५६ ।
> + + सरसात्मनाम् आर्द्रचेतसाम्......।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि कुन्तक का 'सहृदय' निश्चय रूप से सरसात्मा अथवा आर्द्र-चित अथवा रसज्ञ ही है और उसका आह्लाद रसास्वाद से अधिक भिन्न नहीं है।

कुन्तक के मत से काव्य में रस का स्थान

कुन्तक के विवेचन में कई प्रसंगों के अन्तर्गत ऐसी स्पष्ट उक्तियाँ हैं जिनसे यह सिद्ध हो जाता है कि ध्वनिकार की भाँति वे भी रस को काव्य का परम तत्व मानते हैं। प्रबन्ध-वक्रता के विवेचन में उन्होंने निर्भ्रान्त शब्दों में यह घोषित किया है कि वक्रोक्ति का सबसे प्रौढ़ और उत्कृष्ट रूप प्रबन्ध-वक्रता है:—'प्रबन्धेषु कवीन्द्राणां कीर्तिकन्देषु किं पुनः।' ४। २६ वीं कारिका का अंतश्लोक। अर्थात् प्रबन्ध कुन्तक के मत से साधारण कवियों की नहीं वरन् कवीन्द्रों की कीर्ति का मूल कारण है। इसी प्रबन्ध के विषय में उनका यह दृढ़ विश्वास है:

> निरन्तरसोद्गारगर्भसंदर्भनिर्भराः
> गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः ॥ ४।११ ।

अर्थात् निरन्तर रस को प्रवाहित करने वाले संदर्भों से परिपूर्ण कवियों की वाणी कथा मात्र के आश्रय से जीवित नहीं रहती है। उपर्युक्त दोनों ही उद्धरण अपने आप में अत्यन्त स्पष्ट हैं। उनसे यह निष्कर्ष सहज ही निकल आता है कि कुन्तक के अनुसार भी काव्य का सर्वोत्कृष्ट रूप है प्रबन्ध और प्रबन्ध का प्राण-तत्व है रस—इस प्रकार ध्वनि-काव्य की भाँति वक्रोक्तिजीवित काव्य का भी प्राण-तत्व रस ही सिद्ध होता है।

ध्वनि-सिद्धान्त के समान ही वक्रोक्ति-सिद्धान्त के अन्तर्गत भी रस को वाच्य नहीं वरन् व्यंग्य माना गया है— इस प्रसंग में कुन्तक ने उद्भट द्वारा मान्य रस के स्वशब्द-वाच्यत्व का उपहास करते हुए लिखा है : उसके (उपर्युक्त मन्तव्य) के विषय में रसों की स्वशब्द-वाच्यता हमने आज तक नहीं देखी है। × × इसका यह अभिप्राय हुआ कि श्रृंगार आदि रस अपने वाचक शब्दों के द्वारा कहे जाकर श्रवण से गृहीत होते हुए चेतन सहृदयों को चर्वणा का चमत्कार—आस्वाद का आनन्द प्रदान करते हैं। इस युक्ति से घृतपूप आदि खाद्य पदार्थ अपने नामों से कहे जाने पर (ही) आस्वादन-सम्पत्ति अर्थात् खाने का आनन्द उत्पन्न कर देते हैं, (यह सिद्ध हो जाएगा)। इस प्रकार उन उदार-चरित महाशयों की कृपा से किसी भी पदार्थ के उपभोग-सुख की कामना करने वाले सभी व्यक्तियों के लिए, बिना प्रयत्न के उस पदार्थ का नाम लेने मात्र से त्रैलोक्य-राज्य की सुख-सम्पदा बिना प्रयत्न के सिद्ध हो जाती है।

व० जी० ३।११ की वृत्ति ॥

काव्य-वस्तु के विवेचन में भी कुन्तक ने रस को अत्यधिक महत्व दिया है। उन्होंने काव्य की वर्ण्य वस्तु को स्पष्ट शब्दों में रस-स्वरूप माना है और विविध प्रकार से उसकी रस-निर्भरता का प्रतिपादन किया है : "इस प्रकार स्वभाव-प्राधान्य और रस-प्राधान्य से दो प्रकार की वर्ण्य विषय-वस्तु का सहज सौकुमार्य से रस-स्वरूप शरीर ही अलंकार्यता के योग्य है।" व० जी० ३।११ कारिका की वृत्ति। इसका अभिप्राय यह है कि कुन्तक रस-निर्भरता को काव्य-वस्तु का प्रमुख अंग मानते हैं— उन्होंने रस-प्रधान वस्तु के अन्तर्गत ही रसों का वर्णन किया है। काव्य-वस्तु के चेतन और जड़ नाम से दो भेद करते हुए उन्होंने प्रथम भेद अर्थात् चेतन को ही मुख्य माना है और उसके लिए रसादि का परिपोष आवश्यक ठहराया है :

"मुख्य चेतन (देवादि की) अक्लिष्ट अर्थात् बिना खींचतान के, रत्यादि के परिपोष से मनोहर और अपने जाति-योग्य स्वभाव-वर्णन से परम मनोहर (वस्तु महाकवियों की वर्णना का प्रमुख विषय होती है) व० जी० ३।७। + + + और रत्यादि स्थायी भाव का परिपोष ही रस बन जाता है।"

(उपर्युक्त कारिका का वृत्ति-भाग)।

यहाँ कुन्तक ने विप्रलम्भ और करुण रस के अनेक उदाहरण देकर अन्य रसों की ओर संकेत कर दिया है : "कोमल रस होने से विप्रलम्भ और करुण रस के उदाहरणों को प्रदर्शित कर दिया है—अन्य रसों के उदाहरण भी स्वयं समझ लेने चाहिएँ।"

जड़ का वर्णन भी काव्य का अंग है—परन्तु जड़ अर्थात् प्राकृतिक दृश्यों अथवा पदार्थों का यह वर्णन प्रायः अपनी रसोद्दीपन-सामर्थ्य के कारण ही काव्य होता है :

"अमनुष्य चेतन (सिंहादि तिर्यक् योनि के प्राणियों) और बहुत से जड़ पदार्थों का भी रसोद्दीपन-सामर्थ्य के कारण मनोहर रूप भी कवियों की वर्णना का विषय होता है।"
व० जी० ३।८

इस प्रकार काव्य-वस्तु के दोनों रूपों में रस का प्राधान्य है; वास्तव में अपनी रस-बन्धुरता के कारण ही वर्ण्य वस्तु काव्य के लिए इतनी स्पृहणीय होती है।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त के मार्गों के विवेचन में भी रस को इसी प्रकार उचित महत्व दिया गया है। सुकुमार और विचित्र दोनों मार्गों में कुन्तक ने प्रकारान्तर से रस के चमत्कार का उल्लेख किया है। सुकुमार मार्ग अपने सहज रूप में 'रसादिपरमार्थज्ञ-मनःसंवादसुन्दर'[1] अर्थात् रसादि के परम तत्व को जानने वाले सहृदयों के मन के अनुरूप होने के कारण सुन्दर होता है, और विचित्र मार्ग कमनीय वैचित्र्य से परि-पोषित होने के साथ-साथ[2] सरसाकूत—कुन्तक की अपनी वृत्ति के अनुसार रसनिर्भरा-भिप्राय (रसनिर्भर अभिप्राय से युक्त) भी होता है। उधर, तीसरा—मध्यम मार्ग भी, इन दोनों का मिश्र रूप होने के कारण, स्वतः ही रस-पुष्ट होना चाहिए। इस प्रकार तीनों मार्गों में रस का संचरण अनिवार्य है।

सारांश यह है कि काव्य-भेद, काव्य-वस्तु और काव्य-मार्ग—इन तीनों में ही कुन्तक ने रस की महत्व-प्रतिष्ठा की है।

रसवत् अलंकार का निषेध और रस की अलंकार्यता

अन्त में रसवत् अलंकार का निषेध और रस की अलंकार्यता की सिद्धि के द्वारा यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि कुन्तक के मन में रस के प्रति कितना अधिक आग्रह है। वास्तव में रस का तिरस्कार तो कुन्तक के पूर्ववर्ती अलंकारवादियों ने भी नहीं किया, किन्तु उन्होंने रस को अलंकार ही माना है। रस-ध्वनिवादियों की दृष्टि में यह रस का तिरस्कार ही है क्यों कि इस प्रकार आत्मभूत रस आभूषण मात्र रह जाता है। इसी दृष्टि से उन्होंने रसवत् अलंकार का निषेध कर रस की अलंका-

---

१. १।२६ २. १।४१

यंता की प्रतिष्ठा की। कुन्तक ने रस के विषय में भामह, दण्डी तथा उद्भट की परम्परा का त्याग कर रस-ध्वनिवादियों का अनुसरण किया है :

> अलंकारो न रसवत् परस्याप्रतिभासनात् ।
> स्वरूपातिरिक्तस्य शब्दार्थसंगतेरपि ॥ ३।११।

अर्थात् रसवत् अलंकार नहीं है और इसके कारण दो हैं—एक तो अपने स्वरूप के अतिरिक्त इसमें अलंकार्य-रूप से किसी अन्य की प्रतीति नहीं होती और दूसरे अलंकार्य रस के साथ अलंकार शब्द का प्रयोग होने से शब्द और अर्थ की संगति नहीं बैठती। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि रस अलंकार्य है, अलंकार नहीं है।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि अलंकार्य मान लेने से भी रस की विशेष महत्व-प्रतिष्ठा नहीं होती : रस अधिक से अधिक शरीर बन जाता है, आत्मा फिर भी नहीं बनता। परन्तु यह बात नहीं है—इसी प्रसंग में कुन्तक ने उपर्युक्त सन्देह का निवारण कर दिया है : 'रसवतोऽलंकार इति षष्ठीसमासपक्षोऽपि न सुस्पष्टसमन्वयः। यस्य कस्यचित् काव्यत्वं रसवत्वमेव।' अर्थात् 'रसवान् का अलंकार' इस षष्ठी समास पक्ष का भी स्पष्ट समन्वय नहीं हो सकता है क्यों कि किसी भी काव्य का रसवत्व ही उसका काव्यत्व है। (३।११ वृत्ति-भाग)

इसी प्रसंग में आगे चलकर फिर कुन्तक ने प्रकारान्तर से रस के प्रति अपना पक्षपात व्यक्त किया है। रसवत् के परम्परागत रूप का खण्डन करने के उपरान्त वे अपने मत से उसके वास्तविक स्वरूप का विवेचन करते हैं :—'रस तत्व के विधान से, सहृदयों के लिए आह्लादकारी होने के कारण, जो अलंकार रस के समान हो जाता है, वह अलंकार रसवत् कहा जा सकता है। १।१४।'—उपर्युक्त लक्षण से यह स्पष्ट है, और कुन्तक ने अपनी वृत्ति में कहा भी है कि 'इस प्रकार अर्थात् (रस-तत्व के विधान से) यह अलंकार समस्त अलंकारों का प्राण और काव्य का अद्वितीय सार-सर्वस्व हो जाता है।'

इससे अधिक रस का स्तवन और क्या हो सकता है ?

रस और वक्रोक्ति का सम्बन्ध

अब प्रश्न यह रह जाता है कि एक ओर जब अलंकार-रूपा वक्रोक्ति ही काव्य का जीवित है, और दूसरी ओर रस भी काव्य का परम तत्व है, तो इन दोनों का समंजन कैसे किया जाय ? अर्थात् वक्रोक्ति और रस का वास्तविक सम्बन्ध क्या है ?

इस प्रश्न का उत्तर कठिन नहीं है। कुन्तक की मूल धारणा का सूत्र पकड़ लेने से इस शंका का समाधान हो जाता है। कुन्तक के मत से काव्य का प्राण तो निश्चय ही वक्रोक्ति है : और वक्रोक्ति का अर्थ, जैसा कि हम अन्यत्र स्पष्ट कर चुके हैं, उक्ति-चमत्कार मात्र न होकर कवि-कौशल अथवा काव्य-कला ही है। कुन्तक के अनुसार काव्य वक्रोक्ति अर्थात् कला है। इस कला की रचना के लिए कवि शब्द-अर्थ की अनेक विभूतियों का उपयोग करता है—अर्थ की विभूतियों में सबसे अधिक मूल्यवान है रस। अतएव रस वक्रोक्ति-रूपिणी काव्य-कला का परम तत्व है : काव्य की प्राण-चेतना है वक्रता और वक्रता की समृद्धि का प्रमुख आधार है रस-सम्पदा। इस प्रकार वक्रोक्ति के साथ रस का सम्बन्ध लगभग वही है जो ध्वनि के साथ है।

रस और ध्वनि का सम्बन्ध दो प्रकार का है : एक तो रस अनिवार्यतः ध्वनि-रूप ही हो सकता है (कथन-रूप नहीं), दूसरे रस ध्वनि का सर्वोत्कृष्ट रूप है। इन दोनों सम्बन्धों के विश्लेषण से एक तीसरा तथ्य भी सामने आता है और वह यह है कि ध्वनि और रस में, ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार, पलड़ा ध्वनि का ही भारी है। रस की स्थिति ध्वनि के बिना सम्भव नहीं है, परन्तु ध्वनि की स्थिति रस-विहीन हो सकती है : वस्तु-ध्वनि, अलंकार-ध्वनि भी काव्य के उत्कृष्ट रूप हैं। अतः काव्य में अनिवार्यता ध्वनि की ही है, रस की नहीं। रस के बिना काव्यत्व सम्भव है, ध्वनि के बिना नहीं, इसीलिए आनन्दवर्धन के मत से ध्वनि काव्य की आत्मा है, रस परम-श्रेष्ठ तत्व अवश्य है किन्तु आत्मा नहीं है।—कुछ ऐसी ही स्थिति वक्रोक्ति और रस के परस्पर सम्बन्ध की भी है। (१) रस वक्रोक्ति की परम विभूति है, (२) रस की काव्यगत अभिव्यंजना वक्रता-विहीन नहीं हो सकती—रसोत्कर्ष की प्रेरणा से अभिव्यक्ति का उत्कर्ष अनिवार्य है, और अभिव्यक्ति का यही उत्कर्ष वक्रता है। अर्थात् काव्य में रस की स्थिति वक्रता-विरहित सम्भव नहीं है—काव्य से बाहर हो सकती है। किन्तु वह भाव-सम्पदा, काव्य-वस्तु मात्र है काव्य नहीं है। उधर वक्रता तो रस के बिना भी अनेक रूपों में विद्यमान रह सकती है चाहे ये रूप उतने उत्कृष्ट न हों जितना कि रसमय रूप। कम-से-कम कुन्तक का यही मत है। रस के बिना काव्य जीवित रह सकता है, वक्रोक्ति के बिना नहीं। इसी लिए वक्रोक्ति ही काव्य का जीवित है, रस काव्य की अमूल्य सम्पत्ति होते हुये भी जीवित नहीं है। संक्षेप में रस के साथ वक्रोक्ति का यही सम्बन्ध है जो ध्वनि-रस-सम्बन्ध से अधिक भिन्न नहीं है। वास्तव में रस-सम्प्रदाय द्वारा स्थापित रागतत्व के एकाधिपत्य के विरुद्ध ध्वनि और वक्रोक्ति दोनों ने अपने-अपने ढंग से कल्पना की महत्व-प्रतिष्ठा की है। राग-तत्व का सौंदर्य तो दोनों

को स्वीकार्य है किन्तु अपने सहज रूप में नहीं—कल्पना-रंजित रूप में। इस कल्पना-रंजन की प्रक्रिया भिन्न है : ध्वनि-सिद्धान्त के अन्तर्गत कल्पना आत्म-निष्ठ है और वक्रोक्ति में वस्तु-निष्ठ। रस के साथ इन दोनों के सम्बन्ध में भी बस इतना ही अन्तर पड़ जाता है। रस और ध्वनि दोनों आत्म-निष्ठ हैं अतएव उनका सम्बन्ध अधिक अंतरंग है : वक्रोक्ति मूलतः वस्तु-निष्ठ है अतः रस के साथ उसका सम्बन्ध आधार-आधेय का ही है।

वक्रोक्ति और औचित्य

जीवन के समान काव्य में भी औचित्य की महिमा अक्षुण्ण है। वास्तव में जीवन के और तदनुसार काव्य के मूल्यों का आधार ही औचित्य है : औचित्य ही जीवन और काव्य दोनों के सत्य, शिव और सुन्दर का प्रमाण है। इसी दृष्टि से कुन्तक के परवर्ती आचार्य क्षेमेन्द्र ने लगभग ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में काव्य में औचित्य-सम्प्रदाय की स्थापना की : "काव्य में अलंकारों का स्थान अलंकार का है, गुण केवल गुण हैं। रस-सिद्ध काव्य का स्थिर जीवन तो औचित्य ही है।" औचित्य-विचार-चर्चा १।५। औचित्य की परिभाषा करते हुए क्षेमेन्द्र लिखते हैं : "जो जिसके अनुरूप है उसे प्राचीन आचार्यों ने उचित कहा है—उचित का भाव ही औचित्य है।" १।७।—वास्तव में इस अनिवार्य तत्व की उपेक्षा जीवन अथवा काव्य में कौन विवेकशील पुरुष कर सकता था, मेधावी आचार्यों की तो बात ही क्या ? अतएव भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक ने प्रकारान्तर से औचित्य के महत्व को स्वीकृत किया है। कुन्तक भी इसका अपवाद नहीं है। उनके मत से काव्य का प्राण तो निश्चय ही वक्रता है, किन्तु वक्रता का मूल आधार औचित्य ही है : 'उचिताभिधानजीवितत्वाद्' अर्थात् उचित (यथानुरूप) कथन ही (वक्रता का) जीवन है।

तत्र पदस्य तावदौचित्यं × × × वक्रतायाः परं रहस्यम्। उचिताभिधानजीवितत्वाद्। वाच्यस्याप्येकदेशेप्यौचित्यविरहात् तद्विदाह्लादकारित्वहानिः। १।५७ वीं कारिका की वृत्ति। इस प्रकार कुन्तक के अनुसार औचित्य वक्रता का प्राण है।

काव्य-लक्षण में औचित्य की स्वीकृति :

कुन्तक ने अपने काव्य-लक्षण, काव्य-गुणों तथा वक्रता-भेदों में भी औचित्य को आधार-तत्व माना है। उनका काव्य-लक्षण है :

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥ १।७

यहाँ शब्दार्थ का 'साहित्य' काव्य के आधार-रूप में स्वीकृत किया गया है। और 'साहित्य' से कुन्तक का अभिप्राय निश्चित रूप से शब्द और अर्थ का पूर्ण सामंजस्य ही है:—"समर्थ शब्द के अभाव में अर्थ स्वरूपतः स्फुरित होने पर भी निर्जीव-सा ही रहता है। (इसी प्रकार) शब्द भी वाक्योपयोगी अर्थ के अभाव में अन्य अर्थ का वाचक होकर वाक्य का भार-सा प्रतीत होता है।" १।७ वीं कारिका की वृत्ति। इस विवेचन से स्पष्ट है कि 'साहित्य' का अर्थ है शब्द और अर्थ का उचित सहभाव अथवा सम्बन्ध, और कुन्तक ने प्रथम उन्मेष की सप्तमी कारिका की वृत्ति में अनेक प्रकार से शब्द-अर्थ-सम्बन्ध के इसी औचित्य का अत्यन्त मार्मिक आख्यान किया है।

औचित्य गुण

कुन्तक के अनुसार प्रत्येक मार्ग में दो सामान्य गुण और चार विशेष गुण होते हैं। सामान्य गुण हैं औचित्य और सौभाग्य जो तीनों मार्गों में अनिवार्य रूप से वर्तमान रहते हैं :

एतत् त्रिष्वपि मार्गेषु गुणद्वितयमुज्ज्वलम्,
पदवाक्यप्रबन्धानां व्यापकत्वेन वर्तते ॥ १।५७ ॥

अर्थात्—इन तीनों मार्गों में (औचित्य तथा सौभाग्य) ये दोनों गुण पद, वाक्य तथा प्रबन्ध में व्यापक और उज्ज्वल रूप से वर्तमान रहते हैं। इस प्रकार औचित्य गुण सम्पूर्ण काव्य की उज्ज्वल सम्पदा है। औचित्य की परिभाषा कुन्तक ने भी प्रायः वही की है जो उनके लगभग अर्ध-शताब्दी बाद क्षेमेन्द्र ने की थी :

आंजसेन स्वभावस्य महत्वं येन पोष्यते ।
प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यानजीवितम् ॥ व० जी० १।५३।

अर्थात्—जिस स्पष्ट वर्णन-प्रकार के द्वारा स्वभाव के महत्व का पोषण होता है वही औचित्य नामक गुण है : इसका मूल आधार है उचित अर्थात् यथानुरूप-कथन। अतएव कुन्तक और क्षेमेन्द्र दोनों की औचित्य-कल्पना सर्वथा समान ही है जिसका आधार है यथानुरूप-कथन।

वक्रता-भेदों में औचित्य का आधार

वक्रोक्तिकार ने अपने प्रायः सभी वक्रता-भेदों में किसी-न-किसी रूप में औचित्य का आधार स्वीकार किया है। उदाहरण के लिए, वर्णविन्यास-वक्रता के विवेचन में कुन्तक ने स्पष्ट लिखा है कि वक्रतापूर्ण वर्ण-योजना अनिवार्य रूप से प्रस्तुतौचित्य-शोभिनी होती है अर्थात् काव्य के अन्तर्गत वर्णों का विन्यास प्रस्तुत प्रसंग के अनुरूप ही होना चाहिए, उससे स्वतन्त्र नहीं।[1] इसी प्रकार पदपूर्वार्ध-वक्रता तथा प्रत्यय-वक्रता के अनेक प्रमुख भेद भी औचित्य-मूलक ही हैं :—(१) पर्याय-वक्रता का आधार है उचित पर्याय का चयन अथवा पर्यायौचित्य, (२) विशेषण-वक्रता का आधार है उचित विशेषण का निर्वाचन, (३) वृत्ति-वक्रता में समास-रचना का औचित्य अपेक्षित होता है, और (४) लिंग-वक्रता का आधारभूत सौंदर्य लिंग-प्रयोग के औचित्य के ही आश्रित है। इसी प्रकार प्रत्यय-वक्रता के भी प्रमुख भेदों में कारक, पुरुष, संख्या, काल, उपग्रह आदि के औचित्य का ही चमत्कार वर्तमान रहता है। वक्रता का चतुर्थ भेद है वाक्य-वक्रता, जिसके दो रूप हैं : (१) वस्तु-वक्रता, (२) अर्थालंकार। इन दोनों में भी कुन्तक ने औचित्य को ही प्रमाण माना है। वस्तु-वक्रता के प्रसंग में कुन्तक ने एक स्थान पर औचित्य को वस्तु-वर्णन का आधारभूत अनिवार्य सिद्धान्त घोषित किया है। स्वभावोक्ति का निराकरण करते हुए उन्होंने लिखा है :—"स्वभाव के (स्वरूप के) कथन के बिना वस्तु का वर्णन ही सम्भव नहीं हो सकता क्योंकि स्वभाव से रहित वस्तु निरुपाख्य अर्थात् असत्कल्प हो जाती है।" १।१२ की वृत्ति। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह स्वभाव-वर्णन अथवा स्वरूप-वर्णन 'उचित अभिधान' अथवा क्षेमेन्द्र के 'सदृशम् किल यस्य यत्' अर्थात् यथानुरूप-वर्णन से मूलतः अभिन्न है। ऐसे ही अर्थालंकार के प्रयोग में भी औचित्य ही प्रमाण है। कुन्तक के मत से अलंकारों का वर्ण्य विषय के अनुरूप उचित प्रयोग ही वांछनीय है : "वाच्य अलंकार उपमा आदि का अधिक उपयोग उचित नहीं हो सकता क्यों कि उससे स्वाभाविक सौंदर्य के अतिशय में मलिनता आने का भय रहता है।" ३।१ कारिका की वृत्ति।—यह अनधिक प्रयोग वास्तव में अलंकारौचित्य का ही दूसरा नाम है। इसके अतिरिक्त दीपक आदि कतिपय विशेष अलंकारों के प्रसंग में कुन्तक ने औचित्य का स्पष्ट उल्लेख भी किया है : "औचित्य के अनुरूप सुन्दर और सहृदयों के आह्लादकारक (प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत) पदार्थों के अप्रकट अर्थात् प्रतीयमान धर्म को प्रकाशित करने वाला अलंकार दीपक अलंकार है" ३।१५।

---

१. वर्गान्तयोगिनः स्पर्शा द्विरुक्तास्तलनादयः।
शिष्टाश्चरादिसंयुक्ताः प्रस्तुतौचित्यशोभिनः॥ २।२॥

अन्त में प्रकरण तथा प्रबन्ध-वक्रता के प्रसंग में भी कुन्तक ने अनेक प्रकार से औचित्य का स्तवन किया है। उदाहरण के लिए प्रबन्ध-वक्रता का एक प्रमुख भेद है उत्पाद्य-लावण्य, जिसके दो रूप हैं (१) अविद्यमान की कल्पना (२) विद्यमान का संशोधन। इन दोनों वक्रता-भेदों का आधार स्पष्ट रूप से औचित्य-कल्पना ही है :— कवि अपनी प्रसिद्ध कथा के अनौचित्य के परिहार और औचित्य के संरक्षण के निमित्त ही उपर्युक्त चमत्कार-पूर्ण पद्धतियों का प्रयोग करता है। कुन्तक ने इस तथ्य को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है : "उत्पाद्यलवलावण्यादिति द्विधा व्याख्येयम्। क्वचिदसदेवोत्पाद्यम् अथवा आहृतम्। क्वचिदौचित्यत्यक्तं सदप्यन्यथासम्पाद्यम् सहृदयाह्लादनाय।" ४।४ कारिका की वृत्ति। अर्थात् उत्पाद्य-लावण्य के दो रूप हैं (१) अविद्यमान की कल्पना, और (२) सहृदय के आह्लाद के निमित्त औचित्य-रहित विद्यमान का अन्यथा प्रतिपादन। इसके अतिरिक्त प्रकरण-वक्रता के दो अन्य भेद हैं (क) प्रधान कार्य से सम्बद्ध प्रकरणों का उपकार्य-उपकारक-रूप में नियोजन। और (ख) प्रकरणों का पूर्वापर-अन्विति-क्रम। ये दोनों भेद भी औचित्य की ही आधार-शिला पर अवस्थित हैं।

प्रबन्ध-वक्रता के कुन्तक ने सब मिलाकर छह भेदों का निरूपण किया है, इनमें से दो-तीन भेदों में औचित्य की अवस्थिति स्पष्ट है। उदाहरण के लिए, द्वितीय भेद में नायक के चरित्र का उत्कर्ष करने वाली चरम-घटना पर ही कथा का उपसंहार करने का विधान है क्योंकि शेष कथा-भाग नीरस इतिवृत्त मात्र रह जाता है, और पंचम भेद में प्रबन्ध काव्य का नामकरण ऐसा किया जाता है कि नाम से ही प्रधान कथा का द्योतन हो जाय। यहाँ द्वितीय भेद में अवांछित का त्याग औचित्य का ही परिणाम है, और पंचम भेद में क्षेमेन्द्र के नामौचित्य का संकेत है।

प्रतिपादन-योजना में साम्य

वास्तव में वक्रोक्ति तथा औचित्य दोनों सिद्धान्तों की प्रतिपादन-योजना में ही मूलगत साम्य है। कुन्तक और क्षेमेन्द्र दोनों ने काव्य के सूक्ष्मतम तत्व से लेकर महत्तम रूप तक प्रायः एक ही क्रम से अपने सिद्धान्त का विस्तार कर उसे सर्वव्यापक बनाने का प्रयत्न किया है। जिस प्रकार वर्ण तथा लिंग, कारक आदि से लेकर वाक्य, प्रकरण तथा प्रबन्ध तक वक्रता का साम्राज्य है, इसी प्रकार औचित्य का भी :—

पदे, वाक्ये प्रबन्धार्थे, गुणेऽलंकरणे रसे।
क्रियायां, कारके, लिंगे, वचने च विशेषणे॥

+ + + +

काव्यस्यांगेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम् ॥
औचित्य-वि० च० ७-१० ।

परन्तु इस योजना-साम्य का कारण कदाचित् यह नहीं है कि क्षेमेन्द्र ने कुन्तक का अनुकरण किया है : हम समझते हैं कि इस साम्य का कारण यह है कि दोनों ही ध्वनिकार की योजना को आदर्श मानकर चले हैं ।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वक्रोक्ति और औचित्य में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है । किन्तु फिर भी उन दोनों को पर्याय अथवा एक-रूप मान लेना संगत नहीं होगा । कुन्तक ने औचित्य को वक्रोक्ति का जीवन मानते हुए भी दोनों को एक-रूप नहीं माना । उनकी मान्यता तो केवल यह है कि वक्रता अथवा काव्य-सौंदर्य का मूल आधार औचित्य है क्यों कि, (उन्हीं के स्पष्ट शब्दों से) औचित्य की यत्किंचित् हानि से भी सहृदय के आह्लाद में व्याघात उत्पन्न हो जाता है······'वाक्यस्याप्येकदेशो-प्यौचित्यविरहात् सहृदयाह्लादकारित्वहानिः ।' अतएव कुन्तक के मत से औचित्य काव्य-सौंदर्य अथवा वक्रता का अनिवार्य किन्तु सामान्य गुण मात्र है, न व्यावर्तक धर्म है और न पर्याय ही । अर्थात् सौंदर्य के सभी रूपों में औचित्य की अवस्थिति अनिवार्य है, परन्तु औचित्य के सभी रूपों में कदाचित् वक्रता की अनिवार्य स्थिति कुन्तक को मान्य नहीं है ।

इसके अतिरिक्त दोनों सम्प्रदायों के मूल दृष्टिकोण में स्पष्ट अन्तर है । वक्रोक्ति का आधार है वस्तु-निष्ठ कल्पना और औचित्य का आधार है व्यक्ति-निष्ठ विवेक—आधुनिक शब्दावली में वक्रोक्तिवाद जहाँ रोमानी काव्य-रूप की प्रतिष्ठा करता है, वहाँ औचित्य-सिद्धान्त विचारगत सौष्ठव की, और इन दोनों का मिलन-तीर्थ है रस, जहाँ दो भिन्न दिशाओं से आकर ये लीन हो जाते हैं ।

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में वक्रोक्ति

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में वक्रोक्ति का, काव्य-सम्प्रदाय अथवा आत्मभूत काव्य-सिद्धान्त के रूप में, विवेचन तो नहीं हुआ, परन्तु वक्रता के मौलिक तत्व की मान्यता वहाँ प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सदा रही है। वास्तव में तथ्य और कल्पना का प्रतिद्वन्द्व किसी-न-किसी रूप में प्रत्येक युग और प्रत्येक देश की चिन्ता-धारा में उपस्थित होता आया है। इसका जन्म एक प्रकार से काव्य की सृष्टि के साथ हो हो जाता है—काव्य के सम्बन्ध में यही पहला विचार है और यही कारण है कि पाश्चात्य सभ्यता के आदिम युग में ही उसकी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ने लगी थी। प्लेटो-पूर्व युग में काव्य-शास्त्र का कोई स्वतंत्र ग्रन्थ तो उपलब्ध नहीं होता, परन्तु काव्य तथा दर्शन ग्रन्थों में इस बात के संकेत निश्चय ही मिल जाते हैं कि उस युग में काव्य-शास्त्र का अस्तित्व अवश्य था, चाहे उसका स्वतंत्र नाम रहा हो या न रहा हो।

प्लेटो के पूर्ववर्ती विचारक और प्लेटो

पश्चिम का आदि कवि है होमर। यों तो होमर के काव्य में भी एक ऐसा उद्धरण है (जिसे बोसांके ने पाश्चात्य कला-चेतना का प्रथम सूत्र माना है और जिसे एटकिन्स ने 'कला की माया' का प्राथमिक अभिज्ञान कहा है) जिसमें काव्यगत वक्रता की प्रच्छन्न स्वीकृति मिलती है,[1] परन्तु उससे भी अधिक महत्वपूर्ण वह विवाद है जो होमर के काव्य को लेकर प्लेटो से पहले दो-तीन शताब्दियों तक चलता रहा। इस विवाद में निश्चय रूप से तथ्य और कल्पना अथवा भारतीय काव्य-शास्त्र की शब्दावली में वार्ता और वक्रता का प्रश्न ही प्रकारान्तर से उठाया गया है। दार्शनिकों ने

---

१. होमर की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं: ढाल सोने की बनी हुई थी, परन्तु (उस पर अंकित) जुती हुई भूमि श्यामल प्रतीत होती थी। यह उसकी कला का चमत्कार था।

होमर की इस आधार पर भर्त्सना की कि उसके वर्णन प्राकृतिक तथ्यों के विपरीत हैं अतः मिथ्या हैं, और काव्य-प्रेमियों ने तथ्य और कल्पना के भेद को पहचानते हुए उनकी काव्यगत वक्रता का अनुमोदन किया। इस युग में एक प्रसिद्ध आचार्य हुए जार्जिआस (पाँचवीं शताब्दी ई० पू०)। उनका ग्रन्थ तो उपलब्ध नहीं है, परन्तु दो अभिभाषण अवश्य प्राप्त हैं जिनसे उनके काव्य-सम्बन्धी विचारों का परिचय मिल जाता है। अन्य काव्य-तत्वों के साथ-साथ जार्जिआस ने भाषा के सौंदर्य पर भी विशेष बल दिया है : 'उन्होंने ही सबसे पहले यह निर्देश किया कि (गद्य में) अलंकारों का प्रयोग करना चाहिए, इतिवृत्त-वर्णन के स्थान पर रूपकादि का उपयोग करना चाहिए—अर्थात् सामान्य रूप से गद्य में भी कविता के रंग और वैचित्र्य का समावेश करना चाहिए।'[1] इन शब्दों में वक्रता की स्पष्ट स्वीकृति है क्यों कि रंग और वैचित्र्य वक्रता के ही पर्याय हैं।

प्लेटो-पूर्व युग का, काव्य-शास्त्र की दृष्टि से, सर्व-प्रमुख ग्रन्थ है, एरिस्टोफ़ेनीज़ (रचना-काल ४२५-३८८ ई० पू०) का हास्य-नाटक फ्रॉग्स (मेंढक)। इसमें यूनानी भाषा के दो वरिष्ठ नाटककारों—ऐस्काइलस तथा यूरिपाइडीज़ के आलोचनात्मक विवाद का अत्यन्त सजीव हास्यमय वर्णन है। इस विवाद के अन्तर्गत दोनों कलाकारों की वैयक्तिक आलोचना के अतिरिक्त, काव्य के अनेक सामान्य सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया गया है। अतएव इसमें ऋजु और वक्र अभिव्यंजनाओं अथवा काव्य-मार्गों की भी थोड़ी-सी समीक्षा स्वभावतः मिल जाती है। एस्काइलस (मानो कुन्तक के विचित्र मार्ग का अनुयायी होने के कारण) काव्य में वक्रता-वैचित्र्य का पक्षपाती है।

"नहीं, उनकी बाह्य वसन-सज्जा भी देखने में रंगोज्ज्वल तथा वैभव-पूर्ण होनी चाहिए—हमारे जैसी नहीं।" यूरिपाइडीज़ की निन्दा करते हुए वह कहता है :—'तुमने उन उदात्त चरित्रों को (उनके भावों को) गुदड़ी से परिवृत्त कर दिया।' आप देखें कि उपर्युक्त उद्धरणों में से पहले में वक्रता का स्तवन और दूसरे में वार्ता (ग्राम्य उक्ति) का ही प्रकारान्तर से तिरस्कार किया गया है।

इसके उपरान्त प्लेटो (४२७-३४७ ई० पू०) का समय आ जाता है—प्लेटो ने भी अपने पूर्ववर्ती यवन दार्शनिकों का ही साथ दिया और वक्रता को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने प्राकृत तथ्य की अपूर्ण अथवा मिथ्या अनुकृति मानकर काव्य को

१. एटकिन्स

निन्दा की। उनके मतानुसार एक तो स्वयं प्राकृत तथ्य ही विचार के तथ्य (सत्य) की अनुकृति है, और फिर काव्य तो उसकी भी अपूर्ण या मिथ्या अनुकृति है, अतएव वह सत्य से और भी दूर है। इसका अभिप्राय यही है कि प्लेटो भी विचार के सत्य और कल्पना के सत्य का भेद नहीं पहचान पाये।—कुन्तक ने वस्तु-वक्रता के प्रसंग में इस रहस्य का उद्घाटन किया है : उनका तर्क है कि किसी प्राकृत पदार्थ के सभी अंग-उपांगों का इतिवृत्त वर्णन (प्लेटो के शब्दों में पूर्ण अनुकृति) प्रस्तुत कर देने में कोई चमत्कार नहीं है; कवि की दृष्टि तो उसके केवल उन्हीं अंगों तथा रूपों को ग्रहण करती है जो आकर्षक हैं अर्थात् वह समग्र पदार्थ का स्थूल वर्णन न कर केवल उसके मर्म को ही ग्रहण करती है। यह मर्म-ग्रहण ही वस्तु-वक्रता है जो पूर्ण अनुकृति की अपेक्षा अधिक पूर्ण तथा सत्य भी है। प्लेटो ने इसी वस्तु-वक्रता के रहस्य को—सामान्य रूप में वार्ता तथा वक्रता के भेद को—नहीं समझा है, इसीलिए उन्होंने काव्य का तिरस्कार किया है।

होमर से प्लेटो के समय तक पाश्चात्य काव्य-चिन्ता के अन्तर्गत वक्रता के विषय में इसी प्रकार के प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष संकेत प्राप्त होते हैं। उनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि काव्य का यह मौलिक प्रश्न उस आदिम युग में भी उठ खड़ा हुआ था और मनीषी उसकी ओर आकृष्ट होने लगे थ।

अरस्तू (ईसा-पूर्व ३८४-३२१)

अरस्तू ने तथ्य और कल्पना के भेद को स्पष्ट करते हुए काव्यगत वक्रता के रहस्य को पहचाना है। उन्होंने प्लेटो की भ्रान्ति का संशोधन करते हुए यह स्पष्ट किया है कि काव्यगत अनुकृति स्थूल अर्थ में पदार्थ का अनुकरण न होकर उसका कल्पनात्मक पुनःसृजन ही है—अतः न वह अपूर्ण है और न मिथ्या, उसमें तथ्य की विकृति नहीं, संस्कार मिलता है, क्यों कि वह तो तथ्य के मर्म को शब्द-बद्ध करती है। इस दृष्टि से काव्य का सत्य भौतिक सत्य की अपेक्षा अधिक मार्मिक होता है। अर्थात् काव्य की जिस वक्रता को प्लेटो ने मिथ्या कल्पना मानकर तिरस्कृत किया है, अरस्तू ने उसे काव्य का प्राणभूत सौंदर्य माना है। अरस्तू का वह प्रसिद्ध वाक्य इस प्रकार है : "उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कवि का कर्तव्य-कर्म जो हुआ है उसका वर्णन करना नहीं है वरन् जो हो सकता है उसका वर्णन करना है—अर्थात् जो सम्भावना अथवा आवश्यकता के अनुसार हो सकता है उसका वर्णन करना है।" (पोयटिक्स : कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस पृ० ३९) 'जो हो सकता है'—अर्थात् 'जो सम्भावना अथवा आवश्यकता के अनुरूप है'; वास्तव में, यह भावना का वही सत्य

है जो द्रष्टा, वक्ता अथवा श्रोता को ग्राह्य है। कुन्तक ने इसी को वस्तु का 'सहृदया-ह्लादकारीस्वस्पन्द' अर्थात् सहृदयों को आह्लाद देने वाला धर्म कहा है। प्रथम उन्मेष में नवमी कारिका की वृत्ति के अन्तर्गत कुन्तक ने लिखा है: "यद्यपि पदार्थ नानाविध धर्म से युक्त हो सकता है फिर भी (काव्य में) ऐसे धर्म से उनका सम्बन्ध वर्णन किया जाता है जो सहृदयों के हृदय में आनन्द की सृष्टि करने में समर्थ हो सकता है। और उस (धर्म) में ऐसी सामर्थ्य सम्भव होती है जिससे कोई अपूर्व स्वभाव की महत्ता, अथवा रस को परिपुष्ट करने की अंगता अभिव्यक्ति को प्राप्त होती है।" उपर्युक्त दोनों उद्धरणों का आशय एक ही है: भेद शब्दावली का है, पहले उद्धरण में दार्शनिक की सांकेतिक शब्दावली है, और दूसरे में काव्य-रसिक की वाक्छटा।

इस प्रकार अरस्तू ने अपने ढंग से वस्तु-वक्रता का प्रतिपादन किया है।

शैली के प्रसंग में तो अरस्तू ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में वक्रता की महत्ता स्वीकार की है। उनके दोनों ग्रन्थों के—काव्य-शास्त्र (पोयटिक्स) तथा रीति-शास्त्र (रहे्टरिक्स) के अनेक उद्धरण वक्रता का पोषण करते हैं:—

१. "प्रचलित प्रयोग से वैचित्र्य भाषा को एक प्रकार की गरिमा प्रदान करता है: + + + इसलिए भाषा में वैचित्र्य का रंग देना चाहिए क्योंकि मनुष्य असाधारण की प्रशंसा करता है और जो प्रशंसा का विषय है वह आह्लाद का भी विषय होता है।" (रहे्टरिक्स पृ० १५०)*

२. "भाषा का गुण यह है कि वह स्पष्ट तो हो किन्तु उसका स्तर नीचा न हो। प्रचलित (रूढ़) शब्दों पर आश्रित पदावली सबसे स्पष्ट होती है, परन्तु उसका स्तर नीचा होता है। + + + असाधारण शब्दावली से सामान्य भाषा में गरिमा आती है और उसका रूप सुन्दर हो जाता है, असाधारण शब्दावली से मेरा अभिप्राय है: दूसरी भाषाओं से गृहीत शब्द, लाक्षणिक प्रयोग, विस्तारित पद तथा प्रचलित शब्दावली से भिन्न अन्य सभी प्रकार का वैचित्र्य।" (पोयटिक्स—पृ०४८)

३. "इन साधनों का प्रयोग केवल भाषा में लावण्य का समावेश करने के लिए ही करना चाहिए। ऐसा करने से अन्य भाषाओं के शब्द, लाक्षणिक प्रयोग, और कल्पित तथा अन्य सभी प्रकार के शब्द जिनका मैंने उल्लेख किया है भाषा-शैली को साधारण तथा निम्न स्तर पर नहीं आने देंगे, और प्रचलित शब्द अर्थ को स्पष्ट करने में सहायक होंगे।" (पृ० ४९)

---

* हॉब्स डाइजेस्ट।

४. "यद्यपि ये सारे साधन जिनका मैंने उल्लेख किया है, उचित रीति से प्रयुक्त होने पर भाषा-शैली को विशिष्टता प्रदान करते हैं—यह बात समस्त शब्दों तथा अन्य भाषा के शब्दों के लिए भी उतनी ही सत्य है, तथापि सबसे अधिक वैचित्र्य का समावेश लाक्षणिक प्रयोगों से होता है क्यों कि मौलिकता की आवश्यकता इन्हीं में होती है और यह प्रतिभा के द्योतक भी हैं।" (पृ० ५०)

लाक्षणिक प्रयोगों का विस्तार से विवेचन करते हुए अरस्तू ने अन्यत्र लिखा है—

५. "उपचार का अर्थ है किसी दूसरी संज्ञा का आरोप, यह आरोप जाति का व्यक्ति पर हो सकता है, या व्यक्ति का जाति पर या व्यक्ति का व्यक्ति पर, या साम्य की परिकल्पना द्वारा। उदाहरण के लिए 'यहाँ मेरा जहाज खड़ा है।' इस पंक्ति में जाति का व्यक्ति पर आरोप है क्यों कि 'लंगर डालना' भी खड़े होने का ही एक विशेष रूप है। 'ओडीसियस हजारों श्रेष्ठ कृत्य कर चुका है—' यहाँ व्यक्ति का आरोप जाति पर है क्यों कि 'हजारों' 'अनेक' का ही एक रूप-भेद है, और इसलिए 'अनेक' के स्थान पर इसका प्रयोग होने लगा है। व्यक्ति के व्यक्ति पर आरोप का उदाहरण इस वाक्य-युग्म में मिलेगा—'लोहे के द्वारा जीवन-रक्त का शोषण करता हुआ' और 'कठोर लोहे से काटता हुआ'—यहाँ 'शोषण करता हुआ' और 'काटता हुआ' इन दो शब्दों का प्रयोग पर्याय रूप में हुआ है क्यों कि दोनों ही 'छेदन' या 'अपहरण' क्रिया के रूपविशेष हैं। साम्य-स्थापन उस स्थिति में होता है जब एक वस्तु का दूसरी वस्तु से वही सम्बन्ध होता है जो तीसरी का चौथी से, और वक्ता चौथी का दूसरी के लिए और दूसरी का चौथी के लिए प्रयोग कर देता है। + +

दूसरा उदाहरण लीजिये :—

वृद्धावस्था का जीवन से वही सम्बन्ध है जो सन्ध्या का दिवस से, अतएव सन्ध्या को 'मरणासन्न दिवस' या वृद्धावस्था को 'जीवन-सन्ध्या' कहा जाता।"

(पृ० ४६-४७)

कहने की आवश्यकता नहीं कि यही कुन्तक की उपचार-वक्रता है:

यत्र दूरान्तरेऽन्यस्मात् सामान्यमुपचर्यते।
लेशेनापि भवत्कांचिद् वक्तुमुद्रिक्तवृत्तिताम्॥

इसका भावार्थ यह है :—

जहाँ अन्य (अर्थात् प्रस्तुत वर्ण्यमान पदार्थ) का सामान्य धर्म अत्यन्त व्यवहित (दूर वाले) पदार्थ पर लेश-मात्र सम्बन्ध से आरोपित किया जाता है, वहाँ उपचार-वक्रता होती है।

दोनों के उदाहरणों में भी इतना ही अधिक साम्य है। कुन्तक के अनुसार (१) स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतः अर्थात् 'आकाश मेघों की स्निग्ध श्यामलता से लिपा हुआ था' और (२) सुविभेद्यैस्तमोभिः—'सूची-भेद्य अंधकार से' में उपचार-वक्रता है। अरस्तू के अनुसार इन दोनों में व्यक्ति का जाति पर आरोप है क्यों कि 'लीपना' 'ढँकना' या 'फैलाना' क्रिया का ही एक रूप-भेद है और 'सूची-भेद्यता' 'घनत्व' का।

इन संकेतों के अतिरिक्त अरस्तू के कथावस्तु-विवेचन में प्रबन्ध-वक्रता तथा प्रकरण-वक्रता के कई रूपों के पूर्व-संकेत मिल सकते हैं। प्रबन्ध-काव्य और इतिवृत्त के विभेद को तीव्र शब्दों में व्यक्त करने वाला निम्न-लिखित वाक्य प्रबन्ध-वक्रता की असंदिग्ध स्वीकृति का द्योतक है।

"प्रबन्ध काव्यों की रचना इतिहास की भाँति नहीं होनी चाहिए।"

(पृ० ४१)

कुन्तक ने भी ठीक इन्हीं शब्दों में प्रबन्ध-वक्रता के रहस्य को अभिव्यक्त किया है : 'गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः'। ४।११। अर्थात् प्रबन्ध काव्यों में कवियों की वाणी केवल इतिवृत्त पर आश्रित होकर जीवित नहीं रहती।

इसी प्रकार अरस्तू के विपर्यास तथा विवृत्ति नामक दोनों प्रबन्ध-चमत्कारों का, जिन्हें उन्होंने प्रबन्ध-कल्पना का उत्कृष्टतम रूप माना है, कुन्तक की प्रकरण-वक्रता के उत्पाद्य-लावण्य आदि भेदों में सहज ही अंतर्भाव हो जाता है। इस प्रसंग का विस्तृत विवेचन 'कुन्तक और प्रबन्ध-कल्पना' के अंतर्गत हो चुका है : यहाँ उसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक होगी।

रोमी आचार्य : सिसरो और होरेस (ईसा-पूर्व प्रथम शती)

यूनान के पश्चात् रोम संस्कृति और साहित्य का केन्द्र बना। काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में अरस्तू की परम्परा सिसरो, होरेस आदि रोमी तथा डायोनीसियस और डिमे-

द्रियस प्रभृति यूनानी आचार्यों के ग्रन्थों में आगे बढ़ी। रोमी संस्कृति और साहित्य के मूल आधार थे गरिमा और औचित्य—अथवा औचित्य-मूलक गरिमा। सिसरो तथा होरेस ने स्वभावतः अपने विवेचन में इन्हीं दो तत्वों को महत्व दिया है और इनके आधार पर अभिव्यंजना में भी संयम, स्पष्टता, अग्राम्यता, गम्भीर पद-रचना आदि गुणों पर ही अधिक बल दिया है। यों तो कुन्तक ने भी औचित्य को ही वक्रता का आधार माना है, परन्तु जैसा कि हमने अन्यत्र स्पष्ट किया है वक्रता और औचित्य का व्यावर्तक धर्म भिन्न है : वक्रोक्तिवाद जहाँ रोमानी काव्य-रूप की प्रतिष्ठा करता है वहाँ औचित्य विचारगत सौष्ठव की। अतएव इन दोनों में प्रकृति का भेद है और निसर्गतः रोमी प्रकृति के साथ कुन्तक की वक्रता की विशेष संगति नहीं बैठती, यद्यपि न रोमी काव्य-शास्त्र वक्रता का पूर्ण बहिष्कार कर सकता है और न कुन्तक औचित्य का; कुन्तक ने तो उसे अनिवार्य तत्व ही माना है।

सिसरो स्वतंत्र-चेता तथा तेजस्वी पुरुष थे। उन्होंने भव्य औचित्य (डेकोरम) को जीवन और साहित्य का प्राण-तत्व माना है। भव्यता में असामान्यता का भी अन्तर्भाव है, अतएव उसके साथ वक्रता की स्वीकृति भी उसी मात्रा में स्वतः हो जाती है। सिसरो उद्देश्य के अनुरूप तीन प्रकार की शैलियों की स्थिति मानते हैं : ऋजु-सरल अनलंकृत शैली उपदेश के लिए, मध्यम शैली—जिसमें रंग की छटा हो किन्तु साथ ही संयम भी हो—प्रसादन के लिए, और उदात्त शैली—जो भव्य तथा सप्राण हो—संप्रेरित करने के लिए। इनमें से रंग की छटा वक्रता की द्योतक है : प्रसादन के लिए सिसरो संयत वक्रता के पक्षपाती हैं। एक स्थान पर वे कहते हैं कि सामान्य व्यवहार की भाषा से भिन्न भाषा का प्रयोग गुरुतम अपराध है।[1] परन्तु अन्यत्र अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है :[2] सुष्ठु शैली उपयुक्त शब्द-चयन पर आश्रित है। उपयुक्त का अर्थ है जनता के वास्तविक व्यवहार की शब्दावली जो स्वतन्त्र शब्द-जाल मात्र न हो—ऐसी शब्दावली जो जनपदीय घिसे-पिटे तथा ग्राम्य तत्वों से मुक्त हो और गरिमा एवं छटा प्रदान करने वाले असाधारण रूपों तथा लाक्षणिक प्रयोगों से सम्पन्न हो। इस प्रकार सिसरो औचित्य के साथ अलंकार-रूप में वक्रता को भी आश्रय दे देते हैं। वास्तव में कुन्तक और सिसरो की दृष्टि में भेद है : कुन्तक के लिए साहित्य का प्राण है वक्रता—औचित्य उसका सामान्य उपबन्ध है, किन्तु सिसरो के अनुसार प्राण-तत्व है औचित्य, पर वक्रता की छटा भी विद्यमान होने से उसका आकर्षण और बढ़ जाता है। होरेस ने वक्रता को इतनी भी मान्यता नहीं दी

१. ओरेटॅरे १।१२। २. वही ३।१७१।

है। उनकी शास्त्रवादी दृष्टि संगति, अनुपात तथा अनुक्रम आदि पर ही केन्द्रित रही है। ये तत्व यद्यपि वक्रता के विरोधी नहीं हैं फिर भी मूलतः कदाचित् ऋजुता के साथ ही इनका घनिष्ठतर सम्बन्ध है।

लांजाइनस (ईसा की तीसरी शती)

यूनानी रोमी आचार्यों में वक्रता का सबसे प्रबल समर्थन लांजाइनस ने किया है, परन्तु यह समर्थन अप्रत्यक्ष रूप में ही किया गया है। लांजाइनस के प्रसिद्ध निबन्ध का प्रतिपाद्य है 'उदात्त भावना'। यह 'उदात्त भावना' निश्चय ही जीवन और काव्य के असाधारण तत्वों पर आधृत रहती है। इस प्रकार उदात्त की परिकल्पना में वक्रता का प्रवेश अनिवार्य रूप से हो जाता है। लांजाइनस ने अनेक स्थलों पर वक्रता के महत्व पर प्रकाश डाला है :

(१) " + + + उदात्त भावना एक प्रकार का अभिव्यंजनागत चमत्कार अथवा विशिष्ट गुण है और महान कवियों तथा लेखकों ने इसी के द्वारा अमर ख्याति का अर्जन किया है। क्यों कि जो असाधारण है अथवा सामान्य से विलक्षण है, वह श्रोता के मन में प्रवृत्ति मात्र जगाकर नहीं रह जाता है, वह तो आह्लाद का उद्रेक करता है।"

(२) "उदात्त शैली के पाँच मुख्य आधार हैं। प्रथम और सबसे प्रमुख है महान परिकल्पना-शक्ति + + + दूसरा है प्रबल और अन्तःप्रेरित आवेग। अलंकार-विधान के अन्तर्गत दो प्रकार के अलंकार आते हैं—विचार से सम्बद्ध और अभिव्यंजना से सम्बद्ध। इसके उपरान्त है भाषागत आभिजात्य जिसके अन्तर्गत शब्द-चयन, लाक्षणिक प्रयोग और भाषा का अलंकरण आदि प्रसाधन आते हैं। पाँचवाँ आधार है— + + रचना की गरिमा और औदार्य।"

इन आधार-तत्वों में से प्रायः सभी वक्रता-मूलक हैं। पहला वस्तु-वक्रता तथा प्रकरण-वक्रता के अन्तर्गत आता है। दूसरा भी रस के आश्रय से उसी के अन्तर्गत माना जा सकता है। शेष का सम्बन्ध वाक्य-वक्रता से है।

(३) "इस प्रकार हम सभी प्रसंगों में कह सकते हैं कि जो उपयोगी अथवा आवश्यक है उसे तो मनुष्य साधारण समझता है, किन्तु जो चमत्कार-पूर्ण और विस्मयकारी है वह उसकी प्रशंसा तथा आदर का पात्र है।"

"मैं तो यह अच्छी तरह समझता हूँ कि उदात्त प्रतिभा निर्दोषता से दूर ही होती है। क्यों कि अनिवार्य शुद्धता में क्षुद्रता की आशंका रहती है और उदात्त में कुछ न कुछ त्रुटि रह जाती है।"

इस प्रकार वक्रता लांजाइनस की उदात्त-विषयक परिकल्पना का एक मूल तत्व है; जो उदात्त है वह अनिवार्यतः सामान्य से विलक्षण अथवा वक्र होगा। यहीं कुन्तक और उनके दृष्टिकोण का भेद भी स्पष्ट हो जाता है। कुन्तक के अनुसार काव्य का प्राण-तत्व है वक्रता, उदात्त या भव्य उसका एक प्रकार है जो वीर रस तथा ऊर्जस्वी भावना से पुष्ट होता है : इसके अतिरिक्त कोमल, मधुर, विचित्र आदि उसके अन्य रूप भी होते हैं। उधर लांजाइनस के मत से काव्य की आत्मा है भव्यता। यह भव्यता अनिवार्य रूप से वक्रता-विशिष्ट होगी, परन्तु सभी प्रकार की वक्रता भव्य नहीं हो सकती—अर्थात् वक्रता भव्यता की अभिव्यंजना का प्रकार मात्र है, पर्याय नहीं है।

लांजाइनस के अतिरिक्त अन्य यूनानी रोमी आचार्यों ने वक्रता पर कोई विशेष बल नहीं दिया। लांजाइनस के पूर्ववर्ती डायोनीसियस और परवर्ती डिमेट्रियस आदि यूनानी आचार्य तथा क्विन्टीलियन आदि रोमी-विद्वान वास्तव में रीतिकार ही थे जिनका ध्यान अनुक्रम, अनुपात संगति आदि रचना-तत्वों पर ही प्रायः केन्द्रित रहा, उनके रीति-निष्ठ दृष्टिकोण में वक्रता जैसे रोमानी तत्व के लिए विशेष स्थान नहीं था।

रोम के पतन के साथ काव्य-शास्त्र का यह यूनानी-रोमी युग समाप्त हो जाता है और यूरोप के इतिहास में मध्य-युग का आरम्भ होता है। यह समय यूरोप के काव्य-शास्त्र के लिए एक प्रकार से अंधकार-युग है। इस युग में काव्य, नाटक, इतिहास, आदि सभी क्षेत्रों में सर्जना का इतना दुर्दम वेग था कि काव्य-विवेचन के लिए कोई अवकाश न रहा। कुछ सामान्य प्रतिभा के लेखकों ने इस दिशा में प्रयत्न किया भी, परन्तु वे या तो यूनानी-रोमी रीति-लक्षणों की पुनरावृत्ति मात्र करते रहे, या रीति-शास्त्र के नाम पर व्याकरण, छन्द-शास्त्र, अलंकार, चित्र-काव्य आदि का रूढ़िबद्ध व्याख्यान-विवेचन करते रहे। काव्य का तात्विक विवेचन इस युग में नहीं हुआ।

ग्रीक लिटरेरी क्रिटिसिज्म में उद्धृत लांजाइनस के ग्रन्थ 'उदात्त' का अनुवाद (डब्ल्यू० रॉबर्ट्स) (१) पृ० १६६ (२) पृ० १७० (३) पृ० १८८, १८५

दान्ते (तेरहवीं शती)

यूरोप के अंधकारमय मध्य-युग के सबसे उज्ज्वल नक्षत्र दान्ते हैं; उन्होंने केवल सर्जन के क्षेत्र में ही नहीं विवेचन के क्षेत्र में भी अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। इस दिशा में उनकी सबसे बड़ी सिद्धि थी युग की आवश्यकता के अनुसार रीति-बद्ध लैटिन के विरुद्ध 'उज्ज्वल जन-वाणी' इटालियन की गौरव-प्रतिष्ठा[1]। उज्ज्वल जन-वाणी से अभिप्राय उनका उस भाषा से था जो काव्य-रूढ़ एवं रीति-बद्ध नहीं हो गई थी वरन् जीवन की विचित्रता और प्रफुल्लता से सम्पन्न थी। इस प्रकार दान्ते ने उज्ज्वल जन-वाणी की प्रतिष्ठा द्वारा अभिव्यक्ति के क्षेत्र में रोमानी वक्रता की प्रतिष्ठा की है। इस स्थापना की पुष्टि में उनके शब्द-विवेचन तथा शैली-सम्बन्धी वक्तव्य भी उद्धृत किये जा सकते हैं। दान्ते के अनुसार शब्द मूलतः तीन प्रकार के होते हैं : कुछ शब्द बच्चों की तरह तुतलाते हैं, कुछ में स्त्रियोचित पेलवता होती है और कुछ शब्दों में पौरुष होता है। अन्तिम वर्ग के शब्दों में कुछ ग्राम्य होते हैं और कुछ नागर; नागर शब्दों में कुछ मसृण और चिक्कण होते हैं, कुछ प्रकृत तथा अनगढ़।

"इन शब्दों में से मसृण और प्रकृत को ही हम उदात्त शब्दावली कहते हैं, चिक्कण और अनगढ़ शब्दों में आडम्बर मात्र रहता है। + + उदात्त शैली में तुतले शब्दों के लिए कोई स्थान नहीं है क्यों कि वे अति-परिचित शब्द होते हैं, स्त्रैण शब्द अपनी स्त्रैणता के कारण और ग्राम्य शब्द अपनी परुषता के कारण त्याज्य हैं। नागर शब्दावली के चिक्कण और अनगढ़ शब्द भी ग्राह्य नहीं हैं। इस प्रकार केवल मसृण और प्रकृत शब्द रह जाते हैं और ये ही शब्द भव्य हैं।"

उपर्युक्त शब्द-विवेचन में दान्ते ने अपने ढंग से—अशास्त्रीय शैली में—मुख्य रूप से वर्णविन्यास-वक्रता और सामान्य रूप से पर्याय-वक्रता आदि वक्रोक्ति-भेदों का विवेचन किया है। परिचित शब्दों का बहिष्कार, ग्राम्य तथा अनगढ़ का त्याग वर्ण-विन्यास के आधार पर शब्द की वक्रता का ही प्रतिपादन है। इसी प्रकार शैली के चार भेदों में से निर्जीव एवं रुचि-विहीन तथा केवल सुरुचि-पूर्ण आदि का अस्वीकार और सुरुचि-पूर्ण, सुन्दर तथा उदात्त गुणों से विभूषित सर्वांग-सुन्दर शैली की शुभाशंसा भी 'वक्रताविचित्रगुणालंकारसम्पदा' की ही प्रतिष्ठा है। इस प्रकार दान्ते काव्य-रचना के क्षेत्र में अपनी कल्पना के मुक्त प्रवाह द्वारा और काव्य-विवेचन के क्षेत्र में स्वतन्त्र चिन्तना द्वारा अर्थ तथा वाणी की वक्रताओं के लिए द्वार खोल देते हैं।

---

(१) उज्ज्वल वह है जो दूसरों को उज्ज्वल करे और स्वयं उज्ज्वल हो।
(डी वल्गेरी एलोक्वेन्शिया)

पुनर्जागरण काल

दान्ते को यूरोप के मनीषियों ने 'प्राचीनों में अन्तिम और आधुनिकों में प्रथम' माना है। उनका समय वास्तव में यूरोप के इतिहास में अन्धकार-युग था—दान्ते ने कुछ समय के लिए उसे अपनी प्रखर प्रतिभा से आलोकित तो अवश्य कर दिया किन्तु फिर भी अन्धकार दूर होते-होते लगभग दो शताब्दियाँ बीत गईं और सोलहवीं शताब्दी में जाकर पुनर्जागरण का प्रभात हुआ। यह युग वास्तव में स्वर्ण-युग है जिसमें यूरोप की अवरुद्ध प्रतिभा सहस्रमुखी होकर तरंगायित हो उठी। इटली, स्पेन, इंगलैंड आदि सभी देशों में यह अदम्य सर्जना का युग था : एक ओर प्राचीन अमर वाङ्मय का पुनरुद्धार हुआ और दूसरी ओर नवीन उत्कृष्ट साहित्य का सृजन। जीवन और साहित्य में शास्त्रीय मूल्यों के स्थान पर रोमानी मूल्यों की प्रतिष्ठा होने लगी और रीति के स्थान पर वक्रता-वैचित्र्य का आकर्षण बढ़ने लगा। सोलहवीं शती में इटालियन भाषा के आलोचकों तथा रीतिकारों के लेखों में वक्रता-वैचित्र्य का स्वर स्पष्ट सुनाई देता है :

१. मैं सत्य और कल्पना के मिश्रण की बात इसलिए करता हूँ क्योंकि इतिहासकार की भाँति कवि वस्तुओं या घटनाओं का यथावत् वर्णन करने के लिए बाध्य नहीं होता : उसका काम तो यह दिखाना है कि वे कैसी होनी चाहिए थीं। (डेनियलो—१५३६ ई०)

२. अब हम एक सर्वमान्य और शाश्वत निर्णय पर पहुँच सकते हैं—और वह यह कि विज्ञान, कला, इतिहास—कोई भी विषय काव्य का प्रतिपाद्य हो सकता है किन्तु शर्त यह है कि उसका प्रतिपादन काव्यमय रीति से हो। (पेट्रिज़ी, १५८६ ई०)।

इन उद्धरणों में 'कल्पना का मिश्रण,' 'यथावत् वर्णन का त्याग' और 'काव्यमय रीति'—ये तीनों ही वक्रता के प्रकार हैं।

इंगलैंड में प्रतिभा का विस्फोट और भी वेग से हुआ—शेक्सपियर ने शास्त्र-रीति का तिरस्कार कर विषय-वस्तु में विक्षेप और तदनुकूल शैली में वैचित्र्य-वक्रता को आग्रह के साथ ग्रहण किया। यह युग वास्तव में वैचित्र्य का ही युग था, इसमें एक ओर परम्परा की पुनःप्रतिष्ठा और दूसरी ओर नवीन प्रयोग की आतुरता थी।

अंग्रेज आलोचक सर फ़िलिप सिडनी की आलोचना में श्रद्धा और विद्रोह दोनों के ही तत्व मिल जाते हैं—उन्होंने परम्परावादी होरेस आदि का अनुसरण न कर लांजाइनस का अनुकरण किया, शिक्षण तथा मनोरंजन की अपेक्षा संप्रेरणा को काव्य की सिद्धि माना और इस प्रकार रोमानी मूल्यों के प्रति अपना अनुराग व्यक्त किया। बैन जॉन्सन जैसे शास्त्र-निष्ठ आलोचक ने भी साहस-पूर्वक यह उद्घोषणा की : 'अरस्तू और अन्य आचार्यों को उनका देय मिलना चाहिए किन्तु यदि हम उनसे आगे सत्य तथा औचित्य-विषयक अन्वेषणाएँ करें तो हमारे प्रति यह विद्वेष क्यों ?'[1] फिर भी समग्र रूप में परम्परा में ही जॉन्सन की निष्ठा अचल रही और उन्होंने उद्भावना की अपेक्षा रीति तथा अनुशासन पर, और इधर वैचित्र्य-वक्रता की अपेक्षा स्पष्टता, समास-गुण, औचित्य-विवेक आदि पर ही अधिक बल दिया।

नव्य-शास्त्रवाद (सत्रहवीं-अठारहवीं शती)

पुनर्जागरण युग के उपरांत सत्रहवीं शती में यूरोपीय आलोचना में क्रमशः नव्य-शास्त्रवाद का आरम्भ होता है। नव्य-शास्त्रवाद का जन्म फ्रांस में हुआ—फ्रांस के कोरनेई तथा बोइलो की आलोचनाओं में यह पुष्पित हुआ और इंगलैंड में पोप के साहित्य में उसका पूर्ण विकास हुआ। नव्य-शास्त्रवाद का मूल सिद्धान्त यह है कि प्राचीन अमर साहित्य का अनुकरण ही साहित्य-सृजन की सफलता का रहस्य है : उनके अनुकरण से विवेक और सुरुचि प्राप्त होती है और विवेक अथवा सुरुचि का नाम ही प्रकृति है। इस प्रकार नव्य-शास्त्रवाद में रीति की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई और वक्रता वैचित्र्य की, आडम्बर मात्र मानकर, भर्त्सना की गई। बोइलो ने इटली के काव्य के वक्रता-वैचित्र्य की नकली हीरों से तुलना की और सत्कवियों को उनका बहिष्कार करने की चेतावनी दी। इंगलैंड में ड्राइडन का दृष्टिकोण अधिक स्वतंत्र तथा संतुलित था ; उन्होंने निष्ठा के साथ-साथ आवश्यक उद्भावना पर बल दिया। उन्होंने अभिव्यंजना के क्षेत्र में गरिमा और भव्यता का स्वागत किया किन्तु औचित्य को प्रमाण माना। कहने का अभिप्राय यह है कि ड्राइडन की दृष्टि रीति-बद्ध नहीं थी—प्राचीन रीति का उन्होंने तिरस्कार नहीं किया, परन्तु वैचित्र्य भी उन्हें इतना ही मान्य था जितना कुन्तक को। पोप ने उनका अनुसरण न कर बाइलो के ही प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त की है। पोप में वक्रता की स्वीकृति केवल उसी अनुपात से मिलती है जिस अनुपात से रीति-सिद्धान्त में वक्रोक्ति-सिद्धान्त की। अर्थात् पोप का दृष्टिकोण शुद्ध रीतिवादी है—परन्तु कुन्तक की वक्रता का क्षेत्र तो सर्व-व्यापी है और रीति

१. डिस्कवरीज़।

अर्थात् पद-रचना का सौंदर्य भी वक्रता का एक प्रकार है। पद-लालित्य-रसिक पोप ने अपनी रचनाओं में इसी सीमित अर्थ में वक्रता को स्वीकृति दी है। अन्यथा बोइलो की भाँति उन्होंने भी शैलीगत वैचित्र्य-वक्रता का तिरस्कार ही किया है, "मिथ्या वाग्मिता ही अशुद्ध शैली है। उसकी स्थिति एक ऐसे शीशे के समान है, जो चारों ओर अपने भड़कीले रंगों को बिखेर देता है जिनके कारण हम पदार्थों के सहज रूपों को नहीं देख पाते। सभी में एक जैसी चमक-दमक उत्पन्न हो जाती है, किसी में कोई भेद नहीं रहता।" (ऐसे ऑन क्रिटिसिज्म) उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि पोप शैलीगत वक्रताओं के विरुद्ध हैं और इस प्रकार की शैली को अशुद्ध शैली तथा मिथ्या वाग्मिता का पर्याय मात्र मानते हैं। मिथ्या अलंकरण तथा शब्दाडम्बर का तिरस्कार कुन्तक ने भी किया है। परन्तु दोनों में दृष्टि का भेद है : पोप तो स्वच्छ-शुद्ध शैली के पक्षपातवश वैचित्र्य मात्र का विरोध करते हैं।

ऐडिसन (अठारहवीं शती)

ऐडिसन पोप के ही समसामयिक थे, परन्तु उनकी दृष्टि कहीं अधिक उदार और मुक्त थी, उन्होंने काव्य में कल्पना के महत्व की पुनः प्रतिष्ठा की। लांजाइनस के उपरान्त पहली बार कल्पना की इतने स्पष्ट शब्दों में स्थापना करने के कारण ही ऐडिसन को आज यूरोपीय काव्य-शास्त्र के इतिहास में विशिष्ट स्थान प्राप्त है। कल्पना की यह स्वीकृति प्रकारान्तर से वक्रता की भी स्वीकृति है, और ऐडिसन के प्रतिपादन द्वारा दान्ते के पश्चात् शताब्दियों बाद यूरोप के काव्य-शास्त्र में वक्रता के प्रति सम्मान की भावना का उदय होता है। ऐडिसन ने वक्रता के अनेक रूपों को अपने ढंग से स्वीकार किया है :

१. "+ + मैं स्पष्टीकरण के लिए केवल ये शब्द और जोड़ देना चाहता हूँ कि प्रत्येक प्रकार के भाव-साम्य में चमत्कार नहीं है; केवल वही साम्य इसके अंतर्गत आता है जिसमें आह्लाद और विस्मय उत्पन्न करने की क्षमता हो : चमत्कार के लिए ये दो गुण अनिवार्य हैं—विशेषकर विस्मय। कोई भी सादृश्य अथवा साम्य-वर्णन तभी चमत्कार के अन्तर्गत आ सकता है जब समान तथ्य अपने प्रकृत रूप में एक दूसरे के बहुत अधिक निकट न हों क्योंकि जहाँ साम्य सर्वथा स्पष्ट है वहाँ विस्मय की उद्बुद्धि नहीं होती। एक व्यक्ति के संगीत की दूसरे के संगीत से उपमा देने अथवा किसी पदार्थ की शुभ्रता की दूध या बर्फ से तुलना करने या उसके रंगों को इन्द्रधनुष के रंगों के समान कहने में तब तक कोई चमत्कार नहीं है जब तक इस स्पष्ट

साम्य के अतिरिक्त लेखक किसी ऐसी संगति की अन्वेषणा नहीं कर लेता जो पाठक के मन में विस्मय की उद्‌बुद्धि कर सके।" (स्पेक्टेटर अंक ६२)। उपर्युक्त उद्धरण में ऐडिसन वार्ता और वक्रता के भेद की व्याख्या कर रहे हैं : साधारण साम्य-स्थापना वार्ता मात्र है, जब कवि उसमें किसी वैचित्र्य की उद्भावना करता है तभी उसमें चमत्कार का समावेश होता है। आह्लाद और विस्मय पर आश्रित यही चमत्कार कुन्तक की वक्रता है।

कुन्तक के समान ऐडिसन भी 'कोरे चमत्कार' की निन्दा करते हैं : "जिस प्रकार वास्तविक चमत्कार इस तरह के भाव या तथ्य-साम्य तथा संगति में निहित है, इसी प्रकार मिथ्या चमत्कार का आधार होता है पृथक् वर्णों का साम्य तथा संगति जैसे कतिपय अनुप्रास-भेदों या एकाक्षर आदि में, या शब्दों का साम्य तथा संगति जैसे यमकादि में, अथवा समग्र वाक्य या रचनागत साम्य और संगति जैसे खड्ग-बंध आदि में।"　　　　(स्पेक्टेटर अंक ६२)।

तुलना कीजिए :

व्यसनितया प्रयत्नविरचने हि प्रस्तुतौचित्यपरिहाणेः वाच्यवाचकयोः परस्पर-स्पर्धित्वलक्षणसाहित्यविरहः पर्यवस्यति।

अर्थात् व्यसन के कारण प्रयत्न-पूर्वक (अनुप्रास यमकादि) की रचना करने से प्रस्तुत (रसादि) की हानि हो जाती है और इस प्रकार शब्द और अर्थ के परस्पर-स्पर्धा-रूप साहित्य का अभाव हो जाता है। (हिन्दी व० जी० २। ४ कारिका की वृत्ति)।

एक अन्य स्थान पर ऐडिसन ने वस्तु-वक्रता का भी बड़ा सुन्दर विवेचन किया है : "मैं पहले कल्पना के ऐसे आह्लाद का विचार करूँगा जो बाह्य पदार्थों के प्रत्यक्ष अवलोकन से उपलब्ध होता है, जो महान हैं, असाधारण अथवा विलक्षण हैं तथा सुन्दर हैं। + + +

महान से मेरा अभिप्राय विशाल आकार का नहीं है, वरन् सम्पूर्ण दृश्य की अखण्ड विराटता का है। + + +

प्रत्येक नवीन तथा असाधारण वस्तु से कल्पना के आनन्द की उद्‌बुद्धि होती है क्योंकि इससे आत्मा एक सुखद विस्मय की भावना से ओतप्रोत हो जाती।

+　　　　+　　　　+　　　　+

किन्तु आत्मा पर सौंदर्य से अधिक प्रत्यक्ष प्रभाव और किसी तत्व का नहीं पड़ता। सौंदर्य से कल्पना के द्वारा हमारी आत्मा एक प्रच्छन्न परितोष की भावना से व्याप्त हो जाती है और महान तथा असाधारण का आकर्षण मानो पूर्ण हो जाता है।"[1]

यह कुन्तक के 'सहृदयाह्लादकारी स्वस्पन्दसुन्दर' पदार्थ की प्रकारान्तर से विवेचना है, जिसकी व्याख्या कुन्तक ने भी प्रायः समान शब्दों में की है : 'यस्मात् प्रतिभायां तत्कालोल्लिखितेन केनचित्परिस्पन्देन परिस्फुरन्तः पदार्थाः प्रकृत-प्रस्तावसमुचितेन केनचिदुत्कर्षेण वा समाच्छादितस्वभावाः सन्तः + + + चेतन-चमत्कारितां आपद्यन्ते।' हिन्दी व० जी० १।१९ वीं कारिका की वृत्ति। अर्थात् कवि का विवक्षित पदार्थ (१) विशेष रूप से प्रतिभात (प्रतिभोल्लिखित), (२) किसी विशेष स्वभाव से युक्त (३) प्रसंगोचित अपूर्व उत्कर्ष से समाच्छादित होकर सहृदय के चित्त को चमत्कृत करता है।

इसी प्रकार भाषा-शैली में भी ऐडिसन ने वक्रता की उपादेयता स्वीकार की है :

"रचना के आचार्य इस रहस्य से भली भाँति परिचित थे कि अनेक सुन्दर पद या उक्तियाँ जन-सामान्य के प्रयोग द्वारा 'भ्रष्ट' होकर काव्य अथवा साहित्यिक वक्रता के उपयुक्त नहीं रह जातीं। + +

अतएव महाकाव्य की भाषा के लिए प्रसाद गुण पर्याप्त नहीं—उसमें भव्यता का भी समावेश रहना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि उसमें साधारण प्रयोग तथा पदावली से विलक्षणता होनी चाहिए। कवि के विवेक का एक बड़ा प्रमाण यह भी है कि वह अपनी भाषा-शैली में सामान्य 'मार्गों' का त्याग करे किन्तु साथ ही उसे जड़ तथा अप्राकृतिक भी न होने दे।"[2]

---

१. स्पेक्टेटर अंक ५१२।

२. स्पेक्टेटर अंक २८५।

स्वच्छन्दतावाद का पूर्वाभास

अठारहवीं शती का उत्तरार्ध

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में रीति-बद्ध प्रकृति तथा रूढ़ि-बद्ध काव्य-शिल्प के विरुद्ध प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई। इंगलैंड में यंग आदि और जर्मनी में लैसिंग शिलर, गेअटे आदि ने कवि-प्रतिभा के स्वातन्त्र्य और कला की स्वच्छन्दता की प्रबल शब्दों में पुनःप्रतिष्ठा की। यंग ने प्राचीन के अनुकरण की अपेक्षा मौलिक-सृजन का स्तवन किया और नव्य-शास्त्रवादियों द्वारा प्रतिपादित रीतिवाद की निन्दा की। उन्होंने रूढ़ और सामान्य मार्ग के त्याग तथा वैचित्र्य-वक्रता के ग्रहण का अनुमोदन किया :

"रूढ़ मार्ग को त्याग कर ही कवि कीर्ति प्राप्त कर सकता है, उसके लिये लीक को छोड़ना आवश्यक है, सामान्य मार्ग से जितनी दूर तुम्हारा पथ होगा उतना ही यश तुम्हें मिलेगा। × × ×

कविता में गद्य के विवेक की अपेक्षा कुछ अधिक रहता है, उसमें कुछ ऐसे रहस्य विद्यमान रहते हैं जिनकी व्याख्या नहीं केवल प्रशंसा ही की जा सकती है— जिससे केवल गद्यमय व्यक्ति उनके दिव्य-चमत्कार के प्रति नास्तिक हो जाते हैं।"[१]

प्रसिद्ध जर्मन आलोचक लैसिंग ने भी अत्यन्त सूक्ष्म-गहन रीति से काव्य के भावात्मक रूप की स्थापना की और अपने परवर्ती स्वच्छन्दतावादी कवि-कलाकारों के लिए मार्ग प्रशस्त किया। काव्य और चित्र के पारस्परिक सम्बन्ध को व्यक्त करते हुए उन्होंने अपने अमर ग्रन्थ 'लिओकोऊन' में एक स्थान पर वस्तु-वक्रता का अत्यन्त वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया है—

"इसी प्रकार कवि भी काव्य-रचना के समय अपनी अविरल अनुक्रिया में वस्तु के केवल एक ही गुण का ग्रहण कर सकता है, इसलिए उसे ऐसे ही गुण का चयन करना चाहिए जो वस्तु का सबसे सजीव चित्र मन में जगा सके + +

"कवि का अभीष्ट केवल अर्थ-बोध कराना नहीं होता, उसका वर्णन केवल स्पष्ट-सरल हो यही पर्याप्त नहीं है, यद्यपि गद्य-लेखक का इतने से ही परितोष हो सकता है। वह तो अपनी कविता द्वारा पाठक के मन में उद्बुद्ध विचारों को जीवन्त

१. कन्जैक्चर्स ऑन ओरिजिनल कम्पोजीशन।

रूप देना चाहता है जिससे कि हम उस समय वर्णनीय पदार्थ के वास्तविक ऐन्द्रिय प्रभाव की अनुभूति कर सकें और माया के इन क्षणों में हमें उसके साधनों का—अर्थात् शब्दों का ज्ञान ही न रहे।"

साधारण गुणों का यह त्याग और विशेष प्रभावक गुणों का ग्रहण वस्तु-वक्रता का मूल सिद्धान्त है—कुन्तक ने भी लगभग समान शब्दों में उसका विवेचन किया है : "इसका अभिप्राय यह हुआ कि यद्यपि पदार्थ नानाविध धर्म से युक्त हो सकता है, फिर भी उस प्रकार के धर्म से उसका धर्म (काव्य में) वर्णित किया जाता है जो सहृदयों के हृदय में आनन्द उत्पन्न करने में समर्थ हो सकता है, और उसमें ऐसी सामर्थ्य सम्भव होती है जिससे कोई अपूर्व स्वभाव की महत्ता अथवा रस को परिपुष्ट करने की अंगता अभिव्यक्ति को प्राप्त करती है।" (हिन्दी व० जी० ६ वीं कारिका की वृत्ति)

शिलर और गेअटे लैसिंग के ही समसामयिक थे।—शिलर ने जर्मनी में स्वच्छन्दतावाद का प्रबल समर्थन किया। अपनी प्रसिद्ध रचना 'सरल और भाव-प्रधान काव्य' में उन्होंने वास्तव में प्राचीन अमर काव्य तथा नवीन स्वच्छन्दतावादी काव्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए स्वच्छन्दतावादी मूल्यों की स्थापना की है—और वस्तु-निष्ठ सरलता के स्थान पर भाव-परक वैचित्र्य-वक्रता का अनुमोदन किया है। गेअटे प्रकृति से स्वच्छन्दतावादी कलाकार थे, उनकी रचनाओं में रम्य और अद्भुत के प्रति प्रबल आकर्षण मिलता है। वैसे सिद्धान्त में गेअटे ने प्राचीनों की शास्त्रीय परम्परा की स्थान-स्थान पर दुहाई दी है, परन्तु जैसा कि शिलर ने एक बार लिखा था, उनके काव्य की आत्मा और तदनुसार उनके कलात्मक दृष्टिकोण का निर्माण, उनकी इच्छा के विरुद्ध, निश्चय ही रोमानी तत्वों से हुआ है।

"सूक्ष्म अवयवों के अंकन में कलाकार को निश्चय ही श्रद्धा तथा निष्ठा के साथ प्रकृति का अनुकरण करना चाहिए। + + + किन्तु कला-सृजन के उच्च-तर क्षेत्र में, जिसके कारण चित्र वास्तव में चित्र बनता है, उसे स्वच्छन्दता रहती है और वह कल्पना का उपयोग कर सकता है।"[1]

प्रकृति का सर्वथा अनुकरण न कर कल्पना के उपयोग द्वारा—वस्तु के चित्र में उसके प्रकृत रूप से विलक्षणता उत्पन्न करना ही वस्तु-वक्रता है। इस प्रकार इन कलाकारों ने अपनी विवेचना और रचना के द्वारा अंग्रेजी काव्य के उस समृद्ध युग के लिए द्वार खोल दिया जो इतिहास में रोमानी युग के नाम से प्रसिद्ध है।

१. कन्वरसेशन्स विद ऐकरमैन।

स्वच्छन्दतावाद

मान्य आलोचकों के अनुसार स्वच्छन्दतावादी कला के आधार-तत्व हैं रम्य और अद्भुत और उसकी प्रेरक शक्ति है अदम्य आवेग। भारतीय काव्य-शास्त्र के अनुसार इस युग का दृष्टिकोण आवेग की प्रधानता के कारण निश्चय ही रसवादी है—परन्तु अभिव्यंजना में रम्य और अद्भुत का वैभव-विलास होने के कारण वक्रता की वांछा भी उसमें कम नहीं है : उसका विरोध वास्तव में रीतिवाद से है जो यूरोप में नव्य-शास्त्रवाद का आश्रय लेकर प्रकट हुआ था। भारतीय काव्य-शास्त्र में भी रसवाद और वक्रोक्तिवाद में कोई मौलिक विरोध नहीं है—वक्रता वस्तुतः रमणीयता का ही दूसरा नाम है और कुन्तक ने स्थान-स्थान पर उसे रस-निर्भर अथवा रस-परिपुष्ट माना है। इस प्रकार रस और वक्रता एक दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं। यूरोप के रोमानी काव्य में रम्य के साथ अद्भुत के प्रति भी प्रबल आग्रह विद्यमान है, अतएव उसमें तो रस के साथ-साथ वक्रता-वैचित्र्य का समावेश भी उसी अनुपात से हुआ है।

अंग्रेजी साहित्य में स्वच्छन्दतावाद का प्रवर्तन वर्ड्सवर्थ द्वारा लिखित 'लिरिकल बैलड्स की भूमिका' के साथ होता है : वह मानो युग परिवर्तन की उद्घोषणा थी। वर्ड्सवर्थ की प्रकृति सरल और गम्भीर थी, उनकी भावुकता वैचित्र्य-विलास की अपेक्षा जीवन और जगत के सरल-गम्भीर रूपों में अधिक रमती थी। उधर अपने समसामयिक काव्य की कृत्रिम समृद्धि के प्रति उनके मन में घोर वितृष्णा की भावना जगी हुई थी। अतएव उन्होंने मूल मानव-मनोवृत्तियों पर आश्रित शुद्ध रसवाद की अत्यधिक आग्रह के साथ प्रतिष्ठा की। कविता उनके मत से प्रबल मनोवेगों का सहज उच्छलन है—वह शांति के क्षणों में भाव-स्मरण है। मानव की सहज-शुद्ध रागात्मक प्रवृत्तियों का परितोष उसका उद्देश्य है। शुद्धता के प्रति इस प्रबल आग्रह के कारण वर्ड्सवर्थ अपने सिद्धान्त-निरूपण में स्थान-स्थान पर वक्रता-वैचित्र्य का तिरस्कार करते प्रतीत होते हैं :

(१) *"इन कविताओं में मेरा उद्देश्य रहा है जन-साधारण के जीवन से घटनाओं तथा स्थितियों का चयन करना तथा उन्हें जनता के वास्तविक व्यवहार की भाषा से चुनी हुई शब्दावली में अभिव्यक्त करना।"*

(२) "सामान्यतः मैंने ग्रामीण तथा निम्न-वर्ग के जन-जीवन को अपना विषय बनाया है × × × क्योंकि ये लोग अपनी सामाजिक स्थिति तथा संकुचित एवं परिवर्तनहीन कार्य-क्षेत्र के कारण सामाजिक दम्भ से अपेक्षाकृत मुक्त रहते हैं और अपनी भावनाओं तथा धारणाओं को सरल तथा अलंकारहीन भाषा में व्यक्त करते हैं।"

(३) वर्ड्सवर्थ ने उन कवियों की निन्दा की है "जो यह समझते हैं कि अपने को जन-साधारण की अनुभूतियों से पृथक् रख तथा अपने कल्पना-प्रसूत रुचि-चापल्य के लिए खाद्य प्रस्तुत कर वे अपनी तथा अपनी कला की मान-वृद्धि कर रहे हैं।"

(४) "पाठक देखेंगे कि इन रचनाओं में अमूर्त भावनाओं या विचारों का मानवीकरण बहुत ही कम किया गया है—शैली का उन्नयन करने, उसे गद्य-भाषा से ऊपर उठाने के साधन-रूप में इस प्रकार के प्रयोगों का सर्वथा बहिष्कार किया गया है। मेरा उद्देश्य यह रहा है कि जन-व्यवहार की वास्तविक भाषा का अनुकरण किया जाय और यथा-सम्भव उसे ही ग्रहण किया जाय। × × × इन रचनाओं में तथाकथित काव्य-भाषा का प्रयोग नहीं है।"

(५) "यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि गद्य और कविता की भाषा में न कोई मूल भेद है और न हो सकता है।"

(६) तथाकथित काव्य-भाषा की निन्दा करते हुए वर्ड्सवर्थ ने लिखा है: "सभी राष्ट्रों के प्राचीन कवियों ने सच्ची घटनाओं से उद्बुद्ध मनोवेग की प्रेरणा से रचना की है। उन्होंने सहज मानव-भाषा का प्रयोग किया है: चूंकि उनकी अनुभूति प्रबल थी, अतः उनकी भाषा ओज-पूर्ण और सालंकार थी। बाद में कवियों ने अथवा कवियशःप्रार्थी व्यक्तियों ने देखा कि इस प्रकार की भाषा में बड़ा प्रभाव है, और प्रबल मनोवेगों के अभाव में ही उनके मन में भी इसी प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करने की वांछा उत्पन्न हुई तो उन्होंने इन अलंकारों का यन्त्रवत् प्रयोग प्रारम्भ कर दिया। कहीं-कहीं तो इनका उचित उपयोग किया गया, परन्तु अधिकतर इनका आरोपण ऐसी भावनाओं और विचारों पर होने लगा जिनसे इनका कोई सहज सम्बन्ध नहीं था। इस प्रकार अज्ञात रूप से एक ऐसी भाषा का जन्म हो गया जो किसी भी स्थिति में जन-भाषा से अत्यन्त भिन्न थी। × × ×

१, २, ३, ४, ५, ६,—प्रिफ़ेस टू लिरिकल-बैलड्स।

आगे चलकर यह कुप्रवृत्ति और भी बढ़ गई और कविगण अपनी रचनाओं में ऐसी शब्दावली का प्रयोग करने लगे जो बाहर से तो आवेग की सालंकार शब्दावली के समान प्रतीत होती थी, परन्तु वास्तव में वह उनकी अपनी ही करामात होती थी और मनमाने ढंग पर सुरुचि तथा प्रकृति से भिन्न होती थी।

यह ठीक है कि प्राचीन कवियों की भाषा जन-साधारण की भाषा से बहुत-कुछ भिन्न होती थी क्योंकि वह असाधारण क्षणों की वाणी होती थी। × × × परवर्ती काव्य की विकृतियों को इस तथ्य से बड़ा प्रोत्साहन मिला; इसकी आड़ में परवर्ती कवियों ने ऐसी शब्दावली का निर्माण कर डाला जो सच्ची काव्य-भाषा से एक बात में अवश्य समान थी, और वह यह कि सामान्य व्यवहार में उसका प्रयोग नहीं होता था—वह साधारण से भिन्न थी।

× × × इस प्रकार की विकृतियों का एक देश से दूसरे देश में आयात होता रहा, ज्यों-ज्यों संस्कार-परिष्कार की भावना बढ़ती गयी त्यों-त्यों कवियों की भाषा अधिकाधिक विकृत होती गयी और उसके प्रकृत मानव-तत्त्व नाना प्रकार के चमत्कारों, वैचित्र्य-वक्रताओं, चित्रालंकारों तथा प्रहेलिकाओं के आडम्बर में लुप्त होते गये।

उपर्युक्त उद्धरणों में वर्ड्सवर्थ ने वक्रता-वैचित्र्य पर निर्मम प्रहार किये हैं और ऐसा प्रतीत होता है मानो वे वक्रोक्तिवाद के घोर विरोधी हैं। परन्तु स्थिति इतनी विषम नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि वक्रता-विलास वर्ड्सवर्थ की गम्भीर प्रकृति के अनुकूल नहीं था, और यह भी सत्य है कि युग-प्रवर्तक के उत्साह तथा आवेश में उन्होंने कुछ अत्युक्तियाँ भी की हैं जिनका निराकरण उनके अपने काव्य से ही हो जाता है, फिर भी उनके विचारों का विश्लेषण करने पर स्पष्ट हो जाता है कि यह विरोध मूलतः वक्रता से न होकर कृत्रिम अथवा मिथ्या वक्रता-विलास से ही है। संयत वक्रता का उन्होंने स्वयं अनेक प्रकार से महत्व स्वीकार किया है :

(१) "जिस प्रकार की कविता का समर्थन मैं कर रहा हूँ, उसकी शब्दावली यथा-सम्भव मानव-व्यवहार की भाषा से चुनी हुई होती है, और जहाँ कहीं यह चयन सुरुचि एवं सहृदयता के साथ किया जाता है, वहाँ इसके द्वारा ही भाषा में कल्पनातीत विलक्षणता आ जाती है तथा वह जन-साधारण की भाषा की क्षुद्रता और ग्राम्यता से एकदम ऊपर उठ जाती है, और फिर छन्द का योग हो जाने पर तो, मेरा विश्वास

है कि उसमें इतनी विलक्षणता का समावेश अवश्य हो जाता है जिससे किसी भी विवेकशील व्यक्ति का परितोष हो सके।"

(२) "कुछ अलंकार ऐसे भी हैं जो आवेग-प्रेरित होते हैं और मैंने उनका इसी रूप में प्रयोग किया है।"

(३) "क्योंकि यदि कवि उपयुक्त विषय का निर्वाचन करेगा तो स्वभावतः वह विषय यथा-प्रसंग आवेगों को जन्म देता चलेगा जिनकी भाषा विवेकपूर्ण उचित चयन करने पर, उदात्त एवं वैचित्र्य-सम्पन्न और लाक्षणिक प्रयोगों तथा अलंकारों से विभूषित हो जायेगी।"

(४) "दूसरी ओर यदि कवि के शब्द आवेग-दीप्त तथा सहृदय की भावना की उचित उद्‌बुद्धि करने में समर्थ हों, × × × तो उनसे छान्दिक संगीत-जन्य आनन्द की और भी वृद्धि होगी।"

सारांश यह है कि वर्ड्‌सवर्थ का दृष्टिकोण शुद्ध रसवादी है और वक्रता के कृत्रिम चमत्कार उन्हें सर्वथा असह्य हैं, परन्तु वे रसाश्रित वक्रता-वैचित्र्य और रमणीयता की महत्ता को मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं। वास्तव में उन्होंने काव्य के इस सिद्धान्त को स्पष्ट शब्दों में स्वीकृति दी है कि रस की दीप्ति से शैली अनिवार्यतः वक्रता-सम्पन्न हो जाती है—और यही काव्य का अन्तिम सिद्धान्त भी है जहाँ रस और वक्रोक्ति सम्प्रदाय एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी न होकर पूरक बन जाते हैं।

कॉलरिज ने वर्ड्‌सवर्थ की अतिरंजनाओं का प्रतिवाद करते हुए इस सिद्धान्त का अत्यन्त सूक्ष्म-गहन एवं निर्भ्रान्त विवेचन किया है। वर्ड्‌सवर्थ की अत्युक्तियों का स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने यही लिखा है कि समसामयिक कवियों के वाग्-डम्बर से क्षुब्ध होकर वर्ड्‌सवर्थ ने अपने दृष्टिकोण को थोड़ा संकुचित कर लिया था। इसी वितृष्णा के कारण उनका वक्तव्य अतिव्याप्त हो गया है। कॉलरिज ने अतिव्याप्ति का निराकरण किया है और काव्य के प्रकृत, विवेक-सम्मत वागर्थ-सम्पृक्ति के सिद्धान्त का मार्मिक प्रतिपादन किया है।

"मैं पाठक को स्मरण कराना चाहता हूँ कि जिन मन्तव्यों का मुझे खण्डन करना है वे इन वाक्यों में अन्तर्निहित हैं—'मानव-व्यवहार की वास्तविक भाषा से

१, २, ३, ४. प्रिफ़ेस टु लिरिकल बैलड्स से उद्धृत।

चयन;' 'मैं इनकी (अर्थात् ग्रामीण तथा निम्न वर्ग के लोगों की) भाषा का अनुकरण और यथा-सम्भव वास्तविक जन-भाषा का ग्रहण करना चाहता हूँ;' 'गद्य और कविता की भाषा में न कोई भेद है और न हो सकता है।' (क)

इन तीनों स्थापनाओं का कॉलरिज ने क्रमशः खण्डन किया है। उनका तर्क है कि 'वास्तविक भाषा' प्रयोग शुद्ध नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी भाषा होती है जो वैयक्तिक, वर्गगत और सार्वजनीन तत्वों से युक्त होती है। अतएव 'वास्तविक भाषा' जैसी कोई वस्तु नहीं है—'वास्तविक' के स्थान पर 'साधारण' शब्द का प्रयोग अपेक्षित है। इसके अतिरिक्त ग्रामीण तथा निम्न-वर्ग की जनता की भाषा का ग्रहण भी काव्य के लिये श्रेयस्कर नहीं हो सकता क्यों कि शिक्षा-दीक्षा के अभाव में उसका विचार-क्षेत्र अत्यन्त संकुचित होता है, अतएव उसकी अभिव्यक्ति के साधन सर्वथा सीमित तथा अस्पष्ट होते हैं।

गद्य और पद्य की भाषा के अभेद का निषेध कॉलरिज ने विस्तार से तथा अत्यन्त समर्थ युक्तियों के द्वारा किया है :

१. "छन्द का आविर्भाव आवेग-दीप्ति के कारण होता है, अतः यह आवश्यक है कि छन्दोमयी रचना की भाषा भी सर्वत्र आवेग-दीप्त हो। × × ×। कविता का सम्बन्ध, वर्ड्सवर्थ ने ठीक ही कहा है, आवेग से है। × × × अभिव्यक्ति का विशेष प्रकार भी होता है।"

२. "छन्द के प्रयोग से चित्र-मय तथा सजीव भाषा का प्रचुर प्रयोग आवश्यक ही नहीं वरन् सहज-स्वाभाविक हो जाता है। × × × जहाँ तक छन्द के प्रभाव का सम्बन्ध है, छन्द से सामान्य भावना तथा अवधान की सजीवता एवं तीव्रता में वृद्धि होती है। यह प्रभाव उत्पन्न होता है विस्मय-भाव के निरन्तर उद्बोधन और जिज्ञासा की बार-बार उद्दीप्ति तथा परितृप्ति से। औषध-सिक्त वातावरण अथवा उद्दीप्त वार्तालाप के समय मदिरा की भाँति उनका प्रबल किन्तु अलक्षित प्रभाव पड़ता है।"

छन्द स्वयं अवधान को तीव्र करता है—और यह प्रश्न उठता है कि अवधान

(क) बायोग्रेफ़िया लिटरेरिया परिच्छेद १७

(१), (२) वही।

को तीव्र करने का क्या प्रयोजन है ? × × × इसका एक ही युक्तियुक्त उत्तर मेरे मन में आता है और वह यह कि मैं छन्दोबद्ध रचना इसलिए करता हूँ क्योंकि गद्य से भिन्न भाषा का प्रयोग करने वाला हूँ।

× × ×

अतएव गद्य और कविता की भाषा में तात्विक अन्तर है और होना चाहिए।"

इस प्रकार कॉलरिज ने अपने कवि-मित्र की सम्मति में संशोधन करते हुए वक्रता की अनिवार्यता की पुनः प्रतिष्ठा की है। उनका स्पष्ट मत है कि कविता की शैली में आवेग की दीप्ति के कारण, एक प्रकार का वक्रता-वैचित्र्य स्वभावतः ही उत्पन्न हो जाता है: यह वैकल्पिक नहीं है, अनिवार्य है; अतएव वक्रता भी काव्य-शैली का अनिवार्य तत्व है।

रोमानी युग की आलोचना और कविता दोनों में वक्रता की महिमा में वृद्धि होती गयी। (१) डीक्विन्सी ने भाषा को आत्मा का व्यक्त रूप माना है—जो उसकी (भाषा की) व्यंजना-शक्ति तथा वक्रता की ही प्रबल स्वीकृति मात्र है। उनके अनुसार साहित्य के दो भेद हैं (१) ज्ञान का साहित्य जिसका आधार तथ्य और माध्यम इतिवृत्त शैली है, और (२) प्रेरणा का साहित्य, जिसका आधार मानव-मनोवेग तथा कल्पना, और माध्यम उच्छ्वासमयी वक्र शैली है। शैली ने 'कविता के पक्ष में' नामक प्रसिद्ध निबन्ध में एक ओर कविता के शब्दों के विद्युत्-प्रभाव तथा स्फुलिंग शक्ति का अत्यन्त उच्छ्वासके साथ उल्लेख किया है और दूसरी ओर वस्तु-वक्रता का मार्मिक प्रतिपादन किया है। "कविता विश्व के ऊपर से परिचय-जन्य साधारणता का आवरण हटाकर उसके सुप्त सौंदर्य का उद्घाटन कर देती है।" कीट्स की कविता में वक्रता-वैचित्र्य-सम्पदा का अपूर्व उल्लास है। उन्होंने भाषा की चित्र-शक्ति का अद्भुत विकास किया है—अंग्रेजी आलोचकों का मत है कि उनकी भाषा में केवल रूप और रस की ही नहीं, गन्ध की व्यंजना करने की भी अपूर्व क्षमता है। वास्तव में वक्रता का ऐसा वैभव अन्यत्र दुर्लभ है।

स्वच्छन्दतावाद के उपरान्त

स्वच्छन्दतावाद के आवेगमय विस्फोटों के उपरान्त यूरोप की चिन्ता-धारा में विज्ञान के वर्धमान प्रभाव के कारण फिर विचार-विवेक की प्रतिष्ठा होने लगी। फ्रांस में सेंट-ब्यूव (साँ ब्युव) ने काव्य में व्यक्ति-तत्व पर बल देते हुए भी आवेगों के संयम-

संस्कार का स्तवन किया और व्यापक आधार पर शास्त्रीय मूल्यों की फिर से स्थापना की। टेन ने साहित्य पर जाति, देश, काल आदि के नियामक प्रभाव को महत्व देते हुए ऐतिहासिक आलोचना का व्यवस्थापन किया। इन आलोचकों की विचार-पद्धति ही सर्वथा भिन्न थी—उसमें वक्रता, ऋजुता आदि कला-दृष्टियों के लिए स्थान नहीं था : यद्यपि यह भी सत्य है कि वक्रता से इनका कोई विरोध नहीं था। इंगलैंड में विक्टोरिया का युग संयम और सुरुचि का प्रतीक था। मैथ्यू आर्नल्ड ने काव्य में 'उदात्त गम्भीरता' को प्रमाण माना और काव्य-वस्तु को प्रधानता दी : उन्होंने काव्या-शैली को भी उचित मान दिया, परन्तु उसे 'वस्तु के अधीन' ही माना। सामान्यतः कला-विलास का आर्नल्ड की दृष्टि में विशेष मूल्य नहीं था, उन्होंने वक्रता-वैचित्र्य तथा अलंकरण आदि के प्राचुर्य का विशेष आदर नहीं किया। किंग लीअर की आलोचना करते हुए आर्नल्ड ने लिखा है : अभिव्यंजना की यह प्रति-वक्रता वास्तव में एक अद्भुत गुण विशेष का आवश्यकता से अधिक उपयोग है : वह गुण है—दूसरों की अपेक्षा सुन्दर रीति से कथन करने की क्षमता। किन्तु फिर भी इस गुण का इतना अधिक—इतनी दूर तक प्रयोग किया गया है कि मसियो गिज़ो की इस आलोचना का आशय सहज ही हृद्गत हो जाता है—"शक्सपियर न अपनी भाषा में केवल एक को छोड़ सभी शैलियों का प्रयोग किया है और वह एक शैली है सरल शैली।"

कीट्स की प्रसिद्ध कविता 'इज़ाबेला' के विरुद्ध भी आर्नल्ड का यही निर्णय है : "इज़ाबेला कविता सुन्दर तथा रमणीय शब्दों और चित्रों का परिपूर्ण भांडार है : प्रायः प्रत्येक पद में एक-न-एक ऐसी सजीव और चित्रमय अभिव्यंजना है जिसके द्वारा वर्ण्य वस्तु मनःचक्षु के सम्मुख चमक उठती है और पाठक का चित्त सहसा आनन्द से तरंगित हो उठता है। + + + किन्तु कार्य-व्यापार और कथा-वस्तु ? कार्य-व्यापार अपने आप में सुन्दर है, परन्तु कवि ने उसका भावन इतने निर्जीव रूप में तथा विधान इतनी शिथिलता से किया है कि उसका प्रभाव कुछ नहीं रह जाता। कीट्स की कविता पढ़ने के उपरांत पाठक यदि उसी कहानी को डेकामेरन में पढ़े तो उसे यह अनुभव होगा कि वही कार्य-व्यापार एक ऐसे महान कलाकार के हाथों में पड़कर कितना सार्थक और रोचक बन जाता है जो सबसे अधिक ध्यान अपने 'उद्देश्य' को देता है और अभिव्यंजना को अभीष्ट अर्थ के अधीन रखता है।[२]

१.—२. प्रिफ़ेस टू पोइम्स।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि आर्नल्ड के मन में वक्रता-विलास के लिए अधिक मान नहीं था। किन्तु कला की गरिमा के प्रति उनके मन में अगाध श्रद्धा थी—इसमें भी सन्देह नहीं है। वे वक्रता के विषयगत रूपों का आदर करते थे। प्राचीनों की विषय-वस्तु के काव्य-मय स्वरूप और उसके सम्यक् विन्यास का उन्होंने स्थान-स्थान पर स्तवन किया है : *"उनका ध्यान विषय-वस्तु के काव्यात्मक स्वरूप और उसके विन्यास पर पहले जाता था।"*[1] वस्तु का यह काव्यात्मक स्वरूप वास्तव में कुन्तक की वस्तु-वक्रता और उसका विन्यास प्रकरण-वक्रता अथवा प्रबन्ध-वक्रता का ही पर्याय है। उधर शैलीगत वक्रता की भी उन्होंने उपेक्षा नहीं की है, किन्तु उसे वस्तु से निरपेक्ष रूप में स्वीकार नहीं किया है। उनके मत से वस्तु और शैली का सौंदर्य परस्पर-सम्बद्ध है : *"कवि की विषय-वस्तु में जिस मात्रा में उदात्त काव्यमय तत्व तथा गम्भीरता का अभाव रहेगा, उसी मात्रा में उसकी शैली में भी उदात्त काव्य-मय पदावली और प्रवाह का अभाव होगा। इसी प्रकार जिस मात्रा में उसकी शैली में उदात्त काव्य-मय पदावली तथा प्रवाह का अभाव होगा, उसी मात्रा में उसकी विषय-वस्तु में भी उदात्त काव्य-मय तत्व और गम्भीरता का अभाव रहेगा।"*[2]

कहने का अभिप्राय यह है कि आर्नल्ड ने वक्रता के स्वच्छन्द विलास को तो स्वीकार नहीं किया, किन्तु उसके गम्भीर रूपों को निश्चय ही उचित महत्व दिया है—जहाँ वक्रता औचित्य से अनुशासित और गम्भीर सत्य से अनुप्राणित रहती है।

आर्नल्ड का युग काव्य में टेनीसन और स्विनबर्न जैसे कला-विलासी कवियों का भी युग था : स्विनबर्न की कविता में वैचित्र्य-वक्रता का उन्मुक्त विहार है। परन्तु युग की चिंता-धारा ने उसे स्वीकार न कर रस्किन और आर्नल्ड जैसे गम्भीर-चेताओं की संयत सौंदर्य-धारणाओं को ही ग्रहण किया :

"सर्वोत्कृष्ट उदाहरणों में भी अलंकृत कला परिष्कृत रुचि के व्यक्ति के मन में यह धारणा छोड़ जाती है कि यह सर्वोत्कृष्ट कला के नमूने नहीं हैं, इस कला में कुछ अतिशय समृद्धि है—यह न अपने आप में संस्कृत है और न प्रेक्षक या पाठक के चित्त का ही संस्कार करती है।" (बेजहाट; १८६४ ई०)।

यह शुद्धतावादी प्रवृत्ति प्रसिद्ध रूसी साहित्यकार टालसटाय के कला-सिद्धान्त में पराकाष्ठा पर पहुँच गयी। टालसटाय ने सौंदर्य और आनन्द को कला का मूल

---

१. प्रिफ़ेस टू पोइम्स।
२. स्टडी आफ़ पोइट्री।

तत्व मानने में आपत्ति की और मानवता की रागात्मक एकता को कला का आधार घोषित किया : "—अन्त में यह (कला) आनन्द नहीं है, वरन् मानव-एकता का साधन है जो मानव-मानव को सह-अनुभूति के द्वारा परस्पर-सम्बद्ध करती है।"[1] यहाँ वक्रोक्ति-सिद्धान्त का, जिसका उद्गम सौंदर्य और उस पर आश्रित आनन्द-सिद्धान्त है, चरम निषेध हो जाता है।

परन्तु टालसटाय का यह सिद्धान्त अपने अतिवाद के कारण आप ही विफल हो गया। इस प्रकार की अति-गम्भीरता और शुद्धता के विरुद्ध मानव की सौंदर्य और आनन्द-चेतना ने विद्रोह किया जिसके फलस्वरूप एक ओर नवीन सौंदर्य-शास्त्र और दूसरी ओर मनोविज्ञान पर आधृत आलोचना-सिद्धान्तों का आविर्भाव हुआ। सौंदर्य पर आश्रित 'कला कला के लिए'[2] सिद्धान्त जिसका विकास उन्नीसवीं शती के अन्त में ही पेटर तथा ह्विसलर के निबन्धों में हो चुका था, क्रमशः क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में दार्शनिक भूमिका प्राप्त कर शास्त्र-रूप में प्रतिष्ठित हो गया। उधर आनन्द का सिद्धान्त मनोविश्लेषण-शास्त्र के आचार्यों की गवेषणाओं में नवीन वैज्ञानिक रूप धारण कर सामने आ गया।

अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद

(इन्दौर के भाषण में) शुक्ल जी के इस वक्तव्य के उपरांत कि क्रोचे का अभिव्यंजनावाद भारतीय वक्रोक्तिवाद का ही विलायती उत्थान है, इन दोनों का तुलनात्मक *अध्ययन हिन्दी काव्य-शास्त्र का एक रोचक विषय बन गया है। शुक्ल जी का यह निर्णय* अधिक सुविचारित नहीं है, क्रोचे की इस धारणा से चिढ़कर कि 'कला में विषय-वस्तु की कोई सत्ता नहीं है—अभिव्यंजना ही कला है' शुक्ल जी ने आवेश में आकर अभिव्यंजनावाद का द्विगुण तिरस्कार करने के लिए ही कदाचित् ऐसा कह दिया है। वास्तव में शुक्ल जी का यह वक्तव्य है तो क्रोचे और कुन्तक दोनों के साथ ही अन्याय, फिर भी आधुनिक आलोचना-शास्त्र के प्रकाश में कुन्तक के सिद्धान्त को और भी स्पष्ट करने के लिए दोनों का सापेक्षिक विवेचन अनुपयोगी नहीं है।

क्रोचे की मूल धारणाएँ :

क्रोचे मूलतः आत्मवादी दार्शनिक हैं जिन्होंने अपने ढंग से आत्मा की अन्तः सत्ता की प्रतिष्ठा की है। उनके अनुसार आत्मा की दो क्रियाएं हैं (१) विचारात्मक[3]

---

१. ह्वाट इज आर्ट (१८९८)। २. 'ल आर्त पोर ल आर्त'

३. थ्योरिटीकल एक्टिविटी

(२) व्यवहारात्मक ।[1] "विचारात्मक क्रिया अथवा ज्ञान के दो रूप हैं : ज्ञान स्वयंप्रकाश्य होता है अथवा प्रमेय, कल्पना द्वारा प्राप्त ज्ञान अथवा प्रमा (बुद्धि) द्वारा प्राप्त ज्ञान, व्यष्टि (विशेष) का ज्ञान अथवा समष्टि (सामान्य) का ज्ञान, विशिष्ट वस्तुओं का ज्ञान अथवा उनके परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान : वास्तव में ज्ञान या तो बिम्ब का उत्पादक होता है या धारणा का।"

व्यवहारात्मक क्रिया का आधार है संकल्प जिसका फल ज्ञान में नहीं वरन् कर्म में प्रकट होता है। व्यवहारात्मक क्रिया के भी दो भेद हैं : (१) आर्थिक[2] अर्थात् सांसारिक योग क्षेम से सम्बद्ध, और (२) नैतिक अर्थात् सत्-असत् से सम्बद्ध। विचार और व्यवहार में संगति की स्थापना करते हुए क्रोचे ने आर्थिक क्रिया को व्यवहार का सौंदर्य-शास्त्र और नैतिक क्रिया को उसका तर्क-शास्त्र कहा है।

१. कला का सम्बन्ध ज्ञान के प्रथम भेद अर्थात् स्वयं-प्रकाश्य ज्ञान से है—इसी का नाम सहजानुभूति भी है। कला, क्रोचे के मत से, सहजानुभूति ही है। सहजानुभूति पदार्थ-बोध से भिन्न है : पदार्थ-बोध के लिए पदार्थ की स्थिति अनिवार्य है, किन्तु सहजानुभूति उसके अभाव में भी होती है—उसके लिए वास्तविक और सम्भाव्य में भेद नहीं है। सहजानुभूति संवेदन से भी भिन्न है : संवेदन एक प्रकार का अरूप स्पन्दन है : आत्मा इसका अनुभव तो करती है, पर इसे अभिव्यक्त नहीं कर सकती। यह एक प्रकार का अमूर्त विषय है जो जड़ है—निष्क्रिय है। इसका केवल इतना ही महत्व है कि इसके आधार पर सहजानुभूतियों में परस्पर भेद हो जाता है। किन्तु सहजानुभूति अनिवार्यतः अभिव्यंजना-रूप ही होती है—अतएव वह अभिव्यंजना से अभिन्न है—प्रत्येक सच्ची सहाजानुभूति अभिव्यंजना भी होती है। जो अभिव्यंजना में मूर्त नहीं होती, वह सहजानुभूति न होकर संवेदन मात्र है। आत्मा निर्माण, सृजन तथा अभिव्यक्ति के रूप में ही सहजानुभूति करती है।[3]

सारांश यह है कि सहजानुभूतिमय ज्ञान अभिव्यंजनात्मक होता है। बौद्धिक क्रिया से स्वतंत्र, वास्तव-अवास्तव तथा देश-काल के बोध से निरपेक्ष। सहजानुभूति प्रकृत अनुभूति से—संवेदन की तरंगों से अथवा चेतना के विषय से अपने 'रूप' के कारण भिन्न है, और यह 'रूप' ही अभिव्यंजना है। अतएव सहजानुभूति का अर्थ है अभिव्यक्ति : केवल अभिव्यक्ति, न कम न अधिक।[4] यही कला है।

---

१. प्रेक्टिकल एक्टिविटी एस्थेटिक पृ० १४.

२. आर्थिक शब्द का प्रयोग यहाँ प्राचीन शास्त्रीय अर्थ में किया गया है—सांसारिक जीवन के लिए उपयोगी। ३. एस्थेटिक पृ० ८। ४. पृ० ११।

२. इसका अभिप्राय यह हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति स्वभावतः कलाकार है क्योंकि प्रायः सभी में सहजानुभूति की क्षमता रहती है। जो सहजानुभूति कर सकता है, वह अभिव्यंजना में भी समर्थ है और इसलिए कलाकार भी है। फिर मान्य कलाकार तथा सामान्य व्यक्ति में क्या भेद है ? यह भेद सहजानुभूति के प्रकार का नहीं है, तीव्रता का भी नहीं है—केवल व्यापकता का है। अर्थात् सामान्य व्यक्ति की सहजानुभूति से कलाकार की सहजानुभूति न तो प्रकार में भिन्न है और न तीव्रता की मात्रा में। कुछ व्यक्तियों में आत्मा की जटिल स्थितियों को अभिव्यक्त करने की शक्ति तथा प्रवृत्ति औरों की अपेक्षा अधिक होती है, इनको ही विशेष अर्थ में कलाकार कहते हैं। इस प्रकार यह अन्तर मात्रा का नहीं है, विस्तार का है। 'कवि-प्रतिभा जन्मजात होती है' कहने की अपेक्षा यह कहना अधिक संगत है कि 'मनुष्य जन्मजात कवि होता है।'[1]

३. तत्व और रूप अथवा वस्तु और अभिव्यंजना के विषय में क्रोचे का मत काव्य-शास्त्र की परम्परा से भिन्न है। सौंदर्य वस्तु में निहित है, अथवा अभिव्यंजना में, अथवा दोनों में ? यदि वस्तु से अभिप्राय अनभिव्यक्त भावतत्व अथवा अन्तः संस्कारों का और अभिव्यंजना से तात्पर्य व्यक्तीकरण की क्रिया का है तो न सौंदर्य वस्तु में निहित है और न वस्तु तथा अभिव्यंजना के योग में। सौंदर्य के सृजन में अभिव्यक्ति का भाव-तत्व में योग नहीं किया जाता, वरन् भाव-तत्व ही अभिव्यक्ति के द्वारा मूर्त रूप धारण करता है, अर्थात् यह भाव-तत्व ही मानो अभिव्यंजना के रूप में फिर प्रकट हो जाता है जो अभिन्न होते हुए भी भिन्न प्रतीत होता है। अतएव सौंदर्य अभिव्यंजना का नाम है—उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

४. कला मूलतः एक आध्यात्मिक क्रिया है, कलाकृति उसका मूर्त भौतिक रूप है जो सर्वत्र अनिवार्य नहीं होता। कला-सृजन की सम्पूर्ण प्रक्रिया पाँच चरणों में विभक्त की जा सकती है—(अ) अरूप संवेदन (आ) अभिव्यंजना अर्थात् अरूप संवेदनों की आंतरिक समन्विति—सहजानुभूति (इ) आनन्दानुभूति (सफल अभिव्यंजना के आनन्द की अनुभूति) (ई) आन्तरिक अभिव्यंजना अथवा सहजानुभूति का शब्द, ध्वनि, रंग, रेखा आदि भौतिक तत्वों में मूर्तीकरण और (उ) काव्य, चित्र इत्यादि—कला-कृति का भौतिक मूर्त रूप। इन पाँचों में मुख्य क्रिया (अर्थात् वास्तविक कला-सर्जना) दूसरी है।

---

१. पृ०-१३-१४

५. सहजानुभूति अथवा आंतरिक सौंदर्यानुभूति तो ऐच्छिक नहीं है किन्तु यह हमारी इच्छा पर निर्भर है कि उसे बाह्य रूप प्रदान करें या न करें अर्थात् बाह्य रूप में प्रस्तुत कर उसको सुरक्षित रखें या न रखें और दूसरों के लिए प्रेषणीय बनाएँ या न बनाएँ। इस दूसरी प्रक्रिया के लिए शिल्प-विधान की आवश्यकता पड़ती है। इसके लिए अनेक भौतिक उपकरण अपेक्षित होते हैं—उन भौतिक उपकरणों के प्रयोग की अनेक विधियां, अनेक नियम आदि होते हैं जिन्हें सामान्य रूप से कला-शास्त्र—काव्य-शास्त्र आदि के नाम से अभिहित किया जाता है। इससे कुछ व्यक्तियों के मन में यह भ्रांति उत्पन्न हो जाती है कि आंतरिक अभिव्यंजना का भी शिल्प-विधान और उसके उपकरण होते हैं। परन्तु यह तो सम्भव ही नहीं है: आन्तरिक अभिव्यंजना के उपकरण नहीं होते क्योंकि उसका कोई उद्देश्य ही नहीं होता। कारण स्पष्ट है: *अभिव्यंजना मूलतः एक आन्तरिक क्रिया है जो व्यवहार तथा उसका निर्देशन* करने वाले बौद्धिक ज्ञान से पहले होती है, और जो इन दोनों से स्वतन्त्र है। जहाँ अभिव्यंजना के आन्तरिक रूप के शिल्प-विधान की चर्चा की जाती है, वहाँ उसे अभिव्यंजना से अभिन्न ही मानना चाहिए।

६. कला भाव-रूप न होकर ज्ञान-रूप है क्योंकि सहजानुभूति ज्ञान का ही एक रूप है। यह धारणा से मुक्त होती है; तथाकथित पदार्थ-बोध की अपेक्षा अधिक सरल होती है, परन्तु होती ज्ञान-रूप ही है। सहजानुभूति को एक विशिष्ट अनुभूति—सौन्दर्यानुभूति मानना भी व्यर्थ है क्योंकि उसमें कोई वैशिष्ट्य या वैचित्र्य नहीं होता।[1]

७. कला अथवा अभिव्यंजना अखण्ड होती है। प्रत्येक अभिव्यंजना का एक ही रूप होता है। संवेदनों को एकान्वित करने की क्रिया का नाम ही तो अभिव्यंजना है। इसी धारणा के आधार पर कला में एकता अथवा अनेकता में एकता के सिद्धान्त की स्थापना की गयी है क्योंकि अभिव्यंजना अनेक का एक में समन्वय ही तो है। इसलिए किसी कला के भाग करना या काव्य को दृश्यों, प्रकरणों, उपमाओं तथा वाक्यों में विभक्त करना उचित नहीं है। इससे कला का नाश हो जाता है, जिस प्रकार हृदय, मस्तिष्क, स्नायु, पेशी आदि में विश्लिष्ट करने से प्राणी की मृत्यु हो जाती है। इसी प्रकार अलंकार और अलंकार्य तथा अन्य रीति-शास्त्रीय काव्यवादों की कल्पना भी मिथ्या है।

---

१. एस्थेटिक पृ० १७-१९

८. कला अथवा अभिव्यंजना का वर्गीकरण भी असंगत है। अभिव्यंजना में न सरल और मिश्र का भेद होता है, न आत्म-परक और वस्तु-परक का, न यथार्थ और प्रतीकात्मक का, न सहज और अलंकृत का, न अभिधा और लक्षणा का। अभिव्यंजना इकाई ही है, वह जाति नहीं हो सकती। इसी प्रकार अनुवाद की भी सम्भावना नहीं है क्यों कि अनुवाद तो एक भिन्न अभिव्यंजना ही हो जाता है।

९. अभिव्यंजना में कोटि-क्रम का भेद भी नहीं होता : कला की अथवा सौंदर्य की श्रेणियाँ नहीं होतीं : सुन्दर से सुन्दरतर की कल्पना सम्भव नहीं है। सफल अभिव्यंजना ही अभिव्यंजना है—असफल अथवा अपूर्ण अभिव्यंजना तो अभिव्यंजना ही नहीं है। हाँ, कुरूपता की श्रेणियाँ अवश्य होती हैं : कुरूप से कुरूपतर, कुरूपतम तक उसकी श्रेणियाँ हो सकती हैं।

१०. अभिव्यंजना अपना उद्देश्य आप ही है—अभिव्यक्ति करने के अतिरिक्त उसका कोई अपर उद्देश्य नहीं होता। तदनुसार कला का अपने से भिन्न कोई उद्देश्य नहीं है : शिक्षण, प्रसादन, कीर्ति, धन आदि कुछ नहीं। कला कला के लिए ही है। आनन्द भी उसका सहचारी अवश्य है किन्तु लक्ष्य नहीं है। कला का तो एक ही कार्य है—आत्मा को विशद करना। संकुल भावनाओं को अभिव्यक्त कर देने से आत्मा मुक्त हो जाती है जैसे बादलों के बरस जाने पर आकाश निर्मल हो जाता है। कला की यही चरम सिद्धि है। इसीलिए कला अपने मूल रूप में नैतिकता, उपयोगिता आदि के बन्धनों से भी मुक्त है। किन्तु यह कला के मूल (आंतरिक) रूप का ही लक्षण है—कला को जब कलाकार मूर्त रूप प्रदान करता है तब वह सामाजिक नियमों के अधीन हो जाता है, उस स्थिति में उसे अपनी उन्हीं सहजानुभूतियों को मूर्त रूप देने का अधिकार रह जाता है जो समाज के लिए हितकर हैं।

संक्षेप में काव्य के विषय में क्रोचे के मूल सिद्धान्त ये ही हैं। इनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि क्रोचे और कुन्तक के सिद्धान्तों में स्पष्ट अन्तर है, फिर भी उनमें कुछ मौलिक साम्य भी है जिसके आधार पर दोनों की सम्बन्ध-कल्पना सर्वथा अनर्गल प्रतीत नहीं होती।

क्रोचे और कुन्तक के सिद्धान्त

साम्य :

१. क्रोचे और कुन्तक के सिद्धान्तों में एक मौलिक साम्य तो यही है कि दोनों अभिव्यंजना को ही काव्य का प्राण-तत्व मानते हैं। क्रोचे की वक्र उक्ति अथवा

'वैदग्ध्यभंगीभणिति' मूलतः उक्ति या भणिति—दूसरे शब्दों में अभिव्यंजना ही है। जिस प्रकार कुन्तक की उक्ति अथवा भणिति से आशय वाक्य मात्र का न होकर समस्त कवि-व्यापार या काव्य-कौशल का है, इसी प्रकार क्रोचे की अभिव्यंजना की परिधि में सभी प्रकार का रूप-विधान आ जाता है। इस दृष्टि से दोनों कलावादी आचार्य हैं।

२. दोनों ने काव्य में कल्पना-तत्व को प्रमुखता दी है। क्रोचे की सहजानुभूति तो निश्चय ही कल्पनात्मक क्रिया है—उन्होंने स्पष्ट ही कल्पना शब्द का प्रयोग किया है। कुन्तक ने इस शब्द का प्रयोग नहीं किया था, परन्तु उनकी 'वक्रता' 'कवि-व्यापार' 'वैदग्ध्य' 'उत्पाद्य-लावण्य' आदि में कल्पना की व्यंजना असंदिग्ध है। वास्तव में जैसा कि डा० डे आदि का मत है, वक्रोक्ति का आधार कल्पना ही है।

३. क्रोचे और कुन्तक दोनों ही अभिव्यंजना अथवा उक्ति को मूलतः अखण्ड, अविभाज्य और अद्वितीय मानते हैं। क्रोचे की भाँति कुन्तक ने भी स्पष्ट कहा है कि तत्व-दृष्टि से उक्ति अखण्ड है, उसमें अलंकार और अलंकार्य का भेद नहीं हो सकता—इस प्रसंग में दोनों की शब्दावली तक मिल जाती है। (देखिए अलंकार और अलंकार्य प्रसंग)। इसी प्रकार काव्य में एक अर्थ के लिए एक ही शब्द का प्रयोग होता है: 'अन्यूनमनतिरिक्त' शब्द-प्रयोग, काव्योक्ति अथवा वक्रोक्ति के लिए अनिवार्य है। यही अभिव्यंजना की अद्वितीयता है: पर्यायवाची अन्य (शब्दों) के रहते हुए भी विवक्षित अर्थ का बोधक केवल एक (शब्द ही वस्तुतः) शब्द कहलाता है—

शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि ।१।९
(हिन्दी व० जी० पृ० ३८)।

४. क्रोचे और कुन्तक दोनों ही सफल अभिव्यंजना अथवा सौंदर्याभिव्यंजना में श्रेणियाँ नहीं मानते। कुन्तक ने काव्य-मार्गों के विवेचन में यह अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है कि उनमें मूलतः प्रकार का भेद है: सौंदर्य की मात्रा का नहीं है: 'न च रीतीनाम् उत्तमाधममध्यमभेदेन त्रैविध्यम् व्यवस्थापयितुम् न्याय्यम्।'

क्रोचे ने भी अपने ढंग से यही कहा है कि एक सफल अभिव्यंजना (वास्तव में उन्होंने सफल विशेषण को भी व्यर्थ ही माना है क्यों कि असफल अभिव्यंजना तो अभिव्यंजना ही नहीं है) और दूसरी सफल अभिव्यंजना में सौंदर्य की मात्रा का अथवा श्रेणी का भेद नहीं है। दोनों ही अपने आप में पूर्ण हैं।

वैषम्य।

परन्तु क्रोचे और कुन्तक के सिद्धान्तों में साम्य की अपेक्षा वैषम्य ही अधिक है।

१. पहला अन्तर तो यही है कि क्रोचे मूलतः दार्शनिक हैं जिन्होंने सम्पूर्ण अलंकार-शास्त्र का निषेध किया है। कुन्तक इसके विपरीत मूलतः आलंकारिक हैं जिन्होंने लोकोत्तर-चमत्कारकारी वैचित्र्य की सिद्धि और उसके द्वारा काव्य की सम्यक् व्युत्पत्ति के लिए कृत-संकल्प होकर अलंकार-शास्त्र की रचना की है :

> लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये,
> काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते।

इस प्रकार दोनों के दृष्टिकोण में ही मौलिक भेद है।

२. क्रोचे के प्रतिपाद्य का मूल आधार है उक्ति : जिसमें वक्र और ऋजु—वक्रता और वार्ता का भेद नहीं है। क्रोचे के अनुसार वक्रोक्ति भी सहजोक्ति ही है क्यों कि अभीष्ट अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए वही एकमात्र उक्ति हो सकती थी। कुन्तक ने वक्रता और वार्ता अर्थात् चमत्कार-पूर्ण तथा चमत्कार-हीन उक्ति में स्पष्ट भेद माना है : उन्होंने अनेक मान्य अलंकारों का निषेध ही इस आधार पर किया है कि उनमें चमत्कार नहीं है। उनके विदग्ध और वक्र आदि विशेषण वार्ता और वक्रोक्ति के भेदक हैं।

३. क्रोचे के अनुसार काव्य की आत्मा सहजानुभूति है और कुन्तक के अनुसार कवि-व्यापार। इन दोनों में कवि-व्यापार की परिधि अधिक व्यापक है : उसके अन्तर्गत काव्य का भावन-व्यापार और रचना-प्रक्रिया, क्रोचे के शब्दों में सहजानुभूति तथा बाह्य अभिव्यंजना दोनों का समावेश है। कुन्तक ने वक्रता (सौंदर्य) को मूलतः तो प्रतिभा द्वारा अन्तःस्फुरित ही माना है :

> प्रतिभा प्रथमोद्भेदसमये यत्र वक्रता।
> शब्दाभिधेययोरन्तः स्फुरतीव विभाव्यते॥

अर्थात् 'प्रतिभा के प्रथम विलास के समय ही (जहाँ) शब्द और अर्थ के भीतर वक्रता स्फुरित होती हुई-सी प्रतीत होने लगती है' १।२४। परन्तु इसके साथ ही रचना,

निबन्धन आदि का महत्व भी उन्होंने निश्चय रूप से स्वीकार किया है। इस प्रकार सौंदर्य का प्रातिभ अन्तःस्फुरण तथा रचना-कौशल दोनों ही कुन्तक के कवि-व्यापार के अंग हैं; यह ठीक है कि दोनों में अन्तःस्फुरण का ही महत्व अधिक है—वही सौन्दर्य का मूल रूप भी है, फिर भी रचना-कौशल भी उतना ही अनिवार्य है। मूल तत्व अन्तःस्फुरण ही है, परन्तु कवि-व्यापार रचना के बिना पूर्ण नहीं हो सकता। क्रोचे ने बाह्य-रचना[1] की सत्ता तो स्वीकार की है पर उसे सर्वथा आनुषंगिक माना है : वह सहजानुभूति की पुनरुद्‌बुद्धि का विभावक, स्मृति का सहायक आदि तो है, काव्य का अनिवार्य अंग नहीं है। दोनों आचार्यों के दृष्टिकोण का यह अत्यन्त मौलिक भेद है। भारतीय काव्य-शास्त्र में भी मूर्त कलाकृति को इस रूप में ग्रहण किया गया है : उनके द्वारा सहृदय के चित्त में वासना-रूप से स्थित स्थायी भाव उद्‌बुद्ध होकर रस में परिणत हो जाता है। कुन्तक का भी इस मत से विरोध नहीं है। परन्तु यह तो सृजन के उपरान्त की स्थिति है। सृजन की प्रक्रिया में अन्तःस्फुरण निश्चय ही मूल क्रिया है, किन्तु वह पर्याप्त तो नहीं है : जब तक उसको शब्द-अर्थ में बिम्बित नहीं किया जाता तब तक तो उसका कला-रूप ही प्रस्तुत नहीं होता—मूर्त आकार धारण कर ही वह काव्य अथवा कला-रूप में ग्राह्य होता है। अतएव रचना-कौशल (अर्थात् व्युत्पत्ति और अभ्यास) का महत्व गौण होते हुए भी अनिवार्य है। इसी दृष्टि से कुन्तक ने स्वाभाविक प्रतिभा को मूर्धन्य पर स्थान देकर फिर बाद में व्युत्पत्ति और अभ्यास को भी उसके द्वारा अनुशासित मान लिया है और इस प्रकार वे भी काव्य के अनिवार्य हेतु बन गये हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि क्रोचे ने जहाँ केवल आन्तरिक क्रिया—आध्यात्मिक सृजन, अथवा पारिभाषिक शब्दावली में सहजानुभूति को ही काव्य-सर्वस्व माना है वहाँ कुन्तक ने इस आध्यात्मिक क्रिया अथवा प्रातिभ अन्तःस्फुरण को काव्य का मूल उद्‌गम मानते हुए रचना-कौशल को भी अपने कवि-व्यापार का अनिवार्य अंग माना है। यह दार्शनिक की तत्व-दृष्टि और शास्त्रकार की व्यवहार-दृष्टि का भेद है।

४. क्रोचे के अनुसार सौंदर्य और उसकी प्रतिरूप अभिव्यंजना अपना उद्देश्य आप ही है : आनन्द उसका सहचारी भाव तो है, परन्तु उद्देश्य नहीं है। कुन्तक आनन्द को सौंदर्य की सिद्धि ही नहीं वरन् कारण भी मानते हैं। सौंदर्य

---

१. ऐक्सटरनलाइज़ेशन

का निर्णायक धर्म उसका आह्लादकत्व ही है । उनके मत से अर्थ की रमणीयता उसके सहृदय-आह्लादकारित्व में ही निहित है—'अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः।' १।६।—क्रोचे के अनुसार काव्य का उद्देश्य है आत्मा का विशदीकरण, किन्तु कुन्तक परम आनन्दवादी हैं : वे आनन्द को चतुर्वर्गफलास्वाद से भी बढ़कर मानते हैं ।

५. वस्तु-तत्व के विषय में भी दोनों में पर्याप्त मत-भेद है । क्रोचे के सिद्धान्त की अपेक्षा कुन्तक के सिद्धान्त में वस्तु-तत्व की अधिक स्वीकृति है । क्रोचे तो उसे अरूप संवेदन-जाल या प्रकृत सामग्री मात्र मानते हैं जिसका अभिव्यंजना के बिना काव्य में कोई अस्तित्व नहीं है । कुन्तक भी विषय की अपेक्षा उसके नियोजन को ही अधिक महत्व देते हैं, परन्तु वे विषय के महत्व को अस्वीकार नहीं करते । उनकी प्रबन्ध-वक्रता में वस्तु तथा रस का महत्व अनेक रूपों में स्वीकृत है और उधर वस्तु-वक्रता का सौंदर्य तो वस्तु पर ही आश्रित है ।

इस प्रकार क्रोचे के अभिव्यंजना-सिद्धान्त का वक्रता के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है । वह वास्तव में अभिव्यंजना का दर्शन है, काव्य-शास्त्र है भी नहीं । परन्तु यूरोप में जल्दी ही उसके आधार पर अभिव्यंजनावाद नाम से एक कला-सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ । इस सम्प्रदाय के नेताओं में स्वभावतः क्रोचे की अपेक्षा अधिक जोश था और उस जोश में उन्होंने अभिव्यंजना-सिद्धान्त का अखण्ड एवं तत्व-रूप में ग्रहण न कर खण्ड-रूप में व्यावहारिक धरातल पर प्रयोग करना आरम्भ कर दिया । क्रोचे का सिद्धान्त तो एक सार्वभौम मौलिक सिद्धान्त था जो काव्य और कला के सभी रूपों तथा सभी देशों और कालों के कवि-कलाकारों पर समान रूप से घटित होता था, परन्तु उनके अनुयायी (पिरांडेलो आदि) अभिव्यंजनावादी नाटक, कविता, चित्र आदि की रचना करने लगे । यह सब क्रोचे के सिद्धान्त के प्रतिकूल था । इन लोगों ने वास्तव में क्रोचे के सिद्धान्त की मूल धारणा को ग्रहण न कर उसके कतिपय निष्कर्षों को ही ग्रहण कर लिया । क्रोचे का एक निष्कर्ष यह था कि प्रत्येक उक्ति अपने आप में स्वतन्त्र, अन्य से भिन्न तथा अद्वितीय होती है, और दूसरा निष्कर्ष यह था कि सहजानुभूति अनिवार्यतः बिम्ब-रूप में ही अभिव्यक्त होती है, तीसरा यह था कि कला अपना उद्देश्य आप है । इन खण्ड सिद्धान्तों को लेकर बीसवीं शती के प्रथम चरण में यूरोप के कला-जगत में (१) प्रभाववाद (२) बिंबवाद (३) घनवाद

१. इम्प्रेशनिज़्म २. इमेजिज़्म ३. क्यूबिज़्म

(४) वक्रतावाद (५) अतियस्तुवाद आदि अनेक सिद्धान्तों या सम्प्रदायों का आविर्भाव हो गया जिन्हें मनोविश्लेषण-शास्त्र के अन्तर्गत अवचेतन-सम्बन्धी अन्वेषणों से उचित-अनुचित पोषण मिलता रहा।

उपर्युक्त सभी वादों में सामान्य परम्परागत अभिव्यक्ति के विरुद्ध असामान्य अभिव्यंजना-प्रणालियों की किसी-न-किसी रूप में प्रतिष्ठा की गयी है और इस दृष्टि से इनमें वक्रता-वैचित्र्य का अपना महत्व है। उदाहरण के लिए प्रभाववाद को लीजिए। इसका आविर्भाव तो यद्यपि उन्नीसवीं शती के अन्त में चित्र-कला के क्षेत्र में हुआ था, परन्तु बीसवीं शती के आरम्भ में कमिंग्स, ऐमी लोवेल आदि के द्वारा साहित्य में भी इसका प्रवर्तन हो गया था। प्रभाववाद में अन्तःसंस्कारों को अनूदित करने के निमित्त ही भाषा का प्रयोग किया जाता है। प्रभाववाद का मूल आधार है स्थायी तथा वास्तविक तथ्य के स्थान पर अस्थायी प्रतीति का अंकन। प्रभाववादी वस्तु को वैसी ही अंकित करता है जैसी कि वह क्षणविशेष में उसे प्रतीत होती है: वह उसके वास्तविक स्थायी रूप-आकार का चित्रण नहीं करता। इस प्रकार प्रभाववाद का उद्देश्य क्षणिक प्रभावों को शब्द-बद्ध करना ही है, और इस उद्देश्य के प्रति उसे इतना अधिक आग्रह रहता है कि तत्व और रूप लगभग उसके हाथ से निकल जाते हैं—केवल अन्तःसंस्कार रह जाते हैं। शैली के क्षेत्र में इन कवियों ने लेखन-सम्बन्धी विचित्रताओं तथा छन्द-पंक्तियों की विषमताओं के अतिरिक्त कहीं अनमेल स्वतंत्र शब्दों के योग और कहीं शब्दच्छेद आदि के द्वारा अभीष्ट 'प्रभाव' उत्पन्न करने का साग्रह प्रयत्न किया है।

दूसरा वाद या बिम्बवाद जो प्रभाववाद का ही औरस पुत्र था। इस आंग्ल-अमरीकी काव्य-आन्दोलन का समय बीसवीं शती का द्वितीय दशक था—और नेता थे ऐज़रा पाउण्ड। इस सिद्धान्त का आविर्भाव स्वच्छन्दतावाद की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। बिम्बवाद की मूल धारणा यह है कि कला अथवा कविता का माध्यम केवल बिम्ब है: काव्यगत अनुभूतियां बिम्बों में ही प्रकट हो सकती हैं, साधारण व्याकरण-सम्मत भाषा कविता का सहज माध्यम नहीं है। अतएव ये स्पष्ट तथा निश्चित ऐन्द्रिय बिम्ब-विधान को ही काव्य का मूल आधार मानते हैं। छन्द में इन्होंने इसी

---

४. प्रिंसिपल ऑफ़ ऑब्लीक आर्ट

५. सर-रियलिज्म।

तथ्य को सामने रखकर नवीन रूपों का आविष्कार करते हुए कविता को नवीन कलेवर प्रदान किया। इसी का एक सगोत्रीय घनवाद था, यह भी वास्तव में चित्र-कला का ही शब्द था जो बाद में काव्य में भी आ गया। इसका मूल सिद्धान्त यह है कि हम प्रत्येक वस्तु को घन-रूप में ही देखते हैं जिसमें लम्बाई, चौड़ाई के साथ गहराई भी रहती है: यही वस्तु का समग्र ग्रहण है। चित्र-कला तथा काव्य-कला या अन्य किसी भी कला में वस्तु का घन-रूप में ही अंकन होना चाहिए। इन वादों में सबसे नया है वक्रतावाद जिसका मूल आधार यह है कि प्रत्येक वस्तु पर हमारी दृष्टि तिरछी ही पड़ती है: अतएव यह तिरछापन या वक्रता ही हमारे वस्तु-दर्शन की स्वाभाविक विधि है। यह वाद भी आरम्भ में चित्र-कला से ही सम्बद्ध था, परन्तु क्रमशः काव्य में भी इसका प्रवेश हो गया। इसके अनुसार वक्रता ही हमारे ग्रहण और अभिव्यंजन की सहज विधि है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि ये सभी कला-सिद्धान्त केवल वक्रता ही नहीं, अतिवक्रता का प्रतिपादन करते हैं—जिसमें विचित्रता तथा लोकातिक्रांत-गोचरता का अतिचार मिलता है। शुक्ल जी के प्रहार का लक्ष्य वास्तव में ये ही अतिवाद थे। वे इन वैचित्र्यवादियों से इतने रुष्ट हो गये थे कि बेचारे क्रोचे और कुन्तक पर बरस पड़े। परन्तु क्रोचे इस प्रसंग में निर्दोष थे और कुन्तक ने भी कहीं किसी अतिवाद का समर्थन नहीं किया। क्रोचे के सिद्धान्त में तो वैचित्र्य की ही स्वीकृति नहीं है—कुन्तक का वक्रता-वैचित्र्य भी औचित्य पर पूर्णतया अवलम्बित है। कुन्तक की वक्रता सुन्दरता की ही पर्याय है जिसका आधार औचित्य है—जिसमें इन वैचित्र्य-मूलक विकृतियों के लिए कोई स्थान नहीं है।

इंगलैंड के वर्तमान आलोचक आई० ए० रिचर्ड्स इन अतिवादों का खण्डन पहले ही कर चुके थे। उन्होंने स्वस्थ-प्रकृत चेतन मन को ही प्रमाण मानकर साधारण व्यावहारिक मनोविज्ञान के आधार पर काव्य-मूल्यों की स्थापना की। उन्होंने काव्य की अनुभूति में मानस-चित्रों तथा अभिव्यक्ति में चित्र-भाषा को अनिवार्य माना और वादगत वक्रता-विकृतियों के स्थान पर शुद्ध-वक्रता की प्रतिष्ठा की। उनका भाषा-विषयक वक्तव्य इसका प्रमाण है: "किसी उक्ति का प्रयोग अर्थ-संकेत के लिए हो सकता है, यह अर्थ-संकेत सत्य हो सकता है अथवा मिथ्या। यह भाषा का वैज्ञानिक प्रयोग है: किन्तु भाषा का प्रयोग उन भावगत तथा प्रवृत्तिगत प्रभावों के निमित्त भी हो सकता है जो अर्थ-संकेतों से उत्पन्न होते हैं। यह भाषा का रागात्मक प्रयोग है।" (प्रिंसिपिल्स ऑफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज्म पृ० २६७-६८)।

इन्हीं दोनों भेदों को अन्य मनोवैज्ञानिकों ने गूढ़-भाषा[1] और बिम्ब-भाषा[2] या चित्र-भाषा कहा है। भाषा का यह रागात्मक प्रयोग या चित्र-भाषा स्पष्टतः कुन्तक की वक्रता के प्रथम चार भेदों—वर्ण-वक्रता, पदपूर्वार्ध-वक्रता, पदपरार्ध-वक्रता तथा वाक्य-वक्रता का संघात है। इसे काव्य का अनिवार्य माध्यम मानकर रिचर्ड्स आदि ने वक्रता को ही स्वीकार किया है।

यूरोपीय काव्य-शास्त्र में वक्रता-सिद्धान्त की स्वीकृति-अस्वीकृति का, संक्षेप में, यही इतिहास है। काव्य-सम्प्रदाय के रूप में वक्रोक्तिवाद चाहे भारतीय काव्य-शास्त्र तक ही सीमित रहा हो, परन्तु उसका आधारभूत सिद्धान्त काव्य का एक मौलिक सिद्धान्त है, अतएव उसकी सत्ता सार्वभौम है। वक्रता की प्रतिष्ठा वास्तव में कल्पना-मूलक काव्य-कौशल के साथ सम्बद्ध है : और इस रूप में यूरोप के काव्य-शास्त्र में भी आरम्भ से ही, प्रकारान्तर से, उसका अत्यंत मनोयोग-पूर्वक विवेचन होता आया है।

(१) साइफ़र-लेंग्वेज (२) इमेज-लेंग्वेज।

हिन्दी और वक्रोक्ति-सिद्धान्त

जैसा कि 'ऐतिहासिक विकास' प्रसंग से स्पष्ट है, वक्रोक्ति-सिद्धान्त कुन्तक के साथ ही समाप्त हो गया था। उसका अतीत तो थोड़ा-बहुत था भी, भविष्यत् कुछ नहीं रहा। संस्कृत काव्य-शास्त्र में भी एकाध शताब्दी के उपरान्त ही उसकी चर्चा समाप्त हो गई। मूलतः अलंकार की ही एक शाखा होने के कारण और साथ ही वक्रोक्तिजीवितम् ग्रन्थ के लुप्त हो जाने के कारण भी, वक्रोक्ति-सिद्धान्त के स्वतंत्र अस्तित्व का लोप हो गया। अतएव हिन्दी काव्य-शास्त्र के लिए भी वक्रोक्तिवाद अज्ञात ही रहा।

परन्तु कुन्तक की वक्रता तो काव्य का कोई एक विशेष अंग न होकर वस्तुतः कवि-व्यापार का ही पर्याय है : उसकी स्थापना साहित्य में वैदग्ध्य अथवा कवि-कौशल —आधुनिक शब्दावली में साहित्य के कला-पक्ष—की प्रतिष्ठा है। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य अथवा किसी भी साहित्य में वक्रता-सम्बन्धी चिन्तना का सर्वथा अभाव नहीं हो सकता। हिन्दी रीति-शास्त्र में कुन्तक की वक्रता का चाहे उल्लेख न हुआ हो, परन्तु हिन्दी काव्य में तो आरम्भ से ही वक्रता-वैभव मिलता है। हिन्दी के आदि काल में ही स्वयम्भू आदि अपभ्रंश अथवा पुरानी हिन्दी के कवियों को लीजिए, चाहे चन्द आदि पिंगल-डिंगल के कवियों को, सभी में वक्रता के एक-दो नहीं, समस्त भेद सरलता से उपलब्ध हो सकते हैं। स्वयम्भू तथा चन्द के प्रबन्ध काव्यों में अनुप्रासादि शब्दालंकारों में वर्ण-वक्रता, उपमादि अर्थालंकारों में वाक्य-वक्रता, वस्तु-चयन में वस्तु-वक्रता, लाक्षणिक तथा व्यंजनात्मक प्रयोगों में पदपूर्वार्ध एवं पदपरार्ध-वक्रता और प्रबन्ध-विधान में प्रकरण तथा प्रबन्ध-वक्रता के लगभग समस्त भेद-प्रकार मिलते हैं। स्वयम्भू ने तो आरम्भ में ही अपने कला-विधान को स्पष्ट कर दिया है—उनकी निम्नोद्धृत प्रसिद्ध चौपाइयों में अनेक वक्रता-भेदों का उल्लेख है :

अक्खर-वास जलोह मणोहर । सुपलंकार - छंद मच्छोहर ॥
दीह - समास - पवाहा वंकिय । सक्कय पायय-पुलिणालंकिय ॥
देसी - भाषा उभय तडुज्जल । कवि-दुक्कर घण-सद्द सिलायल ॥
अत्थ-बहल कल्लोला णिट्ठिय । आसा-सय-सम ऊह परिट्ठिय ॥

यहाँ मनोहर अक्षर-वास वर्णविन्यास-वक्रता है, सुन्दर अलंकार-विधान वाक्य-वक्रता है, संस्कृत-प्राकृत शब्दों तथा घन-शब्दों के प्रयोग में पर्याय-वक्रता की स्वीकृति है, वंकिम समास-प्रवाह समास-वक्रता का रूप है और अर्थ-बाहुल्य वस्तु-वक्रता का। परन्तु प्रश्न प्रयोग का नहीं है, सिद्धान्त का है। सिद्धान्त की दृष्टि से स्वयम्भू तथा चन्द आदि का वक्रोक्तिवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है : उन्होंने कुन्तक की वक्रोक्ति को प्रसाधन-रूप में ग्रहण किया है, आत्मा-रूप में नहीं। सम्भव है स्वयम्भू को कुन्तक का नाम भी ज्ञात नहीं था। अपने ग्रन्थ में उन्होंने भरत, भामह और दण्डी का उल्लेख तो किया है और यह सम्भावना है कि उनके मूल काव्य-सिद्धान्तों से परिचित भी रहे हों; परन्तु कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त को उस समय तक कवि-समाज भूल चुका था।

णा णिसुणिउं पंच महायकव्वु । णउ भरहुण लक्खणु छन्दु सव्वु ॥
णउ वुभझउँ पिंगल पच्छारु । णउ भामह, दण्डिऽलंकारु ॥

विद्यापति वक्रता के दोनों रूपों के आचार्य थे। ये दो रूप हैं : पारिभाषिक तथा व्यावहारिक : पारिभाषिक रूप में वक्रता काव्य-सौंदर्य अथवा चारुता की पर्याय है, सामान्य रूप में वक्रता का अर्थ है विदग्धता। विद्यापति का काव्य चारुता का तो अक्षय भाण्डार है ही, साथ ही उसमें वैदग्ध्य (बाँकपन) का भी अपूर्व वैभव है। उन्होंने अपनी भाषा-शैली को बालचन्द्र के समान चारु कहा है, जिसका मूल गुण है नागर-मन-मोहिनी शक्ति—

बालचन्द विज्जावइ भाषा । दुहु नहिं लागइ दुज्जन-हासा ।
ओ परमेसर हर सिर सोहई । ई निच्चय नायर मन मोहई ॥

नागरता का अर्थ स्पष्टतः विदग्धता है, कुन्तक की वैदग्ध्य-भंगी-भणिति—

कत विदग्ध जन रस अनुगमन अनुभव काहु न पेख ।

जिस रस का अनुभव विदग्ध जन ही कर सकते हों, वह निश्चय ही विदग्ध अथवा

वक्र वाणी में ही अभिव्यक्त हो सकता है। वास्तव में वक्रता के स्फुट भेदों का विद्यापति के पदों में अपूर्व उल्लास है।

भक्ति-युग के पूर्वार्ध में निर्गुण सन्तों की वाणी को भी वक्रता का बल प्राप्त था : कबीर की कविता में व्युत्पत्ति-जन्य चारुता तो विशेष नहीं है, परन्तु प्रतिभाजन्य विदग्धता[1] इतनी अधिक है कि शुक्ल जी जैसे अननुकूल आलोचक को भी उसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करनी पड़ी है। वास्तव में उन्होंने चमत्कार-शैली का सप्रभाव प्रयोग किया है : व्यंग्य और वक्रता की चमक उनकी 'सीधी' और 'उलटी' दोनों वाणियों में मिलती है।[2] मूलतः तो रहस्यवादी होने के कारण काव्य-शास्त्र के ध्वनिवाद से ही इनका घनिष्ठ सम्बन्ध है, परन्तु रहस्यवाद की सांकेतिक शैली तथा प्रतीक-विधान में वक्रता की भी स्पष्ट स्वीकृति है। प्रेममार्गी संतों में ये गुण और भी प्रचुर मात्रा में वर्तमान हैं : जायसी और उनके सहयोगियों ने काव्य में सांकेतिक भाषा तथा प्रतीक-पद्धति का प्रयोग अधिक निपुणता के साथ किया है : यह 'निपुणता' ही वक्रता है। समस्त वस्तु-विधान को ही समासोक्ति में बांधने वाली इनकी शैली प्रबन्ध-वक्रता का अपूर्व उदाहरण है।

सगुण-भक्ति-काव्य में यद्यपि रसवाद की प्रधानता रही, फिर भी भाव की समृद्धि के साथ-साथ कला-वैचित्र्य का भी सम्यक् विकास हुआ। लीला-पुरुषोत्तम की क्रीड़ाओं ने कृष्ण-भक्त कवियों के लिए वक्रता-विलास का अपार क्षेत्र उद्घाटित कर दिया। सूर की लीला-रसिक प्रतिभा शब्द और अर्थ की असंख्य वक्रताओं के साथ आत्म-विभोर होकर खेली है। विद्यापति की भाँति—वरन् विद्यापति से भी अधिक सूर के काव्य में वक्रता के दोनों पक्षों का—सौंदर्य-रूपों और विदग्ध उक्तियों का अक्षय वैभव है। सूर का भ्रमरगीत तो भाव-प्रेरित वक्रोक्तियों का अनन्त भण्डार है। कहीं शब्द को लेकर, कहीं अर्थ को लेकर, कहीं उपमान को लेकर, कहीं विशेषण को लेकर, कहीं क्रिया को लेकर, कहीं लिंग को लेकर सूर की भावुकता ने अद्भुत क्रीड़ाएँ की हैं। तुलसी की प्रकृति गम्भीर थी। उनकी दृष्टि में राम नाम के परम रस के अभाव में 'वैचित्र्य-भंगी-भणिति' का विशेष मूल्य नहीं था :

---

१. विट

२. यद्यपि वे पढ़े-लिखे न थे, पर उनकी प्रतिभा बड़ी प्रखर थी जिससे उनके मुँह से बड़ी चुटीली और व्यंग्य-चमत्कारपूर्ण बातें निकलती थीं। इनकी उक्तियों में विरोध और असम्भव का चमत्कार लोगों को बहुत आकर्षित करता था। (हिंदी साहित्य का इतिहास, अष्टम संस्करण-पृ० ७९)

मनिति विचित्र कुकवि-कृत जोऊ । राम बिनु सोह न सोऊ ॥

परन्तु व्यवहार में वक्रता की उपेक्षा उन्होंने भी नहीं की। अपने काव्य में जिन गुणों के प्रति वे सचेष्ट हैं उनमें वक्रता का भी प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों प्रकारों से उल्लेख है :

अरथ अनूप सुभाव सुभासा । सोइ पराग मकरन्द सुबासा ।
धुनि अवरेब कवित गुन जाती । मीन मनोहर ते बहु भाँती ॥

उपर्युक्त पंक्तियों में 'अनूप अरथ' कुन्तक की वस्तु-वक्रता का पर्याय है, और अवरेब का स्पष्ट अर्थ वक्रता ही है । इस उद्धरण से यह संकेत मिल जाता है कि तुलसी वक्रता को भी काव्य के प्रसाधन के रूप में स्वीकार करते थे ।

रीति-काल

सगुण भक्ति के प्रौढ़ि-काल में ही रीति-काव्य की परम्परा चल पड़ी थी—और केशव आदि आचार्यों के ग्रन्थों में विधिवत् काव्य-शास्त्र का विवेचन आरम्भ हो गया था । रीति-काल में भी यों तो रसवाद का ही प्राधान्य रहा; तथापि ध्वनि, रीति-गुण तथा अलंकार की भी समय-समय पर अवतारणा होती रही : परन्तु वक्रोक्तिवाद का नामोल्लेख तक किसी ने नहीं किया । रुद्रट के अनुकरण पर संस्कृत के परवर्ती काव्य-शास्त्र में वक्रोक्ति का स्थान वक्रीकृता उक्ति के अर्थ में शब्दालंकार वर्ग के अन्तर्गत अंतिम रूप से निश्चित हो गया था—हिन्दी के रीतिकार उसी का यथावत् अनुकरण करते रहे । केवल केशव इसका अपवाद थे जिन्होंने मम्मटादि का अनुसरण न कर प्रायः पूर्व-ध्वनि आचार्यों का ही मार्ग-ग्रहण किया । उन्होंने वक्रोक्ति को वक्री-कृता उक्ति-रूप शब्दालंकार न मानकर वक्र अर्थात् विदग्ध उक्ति रूप अर्थालंकार ही माना है । कविप्रिया के बारहवें प्रभाव में 'उक्ति' अलंकार के पाँच भेदों का वर्णन है :

वक्र, अन्य, व्यधिकरण कहि, और विशेष समान ।
सहित सहोकति में कही, उक्ति सु पंच प्रमान ॥

इनमें से प्रथम भेद है वक्रोक्ति :

केशव सूधी बात में बरणत टेढ़ो भाव ।
वक्रोकति तासों कहत, सदा सबै कविराव ॥

केशव के अनुसार जहाँ सीधी-सरल उक्ति में वक्र भाव व्यक्त किया जाय, वहाँ वक्रोक्ति होती है । अर्थात् केशव की वक्रोक्ति का मूल आधार है विदग्धता, जिसमें केवल उक्ति-

चमत्कार या शब्द-कौतुक न होकर भाव-प्रेरित वक्रता रहती है। उन्होंने वक्रोक्ति के दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं:

उदाहरण १

ज्यों-ज्यों हुलास सों केसवदास, विलास निवास हिये अवरेख्यो।
त्यों-त्यों बढ़यो उर कंप कछू भ्रम, भीत भयो किधौं सीत विसेख्यो।
मुद्रित होत सखी बरही मम नैन सरोजनि साँच कै लेख्यो।
तैं जु कह्यो मुख मोहन को अरविंद सो है, सो तो चन्द सो देख्यो॥

यहाँ खण्डिता की वचन-वक्रता है। खण्डिता नायिका अपनी सखी से कहती है कि तू ने मोहन के मुख को अरविन्द के सदृश बताया था—परन्तु पर-नायिका के कज्जल आदि चिह्नों से युक्त वह तो मुझे (कलंक-युक्त) चन्द्रमा के समान प्रतीत हुआ क्यों कि एक तो उसका दर्शन कर मुझे मानों शीत के कारण कम्प हो गया और दूसरे मेरे नेत्र-कमल बरबस मुँद गये। प्रस्तुत उक्ति में विदग्धता अर्थात् बाँकपन का भी अभाव नहीं है; परन्तु प्राधान्य वस्तुतः शब्द और अर्थ के उन चारु चमत्कारों का ही है जिनका विवेचन कुन्तक ने अपने कतिपय वक्रता-भेदों के अन्तर्गत किया है।

उदाहरण २

अंग अली धरियै अँगियाऊ न आजु तें नीद न आवन दीजै।
जानति हौ जिय नाते सखीन के, लाज हू को अब साथ न लीजै।
थोरेहिँ द्यौस तें खेलन तेऊ लगी उनसों, जिन्हें देखि कै जीजै।
नाह के नेह के मामले आपनी छाँहहु को परतीति न कीजै॥

सामान्यतः तो इस उक्ति में सखी की वंचना पर मार्मिक व्यंग्य है किन्तु उसका आधार मूलतः कुन्तक की लिंग-वक्रता का चमत्कार ही है।

केशव के परवर्ती अधिकांश आचार्यों ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार ही माना है। और रुद्रट के आधार पर उसके काकु और श्लेष दो भेद किये हैं।

चिंतामणि : और भाँति को वचन जो और लगावैं कोइ।
कै सलेष कै काकु सों वक्रोकति है सोइ॥
(कविकुलकल्पतरु २।५)

जसवन्तसिंह : वक्रोक्ती स्वर श्लेष सों अर्थ-फेर जो होइ,
रसिक अपूरब हो पिया, बुरो कहत नहिं कोइ।
(भाषाभूषण—अलंकार संख्या १८६)

भूषण : जहाँ श्लेष सों काकु सों, अरथ लगावै और।
वक्र उकति वाकों कहत, भूषन कवि-सिरमौर ॥
(शिवराज भूषण पृ० १२७)

दास : व्यर्थ काकु ते अर्थ को, फेरि लगावै तर्क।
वक्र उक्ति तासों कहैं जे बुध-अम्बुज-अर्क ॥
(काव्यनिर्णय पृ० २०८)

देव : काकु वचन अश्लेष करि, और अरथ ह्वै जाइ।
सो वक्रोक्ति सु वरनियें, उत्तम काव्य सुभाइ ॥
(भाव विलास पृ० १४८)

जसवन्तसिंह तथा भूषण ने वक्रोक्ति-विवेचन शब्दालंकार के अन्तर्गत न कर अर्थालंकार के अन्तर्गत ही किया है और उधर दास ने भी श्लेषादि अलंकार-वर्ग के अन्तर्गत उसका निरूपण किया है। हिन्दी के इन आचार्यों ने स्वीकृत परम्परा का त्याग कर रुय्यक अथवा विद्याधर का अनुकरण क्यों किया यह कहना कठिन है—परन्तु यह असंदिग्ध है कि इस वर्गीकरण का मूल स्रोत रुय्यक का अलंकार-सर्वस्व ही है जिसमें रुय्यक ने रुद्रट की परिभाषा को यथावत् ग्रहण करते हुए भी वक्रोक्ति को अर्थालंकार माना है। परवर्ती रीतिकारों ने भी इसी परिभाषा की पुनरावृत्ति की है। सभी ने शब्द-भेद से हो यही कहा है कि काकु और श्लेष के आधार पर उक्ति के वक्रीकरण का नाम वक्रोक्ति है।

रीति-युग के लक्ष्य काव्य में अवश्य, कुन्तक की वक्रता का सुष्ठु प्रयोग मिलता है। इस युग के अधिकांश समर्थ कवियों की रचनाओं में वर्ण-वक्रता, पद-वक्रता तथा वाक्य-वक्रता की छटा दर्शनीय है। खण्डिता तथा वचन-विदग्धा एवं क्रिया-विदग्धा नायिकाओं की उक्तियों में वैदग्ध्य का भी अपूर्व चमत्कार है। बिहारी ने तो बाँकपन को और भी आग्रह के साथ ग्रहण किया है। जैसा कि मैंने अन्यत्र स्पष्ट किया है वक्रता वस्तुतः ध्वनि का व्यक्त रूप है : वक्रता का आत्मगत रूप ध्वनि और वस्तुगत व्यक्त रूप वक्रता है। बिहारी सिद्धान्ततः ध्वनिवादी थे—अतएव उनकी अभि-

व्यंजना में बाँकपन का समावेश स्वतः ही हो गया है, और अपनी कविता की इस वक्रता या बाँकपन के प्रति वे जागरूक भी थे :

> गढ़-रचना, बरुनी, अलक, चितवनि, भौंह, कमान ।
> आघु बंकाई हीं चढ़ै, तरुनि, तुरंगम, तान ॥
>
> (बिहारी रत्नाकर ३१६)

अर्थात् दुर्ग-रचना, बरुनी, अलक, चितवन, भौंह, कमान, तरुणी, तुरंगम और तान (संगीत की तान) का अर्घ (मूल्य) बँकाई—बंकिमा अथवा वक्रता—से ही बढ़ता है। यहाँ काव्य का उल्लेख नहीं है, किन्तु 'तान' में उसका अन्तर्भाव माना जा सकता है। वस्तुतः उपर्युक्त दोहे में बरुनी, अलक, चितवन, तरुणी और तान ये सौंदर्य के विभिन्न रूपों के उपलक्षण हैं, और गढ़-रचना तथा तुरंगम ओज के। अतः यह निष्कर्ष निकालना स्वाभाविक ही है कि बिहारी की दृष्टि में सौंदर्य का पूर्ण उत्कर्ष वक्रता द्वारा ही होता है। इस बाँकपन के लिए वास्तव में बिहारी के मन में बड़ा मोह था :

> तिय कित कमनैती पढ़ी, बिनु जिहि भौंह-कमान ।
> चल चित बेझै चुकति नहिं *बंक बिलोकनि-बान* ॥ (३५६)
>
> अनियारे दीरघ दृगनु किती न तरुनि समान ।
> वह चितवनि औरै कछू जिहिं बस होत सुजान ॥ (५८८)
>
> कियौ जु, चिबुक उठाइ कै, कंपित कर भरतार ।
> टेढ़ीयै टेढ़ी फिरति टेढ़ें तिलक लिलार ॥ (५१८)

बिहारी के प्रतिद्वन्द्वी देव का दृष्टिकोण इसके विपरीत था : स्वभाव से अत्यन्त भावुक यह कवि वक्रता का प्रेमी नहीं था। इसीलिए उसने शब्द-शक्तियों में अभिधा को और अलंकारों में उपमा और स्वभाव को ही प्रधानता दी है :

१. अभिधा उत्तम काव्य है...।

२. अलंकार में मुख्य हैं, उपमा और सुभाव ।
   सकल अलंकारनि विषै, परसत प्रगट प्रभाव ॥

उन्होंने अभिधात्मक अर्थात् शुद्ध भावात्मक काव्य को सुधा के समान और व्यंजना-वक्रता-मूलक काव्य को तिक्त[1] पेय के समान माना है। इसका यह अर्थ नहीं है कि

---

१. जलजीरा

देव का काव्य वक्रता की सम्पदा से रिक्त है—हमारे कहन का अभिप्राय यही है कि शुद्ध रसवादी देव ने वक्रता को कोई स्वतन्त्र महत्व नहीं दिया : उनकी दृष्टि में हृदय के रस का ही महत्व है, कल्पना-वैदग्ध्य का नहीं।

रीति-युग के लक्ष्य काव्य में वक्रता का चरम विकास घनानन्द के कवित्तों में मिलता है। उनके सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में ही वक्रता की प्रतिष्ठा है।

सिद्धान्त—

(१) घन आनन्द बूझनि अंक बसैं, विलसैं रिझवार सुजान धनी।
(२) उर-भौन में मौन को घूंघट कै दुरि बैठी बिराजति बात बनी।
(३) सूछम उसास गुन बुन्यौ ताहि लखै कौन ?
पौन-पट रंग्यो पेखियत रंग-राग में।
(४) अचिरज यहै और होत रंग-राग में।

इन उद्धरणों में घनानन्द ने अत्यन्त मार्मिक शब्दों में काव्य में वक्रता के महत्व की स्थापना की है। (१) प्रीति (अर्थात् रस) बूझनि अथवा वक्रता-वैदग्ध्य के अंक में आसीन होकर ही शोभा को प्राप्त करती है। (२) उक्ति हृदय के भवन में अपने सौंदर्य को छिपाये बैठी रहती है—अर्थात् उक्ति का सौंदर्य भाव-प्रेरित व्यंजना में ही है। (३) वाणी तो सूक्ष्म श्वासों से बुना हुआ अदृश्य वितान है : यह वायवी पट भाव के रंग में रंगकर ही दृश्य रूप धारण करता है। अर्थात् अरूप वाणी भाव की प्रेरणा से चित्र-मय बन जाती है। (४) यह सामान्य वाणी भाव के रंग में एक विचित्र ही रूप धारण कर लेती है।

व्यवहार—

१. लाजनि लपेटी चितवनि भेद-भाय-भरी,
लसति ललित लोल चख-तिरछानि में।
छबि को सदन गोरो बदन रुचिर भाल,
रस निचुरत मीठी मृदु मुसकानि में
दसन-दमक फैलि हियें मोती माल होति,
पिय सों लड़कि प्रेम-पगी बतरानि में।
आनन्द की निधि जगमगति छबीली बाल,
अंगनि अनंग रंग ढुरि मुरिजानि में।

इस पद में सौंदर्य के जिस रूप का वर्णन है उसमें बंकिमा के चमत्कार का ही प्राधान्य है । चितवन भेद-भाव-भरी है, दृष्टि कटाक्ष-युक्त है और गति में बंकिमा है ।

२. *बदरा बरसैं रितु मैं घिरिकै नितही अँखियाँ उघरी बरसैं ।*

३. *उजरनि बसी है* हमारी अंखियानि देखो सुबस सुदेस जहाँ रावरे बसत हौ ।

४. *झूठ की सचाई* छाक्यो त्यों हित कचाई पाक्यो, ताके गुन गन घनआनंद *कहा गनौं* ।

५. मति दौरि थकी न लहैं ठिक ठौर *अमोही के मोह-मिठास* ठगी ।

उपर्युक्त पंक्तियों की रेखांकित शब्दावली में वक्रता का चमत्कार स्वतःस्पष्ट है, अतएव उसका व्याख्यान अनावश्यक है । बिहारी तथा घनानन्द और उनके पूर्ववर्ती मुबारक आदि कवियों के काव्य में भारतीय संस्कारों के अतिरिक्त फ़ारसी का भी गहरा प्रभाव है और यह वक्रता-विलास, यह उक्ति-वैचित्र्य, बात का यह बांकपन बहुत-कुछ उसी का परिणाम है ।

रीति-काल के उपरांत जो रीति-परम्परा चलती रही, उसमें वक्रोक्ति-विषयक कोई नवीन उद्भावना नहीं हुई । कविराजा मुरारिदान, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, सेठ अर्जुनदास केडिया, मिश्रबन्धु आदि प्रायः समस्त आधुनिक रीतिकारों ने वक्रोक्ति को उसी रूप में ग्रहण किया है जिस रूप में उनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने किया था । परिभाषा सभी की वही है:

१. सेठ कन्हैयालाल पोद्दार : किसी के कहे हुए वाक्य का किसी अन्य *व्यक्ति द्वारा—श्लेष से अथवा काकु-उक्ति से—अन्य अर्थ कल्पना किये जाने को* वक्रोक्ति अलंकार कहते हैं । अर्थात् वक्ता ने जिस अभिप्राय से जो वाक्य कहा हो, उसका श्रोता द्वारा भिन्न अर्थ कल्पना करके उत्तर दिया जाना । भिन्न अर्थ की कल्पना दो प्रकार से हो सकती है—श्लेष द्वारा और काकु द्वारा । अतः वक्रोक्ति के दो भेद हैं—श्लेष-वक्रोक्ति और काकु-वक्रोक्ति । (अलंकारमंजरी पृ० ४) ।

२. मिश्रबन्धु (१. शुकदेवबिहारी मिश्र तथा पं० प्रतापनारायण मिश्र) : वक्रोक्ति—में दूसरे की उक्ति का अर्थ काकु या श्लेष से बदला जाता है । वक्रोक्ति शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दो प्रकार की—वक्रोक्ति दो प्रकार की होती है, एक

शब्द-वक्रोक्ति, दूसरी अर्थ-वक्रोक्ति। जहाँ शब्द बदल देने से यह अलंकार न रहे वहाँ शब्द-वक्रोक्ति समझी जायगी, जो कवियों ने शब्दालंकार का भेद माना है।

नोट—हम वक्रोक्ति को अर्थालंकार में मानते हैं। ऐसा मानने की तर्कावली श्लेष अलंकार (नं० २६) वाली ही है। × × अर्थात्—इस कारण जहाँ शब्द परिवर्तन से अलंकार न रहे, वहाँ शब्दालंकार वाला सिद्धान्त नहीं टिकता। इस हेतु यहाँ यह सिद्धान्त मानना चाहिए कि जहाँ सुनने में सुन्दर लगे, वहाँ शब्दालंकार हो, और जहाँ अर्थ विचारने में सौंदर्य ज्ञात हो, वहाँ अर्थालंकार।
(साहित्य-पारिजात पृ० ३२३, ३२५, १७८)

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि वक्रोक्ति के सम्बन्ध में मूल धारणा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। केवल इतना अन्तर अवश्य पड़ा है कि पं० शुकदेवबिहारी मिश्र आदि ने उसको शब्दालंकार-वर्ग के अन्तर्गत न रखकर अर्थालंकार-वर्ग के अन्तर्गत ही रखा है। और यह वर्णन-क्रम मात्र का भेद नहीं है। वे स्पष्टतः तथा सकारण उसको अर्थालंकार मानते हैं: उनका तर्क है कि जो अलंकार केवल श्रुति-सुखद हो वह शब्दालंकार है और जिसके अर्थ में चमत्कार हो वह अर्थालंकार। आधुनिक मनोविज्ञान की शब्दावली में यह कहा जा सकता है कि जो अलंकार वाक्चित्र मात्र उत्पन्न करने की क्षमता रखता है वह शब्दालंकार है और जो मानस-चित्र भी उत्पन्न करता है वह अर्थालंकार है: रिचर्ड्स ने पहले में सम्बद्ध मूर्ति-विधान और दूसरे में स्वतंत्र मूर्ति-विधान की कल्पना की है। मिश्रद्वय का यह तर्क परम्परा-मान्य तर्क से भिन्न है। जैसा कि उन्होंने स्वयं ही लिखा है, उन्हें प्राचीन आलंकारिकों का यह सिद्धान्त अमान्य है कि जहाँ चमत्कार शब्द के आश्रित हो अर्थात् शब्द-परिवर्तन से जहाँ चमत्कार नष्ट हो जाए वहाँ शब्दालंकार होता है, और जहाँ शब्द-परिवर्तन के उपरान्त भी चमत्कार यथावत् बना रहे वहाँ अर्थालंकार होता है। यह स्थापना निश्चय ही साहस-पूर्ण है और एकदम अग्राह्य भी नहीं है। वास्तव में तो यह समस्या श्लेष के कारण उत्पन्न हुई है जिसके विषय में संस्कृत के आलंकारिकों में प्रचण्ड विवाद चला है, और स्वतन्त्रचेता मिश्र जी ने अपने ढंग से सामान्य विवेक के आधार पर इसका समाधान करने का प्रयत्न किया है। परन्तु उनका समाधान भी सर्वथा निर्दोष नहीं है। इस प्रकार यमक भी अर्थालंकार-वर्ग के अन्तर्गत आ जाता है क्योंकि उसका चमत्कार भी केवल श्रवण मात्र से—अर्थ-ज्ञान के बिना—हृद्गत नहीं होता, पर स्वयं मिश्र जी ने उसे शब्दालंकार माना है: अतएव परम्परा की अस्वीकृति से कोई विशेष सिद्धि नहीं होती। वक्रोक्ति को प्राचीनों ने इसी कारण से शब्दालंकार माना है क्योंकि उसका आधार शब्द-

चमत्कार ही है : काकु में उच्चारण का चमत्कार है, श्लेष में शब्द-विशेष का। मिश्र जी के तर्कानुसार वक्रोक्ति का चमत्कार मूलतः अर्थ का ही चमत्कार है, इसलिए उसे अर्थालंकार ही मानना संगत होगा। इसमें सन्देह नहीं कि वक्रोक्ति का आश्रय चाहे उच्चारण-वक्रता हो या शब्द-विशेष परन्तु उसमें निश्चय ही व्यंग्य का चमत्कार रहता है और ऐसी दशा में उसकी अर्थालंकार-कल्पना भी सर्वथा अनर्गल नहीं है। संस्कृत के रुय्यक, विद्यानाथ तथा अप्पय दीक्षित, और इधर हिन्दी के जसवन्तसिंह, भूषण आदि कतिपय आचार्यों ने भी उसे अर्थालंकार-वर्ग के अन्तर्गत ही रखा है।

आधुनिक युग के आलोचक

द्विवेदी युग में संस्कृत-हिन्दी की रीति-परम्परा से भिन्न पाश्चात्य पद्धति पर आधुनिक हिन्दी आलोचना का जन्म हुआ। इस नवीन आलोचना-पद्धति में काव्य के प्राचीन और नवीन सिद्धान्तों तथा मूल्यों का समन्वय अथवा मिश्रण था। इसका प्रारम्भ तो भारतेन्दु के युग में ही हो चुका था, परन्तु सम्यक् विकास द्विवेदी-युग में ही हुआ। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के अतिरिक्त मिश्रबन्धु, पं० पद्मसिंह शर्मा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि ने आलोचना के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों पक्षों को ग्रहण किया—और अपने-अपने ढंग से प्राचीन तथा नवीन काव्य एवं काव्य-सिद्धान्तों का विवेचन किया। द्विवेदी जी ने मुख्यतः काव्य के शिक्षा तथा आनन्द-पक्षों को ही महत्व दिया है, परन्तु चमत्कार का भी अवमूल्यन नहीं किया। उन्होंने अपने अनेक निबन्धों में काव्य में कला-चमत्कार का समर्थन किया है और इस प्रकार वक्रता को मान्यता दी है :

"शिक्षित कवि की उक्तियों में चमत्कार होना परमावश्यक है। यदि कविता में चमत्कार नहीं—कोई विलक्षणता ही नहीं—तो उससे आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। क्षेमेन्द्र की राय है :

'न हि चमत्कारविरहितस्य कवेः कवित्वं काव्यस्य वा काव्यत्वम्'—यदि कवि में चमत्कार पैदा करने की शक्ति नहीं तो वह कवि कवि नहीं, और यदि चमत्कार-पूर्ण नहीं तो काव्य का काव्यत्व भी नहीं। अर्थात् जिस गद्य या पद्य में चमत्कार नहीं वह काव्य या कविता की सीमा के भीतर नहीं आ सकता।

एकेन केनचिदनर्घमणिप्रभेण
काव्यं चमत्कृतिपदेन विना सुवर्णम्।
निर्दोषलेशमपि रोहति कस्य चित्ते
लावण्यहीनमिव यौवनमंगनानाम्॥

काव्य चाहे कैसा भी निर्दोष क्यों न हो, उसके सुवर्ण चाहे कैसे ही मनोहर क्यों न हों—यदि उसमें अनमोल रत्न के समान कोई चमत्कार-पूर्ण पद न हुआ तो वह, स्त्रियों के लावण्य-हीन यौवन के समान, चित्त पर नहीं चढ़ता।

एक विरहिणी अशोक को देखकर कहती है—तुम खूब फूल रहे हो, लताएं तुम पर बेतरह छाई हुई हैं, कलियों के गुच्छे सब कहीं लटक रहे हैं, भ्रमर के समूह जहां-तहां गुंजार कर रहे हैं। परन्तु मुझे तुम्हारा यह आडम्बर पसन्द नहीं। इसे हटाओ। मेरा प्रियतम मेरे पास नहीं। अतएव मेरे प्राण कण्ठगत हो रहे हैं।

इस युक्ति में कोई विशेषता नहीं—इसमें कोई चमत्कार नहीं। अतएव इसे काव्य की पदवी नहीं मिल सकती। अब एक चमत्कार-पूर्ण उक्ति सुनिए। कोई वियोगी रक्ताशोक को देखकर कहता है—नवीन पत्तों से तुम रक्त (लाल) हो रहे हो, प्रियतमा के प्रशंसनीय गुणों से मैं रक्त (अनुरक्त) हूँ। तुम पर शिलीमुख (भ्रमर) आ रहे हैं, मेरे ऊपर भी मनसिज के धनुष से छूटे हुए शिलीमुख (बाण) आ रहे हैं। कान्ता के चरणों का स्पर्श तुम्हारे आनन्द को बढ़ाता है, उसके स्पर्श से मुझे भी परमानन्द होता है, अतएव हमारी तुम्हारी दोनों की अवस्था में पूरी-पूरी समता है। भेद यदि कुछ है तो इतना ही कि तुम अशोक हो और मैं सशोक। इस उक्ति में सशोक शब्द रखने से विशेष चमत्कार आ गया। उसने 'अनमोल रत्न' का काम किया। यह चमत्कार किसी पिंगल-पाठ का प्रसाद नहीं और न किसी काव्यांग-विवेचक ग्रन्थ के नियम-परिपालन का ही फल है।" (संचयन, पृ० ६६-६७)

२. यदि किसी कवि की कविता में केवल शुष्क विचारों का विजृम्भण है, यदि उसकी भाषा निरी नीरस है, यदि उसमें कुछ भी चमत्कार नहीं तो ऊपर जिन घटनाओं की कल्पना की गई उनका होना कदापि सम्भव नहीं।

जो कवि शब्द-चयन, वाक्य-विन्यास और वाक्य-समुदाय के आकार प्रकार की काट-छांट में भी कौशल नहीं दिखा सकते उनकी रचना विस्मृति के अन्धकार में अवश्य ही विलीन हो जाती है। जिसमें रचना-चातुर्य तक नहीं उसकी कवियशोलिप्सा विडम्बना मात्र है। किसी ने लिखा है—

तात्पर्यरत्नानि न सन्ति येषां
सुवर्णसंघेन च ये न पूर्णाः
ते रीतिमात्रेण दरिद्रकल्पा
यान्तीश्वरत्वं हि कथं कवीनाम् ?

जिनके पास न तो अर्थ-रूपी रत्न ही हैं और न सुवर्ण-रूपी सुवर्ण-समूह ही वे कवियों की रीति-मात्र का आश्रय लेकर—कांसे और पीतल के दो-चार टुकड़े रखने वाले किसी दरिद्र-कल्प मनुष्य के सदृश भला कहीं कवीश्वरत्व पाने के अधिकारी हो सकते हैं ?

(संचयन : आजकल की कविता, पृ० १००-१०१)

द्विवेदीजी का दृष्टिकोण सर्वथा स्पष्ट है। उन्होंने भारतीय काव्य-शास्त्र तथा अंग्रेजी के उत्तर-मध्यकालीन आलोचना-सिद्धान्तों के संस्कार ग्रहण किये थे। स्वभाव से वे नीतिवादी पुरुष थे किन्तु काव्य के आनन्द-तत्व से भी अनभिज्ञ नहीं थे। 'कान्ता-सम्मित उपदेश'—अथवा 'आह्लाद के माध्यम से शिक्षा' को ही वे काव्य का चरम लक्ष्य मानते थे। उनकी दृष्टि में नीति-शिक्षा काव्य का मूल उद्देश्य है परन्तु वाक्-वैदग्ध्य के बिना उसकी पूर्ति सम्भव नहीं है। अतएव द्विवेदी जी के मत से वक्रता अथवा उक्ति-चमत्कार *सत्काव्य का अनिवार्य माध्यम है : वह आत्मा नहीं है,* परन्तु बाह्य व्यक्तित्व अवश्य है। उनके उपर्युक्त उद्धरण (१) से यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि केवल मधुर भाव, या केवल उत्तम विचार काव्य के लिए पर्याप्त नहीं हैं। काव्य-विषय तो स्वर्ण-मात्र है, जब तक उसमें चमत्कार-रूपी अनमोल रत्न नहीं जड़ा जाएगा तब तक उसका सौंदर्य नहीं चमकेगा : रत्न जड़ने की यही क्रिया कुन्तक की कविव्यापार-वक्रता है जिसे द्विवेदी जी, क्षेमेन्द्र के मतानुसार, सत्काव्य के लिए अनिवार्य मानते हैं।

यह तो सिद्धान्त की बात रही। व्यवहार में वस्तुतः वक्रता का इतना दुष्काल हिन्दी के किसी काव्य-युग में नहीं मिलता जितना द्विवेदी युग में। स्वयं द्विवेदी जी तथा उनके प्रभाव से समसामयिक कवियों ने भाषा की शुद्धि पर इतना अधिक बल दिया कि उसका लावण्य सर्वथा उपेक्षित हो गया। खड़ी बोली उस समय वैसे भी अर्ध-विकसित काव्य-भाषा थी—द्विवेदी जी के कठोर नियंत्रण के कारण उसमें स्वच्छता और शुद्धता का समावेश तो हुआ किन्तु लावण्य का प्रस्फुटन अवरुद्ध हो गया। परिणाम यह हुआ, द्विवेदी युग की काव्य-शैली एकान्त अभिधात्मक तथा अवक्र हो गई। रामचरित उपाध्याय की कविता वक्रता के घोर अभाव का उदाहरण है। सिद्धान्ततः ये कवि चमत्कार अथवा उक्ति के वक्रता-वैचित्र्य से विमुख नहीं थे; द्विवेदी जी की भाँति इन सभी की उसमें पूरी आस्था थी, परन्तु इनकी अपनी परि-सीमाएँ थीं। वह काव्य के क्षेत्र में संक्रान्ति का काल था जिसमें सृजन की अपेक्षा निर्माण की प्रवृत्ति अधिक सजग थी, अतः चेष्टा और प्रयत्न के उस युग में सौंदर्य-दृष्टि के सम्यक् विकास तथा उससे उद्भूत वक्रता-वैभव के लिए अवकाश न था।

इस युग में वक्रता को उचित प्रश्रय वस्तुतः प्राचीन काव्य के रसिक आचार्यों से ही मिला है। इनमें पं० पद्मसिंह शर्मा, कविवर जगन्नाथदास रत्नाकर तथा कवि श्री हरिऔध सर्व-प्रमुख थे। बिहारी-काव्य-रसिक पं० पद्मसिंह जी तो बाँकपन पर सौ जान से फ़िदा थे :—

(१) "इस प्रकार के स्थलों में ऐसा कोई अवसर नहीं जहाँ इन्होंने 'बात में बात' पैदा न कर दी हो।" (बिहारी सतसई पृ० २५)

(२) आजकल का सम्भ्रान्त शिक्षित समाज कोरी 'स्वभावोक्ति' पर फ़िदा है, अन्य अलंकारों की सत्ता उसकी परिष्कृत रुचि की आँख में काँटा-सी खटकती है, और विशेषकर 'अतिशयोक्ति' से तो उसे कुछ चिढ़-सी है। प्राचीन साहित्य-विधाताओं के मत में जो चीज़ कविता-कामिनी के लिए नितान्त उपादेय थी, वही इसके मत में सर्वथा हेय है। यह भी एक रुचि-वैचित्र्य का 'दौरात्म्य' है। जो कुछ भी हो, प्राचीन काव्य वर्तमान परिष्कृत सुरुचि के आदर्श पर नहीं रचे गये, उन्हें इस नये गज से नहीं नापना चाहिये, प्राचीनता की दृष्टि से परखने पर ही उनकी ख़ूबी समझ में आ सकती है। 'सतसई' भी एक ऐसा ही काव्य है, बिहारी उस प्राचीन मत के अनुयायी थे जिसमें 'अतिशयोक्ति-शून्य' अलंकार चमत्कार-रहित माना गया है। उपमा, उत्प्रेक्षा, पर्याय और निदर्शना आदि अलंकार अतिशयोक्ति से अनुप्राणित होकर ही जीवन-लाभ करते हैं—अतिशयोक्ति ही उन्हें जिला देकर चमकाती है, मनोमोहक बनाती है, उनमें चारुत्व लाती है—यह न हो तो वे कुछ भी नहीं, बिना नमक का भोजन, तार-रहित सितार और लावण्य-हीन रूप हैं।

'अतिशयोक्ति' के विषय में आचार्य 'भामह' की यह शुभ सम्मति है—

"सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारस्तया विना ॥"

× × ×

—अर्थात् काव्य में सर्वत्र 'वक्रोक्ति' (अतिशयोक्ति) ही का चमत्कार है, यही अर्थ को चमकाकर दिखाती है, कवि को इसमें प्रयत्न करना चाहिए, सब अलंकारों में एक इसी की करामात तो काम कर रही है। + + + पुराने काव्यों में 'नेचुरल सादगी'—(जिसे कुछ लोग 'स्वभावोक्ति' भी कहते हैं) के उदाहरण कुछ कम नहीं हैं। पर उनमें भी कुछ निराला चमत्कार है। 'तेरे चेहरे पर भौंह के नीचे

आँखें हैं, और मुँह के भीतर दाँत हैं'—इस क़िस्म की सादगी कविता की शोभा नहीं बढ़ा सकती—कविता का सिंगार या अलंकार नहीं कहला सकती, यह आँख और दाँत वाली बात साफ़, सीधी और सच हो सकती है, कोई सादगी-पसन्द सज्जन अपनी परिभाषा में इसे 'स्वभावोक्ति' भी कह सकते हैं, पर यह साहित्य-सम्मत 'स्वभावोक्ति' नहीं है।

नवीन आदर्श के अनुयायी काव्य-विवेचक प्राचीन काव्यों का विवेचन करते समय इसे न भूलें, और यह भी याद रखें कि सब जगह 'सादगी' ही आदर नहीं पाती, 'कविता' की तरह और भी कुछ चीजें ऐसी हैं, जहाँ 'वक्रता' (बाँकपन, बंकई) ही क़दर और क़ीमत पाती है। बिहारी ही ने कहा है—

'गढ़-रचना, बरुनी, अलक, चितवनि भौंह, कमान।
आघु बंकई ही ब (च) ढ़ै तरुनि, तुरंगम, तान॥'

[बिहारी की सतसई पृ० २१७]

(३) "अन्य कवियों की अपेक्षा बिहारी ने विरह का वर्णन बड़ी विचित्रता से किया है, इनके इस वर्णन में एक निराला बाँकपन—कुछ विशेष वक्रता है, व्यंग्य का प्राबल्य है, अतिशयोक्ति का (जो कविता की जान और रस की खान है) और अत्युक्ति का अत्युत्तम उदाहरण है। जिस पर रसिक सुजान सौ जान से फ़िदा हैं। इस मज़मून पर और कवियों ने भी खूब ज़ोर मारा है, बहुत ऊँचे उड़े हैं, बड़ा तूफ़ान बाँधा है, क़यामत बरपा कर दी है, पर बिहारी की चाल—इनका मनोहारी पद-विन्यास सबसे अलग है। उस पर नीलकण्ठ दीक्षित की यह उक्ति पूरे तौर पर घटती है—

वक्रोक्तयो यत्र विभूषणानि
वाक्यार्थबाधः परमः प्रकर्षः
अर्थेषु बोध्येष्वभिधैव दोषः
सा काचिदन्या सरणिः कवीनाम्॥[1]"

(बिहारी सतसई पृ० १६०)

---

१. वक्रोक्ति—बाँकपन—ही जहाँ विभूषण है, वाक्या (च्या) र्थ का बाध—शब्दों के सीधे प्रसिद्ध अर्थ का तिरस्कार ही जहाँ अत्यन्त आदरणीय प्रकर्ष है। अभिधा शक्ति से वाच्यार्थ का प्रकट करना ही जहाँ दोष है, कवियों का वह व्यंजना-प्रधान टेढ़ा मार्ग सबसे निराला है।

उपर्युक्त उद्धरणों के विश्लेषण का परिणाम इस प्रकार है :—

(१) शर्मा जी प्राचीन वक्रतावादी आचार्यों—भामह आदि—की भाँति वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को पर्याय तथा समस्त अलंकार-प्रपंच का मूल आधार मानते हैं। कुन्तक का मत भी भामह के मत से मूलतः भिन्न नहीं है। वास्तव में वह भामह के उक्त सिद्धान्त का ही पल्लवन है।

(२) वे स्वभावोक्ति के प्रति विशेष आकृष्ट नहीं हैं—स्वभावोक्ति भी उन्हें अपनी सादगी के कारण नहीं वरन् बाँकपन के कारण ही काव्य-कोटि में ग्राह्य है।

(३) संस्कृत की शास्त्रीय परम्परा के अनुसार वे हैं तो रसध्वनिवादी[1] ही, परन्तु रसध्वनि के माध्यम-रूप में वे वक्रोक्ति को भी कविता की जान तथा रस का आधार मानते हैं।

कविवर रत्नाकर ने सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनों में ही वक्रता के प्रति प्रबल आकर्षण व्यक्त किया है। 'काव्य क्या है ?'—इसका विवेचन करते हुए उन्होंने लिखा है :

"यह बात तो सर्व-मान्य तथा युक्ति-युक्त है कि काव्य एक प्रकार का वाक्य ही है। अतः इस विषय में विशेष लिखना अनावश्यक है। अब 'सामान्य वाक्य' तथा वाक्य में जो मुख्य भेद है वह हम अपने मतानुसार संक्षेपतः निवेदित करते हैं। सामान्य अर्थात् काव्यातिरिक्त वाक्यों का उद्देश्य श्रोता को किसी वस्तु, घटना अथवा वृत्तान्त आदि का बोध करा देना मात्र होता है। उस वाक्य से यदि श्रोता को किसी प्रकार का हर्ष अथवा विषाद उत्पन्न होता है तो उस वर्ण्य विषय के उसके निमित्त प्रिय अथवा अप्रिय होने के कारण वह हर्ष अथवा विषाद लौकिक मात्र होता है, अर्थात् श्रोता अथवा उसके पक्ष के लोगों के उससे लौकिक तथा व्यक्तिगत इष्टानिष्ट-सम्बन्ध के कारण होता है, जैसे—'रावण मारा गया' इस वाक्य से राम के पक्षवालों को हर्ष तथा मंदोदरी आदि को विषाद सम्भावित है। काव्य-वाक्य का उद्देश्य, वर्णन-वैदग्ध्य तथा वाक्पटुतादि के द्वारा श्रोताओं के हृदय में एक विशेष प्रकार का आनन्दोत्पादन होता है। वह आनन्द वर्णित विषय-जनित हर्षवि-षाद से कुछ पृथक् ही होता है। उसको साहित्यकारों ने 'अलौकिक' माना है, अर्थात् वह वर्णित

१. "इस प्रकार के रसध्वनिवादी काव्य के निर्माता ही वास्तव में 'महाकवि' पद के समुचित अधिकारी हैं।" (बिहारी की सतसई पृ० २१)।

विषय से श्रोता के इष्टानिष्ट सम्बन्ध के कारण नहीं होता। वह कवि के द्वारा किसी विषय को एक विशेष प्रकार से वर्णित करने के कारण सहृदय श्रोता के हृदय में उत्पन्न होता है। इसी अलौकिक आह्लाद-जनक ज्ञान-गोचरता को पंडितराज जगन्नाथ ने 'रमणीयता' कहा है। वाक्य में उक्त रमणीयता के लाने के भिन्न-भिन्न साधन तथा भिन्न-भिन्न लक्षण स्वीकृत किये गए हैं। किसी आचार्य ने अलंकार, किसी ने रीति, किसी ने रस, किसी ने वक्रोक्ति तथा किसी ने ध्वनि को काव्य के मुख्य लक्षण में परिगणित किया है। हमारी समझ में ये सब अलग-अलग अथवा मिल-जुल कर रमणीयता लाने की मुख्य निर्दिष्ट सामग्री मात्र हैं।" (कविवर बिहारी पृ० ३)

रत्नाकर जी का वक्तव्य भी स्वतःस्पष्ट ही है। उनके मतानुसार:—

१. रमणीय वाक्य का नाम काव्य है।

२. रमणीय वाक्य सामान्य वाक्य से भिन्न होता है। सामान्य वाक्य का प्रयोजन है वस्तु-बोध, और रमणीय वाक्य का उद्देश्य है चमत्कार की उत्पत्ति। यही प्राचीन आलंकारिकों की शब्दावली में वार्ता और वक्रता का भेद है।

३. यह चमत्कार काव्य-वस्तु से उत्पन्न नहीं होता।—काव्य-वस्तु से भी आनन्द की उत्पत्ति सम्भव है, परन्तु वह लौकिक होता है। काव्य-चमत्कार अलौकिक होता है जो कवि के वर्णन-कौशल पर निर्भर रहता है, और कवि का वर्णन-कौशल कुन्तक की कविव्यापार-वक्रता ही है।

४. रस, अलंकार, रीति, ध्वनि तथा वक्रोक्ति काव्य के तत्व हैं जिनके द्वारा काव्य के मूल आधार 'रमणीयता' का निर्माण होता है। इनमें से किसी एक को काव्य का प्राण-तत्व मानना असंगत है—ये सभी मिलकर काव्य के 'रमणीय' रूप का निर्माण करते हैं।

इस विवेचन से यह व्यक्त होता है कि रत्नाकर जी समन्वयवादी आचार्य हैं जो समस्त काव्य-सम्प्रदायों के महत्व को स्वीकार कर उनको प्रतिस्पर्धी न मान कर परस्पर सहयोगी मानते हैं। वस्तुतः आज तर्क और विवेक के आधार पर यह मत मान्य भी हो सकता है: परन्तु क्या उपर्युक्त उद्धरण में वक्रता के प्रति उनका पक्षपात लक्षित नहीं होता? काव्य के चमत्कार को वस्तु से पृथक् कवि के वर्णन-चातुर्य में मानकर वे भाव की अपेक्षा कला अथवा रस की अपेक्षा कविव्यापार-वक्रता को

ही प्रमुखता दे रहे हैं। और उनका अपना मुक्तक काव्य, जिसमें सूर और बिहारी दोनों के वाक्-वैदग्ध्य का चमत्कार एकत्र मिल जाता है, हमारे निष्कर्ष की पुष्टि करता है:—

स्याम सहतूत लौं सलूनी रस-रासि भरी,
सूधी तें सहसगुनी टेढ़ी भौंह मीठी है।
(शृंगार लहरी-१२२)

इस युग में वक्रता पर सबसे प्रबल प्रहार किया शुक्ल जी ने। दर्शन और मनोविज्ञान की सहायता से भारतीय रस-सिद्धान्त को सांस्कृतिक-नैतिक आधार पर प्रतिष्ठित कर शुक्ल जी सर्वथा आश्वस्त हो गये थे। अतएव अन्य काव्य-मूल्यों के लिए उनके मन में स्थान नहीं था : चमत्कार के प्रति वे विशेष रूप से निर्मम थे : उनका विश्वास था कि चमत्कार का सम्बन्ध मनोरंजन से है—'इससे जो लोग मनोरंजन को ही काव्य का लक्ष्य मानते हैं, वे यदि कविता में चमत्कार ही ढूंढा करें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।'[1] 'परन्तु काव्य का लक्ष्य निश्चय ही कहीं गंभीर तथा उदात्त है—और जो लोग इससे ऊँचा और गम्भीर लक्ष्य समझते हैं वे चमत्कार मात्र को काव्य नहीं मान सकते।'[2] शुक्ल जी की निश्चित धारणा थी कि चमत्कार या उक्ति-वैचित्र्य काव्य का नित्य लक्षण नहीं हो सकता। ऐसी अनेक मार्मिक उक्तियाँ हो सकती हैं जिनमें किसी प्रकार का वैचित्र्य अथवा वक्रता न हो, साथ ही ऐसी भी अनेक वक्र उक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं जो चमत्कार रहने पर भी सरलता के अभाव में काव्य-संज्ञा की अधिकारिणी नहीं हैं। शुक्ल जी ने अपनी पहली स्थापना की पुष्टि में पद्माकर, मंडन तथा ठाकुर की ये पंक्तियाँ उद्धृत की हैं :

१. नैन नचाय कही मुसकाय लला फिर आइयो खेलन होरी। (पद्माकर)

२. चिर जीवहु नन्द को बारो अरी, गहि बाँह गरीब ने ठाड़ी करी॥ (मंडन)

३. वा निरमोहनी रूप की रासि जऊ उर हेतु न ठानति ह्वै है।
बारहि बार बिलोकि घरी घरी सूरति तो पहिचानति ह्वै है।
ठाकुर या मन की परतीति है जो पै सनेह न मानति ह्वै है।
आवत हैं नित मेरे लिए इतनो तो विशेष कै जानति ह्वै है॥ (ठाकुर)

शुक्ल जी के मत से 'पद्माकर का वाक्य सीधा-सादा है,' 'मण्डन में प्रेम-गोपन के जो

१. २. कविता क्या है?—चिंतामणि भाग १, पृ० १६८।

वचन कहलाए हैं वे ऐसे ही हैं जैसे स्वभावतः मुंह से निकल पड़ते हैं। उनमें विदग्धता की अपेक्षा स्वाभाविकता कहीं अधिक झलक रही है'; और ठाकुर के सवैये में भी अपने प्रेम का परिचय देने के लिए आतुर नये प्रेमी के चित्त के वितर्क की सीधे-सादे शब्दों में, बिना किसी वैचित्र्य या लोकोत्तर चमत्कार के व्यंजना की गई है।'— अर्थात् ये सभी उक्तियाँ वक्रता-वैचित्र्य से रहित होने पर भी निश्चय ही सत्काव्य हैं, इनकी मार्मिक रस-व्यंजना इनके काव्यत्व का प्रमाण है।

शुक्ल जी की दूसरी स्थापना यह है कि भाव-स्पर्श के अभाव में केवल उक्ति वैचित्र्य अथवा चमत्कार काव्य नहीं है, और इसकी पुष्टि में उन्होंने केशवदास के कतिपय उद्धरण प्रस्तुत किये हैं :

पताका—

अति सुन्दर ति साधु। अथिर न रहत पल आधु।
परम तपोमय मानि। दण्डधारिणी जानि ॥

इनके विषय में उनका निर्णय है कि ये पंक्तियाँ मर्म का स्पर्श नहीं करतीं, अतः कोई भावुक इन उक्तियों को शुद्ध काव्य नहीं कह सकता।

इन युक्तियों का अभिप्राय यह नहीं है कि शुक्ल जी वक्रता का सर्वथा निषेध ही करते हैं। वे तो केवल दो तथ्यों पर बल देते हैं : (१) वक्रता (या चमत्कार) अपने आप में काव्यत्व के लिए पर्याप्त नहीं है और (२) वक्रता काव्यत्व के लिए अनिवार्य भी नहीं है। किन्तु वक्रता-वैचित्र्य के उपयोग को वे अवश्य स्वीकार करते हैं—भाव-प्रेरित वक्रता की उन्होंने भी अत्यन्त उच्छ्वासपूर्ण वाणी में प्रशंसा की है : 'भावोद्रेक से उक्ति में जो एक प्रकार का बाँकपन आ जाता है, तात्पर्य-कथन के सीधे मार्ग को छोड़कर वचन जो एक भिन्न प्रणाली ग्रहण करते हैं, उसी की रमणीयता काव्य की रमणीयता के भीतर आ सकती है।' (भ्रमरगीत-सार की भूमिका पृ० ७१)। इस भाव-प्रेरित वक्रोक्ति को वे काव्य-जीवित भी मानने को प्रस्तुत हैं।

वास्तव में शुक्ल जी रसानुभूति की श्रेणियाँ मानते हैं और उन्हीं के आधार पर काव्य और सूक्ति में स्पष्ट भेद मानते हैं :—"यह तो ठीक है कि काव्य सदा उक्ति-रूप ही होता है, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि यह उक्ति सदा विचित्र, लोकोत्तर या अद्भुत हो। जो उक्ति श्रवणगत होते ही श्रोता को भाव-लीन कर दे वह काव्य है,

और जो उक्ति केवल कथन के ढंग के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे, वह है सूक्ति। काव्य से सच्ची रसानुभूति और सूक्ति से निम्न कोटि की रसानुभति होती है जो मनोरंजन से मिलती-जुलती होती है।"

इस प्रकार 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' के सिद्धान्त के प्रति शुक्ल जी का दृष्टि-कोण स्पष्ट हो जाता है : "उक्ति की वहीं तक की वचन-भंगी या वक्रता के सम्बन्ध में हमसे कुन्तकजी का 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' मानते बनता है, जहाँ तक कि वह भावानुमोदित हो या किसी मार्मिक अन्तर्वृत्ति से सम्बद्ध हो, उसके आगे नहीं। कुन्तकजी की वक्रता बहुत व्यापक है जिसके अन्तर्गत वे वाक्य-वैचित्र्य की वक्रता और वस्तु-वैचित्र्य की वक्रता दोनों लेते हैं। सालंकृत वक्रता के चमत्कार ही में वे काव्यत्व मानते हैं। योरप में भी आजकल क्रोचे के प्रभाव से एक प्रकार का वक्रोक्तिवाद जोर पर है। विलायती वक्रोक्तिवाद लक्षणा-प्रधान है। लाक्षणिक चपलता और प्रगल्भता में ही, उक्ति के अनूठे स्वरूप में ही, बहुत-से लोग वहाँ कविता मानने लगे हैं। उक्ति ही काव्य होती है, यह तो सिद्ध बात है। हमारे यहाँ भी व्यंजक वाक्य ही काव्य माना जाता है। अब प्रश्न यह है कि कैसी उक्ति, किस प्रकार की व्यंजना करने वाला वाक्य? वक्रोक्तिवादी कहेंगे कि ऐसी उक्ति जिसमें कुछ वैचित्र्य या चमत्कार हो, व्यंजना चाहे जिसकी हो, या किसी ठीक-ठीक बात की न भी हो। पर जैसा कि हम कह चुके हैं, मनोरंजन मात्र को काव्य का उद्देश्य न मानने वाले उनको इस बात का समर्थन करने में असमर्थ होंगे। वे किसी लक्षणा में उसका प्रयोजन अवश्य ढूंढेंगे।"

(चिंतामणि पृ०)

संक्षेप में वक्रोक्ति के विषय में शुक्ल जी की धारणाएं इस प्रकार हैं :

१. सत्काव्य में वक्रता का स्वतंत्र महत्व नहीं है : (अ) वक्रता मात्र काव्य नहीं है और (आ) न वक्रता के अभाव में काव्यत्व की अत्यन्त हानि ही होती है अर्थात् वक्रता काव्य के लिए अनिवार्य भी नहीं है।

२. काव्य में वक्रता का महत्व तभी है जब वह भाव-प्रेरित हो। भाव-प्रेरित वक्रता निश्चय ही उत्कृष्ट काव्य है।

३. भाव-स्पर्श से रहित केवल वक्र-उक्ति सूक्ति मात्र है : सूक्ति से मनोरंजन के ढंग की निम्न कोटि की रसानुभूति होती है।

४. कुन्तक का वक्रोक्ति-सिद्धान्त वहीं तक मान्य है जहां तक वक्रोक्ति भावानुमोदित रहती है : वक्रोक्तिवाद में जहां केवल चमत्कार की प्रतिष्ठा है अर्थात् उक्ति-वैचित्र्य का ही महत्व है विषय-वस्तु का नहीं, वहां गम्भीर-चेता सहृदय उसका समर्थन नहीं कर सकता।

५. कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त और क्रोचे के अभिव्यंजना-सिद्धान्त का मूल आधार एक ही है : उक्ति-वैचित्र्य।

विवेचन

आचार्य शुक्ल के निष्कर्ष अत्यंत प्रबल हैं। शुक्ल जी रसवादी हैं और उनका दृष्टिकोण वक्रोक्ति के प्रति लगभग वही है जो रसवादी का होना चाहिए। काव्य मूल रूप में भावना का ही व्यापार है, इसमें संदेह नहीं, अतएव भावना का अभाव निश्चय ही काव्यत्व का अभाव है। इसलिए शुक्ल जी का यह मन्तव्य सर्वथा अकाट्य है कि केवल वक्रता काव्य नहीं है। केवल वक्रता से भी एक प्रकार का चमत्कार उत्पन्न होता है, परन्तु वह मनोरंजन की कोटि का होता है जो काव्य-जन्य परिष्कृत आनन्द की कोटि से अत्यन्त निम्नतर कोटि का है[१]। कुन्तक की भी यही धारणा है : उन्होंने मार्मिक भाव-स्पर्श से विरहित कोरे चमत्कार को हेय ही माना है।

तब फिर कुन्तक और शुक्ल जी में क्या मतभेद है ? दोनों में वस्तुतः एक ही मौलिक मतभेद है और वह यह कि कुन्तक काव्य में वक्रता की स्थिति अनिवार्य मानते हैं, किन्तु शुक्ल जी नहीं मानते। कुन्तक का मत है—सालंकारस्य काव्यता; परन्तु शुक्ल जी का आग्रह है कि वक्रता के बिना केवल मार्मिक भाव-स्पर्श के सद्भाव में भी काव्य की हानि नहीं होती। इन में कौन-सा मत मान्य है ? हमारा उत्तर है कुन्तक का। यद्यपि हमें मूल सिद्धान्त शुक्ल जी का ही ग्राह्य है, फिर भी प्रस्तुत प्रसंग में शुक्ल जी का तर्क मनोविज्ञान के विरुद्ध है। उन्होंने पद्माकर, मंडन तथा ठाकुर की जिन उक्तियों को अपने मत की पुष्टि में उद्धृत किया है उनमें से एक में भी वक्रता का अभाव नहीं है : पद्माकर की उक्ति तो व्यंग्य से वक्र है, मंडन की उक्ति में 'गरीब' शब्द में अपूर्व वक्रता है। ठाकुर की भावाभिव्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक शुद्ध है, परन्तु उसमें वक्रता का अभाव देखना अलंकार-शास्त्र के मर्मज्ञ के लिए सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए सबसे पहले तो 'वा' शब्द ही अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य ध्वनि (रूढ़िवैचित्र्य-वक्रता) से वक्र है, फिर 'निरमोहिनी' तथा 'रूप की रासि' में पृथक् रूप

१. चिंतामणि भाग २, पृ० २२०।

से विशेषण-वक्रता और सम्मिलित रूप से सूक्ष्म वैषम्य-मूलक अलंकार का चमत्कार भी उपेक्षणीय नहीं। वास्तव में यह सम्भव ही नहीं है कि भाव के स्पर्श से वाणी में कोई चमत्कार ही उत्पन्न न हो : भाव की दीप्ति से भाषा अनायास ही दीप्त हो जाती है—चित्त की उद्दीप्ति से वाणी में भी उत्तेजना आ जाती है, और भाषा की यह दीप्ति अथवा वाणी की उत्तेजना ही उसे वार्ता से भिन्न वक्रता का रूप प्रदान कर देती है। अतएव न तो उपर्युक्त उक्तियों में वक्रता का अभाव है और न किसी अन्य रमणीय उक्ति में ही सम्भव हो सकता है—मार्मिक उक्ति में वक्रता का निषेध मनोविज्ञान के स्वतःसिद्ध नियम का निषेध है।

इसके अतिरिक्त शुक्ल जी ने वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद का एकीकरण कर दोनों पर वस्तु-तत्व के तिरस्कार का आरोप लगाया है। वह भी ठीक नहीं है। एक तो वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद का एकीकरण भी अमान्य है, दूसरे कुन्तक ने वस्तु-तत्व का तिरस्कार नहीं किया, जैसा कि स्वयं शुक्ल जी ने भी माना है। कुन्तक ने वस्तु-वक्रता के रूप में वस्तु-तत्व के महत्व को स्पष्टतः स्वीकार किया है। क्रोचे भी आन्तरिक अभिव्यंजना में ही वस्तु-तत्व का महत्व स्वीकार नहीं करते—बाह्य मूर्त अभिव्यंजना में वस्तु-तत्व उनको भी सर्वथा मान्य है। इसके अतिरिक्त संवेदन आदि के रूप में भी वस्तु-तत्व उन्हें ग्राह्य है। वास्तव में वस्तु-तत्व की ऐसी अवहेलना कि 'व्यंजना चाहे जिसकी हो, या किसी ठीक-ठीक बात की न भी हो' कुन्तक ने तो की ही नहीं, क्रोचे ने भी इस सीमा तक नहीं की : हाँ, क्रोचे के अनुयायी अभिव्यंजनावादियों ने अवश्य की है। शुक्ल जी ने उनका दोष क्रोचे के माथे और संस्कृत तथा हिन्दी के चमत्कारवादियों का दोष कुन्तक के माथे मढ़कर काव्य की इस छिछली मनोवृत्ति के विरुद्ध अपना क्षोभ व्यक्त किया है। इस प्रकार उनका यह आरोपण बहुत-कुछ मनोवैज्ञानिक है। एक कारण यह भी हो सकता है कि कदाचित् कुन्तक का ग्रन्थ तो उनको मूल रूप में उपलब्ध नहीं हुआ था, और क्रोचे का भी उन्होंने कदाचित् आमूल अध्ययन नहीं किया था।

छायावाद-युग के प्रादुर्भाव के साथ हिन्दी साहित्य में वक्रता की एक बार फिर साग्रह प्रतिष्ठा हुई। आरम्भ में छायावाद के प्रवर्तकों को वक्रता के प्रति इतना प्रबल आग्रह था कि आचार्य शुक्ल जैसे तत्व-दर्शी आलोचक को भी उसे (छायावाद को) शैली का एक प्रकार मात्र मानने को बाध्य होना पड़ा। इसमें सन्देह नहीं कि आरम्भ में अन्य कविता से उसका भेदक धर्म बहुत कुछ शैलीगत वक्रता ही थी परन्तु वास्तव में शैलीगत वक्रता की स्थिति वस्तु-वक्रता के बिना असम्भव है, और प्रसाद, मुकुटधर

पाण्डेय, माखनलाल चतुर्वेदी आदि की आरम्भिक रचनाओं में इतिवृत्त के स्थान पर रमणीय भाव-मय वस्तु का ग्रहण भी इतना ही स्पष्ट है जितना अभिधात्मक शैली के स्थान पर वक्र शैली का।

छायावाद का युग वास्तव में वक्रता के वैभव का स्वर्ण-युग है। उसके समर्थ कवियों ने व्यवहार में जहाँ वक्रता का अपूर्व उत्कर्ष किया वहाँ सिद्धान्त में भी उसकी अत्यन्त मार्मिक रीति से प्रतिष्ठा की। प्रसाद जी के विश्लेषण के अनुसार रीति-कविता में बाह्य वर्णन अर्थात् घटना या शारीरिक रूप आदि का प्राधान्य था। नवीन कविता में भावना का प्राधान्य हुआ जो आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थी। आभ्यन्तर सूक्ष्म भावों की प्रेरणा से बाह्य स्थूल आकार में भी विचित्रता उत्पन्न हो गई और हिन्दी में नवीन शब्दों की भंगिमा का प्रयोग होने लगा : 'शब्द-विन्यास पर ऐसा पानी चढ़ा' कि उससे अभिव्यंजना में एक तड़प उत्पन्न हो गई। अभिव्यक्ति के इस निराले ढंग में अपना स्वतंत्र लावण्य था। इसी लावण्य की शास्त्रीय प्रतिष्ठा में प्रयत्नशील प्रसाद की शोध-प्रिय दृष्टि 'वक्रोक्तिजीवितम्' पर भी पड़ी और उन्होंने कुन्तक के प्रमाण देकर छायावाद की आप्तता सिद्ध की : "इस लावण्य को संस्कृत-साहित्य में छाया और विच्छित्ति के द्वारा कुछ लोगों ने निरूपित किया था। कुन्तक ने वक्रोक्ति-जीवित में कहा है—

प्रतिभाप्रथमोद्भेदसमये यत्र वक्रता
शब्दाभिधेययोरन्तःस्फुरतीव विभाव्यते।

शब्द और अर्थ की यह स्वाभाविक वक्रता विच्छित्ति, छाया और कान्ति का सृजन करती है। इस वैचित्र्य का सृजन करना विदग्ध कवि का ही काम है। वैदग्ध्य-भंगी-भणिति में शब्द की वक्रता और अर्थ की वक्रता लोकोत्तीर्ण रूप से अवस्थित होती है। (शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम्—लोचन २०८) कुन्तक के मत में ऐसी भणिति 'शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकी' होती है। यह रम्यच्छायान्तरस्पर्शी वक्रता वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक में होती है। कुन्तक के शब्दों में यह उज्ज्वल छायातिशय रमणीयता वक्रता की उद्भासिनी है।"

(काव्यकला तथा अन्य निबन्ध पृ० ६०)

इस विवेचन से यह सिद्ध है कि प्रसाद जी कुन्तक की वक्रता को वास्तविक काव्य का आन्तरिक गुण मानते थे। रीति-काल तथा द्विवेदी युग की कविता के विरुद्ध जिस नवीन कविता का सृजन वे कर रहे थे वही उनके अपने मत से कविता का

सच्चा स्वरूप था और उसका आधार था भाव-भंगिमा तथा शब्द-भंगिमा अर्थात् कुन्तक की शब्द-वक्रता तथा वस्तु-वक्रता। इस प्रकार वे कुन्तक की वक्रता को समग्र रूप में ग्रहण करते थे।

छायावाद में वक्रता के दोनों रूपों का—विदग्धता और चारुता दोनों का ही वैभव मिलता है। प्रसाद तथा पंत में जहाँ चारुता का चरम उत्कर्ष है, वहाँ निराला में विदग्धता का। महादेवी के प्रणय-काव्य में भाव-प्रेरित वक्रता का सुन्दर विकास है। वास्तव में छायावाद का कोष इतना समृद्ध है कि कुन्तक के नाना वक्रता-रूपों के जितने प्रचुर उदाहरण इस एक दशक की कविता में अनायास ही उपलब्ध हो जाते हैं उतने शताब्दियों तक प्रसारित काव्य-धारा में नहीं मिल सकते।

पंत ने सिद्धान्त-रूप में भी, नवीन विचारों के प्रकाश में वक्रता की व्याख्या में योगदान किया। इस प्रसंग में काव्य-भाषा तथा अलंकार के सम्बन्ध में उनके आरम्भिक वक्तव्य उल्लेखनीय हैं :

१. "कविता के लिए चित्र-भाषा की आवश्यकता पड़ती है—उसके शब्द सस्वर होने चाहिएँ जो बोलते हों + + + जो झंकार में चित्र, चित्र में झंकार हों।"

२. "अलंकार वाणी की सजावट के लिए नहीं, + + × वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव हैं"। (प्रवेश–पल्लव)। पहले उद्धरण में पंत जी कुन्तक की 'चित्रच्छायां मनोहराम्' २।३४। और दूसरे में 'सालंकारस्य काव्यता' की व्याख्या कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त 'पर्याय-वक्रता' का तो पंत ने नये ढंग से अपूर्व व्याख्यान किया है। यह केवल हिन्दी के लिए ही नहीं, संस्कृत काव्य-शास्त्र के लिए भी नवीन है।

छायावाद युग के आलोचकों में श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु तथा प्रो० गुलाबराय ने वक्रोक्ति का अधिक विशद विवेचन किया है। एक तो छायावाद द्वारा काव्य में वक्रता का मूल्य अपने आप ही बहुत बढ़ गया था, दूसरे इन आलोचकों की दृष्टि नवीन के प्रति अधिक उदार थी। और तीसरे उन्होंने कदाचित् कुन्तक और क्रोचे दोनों का अधिक मनोयोग-पूर्वक अध्ययन भी किया था : क्रोचे का वे विधिवत् मनन कर चुके थे और कुन्तक की कृति भी तब तक अधिक सुलभ हो चुकी थी। इन सब कारणों से इनकी धारणाएँ निश्चय ही अधिक स्पष्ट हैं। सुधांशु जी ने अपने ग्रंथ

'काव्य में अभिव्यंजनावाद' में वक्रोक्ति-सिद्धान्त का पहले भारतीय काव्य-शास्त्र की दृष्टि से, और आगे चलकर अभिव्यंजनावाद की सापेक्षता में विवेचन किया है। इस ग्रन्थ में भारतीय काव्य-शास्त्र की दृष्टि से वक्रोक्ति की परिभाषा, वक्रता के छह भेद, तथा रस, ध्वनि, अलंकार से वक्रोक्ति का सम्बन्ध आदि प्रश्नों पर संक्षेप में किन्तु विशदता से विचार किया है। इस प्रसंग में सुधांशु जी के कतिपय निष्कर्ष ये हैं :

१. कुन्तक की वक्रोक्ति का आधार कल्पना है, यद्यपि इस शब्द का प्रयोग उन्होंने नहीं किया।

२. कुन्तक का वक्रोक्ति-सिद्धान्त भामह के अलंकार-सिद्धान्त का ही परिष्कृत एवं सुगठित नवीन रूप है।

३. वक्रता के आधार-तत्व लोकोत्तर वैचित्र्य का तद्विदाह्लाद के साथ तादात्म्य कर कुन्तक रस-सिद्धान्त को मानने के लिए बाध्य-से हो जाते हैं।

४. कुन्तक ने ध्वनि-सिद्धान्त से कई बातें उधार ली हैं।

अभिव्यंजनावाद के प्रसंग में सुधांशु जी ने शुक्ल जी के इस मत का युक्ति-पूर्वक प्रतिवाद किया है कि अभिव्यंजनावाद वक्रोक्तिवाद का ही नया रूप या विलायती उत्थान है। उनके मत से दोनों की प्रकृति में ही भेद है। वक्रोक्ति का अलंकार से घनिष्ठ सम्बन्ध है, किन्तु अभिव्यंजना के लिए अलंकार का स्वतन्त्र मूल्य नहीं है ; वक्रोक्ति में अलंकार सहगामी है, अभिव्यंजना में अनुगामी। अभिव्यंजना में स्वभावोक्ति का भी मान है, परन्तु वक्रोक्तिवाद में उसके लिए कोई स्थान नहीं है।

सुधांशु जी के निष्कर्ष प्रायः मान्य ही हैं; कुछ-एक का संकेत उन्होंने डा० सुशीलकुमार डे से भी ग्रहण किया है। अभिव्यंजना और वक्रोक्ति का यह पार्थक्य-विश्लेषण तत्व-रूप में तो मान्य है ही परन्तु उसमें दो-एक भ्रान्तियां भी हैं। उदाहरण के लिए यह सत्य नहीं है कि वक्रोक्तिवाद में स्वभावोक्ति के लिए स्थान ही नहीं है। जैसा कि मैंने अन्यत्र स्पष्ट किया है कुन्तक स्वभावोक्ति की काव्यता का निषेध नहीं करते, उसकी अलंकारता-मात्र का निषेध करते हैं : उनकी वक्रता में स्वभाव का बड़ा महत्व है।

प्रो० गुलाबराय ने इस तथ्य को और भी स्पष्ट किया है। उन्होंने भी वक्रोक्ति-वाद तथा अभिव्यंजनावाद के ऐकात्म्य का निषेध किया है : "अब हम देख सकते हैं कि

क्रोचे का 'उक्ति-वैचित्र्य' से कहाँ तक सम्बन्ध है ? क्रोचे ने उक्ति को प्रधानता दी है उक्ति-वैचित्र्य को नहीं; उसके मत से सफल अभिव्यक्ति या केवल अभिव्यक्ति कला है। इसीलिए अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद की समानता नहीं है जैसा कि शुक्ल जी ने माना है।"

बाबू जी की भेद-विवेचना सुधांशु जी की विवेचना का अधिक विशद तथा परिष्कृत रूप है। उनके मत से "अभिव्यंजनावाद में स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति का भेद ही नहीं है। उक्ति केवल एक ही प्रकार की हो सकती है। यदि पूर्ण अभिव्यक्ति वक्रोक्ति द्वारा होती है तो वही स्वभावोक्ति या उक्ति है, वही कला है। वाग्वैचित्र्य का मान वैचित्र्य के कारण नहीं है, वरन् यदि है तो पूर्ण अभिव्यक्ति के कारण।"—अर्थात् अभिव्यंजनावाद पर वक्रतावाद का आरोप करना इसलिए अनुचित है कि अभिव्यंजनावाद में तो केवल उक्ति का ही महत्व है; यह उक्ति अखण्ड है, इसमें ऋजु और वक्र या प्रस्तुत-अप्रस्तुत का भेद नहीं हो सकता।

वास्तव में स्थिति यही है—अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद में मौलिक अन्तर है और वह यह कि अभिव्यंजनावाद में उक्ति का केवल एक ही रूप मान्य है—वह वक्र हो या ऋजु; उसमें वार्ता तथा वक्रता का भेद नहीं होता। परन्तु वक्रोक्तिवाद वार्ता से भिन्न विदग्ध उक्ति को ही काव्य मानता है। उपर्युक्त उद्धरण में बाबू जी ने वक्रोक्ति का विपरीत शब्द स्वभावोक्ति दिया है, परन्तु कुन्तक स्वभावोक्ति में वक्रता का निषेध नहीं करते; अतएव स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति में वैपरीत्य नहीं है : वैपरीत्य वस्तुतः वार्ता और वक्रोक्ति में है।

छायावाद के उपरान्त प्रगतिवाद का प्रादुर्भाव हुआ। इसमें छायावाद के अन्य तत्वों की भाँति शैलीगत वक्रता-विलास का भी विरोध हुआ। स्वयं पंत जी यह कहने लगे कि :

> तुम वहन कर सको जन-मन में मेरे विचार।
> वाणी मेरी क्या तुम्हें चाहिए अलंकार ?

प्रगति-काव्य में विदग्ध चारुता के स्थान पर जन-मन को प्रभावित करने वाली 'खरी' और 'खड़ी' शैली की माँग हुई। वक्रता-विलास को दिमागी ऐयाशी ठहराया गया और *लोकातिक्रान्त-गोचरता को अस्वस्थ बूर्जुआ साहित्य का दम्भ मात्र* मानकर एक असाहित्यिक प्रवृत्ति घोषित किया गया। प्रगतिवादी आलोचक ने दावा किया कि भारत

का किसान पंत को भाषा का प्रयोग सिखा सकता है। कुन्तक की विदग्धता त्राहि-त्राहि कर उठी। हाँ, वक्रता के दूसरे रूप का, जिसे अंग्रेजी में 'आयरनी' कहते हैं, प्रगतिवाद में सम्मान अवश्य बढ़ गया—परन्तु उससे कदाचित् कुन्तक का कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है।

प्रगतिवाद की सहगामिनी वर्तमान युग की अन्य प्रवृत्ति है प्रयोगवाद; यह यूरोप की नवीन बौद्धिक काव्य-प्रवृत्तियों से प्रभावित प्रवृत्ति है जो वस्तु तथा शैली-शिल्प दोनों के क्षेत्र में प्रयोग की अनिवार्यता पर बल देती है। यूरोप के प्रभाववाद, बिम्बवाद, प्रतीकवाद, अभिव्यंजनावाद आदि वाद-वैचित्र्य का इस पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से गहरा प्रभाव है। उपर्युक्त वादों की भांति हिन्दी का प्रयोगवाद भी अतिवक्रता से आक्रान्त है : यह वक्रता केवल आंतरिक ही नहीं है, वह प्रायः 'सीधी-तिरछी लकीरों, छोटे-बड़े टाइप, सीधे या उलटे अक्षरों' के विन्यास के द्वारा भी अपने को व्यक्त करती रहती है। मैं सोचता कि आज यदि कुन्तक जीवित होते तो इन चमत्कारों से त्रस्त होकर अपने वक्रता-सिद्धान्त का ही त्याग कर देते।

छायावाद के बाद का युग वास्तव में काव्य के ह्रास का युग है। सृजन की अन्तःप्रेरणा के अभाव में इस युग के साहित्य पर बौद्धिकता का प्रभाव गहरा होता गया—परिणामतः आलोचना के अतिरिक्त शेष साहित्यांग क्षीण होते गये। आलोचना के क्षेत्र में अच्छी चहल-पहल रही है। एक ओर गम्भीर आलोचक छायावाद का मंडन करते रहे हैं, दूसरी ओर नवीन आलोचक छायावादी मूल्यों के खण्डन और प्रगतिशील तथा बौद्धिक मूल्यों की प्रतिष्ठा में संलग्न हैं। काव्य-शास्त्र में भी एक ओर जहाँ नवीन वादों की विषय-वस्तु और शैली-शिल्प की आग्रह-पूर्वक चर्चा हो रही है वहाँ दूसरी ओर प्राचीन काव्य-सिद्धान्तों को भी हिन्दी में प्रस्तुत करने का प्रयत्न चल रहा है। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप वक्रोक्तिवाद पर भी विचार-विनिमय हुआ है। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने 'रीति-काव्य की भूमिका' में वक्रोक्ति-सिद्धान्त का अभिव्यंजनावाद तथा अन्य आधुनिक काव्य-सिद्धान्तों के प्रकाश में संक्षिप्त विवेचन किया है। 'रीति-काव्य की भूमिका' की रचना के कुछ समय पश्चात् पं० बलदेव उपाध्याय का प्रसिद्ध ग्रन्थ भारतीय साहित्य-शास्त्र (भाग २ और भाग १) प्रकाशित हुआ। द्वितीय भाग में उपाध्याय जी ने वक्रोक्ति-सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। वास्तव में हिन्दी में वक्रोक्तिवाद का यह प्रथम प्रामाणिक व्याख्यान है—विद्वान् लेखक ने वक्रोक्ति के लक्षण, ऐतिहासिक विकास, वक्रोक्ति तथा अन्य सिद्धान्तों का पारस्परिक सम्बन्ध, वक्रोक्ति के भेद-प्रभेद आदि का विस्तार से वर्णन-विवेचन किया है।

उपाध्याय जी संस्कृत के मान्य विद्वान हैं, अतएव उनका निरूपण मूल ग्रन्थ पर प्रत्यक्षतः आधित होने के कारण अत्यन्त विशद है। उपाध्याय जी के विवेचन के अपने गुण-दोष हैं। तथापि हिन्दी में वक्रोक्ति-सिद्धान्त की समग्र रूप में अवतारणा करने का श्रेय वास्तव में उन्हीं को है : उनसे पूर्व वक्रोक्ति पर जो कुछ लिखा गया था वह डा० सुशीलकुमार डे तथा प्रो० काणे की भूमिकाओं पर ही आधित था। शुक्ल जी ने अभिव्यंजनावाद के साथ उसकी तुलना कर उसके पुनराख्यान की एक नवीन दिशा की ओर संकेत किया था, परन्तु स्वयं शुक्ल जी का ज्ञान वक्रोक्ति के विषय में अत्यन्त सीमित तथा असम्बद्ध-सा था। इसलिए उनके निष्कर्षों से वक्रोक्ति का स्वरूप तो अधिक स्पष्ट नहीं हुआ, वरन् कुछ भ्रान्तियाँ ही उत्पन्न हो गईं। इन सभी बातों को देखते हुए उपाध्याय जी का वक्रोक्ति-वर्णन निश्चय ही अपना महत्व रखता है। उन्होंने कुन्तक को हृदय से मान्यता प्रदान की है : '× × वक्रोक्ति काव्य का नितान्त व्यापक, रुचिर तथा सुगूढ़ तत्व है।'

इस प्रकार कुन्तक का वक्रोक्ति-सिद्धान्त धीरे-धीरे हिन्दी काव्य-शास्त्र का अंग बनता जा रहा है। हिन्दी का आलोचक अब भारतीय काव्य-सिद्धान्तों का महत्व समझने लगा है और उसे यह अनुभव होने लगा है कि पाश्चात्य सिद्धान्तों के साथ भारत के प्राचीन सिद्धान्तों का पर्यालोचन भी काव्य के सत्य को हृदयगत करने में सहायक हो सकता है। परन्तु केवल प्राचीन की अवतारणा मात्र पर्याप्त नहीं है : उसको आज की साहित्यिक चेतना में अन्तर्भूत करना पड़ेगा और उसकी एक मात्र विधि है पुनराख्यान।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त की परीक्षा

वक्रोक्ति-सिद्धान्त के अनेक पक्षों का विस्तृत विवेचन कर लेने के उपरान्त अब उसकी परीक्षा एवं मूल्यांकन सरल हो गया है। वक्रोक्ति-सिद्धान्त अत्यन्त व्यापक काव्य-सिद्धान्त है। इसके अन्तर्गत कुन्तक ने एक ओर वर्ण-चमत्कार शब्द-सौंदर्य, विषय-वस्तु की रमणीयता, अप्रस्तुत-विधान, प्रबन्ध-कल्पना आदि समस्त काव्यांगों का, और दूसरी ओर अलंकार, रीति, ध्वनि तथा रस आदि सभी काव्य-सिद्धान्तों का समाहार करने का प्रयत्न किया है। कालक्रमानुसार अन्य सभी सिद्धान्तों का पश्चाद्वर्ती होने के कारण वक्रोक्ति-सिद्धान्त को उन सभी से लाभ उठाने का सुयोग प्राप्त था और उसके मेधावी प्रवर्त्तक ने निश्चय ही उसका पूरा उपयोग किया है। इस प्रकार कुन्तक ने वक्रोक्ति को सम्पूर्ण काव्य-सौंदर्य के पर्याय रूप में प्रतिष्ठित किया है। काव्य-सौंदर्य के समस्त रूप—सूक्ष्म से सूक्ष्म वर्ण-चमत्कार से लेकर अधिक से अधिक व्यापक रूप प्रबन्ध-कौशल तक सभी वक्रता के ही प्रकार हैं; इसी प्रकार अलंकार, रीति (पद-रचना), गुण, ध्वनि, औचित्य तथा रस भी वक्रता के प्रकार-भेद अथवा पोषक तत्व हैं। अतएव वक्रोक्ति-सिद्धान्त का पहला गुण उसकी व्यापकता है।

वक्रोक्ति केवल वाक्-चातुर्य अथवा उक्ति-चमत्कार नहीं है, वह कवि-व्यापार अर्थात् कवि-कौशल या कला की प्रतिष्ठा है। आधुनिक आलोचना-शास्त्र की शब्दावली में वक्रोक्तिवाद का अर्थ कलावाद ही है।—अर्थात् काव्य का सर्व-प्रमुख तत्व कला या उपस्थापन-कौशल ही है। इस प्रसंग में भी कुन्तक अतिवादी नहीं है। उन्नसवीं-बीसवीं शती के पाश्चात्य कलावादियों की भाँति उन्होंने विषय-वस्तु का निषेध नहीं किया: उन्होंने तो स्पष्ट रूप में यह माना है कि काव्य-वस्तु स्वभाव से रमणीय होनी चाहिए अर्थात् काव्य में वस्तु के उन्हीं रूपों का वर्णन अभीष्ट है जो सहृदय-आह्लादकारी हों। परन्तु यहाँ भी महत्व वस्तु का नहीं है; वस्तु का महत्व होने से तो 'कवि कहें कौन निहोर ?' कवि का क्या महत्व हुआ ? यहाँ भी वास्तविक मूल्य

वस्तु के सहृदय-रमणीय धर्मों के उद्घाटन का ही है : सामान्य धर्मों का अभिज्ञान तो जन-साधारण भी कर लेते हैं किन्तु विशेष सहृदय-आह्लादकारी धर्मों का उद्घाटन कवि का प्रातिभ नयन ही कर सकता है। अतएव महत्व यहाँ भी उद्घाटन या चयन रूप कवि-व्यापार का ही है, और यह भी कला ही है : चाहें तो इसे आप कला का आन्तरिक रूप कह लीजिए, परन्तु है यह भी कला ही।

मनोमय जीवन के तीन पक्ष हैं (१) बोध-पक्ष, (२) अनुभूति-पक्ष और (३) कल्पना-पक्ष। इनमें से काव्य में वस्तुतः अनुभूति और कल्पना-पक्ष का ही महत्व है—बोध-पक्ष तो सामान्य आधार मात्र है। प्रतिद्वन्द्वी सम्प्रदायों में इन्हीं दो तत्वों के प्राधान्य को लेकर विरोध चलता रहा है। रस-सम्प्रदाय में स्पष्टतः अनुभूति का प्राधान्य है : उसके अनुसार काव्य का प्राण-तत्व है भाव; भाव के आधार पर ही काव्य सहृदय को प्रभावित करता हुआ उसके चित्त में वासना रूप से स्थित भाव को आनन्द-रूप में परिणत कर देता है। इस प्रकार काव्य मूलतः भाव का व्यापार है। इसके विपरीत अलंकार-सिद्धान्त में काव्य का आह्लाद भाव की परिणति नहीं है वरन् एक प्रकार का *कल्पनात्मक (मानसिक-बौद्धिक) चमत्कार है।* रस-सिद्धान्त के अनुसार काव्य के आस्वाद में मूलतः हमारी चित्त-वृत्ति उद्दीपित होती है, परन्तु अलंकार-सिद्धान्त के अनुसार हमारी कल्पना की उद्दीप्ति होती है। वक्रोक्ति-सिद्धान्त भी वास्तव में अलंकार-सिद्धान्त का ही विकास है : अलंकार में जहाँ कल्पना का सीमित रूप गृहीत है, वहाँ वक्रोक्ति में उसका व्यापक रूप ग्रहण किया गया है। अलंकार-सिद्धान्त की कल्पना का आधार कॉलरिज की 'ललित' कल्पना[1] है और वक्रोक्ति-सिद्धान्त की कल्पना का आधार कॉलरिज की 'मौलिक[2] कल्पना' है। इस प्रकार वक्रोक्ति का आधार है कल्पना : वक्रोक्ति=कवि-व्यापार (कला)=मौलिक कल्पना। परन्तु यह कल्पना कवि-निष्ठ है सहृदय-निष्ठ नहीं है और यही ध्वनि के साथ वक्रोक्ति के मूल भेद का कारण है। ध्वनि की 'कल्पना' सहृदय-निष्ठ होने के कारण व्यक्ति-परक है। कुन्तक की कल्पना कवि-कौशल पर आश्रित होने के कारण काव्य-निष्ठ और अन्ततः वस्तु-निष्ठ बन जाती है।

कुन्तक की कल्पना अनुभूति के विरोध में खड़ी नहीं हुई। उनकी कला को रस का और उनकी कल्पना को अनुभूति का परिपोष प्राप्त है। वक्रोक्ति और रस के प्रसंग में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि कुन्तक ने रस को वक्रोक्ति का प्राण-रस माना है। अतः कुन्तक के सिद्धान्त में अनुभूति का गौरव अक्षुण्ण है। किन्तु प्रश्न सापेक्षिक

---

१. फ़ैन्सी   २. प्राइमरी इमेजिनेशन।

महत्व का है। यों तो रस-सिद्धान्त में भी कल्पना का महत्व असंदिग्ध है, क्योंकि विभानुभाव-व्यभिचारी का संयोग उसके द्वारा ही सम्भव है। वस्तुतः कला और रस के सिद्धान्तों में मूल अन्तर कल्पना और अनुभूति की प्राथमिकता का ही है। कला-सिद्धान्त में प्राण-तत्व है कल्पना, अनुभूति उसका पोषक तत्व है; उधर रस-सिद्धान्त में मूल तत्व है अनुभूति, कल्पना उसका अनिवार्य साधन है। यही स्थिति वक्रोक्ति और रस की है—कुन्तक ने रस को वक्रता का सबसे समृद्ध अंग माना है, परन्तु अंगी वक्रता ही है। इसका एक परिणाम यह भी निकलता है कि रस के अभाव में भी वक्रता की स्थिति सम्भव है : रस वक्रता का उत्कर्ष तो करता है, परन्तु उसके अस्तित्व के लिए सर्वथा अनिवार्य नहीं है। कुन्तक ने ऐसी स्थिति को अधिक प्रश्रय नहीं दिया; उन्होंने प्रायः रस-विरहित वक्रता का तिरस्कार ही किया है। फिर भी वक्रोक्ति को काव्य-जीवित मानने का केवल एक ही अर्थ हो सकता है और वह यह कि उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है : रस के बिना भी वक्रता की अपनी सत्ता है। और स्पष्ट शब्दों में वक्रोक्ति-सिद्धान्त के अनुसार ऐसी स्थिति तो आ सकती है जब काव्य रस के बिना भी वक्रता के सद्भाव में जीवित रह सकता है,[1] किन्तु ऐसी स्थिति सम्भव नहीं है जब वह केवल रस के आधार पर वक्रता के अभाव में जीवित रहे।

कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त के ये ही दो पक्ष हैं।

इनमें से दूसरी स्थिति अधिक सम्भाव्य नहीं है क्योंकि रस की दीप्ति से उक्ति में वक्रता का समावेश अनिवार्यतः हो जाता है : रस अथवा भाव के दीप्त होने से उक्ति अनायास ही दीप्त हो उठती है, और उक्ति की यही दीप्ति कुन्तक की वक्रता है। अतएव उक्ति में रस के सद्भाव में वक्रता का अभाव हो ही नहीं सकता—कम से कम कुन्तक की वक्रता का अभाव तो सम्भव ही नहीं है। शुक्ल जी ने जहाँ इस तथ्य का निषेध किया है, वहाँ उन्होंने वक्रता को स्थूल चमत्कार—शब्द-क्रीड़ा या अर्थ-क्रीड़ा अथवा परिगणित विशिष्ट अलंकार के अर्थ में ही ग्रहण किया है। परन्तु कुन्तक की वक्रता तो इतनी सूक्ष्म और व्यापक है कि वह शुक्ल जी के प्रायः सभी तथाकथित वक्रताहीन उदाहरणों में अनेक रूपों में उपस्थित है। इसलिए काव्य में वक्रता की अनिवार्यता में तो सन्देह नहीं किया जा सकता, किन्तु वह होगी भाव-प्रेरित ही। ऐसी अवस्था में प्राथमिक महत्व भाव का ही हुआ।

१. इसमें सन्देह नहीं कि कुन्तक ने बार-बार इस स्थिति को बचाने का प्रयत्न किया है, परन्तु वह बच नहीं सकती अन्यथा 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' वाक्य ही निरर्थक हो जाता है।

पहली स्थिति वास्तव में चिन्त्य है : काव्य रस अर्थात् भाव-रमणीयता के अभाव में वक्रता मात्र के बल पर जीवित रह सकता है। भाव-सौंदर्य से हीन शब्द-क्रीड़ा या अर्थ-क्रीड़ा में निश्चय ही एक प्रकार का चमत्कार होता है, परन्तु वह काव्य का चमत्कार नहीं है क्यों कि इस प्रकार के चमत्कार से हमारी कुतूहल-वृत्ति का ही परितोष होता है, उससे अंतश्चमत्कार या आनन्द की उपलब्धि नहीं होती जो काव्य का अभीष्ट है। कुन्तक ने स्वयं स्थान-स्थान पर इस धारणा का अनुमोदन किया है, परन्तु यहीं और इसी मात्रा में उनके वक्रोक्ति-सिद्धान्त का भी खण्डन हो जाता है। वक्रता काव्य का अनिवार्य माध्यम है यह सत्य है, परन्तु यह उसका जीवित या प्राण-तत्व है यह सत्य नहीं है। अनिवार्य माध्यम का भी अपना महत्व है : व्यक्तित्व के अभाव में आत्मा की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है, फिर भी व्यक्तित्व आत्मा अथवा जीवित तो नहीं है। यही वक्रोक्तिवाद की परिसीमा है और यही कलावाद की या कल्पनावाद की।

किन्तु वक्रोक्तिवाद की सिद्धि भी कम स्तुत्य नहीं है। भारतीय काव्य-शास्त्र के इतिहास में ध्वनि के अतिरिक्त इतना व्यवस्थित विधान किसी अन्य काव्य-सिद्धान्त का नहीं है, और काव्य-कला का इतना व्यापक एवं गहन विवेचन तो ध्वनि-सिद्धान्त के अन्तर्गत भी नहीं हुआ। वास्तव में काव्य के वस्तुगत सौंदर्य का ऐसा सूक्ष्म विश्लेषण केवल हमारे काव्य-शास्त्र में ही नहीं, पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में भी सर्वथा दुर्लभ है। कुन्तक से पूर्व वामन ने रीति-गुण, और भामह, दण्डी आदि ने अलंकार तथा गुण के विवेचन में भी इसी दिशा में सफल प्रयत्न किया था किन्तु उनकी परिधि सीमित थी : वे पद-रचना तथा शब्द-अर्थ के स्फुट सौंदर्य तत्वों का विश्लेषण ही कर सके थे। कुन्तक ने काव्य-रचना के सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्व से लेकर अधिक से अधिक व्यापक तत्व का विस्तार से विवेचन प्रस्तुत कर भारतीय सौंदर्य-शास्त्र में एक नवीन पद्धति का उद्घाटन किया है। काव्य में कला का गौरव स्वतःसिद्ध है, वस्तुतः उसके मौलिक तत्व दो ही हैं : रस और कला। इस दृष्टि से कला का विवेचन काव्य-शास्त्र में रस के विवेचन के समान ही महत्व-पूर्ण है। वक्रोक्ति-सिद्धान्त ने इसी कला-तत्व की मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत कर भारतीय काव्य-शास्त्र में अपूर्व योगदान किया है।